हि सर्वतो राज्ञी" (ऐ० ब्रा० २४ अ०) ये सर्प वास्तव में कश्यप के अर्थात् सूर्य्य के वरदान से उत्पन्न हुए हैं । यदि सूर्य्य की प्रेरणा न होती तो–रश्मियां कभी नहीं निकल सकती थीं । **"धियो योनः प्रचोदयात्"** यह सूर्य्य का ही काम है। नोदना करना सूर्य्य का काम है। है तो वास्तव में नोदना करना सविता का काम परन्तु सविता परमेष्ठिमण्डल में रहते हैं । अतएव पृथिवी पर यह सूर्य्य द्वारा ही आते हैं। इसीलिए प्रायणीय ब्राह्मण में—**"एष वै सविताय एष तपति"**—यह कहा गया है। प्रेरणा से रश्मियाँ प्राणादपानात् करती हुई निकलती हैं । प्रेरणा सूर्य्य का अर्थात् कश्यप का काम है । बस कश्यप के वरदान से–सर्प उत्पन्न हुए–इस का यही रहस्य है ।

इस पूर्व-कथन से हमें बतलाना यही है कि यह पृथिवी ही कद्रू है। यह सर्पण करती हुई चलती है अतएव इसे सर्पराज्ञी कहा गया है। पृथिवी स्वयं काली है अतएव इसकी रश्मियाँ भी काली हैं यही आसमन्तात् व्याप्त होने वाली काली रश्मियां–इसकी पुत्रवत् हैं । चूंकि रश्मियां काली हैं एवं सर्पण करती हुई चलती हैं–अतएव इन्हें सर्प कहा जाता है । बस, इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर कहा जाता है– **"इयं कद्रूः"** (धिष्ण्या ब्राह्मण) ।

अब चलिए सुपर्णी की ओर । याज्ञवल्क्य सुपर्णी का अर्थ बतलाते हुए कहते हैं, वाक् ही सुपर्णी है—**"वागेव सुपर्णी"** । प्रत्येक वाक् पिण्ड में अमृताग्नि और मर्त्याग्नि ये दो अग्नियां रहती हैं । जो पिण्ड दिखलाई पड़ता है उसका नाम तो मर्त्याग्नि है । पिण्ड से बाहर २१ अहर्गण तक जाने वाला जो अमृताग्नि है–वही वाक् कहलाता है । २१ तक तो अग्नि ही जाता है, यह अमृता वाक् तो ३३ तक जाती है । इस वाङ्मण्डल को महिमामण्डल कहते हैं । प्रत्येक वस्तु में महिमा, शरीर और आत्मा ये तीन तत्त्व रहते हैं । आत्मा केन्द्र में रहता है, जिसके लिए—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा वि जायते । अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥ (अथर्ववेद १०।८।१३)

यह कहा जाता है । इसीके आधार पर शरीर की, अर्थात् पिण्ड की, स्थिति रहती है । इसी आत्मा को लक्ष्य में रख कर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ इति

(गीता १८।६१)

इसी आत्मा को हमने प्रविष्ट-ब्रह्म बतलाया है । इसके बाद में वह पिण्ड रहता है, जिसका कि संचालक केन्द्र में बैठा हुआ है । यह पिण्ड सर्वथा मर्त्य है । इसी शरीर को वैदिक परिभाषा में पद कहा जाता है । इस पद अर्थात् पिण्ड के चारों ओर एक महिमामण्डल होता है। वह महिमामण्डल ३३ तक होता है । ३३ क्या चीज है ? यह वषट्कारमण्डल–रहस्य को जानने पर मालूम होगा । इस वषट्कार का विवेचन हम किसी आगे के प्रकरण में करेंगे । यहां सिर्फ इतना ही समझ लेना पर्य्याप्त

होगा कि एक वस्तु को देखते हुए आप उससे दूर होते जाइए। कोई स्थान ऐसा आयेगा, जहाँ से वह वस्तु आपको बिन्दुमात्र दिखलायी पड़ने लगेगी। बस, वहां से उस वस्तु को केन्द्र बनाकर एक गोलमण्डल बनाइए। समझ लीजिए—उस वस्तु का ३३ यहीं पर समाप्त है। इस ३३ अहर्गण वाले मण्डल को ही महिमामण्डल कहा जाता है। इसी महिमामण्डल को पुनःपद भी कहा जाता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में आत्मापद और पुनःपद अर्थात् आत्मा, शरीर और महिमा–ये तीन–तीन मण्डल रहते हैं। इन तीनों में महिमामण्डल को ही वाक् कहते हैं। पिण्ड से यह वाक् कितनी दूर तक रहती है—इसकी पहचान बतलाती हुई श्रुति कहती है—

सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत्। सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् ॥ (ऋग्वेद १०।११४।८)

जहां तक ब्रह्म प्रजापति रहता है वहां तक वाक् रहती है। अनिरुक्त, उद्गीथ, सर्व, भेदेन एक ही प्रजापति तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। जो केन्द्रीय प्रजापति है वह अनिरुक्तप्रजापति कहलाता है। सप्तदश प्रजापति उद्गीथप्रजापति कहलाता है एवं ३४ वां प्रजापति सर्वप्रजापति कहलाता है। ३३ स्तौम्य देवताओं के अनन्तर ३४ वां यही ब्रह्मप्रजापति है। यहीं तक वाक् अर्थात् महिमामण्डल रहता है। वेदत्रयी-देवता-असुर-गन्धर्व सारा प्रपञ्च इसी वाङ्मण्डल में, इसी वषट्कार में रहता है। इसीलिए तो **"वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता"**–यह कहा जाता है। बस, इस वाक् का नाम ही सुपर्णी है। इसी अभिप्राय से कहते हैं, **"वागेव सुपर्णी"** आगे जा कर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि देवताओं ने सोम के लालच से दोनों में झगड़ा करा दिया। **"ताभ्यां समदं चक्रुः"** फिर क्या था, कद्रू और सुपर्णी में परस्पर झगड़ा होने लगा। आखिर उनमें शर्त ठहरी कि जो कि दूर की वस्तु देख ले, वह दूसरी को दासी बना ले। कद्रू पृथिवी का नाम है। सुपर्णी वाक् का नाम है।

अग्नि घन-तरल-विरल भेद से तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है एवं उन तीनों के अग्नि-वायु-आदित्य ये तीन नाम हो जाते हैं। यह बात हम पूर्व के प्रकरणों में बतला आये हैं। इससे सिद्ध हो जाता है कि अग्नि पृथिवी की वस्तु है, वायु अन्तरिक्ष की वस्तु है एवं आदित्य द्युलोक की वस्तु है। वायु में एक हिस्सा इन्द्र का रहता है और तीन हिस्से वायु के अपने रहते हैं। इस वायव्य इन्द्र का नाम है मरुत्वान्। इसी प्रकार द्वादश आदित्यों में भी एक इन्द्र है, इसका नाम है मघवाइन्द्र। आग्नेय-अग्नि पृथिवीलोक का अधिष्ठाता है। वायव्याग्नि अन्तरिक्ष का अधिष्ठाता है एवं ऐन्द्राग्नि (सूर्य्याग्नि किंवा आदित्याग्नि) द्युलोक का अधिष्ठाता है। तीनों ही अग्नि, चित्य और चितेनिधे भेदन दो-दो प्रकार का हैं। चित्य मर्त्याग्नि को कहते हैं। चितेनिधे अमृताग्नि को कहते हैं। यह बात पूर्व में कही जा चुकी है। पिण्ड का नाम है मर्त्याग्नि। संसार में पिण्डस्वरूप जितने भी पदार्थ हैं उन सबका एक न एक दिन अवश्य ही विनाश होगा। पिण्ड विनाशी पदार्थ है, मर्त्य है, अतएव वह चित्य कहलाता है। पृथिवी–पिण्ड मर्त्य है क्योंकि कभी न कभी इसका विनाश अवश्य ही होगा। एवमेव आन्तरिक्ष्याग्नि भी मर्त्य है। आन्तरिक्ष्य अग्नि से चन्द्रमा अभिप्रेत है। चन्द्रमा में जो प्रकाश भाग है वह चन्द्रमा का नहीं है अपितु इन्द्र का है। चन्द्रमा स्वयं कृष्ण है। इसीलिए **"ब्रह्मा कृष्णश्चनोबऽाद"** कहा जाता है। प्राकृतिक यज्ञ के

ब्रह्मा यही चन्द्रमा हैं। चन्द्रमा का प्रकाश इन्द्राग्नि का प्रकाश है। चन्द्रमा स्वयं काला है। यह निम्न-लिखित श्रुति से स्पष्ट ही सिद्ध हो जाता है–

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यं। इत्था चन्द्रमसो गृहे।

(ऋग्वेद मं. १।८४।१५)

कहने का तात्पर्य्य यही है कि जिसे हमने वायव्याग्नि बतलाया था, उसके अधिष्ठाता यही चन्द्रमा हैं, चन्द्रमा का प्रकाश-भाग अग्नि है। जैसे पृथिवीपिण्ड चित्यपिण्ड कहलाता है, उसी प्रकार चन्द्रमा का गोला भी अवश्य ही मर्त्य है। चन्द्रमा का मरणधर्म तो प्रतिदिन प्रत्यक्ष ही देखने में आता है। पूर्णिमा के बाद से ही देवता लोग चन्द्रमा की एक-एक कला को खाने लगते हैं। अन्ततोगत्वा अमावस तक जाते-जाते सारा चन्द्रमा देवताओं के पेट में चला जाता है। चन्द्रमा तो देवताओं का अन्न है अतएव अवश्य ही मर्त्य है। "**एतद्वै सोमो राजा, देवान्नं यच्चन्द्रमाः**" यह श्रुति मर्त्यत्व को ही सूचित करती है। तीसरा है ऐन्द्राग्नि। सूर्य्य का जो पिण्ड दीख रहा है वह भी मर्त्य ही है। जिस दिन सोमाहुति होना बन्द हो जायेगा–उस दिन सूर्य्य नेस्तनाबूद हो जायगा। जब तक वह अन्न खा रहा है तभी तक जिन्दा है। इस प्रकार पृथिवी, चन्द्रमा और सूर्य्य ये तीनों ही पिण्ड चित्यपिण्ड हैं–मर्त्यपिण्ड हैं। ये पिण्ड बने किसके हैं, इसका एकमात्र उत्तर है अग्नि। बछड़ा ज्यों-ज्यों अन्न खाने लगता है, त्यों-त्यों बड़ा होने लगता है। अन्न में सोम-अग्नि दोनों हैं। इसमें अग्निभागआत्माग्नि पर जा कर सवार हो जाता है। अग्नि, अग्नि को पचा नहीं सकता। अतएव अन्न द्वारा आगन्तुक अग्नि का आत्माग्निपर चुनाव होने लगता है। इसी चुनाव से-चेजे से-एक हाथ का बच्चा 3½ हाथ का युवा पुरुष हो जाता है। यह अग्नि के चुनाव का ही प्रताप है। मनुष्य अग्नि का चेजा मात्र है। मनुष्य पिण्ड ही नहीं, पिण्ड जितने भी हैं, सब अग्नि के चयन हैं। पिण्ड सिवाय अग्नि के, चुनाव के, बन ही नहीं सकता। अतएव पिण्ड-मात्र को हम अग्निपिण्ड कह सकते हैं। चूंकि यह पिण्ड विनाशी है अतएव इस अग्नि को जिससे कि पिण्ड बना है मर्त्याग्नि कहने के लिए तैय्यार हैं। इसी मर्त्याग्नि को वैदिक परिभाषानुसार "**चित्याग्नि**" कहा जाता है। सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यही है कि पृथिवी, अन्तरिक्ष अर्थात् चन्द्रमा और सूर्य्य तीनों गोले, तीनों पिण्ड, चित्याग्नि हैं। इस चित्याग्नि के साथ-साथ ही एक दूसरा अग्नि और रहता है जिसका नाम है चितेनिधे अग्नि। इसी का दूसरा नाम है अमृताग्नि। यह अमृताग्नि पिण्ड के केन्द्र से बद्ध होकर पिण्ड के बाहर तक, बड़ी दूर तक, मण्डल बना कर अपनी स्थिति कायम करता है। इसी मण्डल को महिमामण्डल कहते हैं। पिण्ड के बाहर निकलने वाला जो यह महिमामण्डल है वह किसका है, यदि यह पूछा जाए तो इसका एकमात्र उत्तर है वाक्। इसीलिए इस महिमामण्डल को वषट्कारमण्डल भी कहा जाता है। केन्द्रस्थ प्रजापति वहां तक जाता है–जहां तक वाक्–मण्डल जाता है।

"**यावद् ब्रह्मविष्ठितं तावती वाक्**" यह अटल सिद्धांत है। एक तिल में भी यह महिमामण्डल अर्थात् वाङ्-मण्डल मौजूद है और एक पर्वत में भी यह महिमामण्डल मौजूद है। पिण्ड के भीतर का जो केन्द्रस्थ प्रजापति है, जिसकी पकड़ में, जिसके शासन में, चित्यपिण्ड और महिमामण्डल है उसका नाम है आत्मा। इसी को वैदिक परिभाषानुसार पुरुष कहते हैं। संसार के यच्चयावत् पदार्थों में यह

प्रजापति रहता है–"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" यह कहा जाता है। एवं प्रजापति कहते हैं पुरुष को इसीलिए—

"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्" (ऋग्वेद १०।९०।२) यह कहा जाता है। एवं जिस पिण्ड का यह पुरुष अधिष्ठाता है उसका नाम है पद और महिमामण्डल का नाम है, पुनः पद। पुरुष-पद, पुनःपद कहो अथवा आत्मा, शरीर, एवं विभूति कहो, एक ही बात है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि पुरुषपद और पुनःपद तीनों अविनाभूत हैं। प्रत्येक पदार्थ में तीनों वस्तु अविनाभूत रूप से रहती हैं। इसीलिए **"त्रिवृद् वा इदं सर्वम्"** यह कहा जाता है।

विचार करना है हमें सिर्फ पृथिवी, चन्द्रमा एवं सूर्य्य का। तीनों पिण्ड चित्यापिण्ड हैं। तीनों ही का जो वाङ्मण्डल है वह चितेनिधे पृष्ठ है। आत्मा को अन्तःपृष्ठ कहा जाता है। पिण्ड को नित्यपृष्ठ कहा जाता है एवं महिमा को चितेनिधेपृष्ठ कहा जाता है। हमने बतलाया है कि प्रत्येक पिण्ड में उसका एक महिमामण्डल रहता है जो कि वाङ्मय होने के कारण वषट्कार नाम से व्यवहृत होता है। यह वाक् रहती है यच्चयावत् पदार्थों में। परन्तु वस्तु है यह सूर्य्य की। वाक् नाम है आकाश का। आकाश को शून्य कहा जाता है। शून्य का अर्थ खाली पोल नहीं समझना चाहिए। १४ प्रकार के इन्द्रों में से एक इन्द्र का नाम है **'श्वा'**–इसी को शुन कहते हैं। वही इन्द्र, इस स्थान में, इस आकाश में, सर्वत्र भरा हुआ है, अतएव **"शुने हितम्"** इस व्युत्पत्ति से इस आकाश को शून्य कहा जाता है। यह शुन–इन्द्र मघवा इन्द्र है न कि मरुत्वान्। अर्थात् आन्तरिक्ष्य मरुत्वान् इन्द्र सर्वत्र व्यापक नहीं है अपितु दिव्य इन्द्र जिसका कि नाम मघवान् है, जो कि शुन नाम से व्यवहृत होता है, वही सर्वत्र व्याप्त रहता है। इसी शुन के लिए कहा जाता है—

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वंतमुग्रमूतये समत्सु घ्नंतं वृत्राणि संजितं धनानाम्॥
(ऋग्वेद ३।३०।२२)

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन्मादयस्व॥
(यजु० ७।५)

इस इन्द्र से, जो वागात्मक है, अर्थात् आकाशात्मक है, एक बिन्दु भी खाली नहीं है—इसीलिए **"नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन"** यह कहा जाता है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि वाक् आकाश का नाम है। आकाश इन्द्र का नाम है। वाक् ही तो इन्द्र है। इसी वाक् से वीचीतरंगन्यायेन क–च–ट–त–प–आत्मिका वेद वाक् की उत्पत्ति होती है। इसीलिए तो इस वाक् को वेदों की माता बतलाया गया है। वाक् से शब्द उत्पन्न होता है। वाक् नाम है आकाश का, श्वाइन्द्र का—इसीलिए **"शब्दगुणकमाकाशम्"** यह कहा जाता है। यह वाक् उस इन्द्र की वस्तु है। इन्द्र की वस्तु क्या है—दोनों अभिन्न हैं एकरूप हैं।

वाक्, बिना इन्द्र नहीं रहती। इन्द्र बिना वाक् नहीं रहता। इसीलिए वाक् को इन्द्रपत्नी भी कहा जाता है।

इन्द्र द्युलोक के अधिष्ठाता हैं। सूर्य के द्वादश प्राणों में सर्वत्र व्याप्त रहने वाले एक अन्यतम प्राण का नाम ही इन्द्र है। इसी का नाम वाक् है। इससे सिद्ध हो जाता है कि संसार में जितनी भी वाक् है, वह इसी की वस्तु है। वाक् द्युलोक की वस्तु है। पृथिवी की वाक् भी-वास्तव में उसी की वाक् है। वाक् के अधिष्ठाता द्युलोकस्थ सूर्य ही हैं। इसीलिए तो प्राण-आप-वाक्-अन्नाद-अन्न क्रम में सूर्य वाङ्मण्डल नाम से व्यवहृत होता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि सुपर्णी वाक् का नाम है। इससे सिद्ध हो जाता है कि द्युलोक के अधिष्ठाता इन्द्र का नाम ही सुपर्णी है। पृथिवी कद्रू है तो वाक् अर्थात् द्युलोक सुपर्णी है—इसी अभिप्राय से तैत्तिरीय श्रुति कहती है—

"इयं वै कद्रूरसौ सुपर्णी छन्दान्सि सौपर्णेयाः।

(तै० सं० ६।१।६।१)

बात वास्तव में सच है। पृथिवी जैसे अग्निगर्भा है, तथैव द्युलोक के अधिष्ठाता इन्द्र हैं। इसीलिए—**"यथाग्निगर्भा पृथिवी तथैव द्यौरिन्द्रेणगर्भेण"** यह कहा जाता है। इन्द्र का ही नाम तो वाक् है अतएव हम अवश्य ही द्युलोक को सुपर्णी कह सकते हैं। सुपर्ण नाम है—दूर तक उड़ने वाले बाज पक्षी का। पिण्ड अपने स्थान पर ही रहता है। परन्तु वाक् पिण्ड से बड़ी दूर तक ३३ तक धावा मारती है। वाङ्मण्डल बड़ी दूर तक जाता है। इसीलिए वाक् को सुपर्णी कहा जाता है। बस सोम लाने के लिए देवताओं ने इन दोनों को उत्पन्न किया। एवं उत्पन्न करके इन दोनों में झगड़ा उत्पन्न कर दिया। यहां इतना और समझना चाहिए कि जिसे हमने सुपर्णी कहा है उसे ही पौराणिक विनता कहते हैं। पृथिवी का जो अग्नि है वह अङ्गिरा कहलाता है। यह अङ्गिरा अग्नि पृथिवी-केन्द्र से ऊपर की ओर प्रतिक्षण जाया करता है। पृथिवी का अङ्गिरा अग्नि अनवरत द्युलोक की ओर जाया करता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

इत एत उदारुहन्दिवः पृष्ठान्या रुहन्।
प्र भूर्जयो यथा पथोद्यामङ्गिरसो ययुः॥ (सामवेद पू० १।२)

साथ ही सौर प्राण जिसे कि आदित्य कहेंगे हर पल पृथिवीलोक में आया करता है। ये आदित्य-सूर्य-रश्मियां पृथिवी पर आ कर टकराती हैं। टकरा कर प्रतिफलित हो कर वापस द्युलोक की ओर चली जाती हैं। इस प्रकार आदित्य भी द्युलोक की ओर जा रहा है—एवं अङ्गिरा भी द्युलोक की ओर जा रहा है। अङ्गिरा अमृत-मर्त्य भेदेन दो प्रकार का है। जो मर्त्य अङ्गिरा है अर्थात् अग्नि है उसी का नाम कद्रू है और जाते हुए आदित्य का नाम सुपर्णी है। सुपर्णी वाक् को कहते हैं। वाक् ही का नाम आदित्य है अर्थात् इन्द्र है। सूर्य से आदित्य, पृथिवी-लोक में आकर पृथिवी में टक्कर मारता है।

चित्य अङ्गिरा और आदित्य दोनों में घर्षण होता है। इस संघर्ष को अश्वघर्षण भी कहा जाता है। बस चित्याग्नि की ओर आने वाले आदित्य का अर्थात् सूर्य्य-रश्मियों का और पार्थिव चित्याग्नि का जो संघर्ष होता है यही कद्रू और विनता की लड़ाई है। कद्रू और विनता अर्थात् सुपर्णी में सदा युद्ध होता रहता है। यह युद्ध होता है देवताओं की प्रेरणा से। देवताओं के अधिष्ठाता हैं इन्द्र। वे रहते हैं—द्युलोक में। उनकी प्रेरणा से सूर्य्य-रश्मियां पृथिवी के अङ्गिराग्नि से टकराती हैं। पृथिवी को ठोकर मार कर घुमा देना-यह इन्द्र का ही काम है। इन्द्र हर पल पृथिवी पर अपनी प्रेरणा का प्रयोग किया करते हैं। इसी-लिए श्रुति कहती है—

यज्ञः इन्द्रमवर्धयद्यद्भूमिं व्यवर्तयत्। चक्राण ओपशं दिवि ।। (ऋग्वेद म० ८।१४।५)

कहना यही है कि अङ्गिरा और आदित्य की अर्थात् कद्रू और सुपर्णी की स्पर्धा का एकमात्र कारण देवाधिपति इन्द्र ही है। देवता ही कद्रू और सुपर्णी में झगड़ा उत्पन्न करते हैं। आदित्य और अङ्गिरा में अर्थात् कद्रू और सुपर्णी में स्पर्धा चला करती है—इसी अभिप्राय से कहा जाता है: —

"आदित्याश्च ह वा अङ्गिरसश्च स्वर्गे लोकेऽस्पर्धन्त वयं पूर्व एष्यामो वयमिति ।। (ऐ० ब्रा० ३०।८)

बस, कद्रू और सुपर्णी अर्थात् विनता की लड़ाई का यही रहस्य है। पृथिवी का चित्य अङ्गिरा कद्रू है एवं आने वाला आदित्य और सूर्य्य-रश्मियां जिन्हें कि इन्द्र सम्बन्धेन वाक् कहा जाता है सुपर्णी है। दोनों का इस पृथिवी पिण्ड पर घर्षण होता रहता है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर कहा जाता है—

तऽएतेमायेऽसृजन्त सुपर्णीं च कद्रूं च। वागेव सुपर्णीयं कद्रूः ताभ्यां समदं चक्रुः। (शत० ३।६।२।२)

परस्पर झगड़ा करती हुई वे दोनों ही बोलीं कि अच्छा यों तो अपना झगड़ा शान्त होगा नहीं अतएव एक शर्त लगानी चाहिए—जिससे यह झगड़ा शांत हो जाय। वह शर्त यही है कि जिसकी तेज निगाह हो, जो अधिक दूर की वस्तु देख सके, वही स्वामिनी बन जाय, दूसरी उसकी दासी बन जाय। दोनों ने इस बात को स्वीकार कर लिया। कद्रू ने सुपर्णी से कहा कि अच्छा, आकाश की ओर देख कर बतलाओ—कि तुम्हें क्या दिखलाई पड़ता है ? सुपर्णी ने कहा कि इस पृथिवी के उस पार मुझे एक सफेद घोड़ा दीख रहा है एवं वह एक थूण से बँध रहा है।

विष्वद्वृत्तीय पृष्ठि-केन्द्र को जैसे ध्रुव कहते हैं, उसी प्रकार क्रान्तिवृत्तीय सृष्टि-केन्द्र को कदम्ब[1] कहते हैं। यह कदम्ब ध्रुव से २४ अंश के अन्तर पर है। ध्रुव इस कदम्ब के चारों ओर परिक्रमा लगाता रहता है। इसी कदम्ब को विष्णु-स्थान कहते हैं। पृथिवी का जो १७ वां अहर्गण है उससे

---

१. विज्ञान चित्रावली प्रथम खण्ड में शतपथ ब्राह्मण (द्वितीय खण्ड) के अन्तर्गत ध्रुव-विद्युत् परिलेख देखें।

प्रारम्भ कर २५ वें अहर्गण तक ६ अहर्गणों का नवाहयज्ञ [२] होता है। इस नवाहयज्ञ के ठीक केन्द्र में अर्थात् पृथिवी के २१ वें अहर्गण पर भगवान् सूर्य्य रहते हैं।

बस इस ६ अहः का जो उत्तर से दक्षिण तक अग्नि का एक गोला है, जो कि सूर्य्य को केन्द्र में रखता हुआ उत्तर से दक्षिण की ओर जाता रहता है, जिसका कि स्वरूप प्रायणीय ब्राह्मण में बतला दिया गया है, उसे ही स्कम्भ कहते हैं। स्कम्भ ही का दूसरा नाम है स्थाणु। इस स्कम्भ के उत्तर बिन्दु का नाम उत्तरकदम्ब है और दक्षिण-बिन्दु का नाम दक्षिणकदम्ब है। इस स्तम्भ के ठीक बीचों-बीच २१ पर सूर्य्य प्रतिष्ठित है। इसी स्तम्भ को यूप भी कहा जाता है। इसी यूप को भाषा में थूण कहा जाता है। बस उस सुपर्णी ने इस थूण से बंधे हुए इस सफेद घोड़े को अर्थात् सूर्य्य को देखा। सुपर्णी ने कहा कि एक थूण के सफेद घोड़ा बँध रहा है। उसे मैं देख रही हूं। कितने ही आचार्य्यों का मत है कि सूर्य्य तो यूप है और सूर्य्य का जो प्रकाशमण्डल है वही अश्व है। इसमें विरोध नहीं समझना चाहिए। सुपर्णी अर्थात् पृथिवी पर आने वाली वाक्‌रूपा सूर्य्य की रश्मियाँ प्रतिफलित हो कर वापस इसी सूर्य्य में, अपने प्रभव में, चली जाती है। सूर्य्य सफेद है एवं स्कम्भ के बीचों-बीच स्थिर रूप से तप रहा है। बस यही सुपर्णी का थम्भे से बंधे हुए सफेद घोड़े को देखना है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

सा ह सुपर्ण्युवाच। अस्य सलिलस्य पारेऽश्वः श्वेतस्थाणौ सेवते तमहं पश्यामीति तमेवत्वं पश्यसीति। (शत० ३।६।२।४)

सुपर्णी ने कहा कि कद्रू! मेरा विश्वास है कि शायद तुम भी उसी सफेद घोड़े को देख रही होंगी। कद्रू ने कहा कि हां, मैं सफेद घोड़ा तो देख रही हूं परन्तु साथ ही उसकी पीठ पर चिपके हुए काले बाल भी मुझे दिखलाई पड़ रहे हैं एवं वे काले बाल कभी-कभी हवा से हिल भी पडते हैं।

कद्रू पृथिवी का नाम है-यह हम बतला चुके हैं। पृथिवी प्रातिस्विक रूपेण सर्वथा काली है। सूर्य्य बिलकुल सफेद नहीं है अपितु उसमें पृथिवी का काला प्राण भी शामिल है। सूर्य्य की प्रत्येक रश्मि में सात-सात डोरे रहते हैं। प्रत्येक डोरे भिन्न-भिन्न रंग के हैं। सूर्य्य की प्रति किरण में सात-सात रंग रहते हैं। एक तरफ पृथिवी है, दूसरी तरफ सूर्य्य है। कल्पना कर लीजिए कि पृथिवी दक्षिण भाग में है, सूर्य्य उत्तर भाग में है। सूर्य्य के रंग को हमने सफेद बतलाया है। परन्तु वास्तव में उसे हिरणमय रंग समझना चाहिए। सूर्य्य का प्रकाशमण्डल सुनहरी रंग का है। इसीलिए-

हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्।

(ऋग्वेद १।३५।२)

यह कहा जाता है। कहने का तात्पर्य यही है कि सूर्य्य का प्रातिस्विक अपना रंग हिरणमय है एवं पृथिवी का रंग काला है अतएव पृथिवी की जो रश्मियां निकलती हैं-वे भी काली ही निकलती हैं।

---

२. विज्ञान चित्रावली प्रथम खण्ड के श्राद्ध-विज्ञान (चतुर्थ खण्ड) के अन्तर्गत नवाह यज्ञमण्डल परिलेख देखें।

इस प्रकार उधर से सूर्य्य की हिरण्मयी रश्मियां आती हैं और इधर से पृथिवी की काली रश्मियां जाती हैं। सूर्य्य और पृथिवी के एक पार्श्व में हिरण्मय रंग आधार रहता है और पृथिवी का रंग आधेय रहता है एवं दूसरे पार्श्व में हिरण्मय आधेय रहता है, कृष्ण रंग आधार रहता है।

बस इस आधाराधेय भाव से दो रंगों के ७ रंग बन जाते हैं। इतना और समझ लेना चाहिए कि पृथिवी से निकलने वाली काली रश्मियाँ उत्तरोत्तर फीकी पड़ती जाती हैं। उत्तरोत्तर काले रंग की गहराई कम होती जाती है, यहां तक कि सूर्य्यमण्डल तक जाते-जाते तो काला वर्ण बिलकुल हल्का हो जाता है। इसी प्रकार सूर्य्य का हिरण्मय वर्ण, पृथिवी पर आते-आते बिलकुल हल्का हो जाता है। कहना इससे यही है कि सूर्य्य के पास हिरण्मय की प्रधानता है और पृथिवी में काले रंग की प्रधानता है।

जिस पार्श्व में काला रंग आधार है और हिरण्मय आधेय है पहले उस ओर से प्रारम्भ कीजिए- सूर्य्य के पास ही में जरा आगे बढ़कर जो रंग है वह लोहित कहलाता है। सूर्य्य का रंग आधेय है और पृथिवी का काला रंग आधार है। इस काले पर हिरण्मय सवार है, आरोहित है अतएव इसे रोहित कहते हैं। रोहित ही लोहित कहलाता है। हिरण्मय में अर्थात् सुनहरी में यदि हल्का काला रंग मिला दिया जाय तो वह हिरण्मय-लाल हो जाता है। चूँकि इसमें इस समय पृथिवी का हल्का सा काला रंग शामिल है अतएव इस पहली अवस्था को हम लोहित कहने के लिए तैय्यार हैं। इसके बाद में काला अधिक मात्रा में है, अतएव इस पर आरूढ़ वह रोहित, शोणित में परिणत हो जाता है अर्थात् गहरा लाल हो जाता है। लोहित में यदि जरा सी स्याही (काली) और मिला दी जाय तो वह लोहित गहरा लाल हो जाता है इसी को गुलगह रंग कहा जाता है। चूंकि लोहित में आगे बढ़ने से पृथिवी का काला प्राण अधिक मात्रा में शामिल रहता है अतएव वह रंग शोणित कहलाने लगता है। इसके बाद जब दोनों समान भाव में आ जाते हैं अर्थात् जितना हिरण्मय होता है—उतना ही काला रहता है तो वह नील-लोहित स्वरूप में परिणत हो जाता है। इसी को धूम्र किंवा घूमिल भी कहा जाता है। दोनों का समान रूप से जो मिश्रण है उसीका नाम नील-लोहित है। इसी रंग को भाषा में "बैंगनियां" रंग कहते हैं।

बस इससे आगे हिरण्मय बिल्कुल फीका रह जाता है-एवं शुद्ध काला रंग रह जाता है। यह पृथिवी का अपना रंग है। अब दूसरे उस पार्श्व की ओर चलिए जिसमें सूर्य्य का रंग तो आधार है और पृथिवी का आधेय है। सबसे पहला जो काला रंग है हल्के से हिरण्मय पर सवार है-श्याम कहलाता है। "**दूर्वादलश्यामल कोमलांगम्**" से यही श्याम अभिप्रेत है। यही श्याम रंग जिसमें कि जरा सा हिरण्मय रंग मिला रहता है, कालान्तर में हिरण्मय रंग अधिक मात्रा में आ जाने से श्याम--हरित वर्ण में परिणत हो जाता है। इसके बाद यदि और भी हिरण्मय का प्राबल्य हो जाता है तो वह हरित-पीला हो हो जाता है। पीले में थोड़ा-सा-हल्का सा काला है। इसके बाद जब काला बिल्कुल ही नहीं रहता तो शुद्ध हिरण्मय रंग रह जाता है। इस प्रकार काले और हिरण्मय के मेल से ७ रंग हो जाते हैं।

सूर्य्य के जो सात रंग हैं वे पूषा द्वारा ही होते हैं। पूषा कहते हैं पृथिवी को। इसका रंग काला है। यदि काले रंग का हिरण्मय में मिश्रण न होता तो सूर्य्य-रश्मियाँ सात रंग की कभी नहीं हो सकती थीं। काले रंग में और हरिण्मय में लड़ाई होती रहती है। काली कद्रू है-सफेद सुपर्णी है। सुपर्णी कहती

है–घोड़ा सफेद है परन्तु कद्रू कहती है सफेद घोड़े के काले बाल भी हैं और वे हवा से हिल भी रहे हैं। अर्थात् सूर्य्य के हिरण्मय में पृथिवी का काला प्राण भी शामिल है। यदि काला रंग शामिल न होता तो सूर्य्य के सात रंग हो ही नहीं सकते। सुपर्णी को सफेद ही दीखता है, इसका अर्थ यही है कि सुपर्णी प्रतिफलित आदित्य का नाम है। आदित्य सूर्य्य है। यह वास्तव में सफेद है। प्रतिफलित आदित्य ही तो सुपर्णी है, जिसका कि प्रभव सूर्य्य है। सुपर्णी की अपेक्षा वास्तव में सूर्य्य सफेद है। परन्तु इसमें पृथिवी का काला भाग भी शामिल है। यही काले बाल हैं एवं साथ ही ये हवा से हिल रहे हैं। सूर्य्य-रश्मियों में जैसे पृथिवी का काला प्राण है-उसी प्रकार- उनमें अन्तरिक्ष का वायु भी घुसा हुआ है। यदि वायु न होता तो रश्मियों में प्राणादपानात् क्रिया न होती। गति के अधिष्ठाता वायु ही है। रश्मियों में जो चमचमाहट दीखती है वह इसी वायु का काम है। यदि वायु इस सूर्य्य-स्वरूप सफेद घोड़े में शामिल न होता तो घोड़े के रश्मिस्वरूप बाल कभी न हिलते। परन्तु हिलते हैं अतएव मानना पड़ता है कि इसमें वायु भी शामिल है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि सूर्य्य–रश्मियों में काला प्राण भी है। इसी से सूर्य्य में सात रंग हैं एवं वायु भी है—तभी रश्मियाँ चमाचम रहती हैं। सुपर्णी कहती है–सफेद ही है। कद्रू कहती है—काले बाल भी हैं और वे हवा से हिल भी रहे हैं। अर्थात् सूर्य्य में पृथिवी और अन्तरिक्ष दोनों ही वस्तु शामिल हैं। हमने सात रंग बतलाए हैं। कहने को सात हैं। मोटी नजर से सात रंग बतलाए गये हैं। वस्तुतस्तु बिन्दु-बिन्दु पर रंग बदल जाते हैं। परन्तु ध्यान रहे, इसका एकमात्र कारण यह पूषा पृथिवी ही है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि।

विश्वा हि माया अवसि स्वधावो भद्रा ते पूषन्निहरातिरस्तु ॥

(ऋग्वेद ६।५८।१)

सूर्य्य में जो सात रंग बतलाये गये हैं—उनमें से प्रायः हरित और लाल ही दीखा करते हैं। अवशिष्ट रंग गौर करने से दीखता है। इसमें जो हरित रंग है वह पृथिवी की वस्तु है। लाल, सूर्य्य की वस्तु है एवं चमचमाहट वायु की वस्तु है। तीनों शामिल हैं। सूर्य्य में पृथिवी का हरित वर्ण शामिल है अतएव इन्द्र को हरिदश्व भी कहा जाता है। पौराणिक कथा में बतलाया गया है कि जब कद्रू और विनता में परस्पर शर्त ठहर गई—कद्रू कहती थी–घोड़े की पूँछ काली है एवं विनता कहती है कि घोड़ा बिलकुल सफेद है तो इससे कद्रू को बड़ी चिन्ता हुई–क्योंकि घोड़ा वास्तव में सफेद था। अतएव कद्रू ने अपने पुत्रों (सर्पों को) को आज्ञा दी कि पुत्रो, तुम जा कर उस घोड़े की पूँछ के लिपट जाओ। सर्पों ने वैसा ही किया। विनता ने देखा तो वास्तव में घोड़े की पूँछ काली पाई। अतएव प्रतिज्ञानुसार उसे इस कद्रू की मातहती स्वीकार करनी पड़ी। इसका तात्पर्य्य यही है कि पृथिवी की जो काली रश्मियाँ हैं वे सर्पण करती हुई सूर्य्य में शामिल होती रहती हैं। इतना ही नहीं पृथिवी का जो साम है वह सूर्य्य से भी ऊपर तक चला जाता है। इसीलिए तो पृथिवी के साम को रथन्तर-साम कहा जाता है। इस प्रकार सूर्य्य अर्थात् सूर्य्य-वाक् अर्थात् सुपर्णी, कद्रू अर्थात् पृथिवी के शासन में रहती है। बस इसी प्राकृतिक विज्ञान को लक्ष्य में रख कर कहा जाता है—

"सा ह सुपर्ण्युवाच । अस्य सलिलस्य पारेऽश्वः श्वेत स्थाणौ सेवते त महं पश्यामीति त मेव त्वं पश्यसीति । तं होत्यथ ह कद्रूरुवाच । तस्य वालो न्यषञ्जि त ममुं वातो धूनोति त महं पश्यामीति । (शत० ३।६।२।४)

जब कद्रू ने कहा कि मैं काले बाल और देखती हूं तो सुपर्णी ने कहा कि हम यों नहीं मान सकते। चलो, हम दोनों ही उड़ कर असली बात का प्रत्यक्ष कर लें। कद्रू ने कहा कि यह नहीं हो सकता। संदेह तुमको है, तुम जाकर देख सकती हो। हम नहीं चलते, तुम देख आओ। अपन दोनों में से कौन जीता, यह तुम आ कर कह देना। हम तुम्हारी बात पर विश्वास कर लेंगे। सुपर्णी लाचार थी। वही आकाश में उड़ी। उसने जा कर देखा तो वास्तव में घोड़े के बाल काले थे। यह देख कर सुपर्णी वापस लौट आई और कहा कि बहिन, मैं हारी और तुम जीती।

कद्रू पृथिवी-पिण्ड का नाम है। पिण्ड बाहर तक धावा नहीं मारता। पिण्ड में से निकलने वाली जो वाक् है—वही ३३ तक जाती है। प्रत्येक पदार्थ का महिमामण्डल ही बाहर की ओर जाया करता है न कि पिण्ड। पिण्ड अपने स्थान पर रहता है। महिमामण्डल दूर तक जाता है। जैसे पिण्ड का नाम पृथिवी है—महिमामण्डल का नाम वाक् है। पृथिवी का नाम कद्रू है—वाक् का नाम सुपर्णी है। कद्रू अर्थात् पृथिवी सूर्य्य तक नहीं जाती अपितु पृथिवी की वाक् —पृथिवी का साम अर्थात् सुपर्णी–सूर्य्य तक जाती है। सूर्य्य तक ही नहीं जाती अपितु सूर्य्य के रथ के भी उस पार तक चली जाती है। बस, इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर कहते हैं—

"सा ह सुपर्ण्युवाच। एहीदं पताव वेदितु यतरा नौ जयतीति सा ह कद्रूरुवाच त्व मेव पत त्वं वै न ऽआख्यास्यसि यतरा नौ जयतीति ।। सा ह सुपर्णी पपात। तद्ध तथैवास यथा कद्रूरुवाच ता मागता मभ्युवाद त्व मजैषी ३ रहा ३ मिति त्व मिति होवाचैतद्धयाख्यानं सौपर्णीकाद्रव मिति ।।"
(शत० ३।६।२।६-७)

एक दिन कद्रू ने सुपर्णी से कहा, तुम मेरी दासी हो। यदि इस दासीपने से छुटकारा पाना चाहती हो तो देवताओं के लिए सोम ले आओ। सोम लाने पर हम तुम्हें दासीपने से छुटकारा दे देंगे। सुपर्णी ने इस बात को स्वीकार कर लिया। इस पर सुपर्णी वाक् ने गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती नाम की तीन पत्नियों को पैदा किया।

पृथिवी में से निकलने वाली जो वाक् है वह ३३ तक रहती है—जैसा कि पूर्व के प्रकरणों में बतला दिया गया है। इस वाक् से गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती का जन्म होता है। हमने बतलाया है कि पृथिवी का अमृताग्नि २१ अहर्गण तक जाता है। २१ के बाद ३३ अहर्गण तक भास्वर सोम और दिक्सोम रहता है। यह अग्नि, घन-तरल-विरल भेद से तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। घन-अग्नि त्रिवृत् तक अर्थात् पृथिवी के ९ वें अहर्गण तक रहता है। तरलाग्नि पञ्चदशस्तोम तक रहता है एवं विरलाग्नि एक-

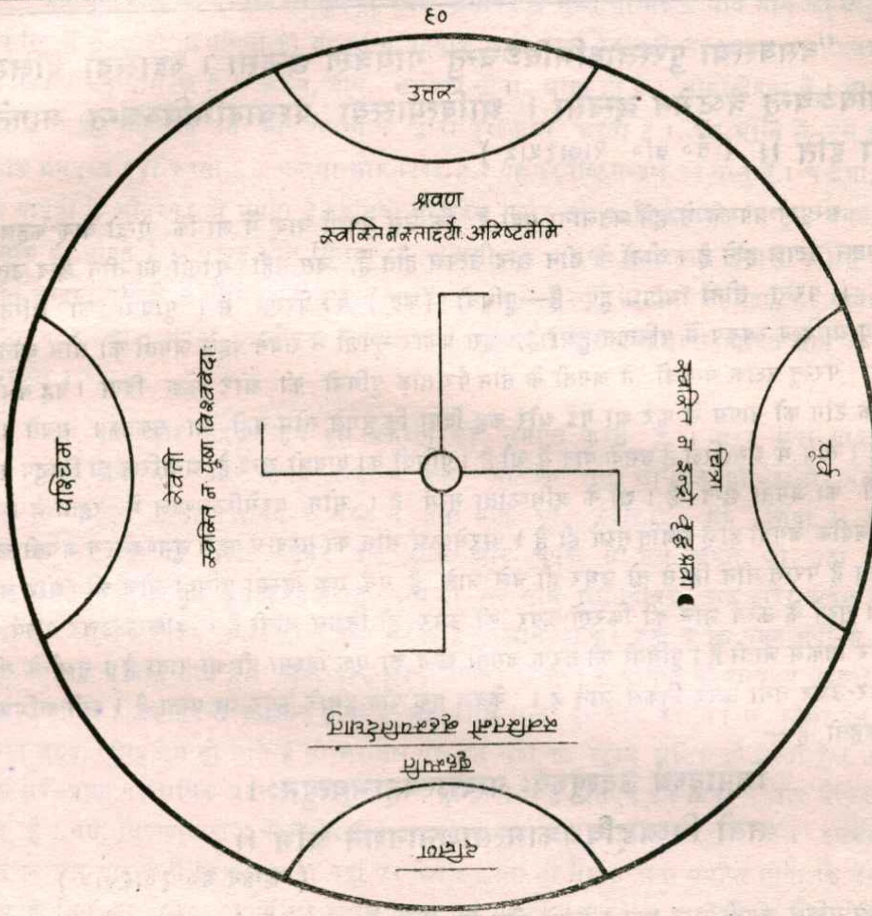
विंश स्तोम तक रहता है। जो घन-अग्नि है, उसे अग्नि ही कहते हैं। तरलाग्नि को इन्द्र किंवा वायु कहते हैं एवं विरलाग्नि को आदित्य कहते हैं। इस प्रकार एक ही अग्नि इन घन-तरल-विरलावस्थाओं में परिणत हो कर अग्नि–वायु–आदित्य इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। एक वषट्कार के—तीन वषट्कार बन जाते हैं। अग्नि का अर्थात् पृथिवीपिण्ड का वषट्कार-मण्डल अलग बन जाता है। वायु का अर्थात् अन्तरिक्ष का वषट्कार अलग बन जाता है एवं द्युलोक का अर्थात् सूर्य्य का वषट्कार पृथक् बन जाता है। एक वाक् तीन वषट्कारों को उत्पन्न कर देती है। एक ही वाक् पृथिवी–अन्तरिक्ष-द्यौ तीन भागों में परिणत हो जाती है। पृथिवी के वषट्कार का जो छन्द है, उसका नाम है गायत्री। अन्तरिक्ष के छन्द का नाम है त्रिष्टुप् एवं द्यौ के छन्द का नाम है जगती। छन्द उस पदार्थ का नाम है जिसमें कि सारे पदार्थ रहते हैं। आयतन का नाम छन्द है। छन्द से ही देवता का स्वरूप बनता है। छन्दित करने वाले को छन्द कहते हैं। वयोनाध ही को छन्द कहते हैं। पुस्तक का जो एक आकार है, उसी का नाम छन्द है। यदि उस आकार को नष्ट कर दिया जाएगा तो पुस्तक उसी समय नष्ट हो जाएगी। छन्द के आधार पर, पैमाने के आधार पर, वस्तु की सत्ता रहती है। अग्नि-वायु आदि पदार्थ ही देवता कहलाते हैं। ये उस छन्द पर ही रहते हैं। इसीलिए इन छन्दों को देवताओं का घोड़ा बतलाया जाता है। प्रत्येक पदार्थ का छन्द भिन्न-भिन्न होता है। यदि उस छन्द में अणुमात्र भी कम ज्यादा हो जाता है तो उस वस्तु का स्वरूप नष्ट हो जाता है। ऋग्-यजु-साम ये तीनों छन्द पर रहते हैं। चूँ कि बिना छन्द के वेद–सत्ता रह नहीं सकती अतएव छन्द ही को वेद कह दिया जाता है। वेद अभिप्राय से ही—**"छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति"** यह कहा जाता है।

प्रत्येक वस्तु का एक महिमामण्डल होता है। यह बात हम पूर्व के प्रकरण में बतला आए हैं। मण्डल जितने भी होते हैं वे गोल होते हैं या चतुर्भुज होते हैं। प्रत्येक मण्डल चाहे छोटा हो, चाहे बड़ा हो ३६० अंश में परिणत होता है। ३६० के ९०-९०-९०-९० के हिसाब से चार टुकड़े किये जाते हैं। खगोल के जो चार हिस्से हैं उन्हें स्वस्तिक कहा जाता है। यही चारों हिस्से चार भुजाएँ कहलाती हैं। खगोल की इन्हीं चार भुजाओं का वर्णन करती हुई श्रुति कहती है—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

(ऋग्वेद मं० १।८९।६)

वृद्धश्रवा नाम का इन्द्र जो कि चित्रा का स्वामी है, वह अर्थात् चित्रा ही और पूषा अर्थात् रेवती दोनों ठीक १८० अंश पर हैं। चित्रा से रेवती १८० अंश पर है एवं रेवती चित्रा से १८० अंश पर है। इसी प्रकार तार्क्ष्य अर्थात् श्रवण-बृहस्पति से अथात् लुब्धकबन्धु से १८० अंश पर है। इस प्रकार सारा आकाश ४ भागों में विभक्त है। (चित्र पृष्ठ ३७१ पर देखें) निर्दशन मात्र है–संसार के यच्चयावत् मण्डलों में यही चतुर्भुज व्यवस्था होती है। मण्डल जिसके आधार पर रहता है उसी का नाम छन्द है। छन्द ही तां रब का आलम्बन है। इस प्रकार मण्डल के चार भाग करना उस छन्द के चार भाग करना है। इससे सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक छन्द चार-चार भागों में विभक्त है। भाग को वैदिक परिभाषा में अक्षर कहा जाता है। इसी अभिप्राय से महर्षि महीदास कहते हैं—



छन्दांसि वै तत्सोमं राजानमच्छाचरंस्थानि ह तर्हि चतुरक्षराणि । चतुरक्षराण्येव च्छन्दांस्यासन्सा जगती चतुरक्षरा ।। (ऐत० ब्रा० १३।१)

प्रत्येक वृत्त के पूर्वापर एक वृत्त होता है । एक याम्योत्तर होता है । इन दोनों वृत्तों से प्रत्येक मण्डल चार विभागों में विभक्त हो जाता है । यही उस मण्डल के छन्द के चार अक्षर हैं । हमने बतलाया है कि पृथिवी, अंतरिक्ष और द्यौ तीन मण्डल हैं । अतएव तीनों के तीन छन्द हैं एवं प्रत्येक छन्द चार-चार अक्षर का है । जो पृथिवी का छन्द है उसका नाम 'गायत्री' है । अंतरिक्ष के छन्द का नाम 'त्रिष्टुप' है एवं द्यौ के छन्द का नाम जगती है । पृथिवी के अधिष्ठाता अग्नि हैं, अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता वायु हैं एवं द्यौ के अधिष्ठाता आदित्य हैं । जो अग्नि है उसकी विशेष आठ अवस्थाओं का नाम ही आठ वसु हैं । वायु की ग्यारह अवस्थाओं का नाम ही ग्यारह रुद्र हैं एवं आदित्य की १२ अवस्थाओं का नाम ही १२ आदित्य हैं । वसुओं का छन्द अर्थात् अग्नि का छन्द गायत्री है, रुद्र का त्रिष्टुप् है, द्यौ का जगती है । इसी अभिप्राय से कहा गया है—

"वसवस्त्वा पुरस्तादभिषिञ्चन्तु गायत्रेण छन्दसा । रुद्रास्त्वा दक्षिणतोऽभिषिञ्चन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसा । आदित्यास्त्वा पश्चादभिषिञ्चन्तु जागतेन छन्दसा इति ।। (तै० ब्रा० २।७।१५।५)

सम्पूर्ण प्रपञ्च से हमें बतलाना यही है कि उस सुपर्णी वाक् में जो कि ऐन्द्री वाक् कहलाती है, ३ मण्डल उत्पन्न होते हैं । तीनों के तीन छन्द उत्पन्न होते हैं, बस यही सुपर्णी का तीन छन्द उत्पन्न करना है । परन्तु तीनों उत्पन्न हुए हैं—पृथिवी (कद्रू) की प्रेरणा से । पृथिवी का अग्नि ही अग्नि-वायु-आदित्य स्वरूप में परिणत हुआ है । इस प्रकार सुपर्णी ने सबसे पहले जगती को सोम लाने के लिए भेजा परन्तु रक्षक गन्धर्वों ने जगती के तीन पैर तोड़ पृथिवी की ओर फेंक दिया । वह बेचारी अपनी एक टांग को वापस ले कर आ गई और कह दिया कि हमसे सोम नहीं आ सकता । सबसे पहले पृथिवी है । बाद में अन्तरिक्ष है उसके बाद में द्यौ है । पृथिवी का गायत्री छन्द है, अन्तरिक्ष का त्रिष्टुप छन्द है एवं द्यौ का जगती छन्द है । द्यौ के अधिष्ठाता सूर्य्य हैं । सोम परमेष्ठिमण्डल में रहता है । इस सोम के नजदीक जगती ही है अर्थात् सूर्य्य ही है । पारमेष्ठ्य सोम का सम्बन्ध पहले द्युमण्डलस्थ जगती छन्द से ही होता है परन्तु तीन हिस्से तो उधर ही चले जाते हैं एवं एक हिस्सा पृथिवी-लोक की ओर चला आता है । सूर्य्य के ऊर्ध्व भाग की किरणें ऊपर की ऊपर ही निकल जाती हैं । दक्षिण-उत्तर पार्श्व की दक्षिणोत्तर निकल जाती हैं । पृथिवी की तरफ जगती छन्द का एक हिस्सा ही आ पाता है । सूर्य्य के तीन हिस्से इधर-उधर तथा ऊपर निकल जाते हैं । केवल एक पाद हमारे ऊपर आ पाता है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
ततो विष्वङ्व्यक्रामत्साशनानशने अभि ।।

(ऋग्वेद मं० १०।९०।४)

सबसे पहिले जगती छन्द गया । उसके तीन पैर सोमरक्षक गन्धर्वों ने तोड़ डाले । इसका यही रहस्य है । बाद में त्रिष्टुप् गई । उसका एक पैर तोड़ डाला और तीन पैरों सहित उसे पृथिवी पर डाल दिया । सूर्य्य से नीचे—अन्तरिक्ष के छन्द का नाम है त्रिष्टुप् । इसके द्वारा जो सोम पृथिवी पर आता है वह तीन हिस्से युक्त आता है । आता तो है एक ही तरफ का-परन्तु ऊपर से आने वाली सूर्य्य-रश्मियाँ दोनों पार्श्वों को तिरछा कर त्रिष्टुप् को-दोनों पार्श्वों के सोम को भी-पृथिवी पर ही डाल देती है । बस यही त्रिष्टुप् की एक टांग के टूटने का रहस्य है । बाकी बचती है गायत्री । गायत्री सत्य-अग्नि है । क्योंकि पृथिवी केन्द्र से बद्ध है । सत्य में ऋत् की अपेक्षा अधिक बल रहता है । इसलिए गायत्री ने जोर से झपट्टा मारा और सोमरक्षक गन्धर्वों को डरा कर झट सोम ले लिया और वहाँ पर जो जगती की और त्रिष्टुप की टांगें थीं उन्हें भी उठा लाई । तीन जगती की टाँगें थीं और एक त्रिष्टुप् की थी । इन चारों के आ जाने से गायत्री आठ पैर वाली हो गई । बस तभी से "अष्टाक्षरा वै गायत्री" यह बात प्रसिद्ध हो गई । गायत्री ही सोम ला सकी । इसमें जगती का और त्रिष्टुप् का सोम भी शामिल हो जाता है । शेष सोम सूर्य्य के ऊपर और पार्श्व में चला जाता है । यही अष्टाक्षरा गायत्री का तात्पर्य्य है ।

जब गायत्री सोम ले आई तो सुपर्णी इसके दासीपने से मुक्त हो गई। यदि सोम की आहुति इस चित्याग्नि में न पड़ती तो पृथिवी का यह अग्नि यह्वाक् कभी ऊपर तक नहीं जा सकता था। इसका एकमात्र कारण यह सोम ही है। अग्नि, वायु, आदित्य तीनों अग्नि ही हैं। तीनों देवता हैं। ये सोम को चाहा करते हैं। यह चाह उस गायत्र्याग्नि के द्वारा पूरी हुआ करती है। इस अग्नि में उस सोम की आहुति अनवरत पड़ा करती है। चन्द्रमा सोम-पिण्ड है। यह परमेष्ठिमण्डल की वस्तु है। चन्द्रमा, पृथिवी और गायत्री के चौतरफा ही घूमता है। पृथिवी-अन्तरिक्ष और द्यौ अर्थात् गायत्री, त्रिष्टुप, जगती तीनों ही सोम को चाहते हैं। परन्तु सोम मिलता है गायत्री को। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि सोम अर्थात् चन्द्रमा पृथिवी से ही बद्ध रहता है। इस प्रकार वाक सुपर्णी ने तीनों को पैदा कर गायत्री द्वारा अर्थात् गरुड़ द्वारा अपना दासीपना छुड़ाया था। देवताओं ने गायत्री द्वारा आगत सोम से ही यज्ञ किया था।

एक बात और कहकर हम इस प्रकरण को समाप्त करते हैं। गरुड़-रूपा गायत्री जिस समय सोम लेने गई उस समय इन्द्र ने कहा था कि तुम सोम ले तो जाओ परन्तु हम उसी समय इसे उठा लाएँगे। गरुड़ ने इस बात को स्वीकार कर लिया। गरुड़ ने अमृत ला कर कद्रू को सौंपा। इधर इन्द्र आये और चुपके से उस अमृत को उठा ले गये। अग्नि में सोम की आहुति पड़ती है परन्तु साथ ही वह सोम आधिदैविक इन्द्र द्वारा वापस भी चला जाता है। आदान-विसर्ग समानरूपेण हुआ करता है। आगे जा कर कहा है कि गरुड़ सर्पों के वैरी बन गए। वास्तव में बात सत्य है। सूर्य्य-वाक्-सुपर्णी अपनी रश्मियों से पृथिवी के प्राणमय पदार्थों को सदा चूसा करती है। जब सुपर्णी कमजोर होती है-चातुर्मास्य आता है-सूर्य्य का प्रकाश धीमा पड़ जाता है अर्थात् गरुड़, क्षीण-तेज हो जाते हैं तो धरातल पर उन सर्पों का राज्य अधिक हो जाता है। उस प्राकृतिक सर्प-प्राण की अधिक प्रबलता चातुर्मास्य में ही होती है। अतएव इन दिनों में सांप अधिक उत्पन्न होते हैं। बस, धिष्ण्याब्राह्मण के सौपर्णीकाद्रवाख्याना का यही वैज्ञानिक रहस्य है। इसका विस्तृत विवेचन इसी ब्राह्मण में किया जायगा यहां पर केवल इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि देवताओं ने सोम के लिए कद्रू और सुपर्णी को उत्पन्न किया एवं सुपर्णी (वाक्) ने दासीपने से मुक्त होने के लिए गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती को उत्पन्न किया। इन तीनों में से देवताओं के लिए गायत्री ने गरुड़ बन कर सोम की ओर धावा मारा। "**तेभ्यो गायत्री सोममध्यापतत्**" एक झपट्टा मारकर गायत्री ने वहां से सोम उठा लिया। जिस समय गायत्री सोम ला रही थी उस समय सोम लाती हुई उस गायत्री के सोम को-सोमरक्षक गन्धर्वों में से विश्वावसु नाम के गन्धर्व ने चुरा लिया। देवताओं ने विचार किया कि जब सोम परमेष्ठी से च्युत हो गया है-तो फिर क्या कारण है कि वह हमारे पास नहीं आता। आखिर देवताओं ने इसका कारण समझ लिया कि सोम को अवश्य गन्धर्वों ने छीन लिया है।

अग्नि ग्यारह प्रकार का होता है। गार्हपत्य, आहवनीय और धिष्ण्याग्नि। गार्हपत्य, पार्थिवाग्नि का नाम है, आहवनीय दिव्याग्नि का नाम है, एवं धिष्ण्याग्नि, अन्तरिक्ष्याग्नि का नाम है। यह धिष्ण्याग्नि कुल आठ हैं। इस प्रकार ये ग्यारहों अग्नि, रुद्र कहलाते हैं। संसार की उत्पत्ति इन्हीं ग्यारह रुद्रों से

होती है। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ-त्रिलोकी के रस से ही सारे विश्व की उत्पत्ति होती है। इनमें से जो आठ धिष्ण्याग्नि हैं, वे ही आठ गन्धर्व कहलाते हैं। जैसा कि धिष्ण्याब्राह्मण में स्वयं याज्ञवल्क्य कहते हैं–

"तमेते गन्धर्वाः सोमरक्षा जुगुपुः। इमे धिष्ण्या ऽइमा होत्राः"(शत. ३।६।२।६)

सृष्टि के प्रारम्भ में पृथिवी की गायत्री-अग्नि में सोम आया नहीं था, अतएव वह निर्बल थी। यह गायत्री जब सोम लाई तो वह पृथिवी तक न आ पाया और आकाश में, अन्तरिक्ष में, ही रह गया।- अन्तरिक्ष में धिष्ण्याग्नि थे। अग्नि, सोम को खाने वाला होता है। सोम अत्यल्प मात्रा में आया था। अतएव वह पृथिवी पर नहीं आ पाया और अन्तरिक्ष में ही धिष्ण्याग्नि द्वारा मुक्त हो गया। बस, इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर कहते हैं।

"तस्याऽआहरन्त्यै गन्धर्वो विश्वावसुः पर्यमुष्णात् ते देवा अविदुः"
प्रच्युतो वै परस्तात्सोमोऽथ नो नागच्छति गन्धर्वा वै पर्यमोषिषुरिति ।।२।।

इसी आख्यान के द्वारा भगवान् याज्ञवल्क्य "इंगितेन चेष्टितेन निमिषितेन"—इत्यादि न्यायानुसार स्त्रियों के स्वभाव–विज्ञान को बतलाते हैं। जब देवताओं को यह मालुम हुआ कि सोम आया अवश्य था परन्तु गन्धर्वों ने चुरा लिया—तो उन्होंने कहा कि गन्धर्व लोग योषित्–काम होते हैं अर्थात् स्त्रैण होते हैं।

इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि गन्धर्वप्राण से उत्पन्न होने वाले ईरान-निवासी वास्तव में स्त्रैण ही थे। इनमें विवाह-प्रथा नहीं थी। केवल प्रेममात्र था। जिसे जो पसन्द आई उसने उसी को रख लिया एवं मन में आई तभी उसे छोड़ दूसरी को रख लिया। प्राकृतिक देवप्राण से जिनका आत्मा बनता है वे देवता कहलाते हैं, एवं गन्धर्वप्राण से जिनका आत्मा बनता है वे गन्धर्व कहलाते हैं। यद्यपि प्राण रहते सब में सब हैं परन्तु जिसमें जो प्राण उल्वण रहता है वह उसी नाम से, उसी जाति से व्यवहृत होता है। स्त्री से मतलब योषाप्राण है और गन्धर्व से एक विशेष प्रकार का वृषाप्राण अभिप्रेत है। गन्धर्व वृषाप्राण योषा को प्रकृति से बहुत चाहा करता है। यही कारण है कि गन्धर्व वृषाप्राण से जिनका आत्मा बना हुआ था वे गन्धर्व लोग अत्यन्त ही स्त्रैण होते थे।—इतना ही नहीं, अपितु आज भी जिसे तुम स्त्रैण देखो—समझ लो इसमें गन्धर्वप्राण अधिक मात्रा में उल्वण है। गन्धर्व सौम्यप्राण का नाम है। परमेष्ठिमण्डल के सौम्यप्राण का नाम ही गन्धर्व है। सोम को ही शुक्र कहते हैं। शुक्रग्रह सोमघन है। जिसके लग्न में शुक्र बैठा रहता है वह मनुष्य अत्यन्त ही स्त्रैण होता है, कामी होता है। बस गन्धर्वप्राण के विज्ञान को बतलाने के अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—

ते होचुः योषित् कामा वै गन्धर्वाः—इति

इसलिए हम स्त्रैण गन्धर्वों को मुग्ध करने के लिए अपनी वाक् ही को भेजें। वाक् स्त्री है एवं गन्धर्व स्त्री–काम हैं अतएव उसे भेजने पर वे इससे युक्त हो जाएँगे तथा सोम के साथ वह वाक् अपने

पास लौट आएगी। यह निश्चय कर देवताओं ने वाक् को भेज दिया। वाक् उन गन्धर्वों के साथ वापस लौट आई।

गायत्री ने जिस सोम का आहरण किया था, वह बीच ही में रह गया। कुछ थोड़ा सा सोम ही पार्थिवाग्नि में आहुत हो पाया। इस थोड़े से सोम से अग्नि को अर्थात् वाक् को मदद मिली तो उसमें और अधिक बल आया। जब दुबारा वाक् ने सोम पर आक्रमण किया तो सोम गन्धर्वप्राण सहित पृथिवी में आ गया। गन्धर्व सौम्य प्राण ही का नाम है। पहले वाले सोम का तो आना न आना समान था परन्तु अब जो सोम आया वह अधिक मात्रा में आया। अतएव सौम्यप्राण गन्धर्वों का भी देव-मण्डली में, पार्थिवाग्नि में समावेश हो गया। बस यही तात्पर्य है—

योषित्कामा वै गन्धर्वा वाचमेवैभ्यः प्रहिणवाम सा नः सह सोमेनागमिष्य-तीति तेभ्यो वाचं प्राहिण्वन्त्सैनान्त्सह सोमेनागच्छत् ॥३॥

वे गन्धर्व लोग इन पार्थिव देवताओं से आ कर बोले कि हे देवताओ! सोम आपका हो और वाक् हमारी हो। देवताओं ने कहा—बहुत अच्छा, इसमें हमारा कोई नुकसान नहीं है। हमें तो सोमयज्ञ करने के लिए सोम चाहिए। देवताओं का सम्बन्ध वास्तव में सोम से है। देवता अग्निमय हैं। अग्नि सोम ही की अपेक्षा रखता है। यदि अग्नि में सोम की आहुति पड़ जाती है तो अग्नि की सत्ता नष्ट नहीं हो पाती। एवमेव वाक् का अधिक सम्बन्ध गन्धर्वप्राण के साथ है। वाक् से ही क–च–ट–त–प–आत्मिका शब्दात्मिका वाक् उत्पन्न होती है। गन्धर्वों का वाक् से अधिक सम्बन्ध है। इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जो मनुष्य गन्धर्व होते हैं वे गाने-बजाने को ही अधिक पसन्द करते हैं। बस इसी को लक्ष्य में रख कर कहा है—

ते गन्धर्वा अन्वागत्याब्रुवन्। सोमो युष्माकं वागेवास्माकमिति तथेति देवा अब्रुवन्निहो ॥४॥

देवताओं ने गन्धर्वों से कहा कि हे गन्धर्वो! वाक् को आप ले अवश्य जा सकते हैं परन्तु बला-त्कार से नहीं। आप बलात्कार से इसे मत बुलाओ, मीठे शब्दों से बुलाओ। हम भी बुलाते हैं। आप भी बुलाइए। इसकी मर्जी होगी, उधर ही चली जाएगी। स्त्री के साथ बलात्कार कभी नहीं करना चाहिए, यही इससे शिक्षा मिलती है। इह आगता हे गन्धर्वाः एनां अभीषहेव, नैष्ट विह्वयामहाऽइति।

इस प्रकार देवता और गन्धर्व दोनों ही उस वाक् को अपनी ओर बुलाने लगे। इसमें पहले गन्धर्वों ने उसको बुलाने के लिए वेदों का प्रवचन किया अर्थात् बुलाने के लिए गन्धर्वों ने वेद की मधुर वाणी का प्रयोग किया। हम यह विद्या जानते हैं। हम यह कला जानते हैं। इस प्रकार नाना प्रकार से प्रलोभन देना शुरू किया।

तस्यै गन्धर्वाः। वेदानेव प्रोचिरऽइति वै वयं विद्मेति वयं विद्मेति ॥५॥

उधर देवता वीणा का निर्म्माण कर उसे बजाते हुए-गाते हुए वहां स्थिर भाव से बैठ कर आह्वान करने लगे और कहा कि हे वाग् देवते ! हम आपको इस तरह संगीत सुनाएँगे-इस तरह प्रसन्न करेंगे। इस संगीत से-वीणा की मधुर ध्वनि से-वाक्, देवताओं की ओर लौट आई।

अथ देवाः वीणामेव सृष्ट्वा वादयन्तो निगायन्तो निषेदुरिति वै ते वयं गास्याम इति त्वा प्रमोदयिष्यामह ऽइति सा देवानुपाववर्त ।

वीणा से सौम्य वाक् अभिप्रेत है। इस सोम के कारण अर्थात् सोमाहुति के कारण ही यह अमृता-वाक्-३३अहर्गण तक रहने वाली वाक्-देवताओं के पास रहती है। वाङ्मण्डल देवताओं के पास-इस मधुरता के कारण अर्थात् सोम के कारण ही रहता है। यदि अग्नि में सोमाहुति न हो तो त्वरित ही यह वाक् उच्छिन्न हो जाय एवं अपने प्रभव परमेष्ठिनी आम्भृणी वाक् में-जहां पर कि गन्धर्वों का राज्य है-जा मिले। संसार में मधुरता का सीगा (विभाग) सोम ही के अधीन है। जिसकी बोली में जितना मिठास रहता है उसके लिए सौम्यावाक् शब्द कहा जाता है। यह सौम्यावाक् दिव्यावाक् है। इसका जनक सोम ही है एवं जिस वाणी में कड़वापन रहता है वह राक्षसीवाक् कहलाती है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

यां वै दृप्तो वदति यामुन्मत्तः सा वै राक्षसी वाक्, इति । (ऐ० ब्रा० ६।७)

वीणा से बढ़कर कोई मीठी वाक् नहीं है। सोम की अधिक मात्रा इसी में रहती है। अतएव— "**वीणां सृष्ट्वा वादयन्तो निगायन्तो** (शत० ३।२।४।६)—कह दिया गया है।

अति प्रसिद्ध वह वाक् नैमित्तिक रूपेणैव देवताओं के पास लौटी। वह स्तुति करते हुए देवताओं के गीत-नृत्य की ओर लौटी। वाक् का देवताओं के साथ सच्चा प्रेम था। इसलिए वह देवताओं के पास लौट आई, इस भ्रम में हर्गिज नहीं पड़ जाना चाहिए। इसका लौटना तो नैमित्तिक है। यह तो नृत्य-गीत पर खुश हो कर आई है। तात्पर्य यही है जब तक सोमाहुति-स्वरूप वीणा बजती रहेगी तभी तक यह वाक् अग्नि के अर्थात् देवताओं के अधिकार में रहेगी—

सा वै सा तन्मोघमुपाववर्त या स्तुवद्भ्यः शंसद्भ्यो नृत्तं गीतमुपाववर्त ॥६॥

याज्ञवल्क्य स्त्री के स्वभाव-विज्ञान को बतलाते हुए कहते हैं कि प्रकृतिमण्डल में वाक् का देवताओं की ओर लौट आना नैमित्तिक है एवं उसी वाक् से अर्थात् योषाप्राण से स्त्रियों का आत्मा बनता है। अतएव आज भी स्त्रियाँ मोघ रूप से ही संहित होती है अर्थात् स्त्रियों का पुरुषों के साथ जो सम्बन्ध होता है वह सर्वथा नैमित्तिक है। सच्चा प्रेम स्त्रियाँ किसी से नहीं करतीं। मतलब ही इनका प्रेम है। स्वार्थ के सामने यह अपने पति तक को भी विष दे सकती हैं—

"तस्मादप्येतर्हि मोघसंहिता एवं हि योषा"

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि गाने-बजाने से वाक्, देवताओं की तरफ लौट आई थी। अतएव संसार की स्त्रियाँ भी उसी का अनुसरण करती हैं। अतएव जो मनुष्य नाचता है, गाता है, उसमें ये, निमिश्रित हो जाती हैं, एकजीव हो जाती हैं। नाचने, गाने, वालों से स्त्रियों का स्वाभाविक प्रेम हुआ करता है। कारण इसका यही है कि स्त्रियाँ सौम्या हैं, इनकी आत्मा में सोमप्राण है एवं गाने में मधुरता अधिक होती है। वह मधुरता सोम ही की है। अतएव स्त्रियों का चित्त उधर अधिक आकृष्ट हो जाता है–

एवं हि वागुपावर्तत तामु ह्यन्या अनु योषास्तस्माद्य एव नृत्यति यो गायति तस्मिन्नेवैता निमिश्लतमा इव ॥६॥

इस प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि उस समय वाक् से उन्होंने सोम खरीदा था। वाक् और सोम दोनों देवताओं के पास ही थे। जिस वाक् से उन्होंने सोम खरीदा था वह वाक् और खरीदा हुआ सोम दोनों २१ अहर्गण तक वितत इन प्राणदेवताओं के अधिकार में था। प्रकृत में इस प्रपञ्च द्वारा यही बतलाना है कि प्रकृतिमण्डल के प्राणदेवता वाक् द्वारा परमेष्ठिमण्डल से सोम को खरीद कर ही अपना सोमयज्ञ करते हैं। अतएव **"यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि"** --इस नियम के अनुसार यजमान को आगत सोम से ही यज्ञ करना चाहिए। इसी अभिप्राय से कहते हैं–इस सोमयाग में जो कि यह यजमान सोम खरीदता है–वह इसी खयाल से खरीदता है कि प्रकृतिवत् मैं भी आगत सोम से ही यज्ञ करूं। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जो अक्रीत (न खरीदे हुए) सोम से यज्ञ करता है वह–अनागत सोम से यज्ञ करता है, अर्थात् प्रकृति के विरुद्ध करता है। अतएव इसके लिए सोम को अवश्य खरीदना ही चाहिए एवं खरीदे हुए सोम से ही यज्ञ करना चाहिए—

तद्वा ऽएतदुभयं देवेष्वासीत्। सोमश्च वाक्च स यत्सोमं क्रीणात्यागत्या-ऽएवागतेन। यजाऽइत्यनागतेन ह वै स सोमेन यजते योऽक्रीतेन यजते ॥७॥

सोम क्यों खरीदना चाहिए, इसका कारण बतला दिया गया। अब सोमक्रय से पहले होने वाले वाक्यज्ञ की इतिकर्तव्यता बतलाते हैं। प्रकृतिमण्डल में वाक् ही तो सोम खरीदती है। अतएव यह यजमान आज अपने इस यज्ञ में–वाक् द्वारा निदानेन सोमक्रय करता हुआ पहले इस वाक् के लिए आहुति देता है।

जिस पात्र में घृत रखा रहता है उसे ध्रुवा कहते हैं। इसीमें से जुहूपभृत् में स्रुवस्रुवि में घृत ले-ले कर अनेक इष्टियाँ की जाती हैं। पूर्व की प्रायणीयेष्टि-इस ध्रुवा में से घृत लेकर की गई थी। एवं यह वाक्–इष्टि भी इसी ध्रुवा में से घृत लेकर की जाती है।

इसी अभिप्राय से कहते हैं कि प्रायणीय इष्टि में काम में आये बाद ध्रुवा में जो घृत बाकी बच जाता है उसे चार बार करके जुहू में ले लेते हैं—

अथ यद् ध्रुवायामाज्यं परिशिष्टं भवति। तज्जुह्वां चतुष्कृत्वो विगृह्णाति ॥८॥

एक कुशा ले कर उसके अग्र भाग में एक सोने की टिकिया मोली (मौलि) से बाँध कर एवं उस कुशा को उस आज्ययुक्त जुहू में रख कर–उस घृत की अवधानपूर्वक आहुति दे देता है । कुशा से बँधी हुई सुवर्ण की टिकड़ी उस आहुति में न चली जाय–इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए–इसीलिए "**अवधाय**" पद दिया है—

"बर्हिषा हिरण्यं प्रबध्यावधाय जुहोति"

कुश में सोने की टिकड़ी क्यों बाँधनी चाहिए इसकी उपपत्ति बतलाते हैं । मैं सारे पय से अर्थात् घृत से आहुति दूं । इसीलिए इसमें सोने की टिकड़ी बाँधी जाती है। आज्य पयः प्रकृतिक है अतएव आज्य को भी पय कह दिया गया है । पय अग्निस्वरूप है । दूध साक्षात् अग्निस्वरूप है । अग्नि शुक्ल है । दूध अग्नि का रेत है । इसमें यही प्रमाण है कि चाहे काली गाय का दूध है अथवा लाल का–वह सफेद ही होगा । अपिच जब गाय की पहली धार निकाली जाती है तो वह अग्नि के समान गर्म होती है । अतएव इस दूध को हम अग्नि का रेत कहने को तैय्यार हैं इसीलिए अग्निहोत्रब्राह्मण में कहा गया है—

अग्नेर्हि रेतस्तस्माद्यदि कृष्णायां यदि रोहिण्याम् शुक्लमेव भवति अग्निसङ्काशम् । अग्नेर्हि रेतः । तस्मात् प्रथमदुग्धमुष्णं भवति अग्नेर्हि रेतः । (शत० २।२।४।१५)

जिस प्रकार दूध अग्नि का रेत है उसी प्रकार सुवर्ण भी अग्नि का ही रेत है । एक खास प्रकार की मिट्टी में जब सूर्य्य-रश्मियाँ बद्ध हो जाती हैं तो वही मिट्टी सुवर्ण बन जाती है । सोना साक्षात् सूर्य्य की रश्मियाँ हैं । इसीलिए कहा जाता है—

अथ हिरण्यं सम्भरति, अग्निर्ह वाऽअपोऽभिदध्यौ मिथुन्याभिः स्यामिति ताः सम्बभूव तासु रेतः प्रासिञ्चत्तद्धिरण्यमभवत्तस्मादेतदग्निसंकाशमग्नेर्हि रेतः । (शत० २।१।१।५)

कहने का तात्पर्य्य यही है कि दूध और सोना दोनों का जन्म एक वस्तु से हुआ है । दोनों ही अग्नि–रेत हैं । जो वाक् सोम लाने वाली है, वह गायत्री है । गायत्री का ही नाम अग्नि है । अतएव अग्निरेत–स्वरूप आज्य की आहुति दी जाती है । ऐसी हालत में यदि इस आज्य में अग्निरेतस्वरूप सुवर्ण का सम्बन्ध और कर दिया जाय तो अग्नि प्रबल हो जाएगा । बस, इसीलिए सोना बाँधा जाता है—

कृत्स्नेन पयसा जुहवानीति समानजन्म वै पयश्चहिरण्यं चोभयं ह्यग्निरेतसम् ॥८॥

आहुति में सुवर्ण क्यों रखना चाहिए इसका कारण बतला दिया, अब पद्धति बतलाते हैं । वह अध्वर्यु—"एषाते शुक्र तनूरेतद्वर्चं इति वर्चो वा ऽएतद्यद्धिरण्यं तया सम्भव भ्राजं गच्छेति ॥९॥

यह मन्त्र बोलता हुआ इस सोने की टिकडी को कुशा के साथ बाँध देता है।

हे शुक्र एषा (एतद्धिरण्यं) ते तनूः शरीरम्। अथवा-एषा जुहूस्ते-तनूः। एवं एतत् (आज्यमेव) तेवर्चः (तेजः) तया सम्भव तया भ्राजं गच्छ।

हे शुक्र, हे वीर्यवान्-यह सुवर्ण आपका शरीर है। अग्नि ही सुवर्ण बनता है-यह बात हम पूर्व में कह आये हैं। वीर्य्य संसार में कुल तीन ही प्रकार के होते हैं। १-ब्रह्मवीर्य्य, २-क्षत्रवीर्य्य, ३-विश-वीर्य्य-इन तीनों में से ब्रह्मवीर्य्याधिष्ठाता यही अग्नि है। उसीसे प्रार्थना कर रहे हैं कि-हे शुक्र! वीर्य्य-वान् अग्नि! सुवर्ण ही आपका शरीर है। अर्थात् आज आप सुवर्णरूप में परिणत हो रहे हैं। अग्नि से मतलब वाक् का समझना चाहिए। अमृताग्नि का नाम ही वाक् है। वही तो सोम लेने जाएगी, उसी के लिए यह आहुति दी जारही है। यह आज्य इस अग्नि का वर्च है, अर्थात् तेज है। ब्रह्मतेज का नाम ही वर्च है। अग्नि में जब घृत डाला जाता है-अग्नि अधिक प्रज्वलित हो जाता है, अधिक तेजस्वी हो जाता है अतएव मानना पड़ता है कि यह आज्य अवश्य ही वाग्रूप अग्नि का तेज है। सुवर्ण उस वाक् का शरीर है। आज्य वर्च है अर्थात् तेज है। बिना तेज और शरीर के वाक् कोई काम नहीं कर सकती अतएव कहते हैं कि हे वाक्-आप इस तनू के साथ संगत कीजिए अर्थात् इन दोनों से मिल जाइए और मिल कर अपने को सबल बनाइए। भ्राज की ओर जाइए। अर्थात् सोम लेने पधारिए। सोना भी आग है। आज्य भी आग है। इसीलिए तो **"तेजो वा आज्यम्"** यह कहा जाता है। वाक् भी अग्नि है। गायत्री-वाक् अग्निस्वरूपा ही तो है। यही सोम लाती है। अतएव सुवर्णमिश्रित आज्याहुति देना एक प्रकार से अग्नि से उस वागाग्नि का बल बढ़ाना है। यही मन्त्र का तात्पर्य है—

स हिरण्यमवदधाति एषा ते शुक्र तनूरेतद्वर्चं इति वर्चो वाऽएतद्धिरण्यं तया सम्भव भ्राजं गच्छेति सं यदाह तया सम्भवेति तया सम्पृच्यस्वेत्येवैतदाह भ्राजं गच्छेति सोमो वै भ्राट् सोमं गच्छेत्येवैतदाह ॥९॥

आहुति क्यों डाली जाती है इसका स्पष्टीकरण कर देते हैं-सृष्टि के प्रारम्भ में पार्थिव आग्नेय प्राणदेवताओं ने जैसे इस पार्थिव वाक् को, सुपर्णी को **'तुम सोम की ओर जाओ'** यह कह कर सोम के लिए उसे पारमेष्ठ्य लोक में भेजा था, तथैव आज यह यजमान **'हे वाक्! तुम सोम लाओ'** यह भावना करता हुआ इस वाक् को सोम लेने भेजता है। अर्थात् "यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि," के अनुसार जैसे देवताओं ने वाक् को भेजा था वैसे ही आज यह यजमान सोम खरीदने वाली इस वाक् को भेजता है। हमने बतलाया है कि यह आहुति वाक् के लिए दी जाती है। यहां पर वाक्-यह सोमक्रयणी गाय ही है। निदानेन गाय को सोमक्रयणी वाक् मान लिया जाता है। निदान का क्या अर्थ है? गौ-वाक् के समान ली जाती है इसका विवेचन हम सोमक्रयणी ब्राह्मण में करेंगे। यहां पर इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि-यह सोमक्रयणी गाय ही निदानेन वाक् है। प्रकृतियज्ञस्थ वाक् की नकल पर यह सोम-क्रयणी गाय है। आहुति से तृप्त होने वाली सोमक्रयणी वाक् से हम सोम खरीदें-अर्थात् वाक् को सोम

लेने बहुत दूर जाना है, अतएव इसमें बल प्रदान करके ही इसे सोम लेने भेजें। इस सोमक्रयणी वाक् को आज्याहुति से तृप्त करते हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'तां यथैवादो देवाः प्राहिण्वन्त्सोममच्छैवमेवैनामेष एतत्प्रहिणोति सोममच्छ वाग्वै सोमक्रयणी निदानेन तामेतयाहुत्या प्रीणाति प्रीतया सोमं क्रीणानीति ॥१०॥

वह अध्वर्यु निम्नलिखित मन्त्र बोलता हुआ उस आज्य की आहुति डालता है। वह मन्त्र यह है—

"जूरसि धृता मनसा जुष्टा विष्णवे"
"तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवे तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहा"

याज्ञवल्क्य मन्त्र के प्रत्येक पद का अर्थ बतलाते हैं **"जूराकाशो सरस्वत्यो पिशाच्यां पवने"**। अमरकार के वचन से जू का अर्थ आकाश होता है।

आकाश का नाम ही वाक् है। लौकिक संस्कृत में जिसे आकाश कहते हैं—वैदिक भाषा में उसे ही वाक् कहते हैं। आकाश से पोल अर्थ अभिप्रेत नहीं है अपितु ईथर अभिप्रेत है। इन्द्र सारे आकाश में भरा रहता है। इस इन्द्र का नाम ही वाक् है। यह सर्वत्र भरी हुई है। हम जो शब्द बोलते हैं-वह वीची-तरंगन्यायेन-इसी वाक् से अर्थात् आकाश से अर्थात् ईथर से उत्पन्न होता है। इसीलिए **'शब्दगुणकमाकाशम'** यह कहा जाता है। कहना यही है कि इस वाक् का एक नाम जू भी है अर्थात् इस वाक् को, आकाश को, जू शब्द से भी व्यवहृत किया जाता है। चूंकि यह आहुति उसी के लिए दी जाती है—इसी अभिप्राय से कहते हैं—आप जू हैं अर्थात् आकाशस्वरूप सर्वत्र वितत इन्द्रवाक् हैं। इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रखकर कहते हैं—

"एतद्ध वाऽअस्य एकं नाम यज्जूरसीति"

'धृता मनसा' इसका अर्थ करते हैं। यह वाक् मन से धृता रहती है। मन ही इसका आलम्बन है। बिना मन के वाक् कुछ नहीं कर सकती। पहले मन ही अपना व्यापार करता है। **'यह बोलो या मत बोलो'** इस प्रकार वाक् से पहले मन का व्यापार होता है। मन पूर्वरूप है—वाक् उत्तररूप है। मन वाक् पर शासन करता है। 'यह बोलो ऐसा मत बोलो' इस प्रकार से मन के द्वारा वाक् निकलती है। इसीलिए कहा जाता है—

"मनसा संकल्पयति तत् प्राणमपिवद्यते। प्राणोवातम्। वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुसस्य मनः। अपि च यद्धै मनसा ध्यायति तद् वदति।

वास्तव में बे-मन की बोली रद्दी चीज है। वाक् की प्रतिष्ठा मन ही है।

मनसा वाऽइयं वाग्धृता मनो वाऽइदं पुरस्ताद्वाच इत्थं वद-मैतद्वादीः ।"

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यदि मन न हो तो वाक् अलग्ल अर्थात् अलग्न बोलने लगे । अर्थात् अंट-संट बोलने लगे । बिना मन की वाक् का कोई अर्थ नहीं होता है । वह तो पागल की बोली कहलाती है । बे-मन का बोलना उन्मत्त प्रलाप है । यह वाक् ही सोम लाती है । यदि इसमें मन शामिल न होगा तो इसमें सोम लाने का सामर्थ्य ही न रहेगा । मनयुक्त वाक् ही में बल रहता है अतएव **मनसा धृता वाक्** यह कहा है । यहां पर इतना और समझ लेना चाहिए कि मन और वाक् को जोड़ने वाला प्राण है । हम जो क्रिया कर रहे हैं-वह तो प्राणव्यापार है । मन्त्र बोलना वाग्-व्यापार है एवं उसमें मन लगा हुआ है । इस प्रकार मन, प्राण, वाक् तीनों शामिल हैं । जब तक तीनों नहीं मिलते हैं, तब तक कोई काम नहीं हो सकता है । मन प्राण का आधार है । प्राण ही मन को वाक् से मिलाने वाला सूत्र है । प्राण द्वारा वाक् मनसाधृत रहती है—

अलग्लमिव ह वै वाग्वदेद्यन्मनो न स्यात्तस्मादाह धृता मनसेति ।।११।।

मनसाधृता के अनन्तर है-जुष्टाविष्णवे । इसका अर्थ करते हैं । सोम के लिए आप जुष्ट हों, सेवनीय हों । सोम आप से प्रसन्न होते हैं । यज्ञ ही को विष्णु कहते हैं । **"यज्ञो वै विष्णुः"** । यज्ञ का साधन यही सोम है । बिना सोम के चूंकि यज्ञ हो नहीं सकता-अतएव हम सोम को यज्ञ कह सकते हैं । यज्ञ कहते हैं विष्णु को । ऐसी अवस्था में विष्णवे का सोमाय-यही अर्थ होता है । वाक् सोम के पास जा रही है । वह सोम इसे अङ्गीकार करले यही **"जुष्टा विष्णवे"** का तात्पर्य्य है । याज्ञवल्क्य कहते हैं-**"मैं वाक्, सोम की ओर जा रही हूं"**—इस अभिप्राय को लक्ष्य में रख कर **"जुष्टा विष्णवे"** कहा है । वाक् सोम लेने जा रही है-अतएव यह सोम इससे प्रसन्न हो जाय-अर्थात् इसके साथ हो जाय-यही तात्पर्य्य है ।

जुष्टा सोमोयत्येवैतदाह यमच्छेम इति"-(अभियेणैवेति शेषः) यं (सोमं) अच्छ (अभिमुखम्) इम (गच्छेमः) इत्यभिप्रायेणैव जुष्टाविष्णवे—इत्युक्तमिति भावः ।।१२।।

"तस्यास्ते सत्यसवसः" सत्य सवसा—सत्यरूपा जो आप हैं सोम ला कर हमें दीजिए । सत्यप्रसवा आप-सोम की ओर जाइए और हमारी समृद्धि कीजिए-यही तात्पर्य्य है । जो सत्यावाक् होती है वह केन्द्र से बद्ध रहती है । ऋतावाक्-केन्द्र को छोड़ देती है । ऋत में बल नहीं रहता । सत्य में बल रहता है । अतएव सत्यसवसः कहा है । आपकी प्रेरणा मेरे लिए सत्य बने अर्थात् आप सोम लाने की सच्ची प्रतिज्ञा करें-यही तात्पर्य्य है ।

सत्यप्रसवा न एधि सोमं नोऽछेहि (सोममच्छ इति) इत्यैवैतदाह ।।१२।।

"तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहेति"—जिससे कि हम अपने शरीर की हिफाजत कर सकें अर्थात् आप इस प्रकार से सोम लाइए-जिससे हम अपने शरीर को आराम दे सकें । सोम से ही यज्ञ होता है । जब

तक यज्ञ समाप्त नहीं होता है तब तक चित्त में व्यग्रता रहती है–अशान्ति रहती है। यज्ञ संसार के यच्च-यावत् कार्य्यों का उपलक्षण है। किसी भी काम को हाथ में लो–जब तक वह पूरा नहीं होता है–तब तक खाते–पीते, सोते–उठते चिन्ता सवार रहती है। शरीर की जरा भी सुध नहीं रहती। जब तक काम पूरा नहीं हो जाता तब तक शरीर की जरा भी संभाल नहीं रहती। आज यह यजमान यज्ञकर्म करना चाहता है अतएव व्यग्र हो रहा है। इसे अपने शरीर की जरा भी सुध–बुध नहीं है। इसे सुध-बुध तभी आएगी जबकि यज्ञ समाप्त हो जाएगा। समाप्ति–इसी वाक् के अधीन है। जब यह सोम लाए–तभी यज्ञ पूरा हो। इस प्रकार यजमान का यज्ञ समाप्त हो जाय एवं इसे शान्ति मिल जाय–यह अपने शरीर की संभाल कर सके। अतएव वाक् से प्रार्थना करता है कि हे वाक्! आप ऐसी कृपा कीजिए जिससे हम अपने शरीर की संभाल कर सकें। अर्थात् आप हमारा यज्ञ पूरा करो यही तात्पर्य्य है। इसी अभिप्राय से कहते हैं–वह शरीर–सुख का अनुभव करता है। वह सुख भोगा करता है–जो कि यज्ञ की समाप्ति पर चला आता है—"**क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते**"—यह अटल सिद्धान्त है। हम यज्ञ की समाप्ति सकुशल कर सकें–यही तात्पर्य्य है—

स ह वै तन्वो यन्त्रं (सुखं) अश्नुते यो यज्ञस्योदृचं गच्छति। यज्ञस्योदृचं गच्छानीत्येवैतदाह ॥१२॥

आहुति के साथ घृत भी डालना चाहिए। कुशा से बँधी हुई उस सोने की टिकड़ी को नहीं डालना चाहिए। इसीलिए—"**बर्हिषाहिरण्यं प्रबध्य–अवधाय जुहोति**" यह कहा गया है। आहुति के अनन्तर उस सुवर्ण को अध्वर्यु निकाल लेता है—"**अथ हिरण्यमपोद्धाति**"। सुवर्ण की आहुति क्यों नहीं देनी चाहिए, उसे क्यों निकालना चाहिए–इसका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हिरण्य को निकालता हुआ अध्वर्यु मनुष्यों में यजमान और यजमान के बेटों–पोतों में सुवर्ण रखता है। यदि वह घृत के साथ हिरण्य की आहुति डाल देगा तो इन मनुष्यों से सुवर्ण को सदा के लिए विलग कर देगा। अर्थात् आज्याहुति के साथ सोने की आहुति देना, संपत्ति की आहुति देना है। सोने की आहुति से यजमान सर्वथा दरिद्र हो जाएगा। उसकी सारी सम्पत्ति उच्छिन्न हो जाएगी। फल इसका यही होगा कि-हिरण्य की आहुति डालने से सुवर्ण अर्थात् सम्पत्ति मनुष्यों में लौट कर वापस कभी नहीं आएगी। यजमान और यजमान का कुटुम्ब सदा के लिए दरिद्र हो जाएगा। अतएव अध्वर्यु को चाहिए कि हिरण्य की आहुति न दे अपितु उसे निकाल ले—

हिरण्यमपोद्धरति। तन्मनुष्येषु हिरण्यं करोति स यत्सहिरण्यं (हिरण्येन साहैतनान्यम्) जुहूयात्परागु हैवैतन्मनुष्येभ्यो हिरण्यं प्रवृञ्ज्यात्। तन्न मनुष्येषु हिरण्यमभिगम्येत (तर्हि हिरण्यं मनुष्येषु नानुवर्ततेतिभावः तस्मात् हिरण्यमपोद्धरतीति शेषः) ॥१३॥

क्यों हिरण्य को निकाल लेनाचाहिए–इसका कारण बतला दिया गया। अब पद्धति बतलाते हैं। वह अध्वर्यु—"**शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि**" इस मन्त्र को बोलता हुआ कुशा से बंधे हुए

सुवर्ण को निकाल लेता है। हे हिरण्य, आप शुक्र हो अर्थात् चमकदार हो एवं आप चन्द्रमा भी हो अर्थात् सब को आह्लादित करने वाले हो। आपको देख कर सब की तबियत फड़क उठती है। आप अमृत हो अर्थात् आपका कभी भी नाश नहीं होता है। सोना मिट्टी में पड़ा हुआ अग्नि है। अग्नि, अग्नि को नहीं जला सकता। सोने को चाहे १० लाख वर्ष तक जलाते रहो वह जल कर नष्ट नहीं होगा। जले कैसे—वह अमृत है, मौलिक वस्तु है। मौलिक वस्तु का नाश नहीं होता। यौगिक का नाश होता है। जो वस्तु १० के मेल से बनती है उसका नाश होता है—जो स्वयं एक है उसका नाश क्यों कर हो सकता है? एवं आप (हिरण्य) वैश्वदेव हैं। अर्थात् सर्वदेवस्वरूप हैं। सुवर्ण अग्नि है। अग्नि की अवस्था विशेषों का नाम ही ३३ देवता है, अतएव "वैश्य देवमसि" कहा है। वास्तव में सुवर्ण ऐसा ही है, जिन नामों से कि उसे व्यवहृत किया गया है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—मन्त्रगत हिरण्य का जो शुक्राधारात्मकत्व बतलाना है—वह स्तुत्यर्थ नहीं है। अर्थात् तुम शुक्र हो, तुम चन्द्रमा हो—यह खाली बनावटी बात नहीं है अपितु वास्तव में सुवर्ण ऐसा ही है। यह मन्त्र फेंटे हुए घृत से आहुति दे कर बाद में सुवर्ण लेते समय बोला जाता है—

कृत्स्नेन पयसा हुत्वा यदेव एतत् (हिरण्यस्य स्वाभाविकं रूपं तत् एष मन्त्र आह) शुक्रमसीति शुक्रं ह्येतच्चन्द्रमसीति चन्द्रं ह्येतदमृतसीत्यमृतं ह्येतद्-वैश्वदेवमसीति वैश्वदेव ह्येतत् ॥१४॥

इसके अनन्तर जिस तृण से वह सुवर्ण बँधा हुआ था उससे उसे निकाल कर उस बर्हि में कुशा के ढ़ेर में रख देता है एवं उसे एक डोरे से बांध देता है। इसी अभिप्राय से महर्षि कात्यायन कहते हैं—हिरण्यमुद्धृत्य वेद्यां तृणो विदधाति, सूत्रबद्धं हिरण्यं कुरुते—(का० श्रौ० ७।६।११) इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—

प्रमुच्य तृणं बर्हिष्यपिसृजति सूत्रेण हिरण्यं प्रबध्नीते ॥१४॥

इसके अनन्तर प्रायणीय इष्टि से बाकी बचा हुआ—ध्रुवा में जो घृत रखा है उसमें से दुबारा फिर चार बार जुहू में घृत लेकर अध्वर्यु यजमान से कहता है—"यजमान अन्वारभस्व" यही अन्वारभस्व का तात्पर्य्य है। अध्वर्यु को चार बार घृत लेकर यजमान से कहना चाहिए "यजमान अन्वारभस्व" अध्वर्यु के हाथ से यजमान का जो स्पर्श करना है यही अन्वारम्भ कहलाता है। अध्वर्यु यजमान का प्रतिनिधि है। परन्तु कई कार्य ऐसे होते हैं जिनमें यजमान को भी अध्वर्यु का स्पर्श करना पड़ता है। इसी का नाम अन्वारम्भण है।

अथापरं चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा । अन्वारभस्व यजमान-इत्याह (अध्वर्युरिति शेषः) ॥१५॥

इसके बाद उस देवयजन-शाला के दरवाजे बन्द कर देता है। अर्थात् यज्ञशाला के सारे द्वार बन्द कर देने चाहिए। **अपोर्णुवन्ति शालायै द्वारे**। तदनन्तर द्वार में अर्थात् आहवनीय कुण्ड से पूर्व की ओर सोम

खरीदने के लिए–दक्षिण प्रदेश में जो सोमक्रयणी गाय उपस्थित रहती है, उसे किंवाड़ बन्द कर शाला के दक्षिण भाग में खड़ी कर देनी चाहिए ।

द्वारे आहवनीयात् प्रास्तुते दक्षिणतः (दक्षिण देशे) सोमक्रयणी (गौः) उपतिष्ठते–

देवताओं द्वारा सोम के लिए प्रेषित इस वाक् को इस यजमान ने सोम लेने के लिए भेजा है । तात्पर्य यही है कि वस्तुतः वाक् सृष्टि के प्रारम्भ में ही प्राण-देवताओं द्वारा सोम लाने चली गई थी एवं आज भी जा रही है । यजमान उसे क्या भेजेगा वह तो अपने आप जा रही है । यजमान तो केवल नकल करता है । गाय निदानेन-वाक् मान ली जाती है । जैसे देवता अर्थात् प्राण-देवता वाक् को आहुति से तृप्त कर परमेष्ठिसोमापहरण के लिए भेजा करते हैं, तथैव यह यजमान **"यद्वैदेवाअकुर्वंस्तत् करवाणि"** के अनुसार इसे आहुति के द्वारा प्रसन्न कर तृप्त होने वाली वाक् से ही सोम खरीदे । इस अभिप्राय से निदानेन वाक्भूता इस गौ के लिए आहुति देता है, प्रकृतिमण्डल की नकल करता है जिससे कि प्राकृत भाव आत्मसात हो जाय-यही तात्पर्य्य है—

"तत् प्रहिता मेवैनामेतत् सतीं प्राहैषीद् । वाग्वै सोमक्रयणी निदानेन तामेतयाहुत्या प्रैषीत्, प्रीतया सोमं क्रीणानीति (अभिप्रायेणेति शेषः) ॥१५॥

प्रकृतिमण्डलस्थ प्राणदेवता वाक् को सोम लाने के लिए कब भेजते हैं, कैसे भेजते हैं, कब–कैसे वाक् सोम ले आती है—यह सारा काम सामान्य मनुष्यों की दृष्टि से छुपा हुआ है । प्रकृति ने अपने नाटक को–पर्दे में छुपा रक्खा है । आज यह यजमान उसी की नकल करता है । अतएव वाक् को सोम लेने के लिए भेजते समय–यज्ञशाला के सारे द्वार बन्द कर दिये जाते हैं–जिससे कि सामान्य मनुष्य इस प्रकृति की लीला को न देख सकें—॥१५॥

इसके बाद यज्ञशाला में से निकल कर निम्नलिखित मन्त्र से निदानेन वाग्भूता उस सोमक्रयणी की स्तुति करते हैं—**"अथोपनिष्क्रम्याभिमन्त्रयते"** वह मन्त्र यह है—

चिदसि मनासी, ति चित्तं वाऽइदं मनो वागनुवदति धीरसि दक्षिणेति ××× क्षत्रियाऽसि यज्ञियासीति क्षत्रिया ह्येषा यज्ञिया ह्येषादितिरस्युभयतः शीर्ष्णीति स यदेनया समानं सद्विपर्यासं वदति ××× सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधीति ॥१६-१७॥

मित्रस्त्वा पदि बध्नीतां वरुण्या×××पूषाऽद्ध्वनस्पात्विति । इन्द्रायाऽद्ध्यक्षायेति । ×× अनुत्वामाता मन्यतामनु पिताऽनु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्य

××× **सा देवि देवमच्छेहीतीन्द्राय सोमं** ××× **रुद्रस्त्वावर्त्तयतु** ××× **स्वस्ति सोमसखा पुनरेहीति ।**

(शत० ३।२।४। १८-२०)

इन्हीं दो मन्त्रों से अध्वर्यु उस सोमक्रयणी वाक् की स्तुति करता है । मन्त्र के प्रत्येक पद का अर्थ करते हैं । चिदसि–चित् नाम है मन का । मन के भाव का अनुवाद वाक् ही करती है । यदि वाक् न हो–जबान न हो तो मन कितनी ही इच्छा किया करे–उसकी इच्छा पूरी नहीं हो सकती । बिना वाक् के मन कुछ नहीं कर सकता । हमारे दिल में आई कि हम लड्डू खाएँ—जब तक आप मुंह से न बोलेंगे—मुँह से न माँगेंगे तब–तक आपके मन की बात कौन जान सकता है ? मन के–चित्त के–अभिप्राय प्रकट करने का एकमात्र साधन वाक् ही है । कदाचित् कहो कि साहब, बिना बोले भी इच्छा पूरी हो सकती है । हमारे सामने वस्तु रक्खी हुई है—मन में आई और झट से मुँह में रख ली । इसके लिए वाक् की क्या आवश्यकता है ? हम कहते हैं—आप भूलते हैं–मन बिना वाक् के रह ही नहीं सकता । संसार में ऐसा कोई भी नहीं है जिसमें वाक् शामिल न हो । आप मन ही मन में विचार करते समय यह न समझ लें, वाक् नहीं है । नहीं, उत्प्रेरण अवश्य ही है । केवल सूक्ष्म–स्थूल का तारतम्य है । इसी अभिप्राय से भगवान् भर्तृहरि कहते हैं—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भाषते ।। (वाक्यपदीयम्)

प्रकृत में हमें यही कहना है कि वाक् क्या है–मन ही है, चित् ही है । वाक् क्या बुला रही है–मन ही तो बुला रहा है । चित् ही वाक्रूप में परिणत हो रहा है । बस इसी अभिप्राय से **'चिदसि'** कहा है एवं यही वाक् मन भी है अर्थात् मननशीला भी है । वाक् के बिना मनन होता ही नहीं है । सूक्ष्म उच्चारण वहां भी रहता ही है । **'न सोऽस्ति प्रत्ययः'** यह अटल सिद्धान्त है । चित्त ही का नाम मन है । मन के अभिप्राय को–वाक् ही बतलाती है । अतएव यह चित् भी है–और मन भी है **"चित्तं वा इदं मनो' वागनुवदति"** ।

धीरसि दक्षिणोसि । आप धी हैं, आप दक्षिणा हैं । खयाल या विचार का नाम बुद्धि है । बुद्धि का साधन भी यही वाक् है । हर खयाल में वाक् ही से काम लेना पड़ता है । अपने विचारों को प्रकट करने का एकमात्र साधन वाक् ही है । यदि वाक् न हो, भाषण–सामर्थ्य न हो तो–चाहे महापण्डित ही क्यों न हो, उसकी कोई कीमत नहीं है । वाणी ही में करामात है । बुद्धि से–हर खयाल से–इस वाक् द्वारा ही–मनुष्य जीने की इच्छा करते हैं । अर्थात् संसार में जीवन चाहने वाले मनुष्य अपना हर विचार इस वाक् द्वारा ही प्रकट करते हैं—

"धिया धिया ह्येतया (वाचा) मनुष्या जुज्यूषन्ति (जीवितुमिच्छन्ति) व्यवहरन्तीतिभावः" ।

संसार में वाक् तीन तरह की होती है । तीन के अलावा चौथी कोई वाक् है ही नहीं ।

१—पहली वाक् तो अनुवचन से सम्बन्ध रखती है। आचार्य शिष्य को महाभाष्य पढ़ा रहे हैं और कहते जाते हैं—इसका यह अभिप्राय है। इस पंक्ति से भाष्यकार यह बात बतलाते हैं। भगवान् पाणिनि का यह मत है। इसी वाक् को अनुवचन कहते हैं। दूसरे की कही हुई वाक् का अनुवाद मात्र है। कह रहे हैं स्वयं ही–परन्तु उनका यह कहना है–उनका यह कहना है, यह साथ ,में कहते जाते हैं। बस, शास्त्र सम्बन्धी वाक् अनुवचन की कोटि में ही आती है। यह वाक् ऐसी है—जो हमारी नहीं है, दूसरे की है। उसी वाक् का हम अनुवाद किया करते हैं।

२—दूसरा कहलाता है—प्रकामवाद। अपनी प्रातिस्विक् वाक् को प्रकामवाक् कहते है। हमारा इसमें यह मत है–हम यों कहना चाहते हैं–इस प्रकार की जो स्वतन्त्रावाक् है वही प्रकामवाद कहलाती है। हम दूसरे की कही हुई न कहें, अपितु अपनी ओर से जो अपनी वाक् बोलें, यही प्रकामवाद है।

३—तीसरी है गाथावाक्। न जिसके कहने वाले का पता हो, न अपनी ही वह बात हो–ऐसी बोली को गाथा कहते हैं। आभाणक का नाम–कहनावत का नाम–ही गाथा है। आभाणक में अभिप्राय अपना है—वाक् दूसरे किसी अज्ञात पुरुष की है। किसी ने कहा अजी, तुम रोज–रोज किसी के घर मत जाया करो-इससे मान घटता है। "**मान घटे नित ही घर जाये**"क्या तुमने यह नहीं सुना है ? बस इसी का नाम गाथावाक् है। इसमें अभिप्राय–सिद्धि अपनी है। यह दूसरे के घर न जाय—यह अभिप्राय अपना सिद्ध करना है। परन्तु बोली दूसरे की है। वस्तु अज्ञात है। "**मान घटे नित ही घर जाये**" यह किसने बनाया है– इसका पता नहीं है। अतएव हम इसे गाथा कहने के लिए तैयार हैं। इसीलिए कहनावत के लिए किसी व्यक्ति का नाम न ले कर देखो–किसी ने क्या अच्छा कहा है—यह कहा जाता है। यदि नाम ले लिया जाता तो–यही अनुवचन हो जाता।

बस, संसार में तीन ही तरह की बोली है। या तो हम किसी दूसरे का कहा बोलते हैं–इसका नाम अनूक्तवाद है या हम अपना ही बोलते हैं,इसका नाम प्रकामवाद है। अभिप्राय सिद्ध्यर्थ आभाणक बोलते हैं, इसी का नाम गाथावाक् है, कुछ अनुक्त से बोलते हैं, कुछ प्रकामवाद से बोलते हैं, कुछ गाथाओं से बोलते हैं। बस यही तीन वाक् हैं। तीन ही तरह से अपने विचार प्रकट किये जा सकते हैं। विचार ही का नाम बुद्धि है। बुद्धि का साधन वाक् ही है अतएव "**धीरसीति**"—कहा है।—

अनूक्तेनेव, प्रकामोद्येनेव, गाथाभिरिव तस्मादाह धीरसी इति।

यह वाक् दक्षिणा भी है। दक्षिण शब्द के निम्नलिखित अर्थ होते हैं—सरल, उदार, परच्छन्दानुवर्ती अर्थात् मातहत।

"**दक्षिणासरलोदारं परच्छन्दस्तुवर्तिषु**" इन तीनों में से प्रकृत में मातहत अर्थ ही अभिप्रेत है। वाक् सदा मन के अधीन रहती है। वाक् बिना मन के बेकार है—परच्छन्दानुवर्ती है अर्थात् परतन्त्र है। अतएव इसे दक्षिणा कहा जाता है। अपिच वाक् द्वारा ही सोम आता है। सोम से ही यज्ञ होता है। तदनन्तर दक्षिणा मिलती है। अतएव दक्षिणा–साधनत्वात् भी यह वाक् दक्षिणा है। अपितु लोक

में भी, आशीर्वाद देने से, जय-जयकार करने से ही कुछ प्राप्ति होती है। इसलिए भी-वाक् को दक्षिणा कहा जाता है। यहां मातहत ही अभिप्रेत है। **"दक्षिणाह्येषा"** **"क्षत्रियासि-यज्ञियासि।** यह वाक् क्षत्रिया है। इसमें शासन की शक्ति है। जरा किसी को जोरदार शब्दों में डांट बतला दो उसी समय वह डर जायगा। शासन चूंकि क्षत्रिय का धर्म्म है—एवं वाक् से शासन होता है अतएव इसे क्षत्रिया कहते हैं। एवं यह यज्ञिया भी है। यज्ञिया के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है। यदि मन्त्र न बोले जाएँ तो यज्ञ ही न हो। **"क्षत्रियाह्येषा। यज्ञियाह्येषा"।**

हे सोमक्रयणी! दोनों ओर दो मस्तक रखने वाली आप अदिति हैं, अर्थात् अखण्डनीया हैं। आपका कोई नाश नहीं कर सकता है। वास्तव में वाक् के दोनों ओर मस्तक हैं। वाक् ही सुख दिलवा देती है, वाक् ही दुःख का कारण बन जाती है। हम देख रहे हैं कि संसार बिल्कुल सच्चा है। सूर्य्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र इत्यादि सारे पदार्थों का हम खूब प्रत्यक्ष कर रहे हैं। परन्तु एक वेदान्तशास्त्र का पण्डित हम से आ कर कहता है कि यह सारा प्रपञ्च कुछ नहीं है। सब मिथ्या है। सूर्य्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रादि नाना वस्तुएं हैं ही नहीं। सब एक ही हैं। केवल ब्रह्म ही सच्चा है। एवं सारा नानाभाव मिथ्या है। वेदान्ती महाशय ऐसा तर्क लड़ाते हैं, ऐसा तर्क लड़ाते हैं कि हमें नतमस्तक हो कर उनकी बात माननी पड़ती है। हम जिसे सच समझ रहे थे वाग्बल के कारण उसी को हमें मिथ्या मानना पड़ता है। एक वकील अपने फरीक (पक्ष) की ओर से अपने मुकदमे को दृढ़ करने वाले प्रमाण पेश करता है और उन पर बड़े जोर-शोर से बहस करता है। ऐसी बहस करता है कि सबको मान लेना पड़ता है—कि वास्तव में इसका कहना बिल्कुल दुरुस्त है। परन्तु प्रतिपक्षी का वकील उठ कर उन सारी दलीलों को अपने वाग्बल से नेस्तनाबूद कर देता है। उसी समय मालूम होने लगता है कि नहीं इसी का कहना सच है। कहना यही है-वाक् ही सच को झूठा साबित कर देती है। वाक् ही झूठे को सच्चा कर देती है। इसके दोनों ओर माथे हैं। यही राव को रंक बना डालती है-यही रंक को राव बना डालती है। इसीलिए—**"बोली का ही फेर लाख टके का सेर"** कहा जाता है। वाणी से शत्रु, मित्र बन जाता है; मित्र, शत्रु बन जाते हैं। वाणी शत्रु की तरफ भी है—मित्र की तरफ भी है। इसके दो माथे हैं। इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस वाक् से ही व्यक्ति जो बात समान थी, अर्थात् पहले मौजूद थी, उससे विपर्य्यातया बोलने लगता है। अर्थात् जो बात उस वाक् से जैसी पहले साबित की गई थी उसी वाक् से अब दूसरी तरह ही बात साबित कर देता है। वाक् के बल पर ही कोई प्रतिवादी, सिद्धान्त-पक्ष को काट कर उसके स्थान पर प्रतिवाद को ही सिद्धान्त के रूप में स्थापित कर देता है। गौण को मुख्य बना डालता है, मुख्य को गौण बना डालता है। इसीलिए उभयतः शीर्ष्णी है। यहां वाक्-स्थानापन्न गौ है इसके चूंकि दो सींग हैं इसीलिए भी **"उभयतः शीर्ष्णी"** कह दिया गया है।

स यदेनया समानं सद्विपर्यासं वदति, यदपरं तत् पूर्वं करोति यत्पूर्वं तदपरं तेनोभयतः शीर्ष्णीः तस्मादाहादितिरस्युभयतः शीर्ष्णीति ॥१६॥

"सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधीति" हे वाक्! आप सुप्राची जा कर सुप्रतीची हो कर हमें समृद्ध बनाए। अर्थात् हमारी ओर से पूर्व की ओर सोम लेने जाइए परन्तु वहीं न रह जाइए अपितु वापस लौट कर

सोम द्वारा हमारे यज्ञ को सम्पन्न कीजिए। सोम लेने के लिए यहां से जाइए और सोम को साथ ले कर वापस हमारे पास लौट आइए—यही तात्पर्य्य है।

सोमेन नः सह पुनरेहीत्येवैतदाह—तस्मादाह सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधीति ॥१७॥

"मित्रस्त्वा पदि बध्नीताम्" मित्र देवता आपके पैर बाँध दें। रज्जु से बाँधना वरुण—बंधन कहलाता है। रस्सी से जो बाँधा जाता है, वह बन्धन वरुणदेवताक है। रस्सी से बाँधना वारुण्य है। वरुण असुर है। ऐसी अवस्था में—रस्सी से अर्थात् अभिधानी से हम तुम्हारे पैर बाँधते हैं—यह तो कह नहीं सकते—क्योंकि ऐसा कहने से—यह यज्ञ वरुण देवता सम्बन्ध से दिव्य न रह कर आसुर हो जायगा। और यदि नहीं बाँधते हैं तो यह वाक् उन्मर्य्याद हो जाती है। इसीलिए कोई ऐसा बन्धन लगाना चाहिए जिससे यह वाक् उन्मर्य्याद भी न हो—अर्थात् असंयता भी न हो और आसुरी भी न हो। जो असंयता वाक् होती है वह आसुरी कहलाती है। दस हाथ की हर्रे (हरीतकी) जैसे निष्फल है—वैसे ही उन्मर्य्याद वाक् असंयता कहलाती है। यज्ञ में ऐसी वाक् का उपयोग नहीं होता। अतएव इसे संयत करना चाहिए। रज्जु से तो कर नहीं सकते क्यों कि वह तो वरुण्य है अतएव मित्र (सूर्य्य) से बन्धन करवाना चाहिए। मित्र—बन्धन अवरुण्य है। इससे दोनों काम हो जाते हैं। आसुरभाव का प्रवेश भी नहीं होता है, वाक्—मर्य्यादित भी हो जाती है। जैसे रज्जु से बाँधने से—वाक् संयता हो जाती है। तथैव मैत्र बन्धन से संयता हो जाती है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

वरुण्या वाऽएषा यद्रज्जुः सा यद्रज्ज्वाभिहिता स्याद्वरुण्या स्याद्यद्वनभिहिता स्यादयतेव स्यादेतद्वाऽअवरुण्यं यन्मैत्रं सा यथा रज्ज्वाभिहिता यतैवमस्यै (अस्या) तद्भवति यदाह मित्रस्त्वा पदि बध्नीतामिति ॥१८॥

पूषाध्वनस्पात्विति—पूषा अर्थात् माता पृथिवी मार्ग में आपकी रक्षा करे। वाक् पृथिवी से निकल कर ही तो सूर्य्य के उस पार सोम लेने जाती है—अतएव उसी पृथिवी पर रक्षा का भार डाला है। पृथिवी से सबका भरण—पोषण होता है अतएव इसका नाम पूषा है। जिसके मार्ग में यह रक्षा करने वाली बन जाती है उसे फिर कोई आपत्ति या बाधा नहीं सता सकती। पृथिवी पर ही तो आपत्तियाँ होती हैं। जब यही रक्षा का भार ले लेती है तो फिर बाधा का क्या डर रह सकता है ?

इयं वै पृथिवी पूषा यस्य वाऽइयमध्वन् (अध्वनि) गोप्त्री भवति तस्य न का चन ह्वला (बाधा) भवति तस्मादाह "पूषाध्वनस्पात्विति" ॥१९॥

"इन्द्रायाध्यक्षायेति"—हमने बतलाया है कि वाक् आकाश का नाम है। आकाश ही में जो तत्त्व भरा रहता है उसीका नाम इन्द्र है। इन्द्र ही वाक् का अधिष्ठाता है। इन्द्र ही वाक् का स्वामी है। इसीलिए —**"सा नो हवं जुषतामिन्द्र पत्नी"** यह कहा जाता है। हमारे लिए पृथिवी इसकी रक्षा करे—

यह बात नहीं है अपितु अपने अध्यक्ष इन्द्र के लिए पूषा इसकी रक्षा करे। वाक्-सत्ता पर ही इन्द्र-सत्ता निर्भर है। इन्द्र ही यज्ञ के देवता हैं। वाक् की रक्षा करना इन्द्र की रक्षा करना है।

स्वध्यक्षासदित्येवैतदाह यदाहेन्द्रायाध्यक्षायेत्यनु त्वा माता।

हे वाक् देवते! माता-पिता, सगर्भ्य अर्थात् सहोदर भाई-मित्र-पार्टी के मित्र इतनों की अनुमति लेकर आप जाइए। इन सब में माता का दर्जा पहला है इसीलिए तो माता का नाम पहले लिया है। इससे याज्ञवल्क्य शिक्षा देते हैं कि यदि तुम्हें दूर देश जाना हो तो तुम्हे इतनों की आज्ञा अवश्य ले लेनी चाहिए। वाक् तो माता पृथिवी ही है। पिता द्यौ है। भाई वसु है। जैसा कि श्रुति कहती है—

द्यौष्पितः पृथिवी मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळता नः।
विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यंत॥
(ऋग्वेद म० ६।५१।५)

माता-पिता-भाई जन्म के साथी हैं। इनसे अनुमत होकर ही हे वाग् देवते! आप सोम लेने जाइए। यही तात्पर्य्य है—

यत्ते जन्म तेन नोऽनुमता सोममच्छेहीत्येवैतदाह—सा देवि देवमच्छेहीति—जो वाक् सोम की ओर जाती है वास्तव में वह देवी का देवता के पास जाना है। इसीलिए देविदेवच्मछ कहा है। देवी ह्येषा देवमच्छैति-यद् वाक् सोमम्। तस्मादाह सा देवमच्छेहीति। **"इन्द्रायसोममिति"** इन्द्र ही यज्ञ के देवता हैं। आप इन्द्र के लिए-अपने स्वामी के लिए सोम ला रही हैं, न कि मेरे लिए। अर्थात् देवताओं के लिए आप सोम लेने जा रही हैं—न कि मेरे लिए। यज्ञ के लिए-देवताओं के लिए-आपको सोम लाना ही चाहिए यही तात्पर्य्य है—

"इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता-तस्मादाहेन्द्राय सोममिति। रुद्रस्त्वावर्त्तयतु"—रुद्र आपको वापस लौटा दे। रुद्र-सूर्य्य से नीचे रहता है। सोम-सूर्य्य के ऊपर है। यहीं पर इस वाक् को सोम के लिए जाना पड़ता है। रुद्र पशुओं के देवता हैं, रोधनकर्ता हैं। इनकी नजर से बच कर पशु न निकल जाय अतः वाक् से प्रार्थना करते हुए सचेत किया गया है कि रुद्र तुम्हें वापस सकुशल लौट आने दें, बीच ही में न रोक लें, तुम्हारी हिंसा न कर डालें। **"अप्रणाशायैतदाह" नाति पशवः"** '**स्वस्ति सोमसखा पुनरेहीति**-क्षेम-कुशलपूर्वक-सोमसखा बनकर अर्थात् सोम को साथ ले कर-वापस हमारे यज्ञ में पधारिए।

स्वस्ति नः सोमेन सह पुनरेहीत्येवैतदाह ॥२०॥

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जैसे सृष्टि के प्रारम्भ में प्राणदेवताओं ने सोम की ओर इसे भेजा था-एवं यह देवताओं के पास सोम सहित वापस लौट आई थी तथैव आज यह यजमान निदानेन वाग्भूता इस गौ को सोम के लिए भेजता है। यह सोम के साथ वापस इसके यज्ञ में लौट आए ॥२१॥

इस वाक् को सृष्टि के प्रारम्भ में जैसे देवताओं ने बुलाया था एवं वह इन्द्र के वीणावाद्य सेगान से प्रसन्न हो—गन्धर्वों को छोड़कर इन देवताओं के पास लौट आई थी, तथैव आज यह यजमान-

आप्तचित् है आप्तमना है--इस प्रकार की वीणास्वर के समान मधुर वाणी से इसे बुलाता है। ऐसा करने से-इन स्तुतिवाक्यों से प्रसन्न हो कर वाक् इस यजमान की ओर लौट आती है।

निदानेन वाग्भूता सोमक्रयणी गाय को अध्वर्यु वगैरः ऋत्विक् उत्तरमुख करके खड़ी करते हैं। कारण इसका यही है कि उत्तर दिशा मनुष्यों की दिक् है एवं यजमान मनुष्य है, अतएव इसकी वही दिक् है। अतः उसे उदङ्मुख कहते हैं ॥२२॥

। इति सोमाख्यानब्राह्मणं समाप्तम् ।

॥ इति तृतीयकाण्डे द्वितीयोऽध्यायश्च समाप्तः ॥

———

अथ

तृतीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

'सोमक्रयणी ब्राह्मणम्'

[मूल] सप्त पदान्यनुनिक्रामति । वृङ्क्तऽएवैनामेतत्तस्मात्सप्त पदान्यनु निक्रामति यत्र वै वाचः प्रजातानि छन्दांसि सप्तपदा वै तेषां पराद्ध्यां शक्वरी तामेवैतत्परस्तादर्वाचीं वृङ्क्ते तस्मात्सप्त पदान्यनु निक्रामति ॥१॥

स वै वाच एव रूपेणानु निक्रामति । वस्व्यस्यदितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासीति वस्वी ह्येषादितिर्ह्येषादित्या ह्येषा रुद्रा ह्येषा चन्द्रा ह्येषा बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णात्विति ब्रह्म वै बृहस्पतिर्बृहस्पतिष्ट्वा साधुनावर्तयत्वित्येवैतदाह रुद्रो वसुभिराचक ऽइत्यप्रणाशायैतदाह रुद्रं हि नाति पशवः ॥२॥

अथ सप्तमं पदं पर्युपविशन्ति । स हिरण्यं पदे निधाय जुहोति न वाऽअनग्नावाहुतिर्हूयतेऽग्निरेतसं वै हिरण्यं तथो हास्यैषाग्निमत्येवाहुतिर्हुता भवति वज्रो वाऽआज्यं वज्रेणैवैतदाज्येन स्पृणुते तां स्पृत्वा स्वीकुरुते ॥३॥

स जुहोति । अदित्यास्त्वा मूर्द्धन्नाजिघर्मीतीयं वै पृथिव्यदितिरस्यै हि मूर्द्धन् जुहोति देवयजने पृथिव्याऽइति देवजयने हि पृथिव्यै जुहोतीडायास्पदमसि घृतवत् स्वाहेति गौर्वाऽइडा गोर्हि पदे जुहोति घृतवत्स्वाहेति घृतवद्ध्येतदभिहुतं भवति ॥४॥

अथ स्फ्यमादाय परिलिखति । वज्रो वै स्फ्यो वज्रेणैवैतत्परिलिखति त्रिष्कृत्वः परिलिखति त्रिवृतैवैतद्वज्रेण समन्तं परिगृह्णात्यनतिक्रमाय ॥५॥

स परिलिखति । अस्मे रमस्वेति यजमाने रमस्वेत्येवैतदाहाथ समुल्लिख्य पदं स्थाल्यां संवपत्यस्मे ते बन्धुरिति यजमाने ते बन्धुरित्येवैतदाह ॥६॥

अथाप उपनिनयति । यत्र वाऽअस्यै खनन्तः क्रूरीकुर्वन्त्यपघ्नन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः संदधाति तस्मादप उपनिनयति ॥७॥

अथ यजमानाय पदं प्रयच्छति । त्वे राय इति पशवो वै रायस्त्वयि पशव इत्येवैतदाह तद्यजमानः प्रतिगृह्णाति मे राय इति पशवो वै रायो मयि पशव इत्येवैतदाह ॥८॥

अथाध्वर्युरात्मान मुपस्पृशति । मा वयं रायस्पोषेण वियौष्मेति तथो हाध्वर्युः पशुभ्य आत्मानं नान्तरेति ॥९॥

अथ पत्न्यै पदं प्रतिपराहरन्ति । गृहा वै पत्न्यै प्रतिष्ठा तद् गृहेष्वेवैना मेतत् प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति तस्मात् पत्न्यै पदं प्रतिपराहरन्ति ॥१०॥

तां नेष्टा वाचयति । तोतो राय इत्यथैनां सोमक्रयण्या संख्यापयति वृषा वै सोमो योषा पत्न्येष वाऽअत्र सोमो भवति यत् सोमक्रयणी मिथुन मेवैतत् प्रजननं क्रियते तस्मादेनां सोमक्रयण्या संख्यापयति ॥११॥

स संख्यापयति । समख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुचक्षसा । मा मऽआयुः प्रमोषीर्मोऽअहं तव वीरं विदेय तव देवि संदृशीत्याशिष मेवैतदाशास्ते पुत्रो वै वीरः पुत्रं विदेय तव संदृशीत्येवैतदाह ॥१२॥

सा या बभ्रुः पिङ्गाक्षी । सा सोमक्रयणी यत्र वाऽइन्द्राविष्णू त्रेधा सहस्रं व्यैरयेतां तदेकात्यरिच्यत तां त्रेधा प्राजनयतां तस्माद्योऽप्येतर्हि त्रेधा सहस्रं व्याकुर्यादेकैवातिरिच्येत ॥१३॥

सा या बभ्रुः पिङ्गाक्षी । सा सोमक्रयण्यथ या रोहिणी सा वार्त्रघ्नी या मिदं राजा संग्रामं जित्वोदाकुरुतेऽथ या रोहिणी श्येताक्षी सा पितृदेवत्या या मिदं पितृभ्यो घ्नन्ति ॥१४॥

सा या बभ्रुः पिङ्गाक्षी । सा सोमक्रयणी स्याद्यदि बभ्रुं पिङ्गाक्षीं न विन्देदरुणा स्याद्यद्यरुणां न विन्देद्रोहिणी वार्त्रघ्नी स्याद्रोहिण्यै ह त्वेव श्येताक्ष्याऽआशां नेयात् ॥१५॥

सा स्यादप्रवीता । वाग्वाऽएषा निदानेन यत्सोमक्रयण्ययातयाम्नी वाऽइयं वागयातयाम्न्यप्रवीता तस्मादप्रवीता स्यात् सा स्यादवण्डाकूटाकाणा-कर्णालक्षितासप्तशफा सा ह्येकरूपैकरूपा हीयं वाक् ।।१६।।

[अनुवाद] पृथ्वी की गायत्री वाक् प्राण देवताओं के लिए सूर्य्य से भी ऊपर परमेष्ठि-लोक में विद्यमान सोम को लाया करती है । गायत्री वाक् पृथिवी से निकल कर पृथिवी के ३३वें अहर्गण तक जाया करती है । सूर्य्य की स्थिति उत्तर में है तथा पृथिवी की स्थिति दक्षिण में है । उत्तर ऊँचे को कहते हैं तथा दक्षिण नीचे को । अतः सूर्य्य पृथिवी से बहुत ऊपर है । परमेष्ठी में विद्यमान सोम सूर्य्य से भी ऊपर है । दक्षिण में रहने वाली पृथिवी की वाक् दक्षिण से उत्तर की ओर सोमापह के लिए आक्रमण करती है । वह वाक् दक्षिण में स्थित पृथिवी से निकल कर सूर्य्य से ऊपर विद्यमान सोम के अपहरण के लिए जाती है । आज यजमान भी सोमयाग के लिए निदानरूप से वाग्-रूप सोमक्रयणी गाय द्वारा सोम खरीदना चाहता है । अतः जिस प्रकार प्रकृतियज्ञ में वाक् दक्षिण से उत्तर की ओर जाती है । उसकी नकल पर 'यद्देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि' इस सिद्धान्त के अनुसार यजमान जिस सोमक्रयणी गाय से यज्ञ के लिए सोम खरीदना चाहता है उसे दक्षिण से उत्तर की तरफ भेजता है । इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि वह अध्वर्यु निदानेन वाग्रूप गाय को सात कदम उत्तर की ओर ले जा कर उसे वापस ले आता है । क्यों कि प्रकृति में जिस प्रकार पृथिवी की वाक् दक्षिण से उत्तर अर्थात् ऊपर परमेष्ठिलोक तक जा कर सोम ले कर वापिस आ जाती है, उसी प्रकार इस सोमक्रयणी गाय को भी अध्वर्यु दक्षिण से सात कदम उत्तर की ओर ले जा कर पुनः वहाँ से लौटा लाता है । इस गाय को सात कदम उत्तर की ओर ले जा कर वहाँ से पुनः लौटाता हुआ वह अध्वर्यु तृतीय लोक द्युलोक में सोम लाने के लिए गई हुई वाक् को सोमलोक से पृथक् करता है । यदि उस लोक से इसको विभक्त न किया जाए तो वह वाक् वहीं रह जाए और सोम पार्थिव प्राण-देवताओं को प्राप्त न हो पाए ।

संसार के यावन्मात्र पदार्थ अग्नीषोमात्मक हैं । अग्नि व सोम का प्रसार ३३ अहर्गण तक अर्थात् वाङ्मण्डल तक रहता है । क्यों कि वाक् ३३ वें अहर्गण तक जाती है, अतः यहीं तक वाङ्मण्डल है । यहीं तक अग्नि और सोम वितत हैं । २१वें अहर्गण तक अग्नि जाता है । उस से ऊपर ३३वें अहर्गण तक भास्वरसोम व दिक्सोम भेद से द्विविध सोम का फैलाव है । २७वें अहर्गण तक भास्वर सोम का तथा उससे ऊपर ३३वें अहर्गण तक दिक्सोम का फैलाव है । पृथिवी से निकलने वाली वाक् से गायत्री आदि छन्द उत्पन्न होते हैं । पृथिवी से निकलने वाली वाक् की अन्तिम अवधि को रथन्तर साम-रथन्तर छन्द-कहते हैं । किन्तु इस रथन्तरसाम-युक्त वाक् में २१वें अहर्गण तक अग्नि, २७वें अहर्गण तक भास्वर सोम तथा ३३वें अहर्गण तक दिक् सोम की सत्ता होने से एक ही रथन्तर साम

एक अग्नि तथा द्विविध सोम के कारण तीन सोमों में विभक्त हो जाता है । २१ तक रहने वाला साम रथन्तर ही कहलाता है । २७ तक का साम वैरूप तथा ३३वें अहर्गण तक के साम को शाक्वर साम कहते हैं । यह शक्वरी छन्द के सम्बन्ध से शाक्वर साम कहलाता है । प्रत्येक छन्द के विभिन्न विभाग होते हैं । इन में शक्वरी छन्द के सात विभाग हैं । ये ही शक्वरी छन्द के सात पैर हैं । इसीलिए इस शक्वरी छन्द को सप्तपदा कहा जाता है, जैसा कि सप्तपदा शक्वरी (तै. सं. ६।१।८।१)—यह तैत्तिरीय श्रुति बतला रही है ।

प्रकृतिमण्डल में पार्थिव वाक् की गति ३३वें अहर्गण तक है । इस वाक् से गायत्री आदि विभिन्न छन्द उत्पन्न हुए हैं । उनमें वाक् का अन्तिम शक्वरी छन्द सप्तपदा है । वहीं तक प्रकृतिमण्डल में पार्थिव वाक् जाता है उससे आगे नहीं । इसलिए वाक् की प्रतिकृतिभूत सोमक्रमणी गाय को भी सात कदम तक ही उत्तर में ले जाया जाता है । प्रकृतिमण्डल में ३३वें अहर्गण तक जा कर वाक्, सोम को लेकर लौट आई थी । उसकी नकल पर उस वाक् स्थानापन्न सोमक्रमणी गाय को भी ३३वें अहर्गण के अन्त में विरचमान सप्तपदा शक्वरी छन्द तक अर्थात् सात कदम तक ही उत्तर में अध्वर्यु ले जा कर उसे वापिस ले आता है, क्योंकि ३३वें अहर्गण तक जाने वाली वाक् की अन्तिम सीमा सप्तपदा शक्वरी छन्द ही है ।।१।।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि सोमक्रयणी गाय अनुनिक्रमण वाक् रूप ही है । अर्थात् इसे गाय न समझ कर वाक् ही समझो, क्यों कि यह गाय निदानेन वाक् ही है । वाक् ही प्रकृति में सोम को लाया करती है ।

सोमक्रयणी गाय को उत्तर की ओर सात कदम ले जा कर उसे लौटाते समय निम्नाङ्कित मन्त्र का उच्चारण अध्वर्यु करे :—

वस्व्यस्यदितिरस्यादित्यासि, रुद्राऽसि चन्द्राऽसि ।
बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णानु रुद्रो वसुभिराचके ।।इति।।

हे सोमक्रयणी वाग्देवते ! आप वसुदेवताक हो, अदिति अर्थात् पृथिवी स्वरूप हो, आदित्य देवताक हो, रुद्रदेवताक हो, चन्द्रदेवताक हो । हे सोमक्रयणी ! मार्ग में बृहस्पति आप को सुख में रमण कराएँ तथा वसुओं के साथ रुद्र आपके सुख को चाहते रहें ।

ऊपर के मन्त्र में वाक् को वस्वादि सर्वदेवतामय बतलाया है उसका रहस्य यह है कि वाक् पृथिवी के केन्द्र से निकल कर ३३वें अहर्गण तक वितत रहती है । इसमें २१वें अहर्गण तक अग्नि की सत्ता है । अग्नि—घन, तरल, विरल भेद से त्रिधा विभक्त है । घनाग्नि अग्नि ही कहलाता है । इसी के ८ अवस्था—भेद हैं जिन्हें ८ वसु कहा जाता है । तरलाग्नि वायु कहलाती है । इसकी ११ अवस्थाएँ हैं जिन्हें ११ रुद्र कहा जाता है । विरलाग्नि को आदित्य

१. 'सप्तपदा वै शक्वरी' (अध्वरकाण्ड अ. ३, ब्रा. १, क. १) यह काण्वों की शतपथ श्रुति है ।

कहते हैं। इसकी १२ अवस्थाएँ जिन्हें १२ आदित्य कहा जाता है। इन में घनाग्नि पृथिवीलोक है। तरलाग्नि अन्तरिक्षलोक है। विरलाग्नि द्युलोक है। पृथिवी के अधिष्ठाता ८ वसु हैं। अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता ११ रुद्र हैं। चन्द्रमा भी अन्तरिक्षलोक में है। द्युलोक के अधिष्ठाता १२ आदित्य हैं, यह सारा व्यापार पृथिवीपिण्ड से होता है। पृथिवीपिण्ड को अदिति कहते हैं और अदिति ही वास्तव में वाक् है। इस तरह वसु, रुद्र, आदित्य, चन्द्रमा सब कुछ यह वाक् ही है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है—वस्त्री ह्येषा, अदिति ह्येषा, आदित्या ह्येषा, रुद्रा ह्येषा, चन्द्रा ह्येषा' इति। यह अदितिरूप वाक् सूर्य्य से भी ऊपर परमेष्ठिमण्डलस्थ ब्रह्मणस्पति सोम को लाने के लिये जाती है। इस सूर्य्य और ब्रह्मणस्पति सोम के मध्य में बृहस्पति है। सूर्य्य से नीचे का भाग उत्तरसृष्टि तथा सूर्य्य से ऊपर का भाग पूर्वसृष्टि कहलाता है। उत्तरसृष्टि में प्रथम सूर्य्य अर्थात् इन्द्र है। सूर्य्य में इन्द्रप्राण रहता है अतः सूर्य्य को इन्द्र कहा जाता है। पूर्वसृष्टि में स्वयम्भू परमेष्ठि ब्रह्मणस्पति आदि में सब से अन्तिम बृहस्पति है इसलिए 'बृहस्पतिः पूर्वेषमुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः' यह श्रुति बतला रही है। विभक्त वाक् गौ कहलाती है। इस गोतत्त्व के अधिष्ठाता देवता बृहस्पति और रुद्र हैं। सूर्य्य से नीचे की गौ का अधिष्ठाता रुद्र तथा सूर्य्य से ऊपर की गौ का अधिष्ठाता बृहस्पति है। गौ के अधिष्ठाता इन दोनों रुद्र और बृहस्पति को प्रार्थना से प्रसन्न किया जाता है, जिससे सोमाहरण करने वाली गौ (वाक्) को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचे। अर्थात् बृहस्पति तुम्हें साधुमार्ग से (अच्छे मार्ग से) लौटा दें। जैसे सूर्य्य से ऊपर की गौ के अधिष्ठाता बृहस्पति हैं वैसे ही सूर्य्य से नीचे की गौ के अधिष्ठाता रुद्र है। रुद्र पशुपति हैं। संसार में यावन्मात्र पशुओं के स्वामी रुद्र ही हैं। वाक् भी पशु है। वह भी रुद्र के अधीन है। अतः रुद्र से भी गोरूप वाक् को सकुशल लौटाने की प्रार्थना की जाती है। अन्यथा अप्रसन्न रुद्र उसका नाश कर सकता है। इसी अभिप्राय से 'रुद्रो वसुभिराचके' कहा गया है। स्वामी का अधीनस्थ को चाहना ही उसकी प्रसन्नता है। इसलिए 'आचके' कहा है। वाक् रूप गौ पृथिवीपिण्ड से चल कर परमेष्ठिलोक में सोम लाने के लिए जाती है। उसके रास्ते में वसु देवता भी आते हैं अतः उनको प्रसन्न करने के लिये रुद्र वसुओं के साथ प्रसन्न हों–यह प्रार्थना की गई है ॥२॥

अध्वर्यु जब सोमक्रयणी गाय को उत्तर की तरफ सात डग ले जाता है तब गाय के सातवें डग के पास यजमान और ऋत्विक् आ कर बैठ जाते हैं। इस के पश्चात् अध्वर्यु गाय के सातवें कदम में रखे हुए गोखुर में हिरण्य की टिक्की रख कर उस पर आज्य (घृत) की आहुति डालता है। आहुति अग्नि में डाली जाती है। अग्नि से अतिरिक्त स्थान में आहुति देना सर्वथा निरर्थक है। यह सातवें कदम में स्थित गोखुर अग्नि से भिन्न है इसमें आहुति कैसे संभव है? इस प्रश्न के समाधान के लिए सातवें डग के स्थान में सुवर्ण की टिक्की रखी जाती है क्यों कि सुवर्ण अग्नि से उत्पन्न होने के कारण अग्नि ही है। गोखुर

में दी हुई उसकी आहुति अग्नि में ही मानी जाती है। इसी अभिप्राय से कहा है, अग्निरेतसं वै हिरण्यम् तथो हास्यैषाऽग्निमत्येवाहुतिर्हुता भवति इति।

गाय के खुर में सोने की टिकड़ी रखकर उस पर घृताहुति का कारण बतलाते हुए कहा है कि आज्य (घृत) वज्र है। जैसा कि 'घृतं वै देवा वज्रं कृत्वा सोममघ्नन्' (तै०सं० ६।२।२।४) यह तैत्तिरीयश्रुति बतला रही है। निदानेन सोमक्रयणी गाय वाग्रूप है। यह दक्षिण से सात डग उत्तर जा कर सोमवल्ली को लाती है। सोमवल्ली गाय के सातवें डग में, गाय के खुर में रक्खी हुई है अर्थात् उगी हुई है। पृथिवीरूप गाय के सातवें डग में उत्पन्न इस सोमवल्ली को आज्यरूप वज्र से काट कर यज्ञ के लिए उसे ग्रहण करते हैं, क्योंकि यज्ञार्थ सोम प्राप्त करने के लिए सोमवल्ली को काटकर-उसे कूटकर उससे सोमरस निकाला जाता है और उसकी आहुति से सोमयाग होता है ॥३॥

वह अध्वर्यु निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करता हुआ आज्याहुति प्रदान करता है:—

"अदित्यास्त्वा मूर्द्धन्नाजिघर्मि देवयजने पृथिव्याः।
इडायास्पदमसि घृतवत् स्वाहा॥" ॥ इति ॥

हे आज्य! मैं तुम्हें पृथिवी के देवयजन भाग में डाल रहा हूँ। अर्थात् यह आहुति देवताओं को मिल रही है न कि असुरों को। क्योंकि सूर्य्य के प्रकाश से युक्त जो पृथिवी का आधा मण्डल है उसी का नाम अदिति है। देवगण 'चित्रं देवानामुदगादनीकम्' इस मन्त्र के अनुसार सूर्य्य के सैनिक हैं। यद्यपि इस प्रकार सौरप्रकाशयुक्त अतएव देवप्राणों से युक्त पृथिवी के मस्तक पर तुम्हें(आज्य को)डाल रहा हूँ पुनः देवयजन की क्या आवश्यकता है? किन्तु 'इयं वै पृथिव्यदितिः' इस श्रुति के अनुसार अदिति से पृथिवीमात्र का ग्रहण मान कर पृथिवी के आसुर अर्थात् सौरप्राण रहित भाग की व्यावृति के लिए 'देवयजने' का प्रयोग किया है। आहुति प्रदान कर उससे प्रार्थना करते हैं कि आप इडा के अर्थात् गौ के स्थान हो और घृतयुक्त हो। यहाँ इडा से तात्पर्य्य गाय है। इसीलिए गौर्वा इडा कहा गया है। गाय के पैर में ही आहुति दी जाती है। यह गाय का पैर (खुर) घृताहुति देने के बाद घृतयुक्त हो जाता है। अतः उसे 'घृतवत्' कहा है।

इसके बाद स्फ्य अर्थात् काष्ठ की तलवार से गाय के सातवें डग की भूमि को कुरेदते हैं। स्फ्य वज्र का नाम है जैसा कि 'इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहरत् स त्रेधा व्यभवत् स्फ्यस्तृतीयं, रथस्तृतीयं, यूपस्तृतीयम्' (तै० सं० ६।१।३।४) यह तैत्तिरीय श्रुति बतला रही है। अतः स्फ्य से भूमि को कुरेदना वज्र से कुरेदना है। स्फ्य से गाय के ७वें डग की भूमि का तीन बार परिलेखन करता है क्योंकि वज्र त्रिवृत् होता है, △ इस आकार का होता है। अतः वज्रत्वसम्पत्ति के लिए तीन बार ही भूमि का परिलेखन करना चाहिए। तीन बार परिलेखन से सोम का सार भाग आ जाय, कोई भी सोम का हिस्सा बाहर न जाय, अतः तीन बार परिलेखन करता है ॥५॥

वह अध्वर्यु 'अस्मे रमस्व,' इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ भूमि का परिलेखन करता है। हे पदधूलि अर्थात् सोम! आप यजमान से रमण करो। आप यजमान से आत्मसात् हो जाओ। उपर्युक्त मन्त्र को बोल कर 'अस्मे ते बन्धुः' यह मन्त्र बोलता हुआ एक पात्र में उस पदधूलि को रख देता है। अर्थात् आप यजमान के बन्धु बन जाएँ। अर्थात् आप की बन्धुता हमारे यजमान से हो ॥६॥

इसके अनन्तर अध्वर्यु उस भू-प्रदेश पर, जिसे खोद कर जिसने मिट्टी निकाली है, पानी छिड़कता है। क्यों कि स्फ्यरूप वज्र से भूमि को खोद कर उसे मिट्टी से अलग कर जो क्रूरता का कार्य ऋत्विजों ने किया है उसकी शान्ति इस जल को छिड़क कर की जाती है। शान्ति करना जल का कार्य है। खोद कर मिट्टी निकालने से पृथ्वी का जो भाग पृथक् हो गया है उसका जल से सन्धान करता है क्यों कि विशकलित अवयवों का सन्धान करना-मिलाना-जल का कार्य्य है। जैसे आटे के बिखरे हुए कणों को जल के द्वारा जोड़ा जाता है ठीक वही कर्म्म यहाँ किया जाता है ॥७॥

इस के बाद अध्वर्यु उस पदपांशु (पदधूलि) को 'त्वे रायः' यह मन्त्र बोलकर यजमान को सौंप देता है मन्त्र में रै शब्द पशुसम्पत्ति का बोधक है। अतः इस मन्त्र का यही अर्थ है कि पशु-धन तुम्हारा है। यजमान में पशु के रहने से यह यजमान पशुसम्पति से युक्त हो। और यजमान 'मे रायः' अर्थात् यह शुसम्पत्ति मेरी हो, यह कहता हुआ उसे स्वीकार कर लेता है ॥८॥

उपर्युक्त रीति से यजमान को पदपांशु दे कर अध्वर्यु "मा वयं रायस्पोषेण वियौष्म" हम इस पशुसम्पत्ति से वियुक्त न हों, यह कहता हुआ अपने वक्षस्थल का स्पर्श करता है। यदि इस मन्त्र का अध्वर्यु उच्चारण न करेगा तो पदपांशु यजमान को समर्पित करने से अध्वर्यु की सम्पत्ति यजमान में चली जाएगी और अध्वर्यु दरिद्र हो जाएगा। किन्तु इस मन्त्र को बोल कर छाती का स्पर्श करने से उसकी यह भावना हो जाती है कि मैं पशुसम्पत्ति से वियुक्त नहीं हुआ हूँ। इसी अभिप्राय से कहा है-तथो हाध्वर्युः पशुभ्य आत्मानं नान्तरेति ॥ ९ ॥

इसके बाद ऋत्विक् उस पदपांशु को यजमान से उसकी पत्नी को दिला देता है। क्यों कि यजमान के जो घर हैं वे पत्नी की प्रतिष्ठा हैं। अतः यजमान की पत्नी को पदपांशु दिलाते हुए अध्वर्यु गृहरूप प्रतिष्ठा में ही उसे प्रतिष्ठित कराता है ॥१०॥

जिस समय यजमान-पत्नी पदपांशु को लेती है उस समय नेष्टा ऋत्विक्-पत्नी से 'तोतो रायः' यह मन्त्र कहलवाता है। अर्थात् यह सम्पत्ति आपकी है। आप से मैंने प्राप्त की है अतः आप की है। आप इसका यथेच्छ भोग कर सकते हैं।

"तत्पश्चात् नेष्टा सोमक्रयणी गाय से यजमान-पत्नी को चौनजर कराता है। क्यों कि सोम वृषा अर्थात् पुरुष-प्राण है तथा पत्नी योषा अर्थात् स्त्री-प्राण है। यहाँ पर जो सोम-

क्रयणी गाय है, वही सोम है, क्योंकि यही गाय सोमक्रयण का साधन है। अतः सोम साधनत्वेन यही गाय सोम है। सोम ही पुरुष-प्राण है और यजमान-पत्नी योषा (स्त्री-प्राण) है। यज्ञ के द्वारा यजमान दिव्यात्मा का प्रजनन चाहता है। प्रजनन के लिए-योषा और वृषा का-स्त्रीप्राण-पुरुषप्राण का-मिथुन आवश्यक है। अतः सोमक्रयणी गाय का यजमान-पत्नी के साथ दृष्टि-सम्बन्ध कराता है ।।११।।

नेष्टा सोमक्रयणी गाय का यजमान पत्नी के साथ संख्यापन (दृष्टि-सम्बन्ध) कराता हुआ निम्नलिखित मन्त्र यजमान-पत्नी द्वारा बुलवाता है :—

"समख्ये देव्या धिया सन्दक्षिणयोरुचक्षसा ।

मा मऽआयुः प्रमोषीर्मोऽअहं तव वीरं विदेय तव देवि संदृशिरा ।।इति।।

अर्थात् जो वाग् देवी धीस्वरूपा है, दक्षिण है अर्थात् परच्छन्दानुवर्तिनी (परतन्त्रा) है, उरुचक्षसा है अर्थात् जिस की दृष्टि दूर तक जाने वाली है। वाक् ३३वें अहर्गण तक जाती है अतः उसे उरुचक्षसा कहा गया है। ऐसी देवी के समक्ष मैं खड़ी हुई हूँ। हे सोमक्रयणी ! आप मेरी आयु को नष्ट न करें। हम और आप दोनों मिल जाएँ, एक हो जाएँ। हे देवि ! आप की सुदृष्टि में, निगरानी में, मुझे पुत्र प्राप्त हो। इसी फल की कामना यजमान की पत्नी करती है ।।१२।।

यह सोमक्रयणी गाय बभ्रु (भूरे) वर्ण की, पीले नेत्रवाली होनी चाहिए। क्योंकि संसार का निर्माण ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि व सोम इन पाँच अक्षरों से होता है। अव्ययरूपी आलम्बन पर न बैठ कर ये पाँचों अक्षर सृष्टि का निर्माण व संचालन करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र ये तीनों अक्षर वस्तु के केन्द्र में रहते हैं तथा अग्नि व सोम ये दोनों अक्षर बाहर रहते हैं। अग्नि और सोम से वस्तु के बाह्य स्वरूप का निर्माण होता है। इसीलिए 'अग्निषोमात्मकं जगत्' यह श्रुति सब पदार्थों को अग्निसोममय बतला रही है। इन दोनों में अग्नि २१वें अहर्गण तक जाती है तथा सोम ३३वें अहर्गण तक जाता है। इन्द्र बाहर से विष्णु प्राण द्वारा लाये हुए अन्न को बाहर फेंकता है। विष्णु बाहर से अन्न ला कर वस्तु के केन्द्र में रख कर उसकी क्षतिपूर्ति करता है। विष्णु आदानधर्मा है तथा इन्द्र विसर्गधर्मा है। अमृताग्नि ही वाक् है-यह कद्रू और सुपर्णी का स्वरूप बतलाते हुए कहा जा चुका है। अमृताग्निरूप वाक् इन्द्र व विष्णु की स्पर्धा से तीन विभागों में विभक्त हो जाती है। विभक्त वाक् ही गौ कहलाती है। अतः इस गौ के, अर्थात् विभक्त वाक् के सहस्र विभाग होते हैं। अतः गौ प्राण एक हजार कहलाते हैं। ये हजार गो-तत्त्व इन्द्र व विष्णु की स्पर्धा से ३३३, ३३३, ३३३, इस प्रकार तीन विभागों में विभक्त हो जाते हैं। इन्द्र व विष्णु की स्पर्धा से केन्द्र से बाहर इन्द्र के द्वारा निकाली जाती हुई अग्नि-घन, तरल, विरल इन तीनों भावों में परिणत हो जाती है। घनावस्था वसु, तरलावस्था रुद्र तथा विरलावस्था आदित्य कहलाती है। ३३३, ३३३, ३३३, भेद से तीन विभागों में विभक्त गो-तत्त्व में ३३३ गो तत्त्व वसुओं

से, ३३३ ही रुद्रों से तथा ३३३ ही आदित्यों से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार ९९९ गो तत्त्व हो जाते हैं। हजार में जो एक गोतत्त्व बचा रहता है, उसे कामगवी कहते हैं। यही गौ अर्थात् विभक्त वाक् सोम लाने के लिए गई थी। इस गौ को बभ्रु, अरुण, रोहिणी इन तीन रूपों में उत्पन्न किया गया था। जैसा कि तैत्तिरीय संहिता में बतलाया गया है—"तामप्सु प्रावेशयन्त्सोमायोदेहीति–सा रोहिणी पिङ्गलैकहायनी रूपं कृत्वा त्रयस्त्रिंशता च त्रिभिश्च शतैः सहोदैत्" (तै० सं० ७।१।६।२) इति ॥

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि एक हजार गो-तत्त्वों को ३३३, ३३३, ३३३, इस प्रकार त्रिधा विभक्त कर वसुओं, रुद्रों व आदित्यों में दे देने पर केवल एक गोतत्त्व बचता था जिसे कामगवी कहा जाता है। उसे बभ्रु, अरुण, रोहिणी रूप से त्रिधा विभक्त किया था। वही स्थिति अब भी है। अतः इसे त्रिधा विभक्त कर उत्पन्न किया जाता है ॥१३॥

जो बभ्रु वर्ण की तथा पीले नेत्र वाली गाय है वह सोमक्रयणी गाय है। जो रोहिणी अर्थात् लाल रङ्ग की गाय है वह इन्द्रदेवापा गाय है। वार्त्रघ्नी का अर्थ इन्द्रदेवापा है, क्योंकि वृत्र को मारने वाले इन्द्र से सम्बन्ध रखती है। संग्राम में विजय प्राप्त कर राजा पर राष्ट्र से जिस गाय को लाता है वही वार्त्रघ्नी कहलाती है। और जो काली आखों वाली गाय है, वह पितृदेवत्या गौ है। सोम काला है और सौम्य प्राण ही पितर कहलाता है अतः उस गाय को पितृदेवत्या कहा है, जिसका श्राद्ध में पितरों के लिए आलम्भन करते हैं। ॥१४॥

सोमक्रयणी के लिए बभ्रु वर्ण की पिङ्गाक्षी गाय को ग्रहण करना चाहिए। यदि वह न मिले तब अरुण वर्ण वाली गाय को लेना चाहिए। वह भी न मिले तो इन्द्रदेवत्या रोहिणी गाय लेनी चाहिए यदि वह भी न मिल सके तो लाल वर्ण की श्वेताक्षी गाय का ग्रहण करना चाहिए। इसकी आशा में नहीं बैठना चाहिए कि उसकी आँखें काली ही हों ॥१५॥

यह गाय गर्भवती नहीं होनी चाहिए। यह जो सोमक्रयणी गाय है वह निदानेन वाक् है। वह अयातयाम्नी हो, गतरसा नहीं हो। अतः सोमक्रयणी गाय गर्भिणी नहीं होनी चाहिए। क्यों कि जो गर्भिणी नहीं होती वह अगतरसा होती है। गर्भिणी होने पर तो उसका रस वत्स में बँट जाने से गतरसा हो जाती है। वह गाय अवण्डा हो, अर्थात् वर्धिष्णु होनी चाहिए। एक सींग वाली नहीं चाहिए। काणी अर्थात् एकाक्षी नहीं चाहिए। कटे हुए कान वाली नहीं होनी चाहिए। गर्म शलाका से चिह्नित नहीं होनी चाहिए। उसके पैरों से एक खुर वाला पैर नहीं होना चाहिए। गाय के पैर में दो खुर होते हैं। चार पैरों में मिला कर आठ खुर होते हैं। किसी पैर में एक खुर की कमी से वह सात खुर वाली होती है, ऐसी नहीं होनी चाहिए। वह सब दोषों से रहित अर्थात् सम्पूर्ण अवयवों वाली एकरूपा होनी चाहिए। जैसा कि कात्यायन ने कहा है:—

"सोमक्रयणी तिष्ठत्यन्तक्षिताऽव्यङ्गाऽप्रवीवाडरज्जुबद्धा वभ्रु पिङ्गला, पिङ्गलाधावे अरूणा, अरूणाभावे रोहिण्यश्येताक्षी" (का० श्रौ० सू० ७।१६६) इति ।। किन्तु याज्ञवल्क्य ने कह दिया है कि रोहिणी यदि काली आखों वाली न मिले तो श्वेताक्षी को भी ले लेना चाहिए ।।१६।।

[**विज्ञान भाष्य**] सोम खरीद करके ही यज्ञ करना चाहिए इसकी उपपत्ति बतला दी गई है। प्राकृतिक यज्ञ में सोम लेने के लिए पृथिवी की गायत्री वाक् जाया करती है। गायत्री ही सोमापहरण करती है। वाक् पृथिवी में से निकल कर पृथिवी के ३३ अहर्गण तक जाती है। गायत्री ही त्रिष्टुप्-जगती बन जाती है। यही वाक्, सोम लाने में समर्थ होती है। इस वाक् द्वारा सोम खरीदा जाता है और इस वाक् द्वारा खरीदे हुए सोम से देवता लोग अपना यज्ञ करते हैं। इस प्रकार अनवरत सोम खरीदा जा रहा है एवं अनवरत प्राकृतिक सोमयज्ञ हो रहा है। सूर्य्य उत्तर में माना जाता है। पृथिवी दक्षिण में मानी जाती है। यहां दक्षिण का अर्थ है-नीचा और उत्तर का अर्थ है ऊँचा। सूर्य्य ऊँचा है, पृथिवी नीचे है। सोम सूर्य्य से भी परली तरफ है। सूर्य्य के ऊपर है—अभिजित्। अभिजित के ठीक उत्तर में है परमेष्ठी-पिण्ड। उसी में से सोम आया करता है।—दक्षिण में रहने वाली जो पृथिवी है-उसकी वाक् सूर्य्य से भी ऊपर ३३ अहर्गण तक वितत रहती है। इससे सिद्ध हो जाता है कि वाक् दक्षिण से उत्तर की ओर सोमापहरण के लिए आक्रमण करती है। सोम लेने के लिए वाक् दक्षिणस्थ पृथिवी से निकल कर सूर्य्य से भी ऊपर तक जाती है। यह है प्रकृति की परिस्थिति। आज यजमान को भी वाक् द्वारा सोम खरीदना है। अतएव निदानेन वाक्-स्थानापन्न गौ से यजमान सोम खरीदने में समर्थ होता है। संकेत को ही निदान कहते हैं। वस्तुओं की सही पहचान ही निदान है। तन्त्रशास्त्र में निदानविद्या का अधिक उपयोग होता है। देवता के हाथ में कमल का पुष्प है—तो उसे पृथिवी समझो। पृथिवी पद्माकार है। अतएव कमल को निदान ने (संकेत ने) पृथिवी मान लिया है। कमल देवता के हाथ में है—इससे यही तात्पर्य्य है कि सारी पृथिवी देवता के वश में है। इसी समझ-पहचान का नाम निदान है। भगवती-सरस्वती के हाथ में पुस्तक है—इससे तात्पर्य्य यह है कि सारी विद्या सरस्वती के अधीन है। देवताओं के जो चित्र बने हुए हैं वे सारे के सारे-इसी निदान के आधार पर बने हुए हैं। संकेतविद्या का नाम ही निदानविद्या है। यह निदान नदी-पर्वत-नक्षत्रादि पर अधिक रूप से घटित किया जाता था। मनुष्यों में जो-जो बातें होती थीं-उन्हें स्थिर रखने के लिए नक्षत्रों के आधार पर उस कथा को-बनावटी बना दिया जाता था, उदाहरणार्थ-त्रिशंकु और विश्वामित्र के चरित्र को ही लीजिए। विश्वामित्र ने त्रिशंकु को स्वर्ग में भेजना चाहा था परन्तु इन्द्र ने अधबीच में ही उसे रोक दिया। बस, कथा को सदा बना रखने के लिए नक्षत्रों पर आरोपण है। आकाश में तीन नक्षत्रों को त्रिशंकु मान रक्खा है। वहीं नीचे की ओर के एक नक्षत्र को विश्वामित्र मान रक्खा है, ऊपर के एक नक्षत्र को इन्द्र मान रक्खा है। इसी का नाम निदानविद्या है। उसी निदान के आधार पर गौ को वाक् मान लिया जाता है। यह गौ-निदानेन वाक् ही है। एक बात और समझ लेनी चाहिए कि, निदान प्राण-सम्बन्ध से ही कायम किया जाता है। सर्वथा कल्पित होने पर भी निदान प्राण का स्वरूप बतलाता है। उदाहरणार्थ-विश्वामित्र का जो नक्षत्र है उसमें वास्तव में विश्वामित्र-प्राण रहता है। इन्द्र-नक्षत्र

में वास्तव में इन्द्रप्राण रहता है। त्रिशंकु वास्तव में त्रिशंकु-प्राणयुक्त है। निदान से-प्राचीन आख्यानों के रहस्यों को समझाया जा सकता है। नक्षत्रों के गुण-धर्म्म भी स्पष्ट किए जा सकते हैं। प्रजापति नक्षत्र पर दृष्टि डालिए-वास्तव में उसका रस सर्वत्र आता है। सारा विश्व उसके रस से व्याप्त है। अग्नि के नक्षत्र में, वास्तव में अग्नि प्राण है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि निदान कोरा कल्पित ही नहीं होता है, अपितु वह प्राणविद्या भी सिखलाता है। इसी प्रकार से यह वाक्-निदान समझना चाहिए। जो निदानेन वाक् है वह कोरी कल्पना ही नहीं है। प्राकृतिक वाक् का नाम भी गौ ही है। अविभक्ता वाक् "**वाक्**" कहलाती है। विभक्तावाक् "**गौ**" कहलाती है, एक वाक् में-एक सहस्र विभाग होते हैं। प्रत्येक विभाग गौ नाम से व्यवहृत होता है। गौ किस पदार्थ का नाम है, इसका विवेचन-"**परमेष्ठी-कृष्ण रहस्य**" में किया गया है। पशु-गौ में वाक्-गौ उल्वण रहती है अतएव उसका नाम भी गौ रख दिया गया है। वास्तव में यह गौ वाक् ही है। निदान होते हुए भी सत्यभाव है। हमने बतलाया है कि पृथिवी से वाक् प्रकृति-मण्डल में ऊपर तक जाती है एवं सोम ला कर वापस लौट आती है। उसी की प्रतीकस्वरूप यह गौ (गाय) सोम लाने वाली वाक् है। यह वाक्-स्वरूप गौ उत्तर को जा कर वापस लौट आती है अतएव निदानेन वाक्-स्वरूपा इस गौ को यह अध्वर्यु दक्षिण भाग से उत्तर की ओर ७ कदम ले जा कर वापस लौटा लाता है। प्रकृति में दक्षिणस्थ पृथिवी से वाक् उत्तर की ओर जाती है एवं सोम ला कर वापस लौट आती है। बस, इसी के अनुसरण में इस वाक् (गौ) को उत्तर की ओर ७ कदम ले जाते हैं और फिर वापस लौटा लाते हैं।

"**सप्तपदान्यनु निक्रामति**"—उत्तर की ओर सात कदम ले जा कर वापस लौटा कर लाता हुआ अध्वर्यु, स्वर्गलोक में सोम लेने गई हुई वाक् को वहां से प्रत्यावृत्त करता है क्योंकि यदि वापस न लौटाए तो सोम लेने के लिए गई यह वाक् वहीं रह जाए। वाक् रूप गौ सोम लेकर वहां से सम्बन्ध तोड़ कर वापस इस यज्ञ में आ जाए जैसा कि प्रकृति-यज्ञ में सोम लेकर वापस लौट आती है। वाक् को निदानेन इसी की अनुरूपता के लिए सात कदम उत्तर में ले जा कर अध्वर्यु वापस लौटा लाता है। सोम लाने वाली वाक् वापस लौट आए-वहीं न रह जाए-इसी भाव के लिए यह विधि अपनाई जाती है-

"वृङ्क्तऽएवैनामेतत्। तस्मात् सप्तपदान्यनुनिक्रामति"।

अब यहाँ पर एकमात्र प्रश्न यही शेष रह जाता है कि सात पद पर ले जा कर ही वापस क्यों लौटा लाए? इसीका उत्तर देते हैं-

कद्रू का नाम पृथिवी है। सुपर्णी का नाम वाक् है। यह वाक् ३३ अहर्गण तक वितत रहती है। इसी वाक् से गायत्री, त्रिष्टुप् आदि छन्द उत्पन्न होते हैं। छन्द नाम है आयतन का। इस वाङ्-मण्डल में भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राण रहते हैं। इसका एकमात्र कारण छन्द ही है। छन्द ही से प्राण-भेद होता है। इस छन्द की जननी यही वाक् है। वाक् ही छन्द का आधार है। हमने बतलाया है कि संसार के यच्चयावत् पदार्थ अग्नि-सोमात्मक हैं। अग्नि और सोम प्रत्येक पदार्थ में रहते हैं। अग्नि-सोम का फैलाव वाक्-मण्डल तक रहता है। वाक्-मण्डल ३३ अहर्गण तक वितत रहता है। ३३ में से

२१ तक तो अग्नि रहता है एवं ३३ तक सोम रहता है। भास्वर और दिक् भेद से सोम दो प्रकार का है। इनमें त्रिणवस्तोम तक अर्थात् २७ तक भास्वरसोम रहता है, ३३ तक दिक्सोम रहता है। इस प्रकार एक ही वाक् में अग्नि-सोम के भेद से २१—२७—३३ ये तीन विभाग हो जाते हैं। इन तीनों में भी २१ तक रहने वाला जो अग्नि है उसके घन—तरल—विरल अवस्था—विशेष के कारण अग्नि, वायु, आदित्य तीन स्वरूप हो जाते हैं। इनमें जो अग्नि का छन्द है, उसका नाम गायत्री है। वायु के छन्द का नाम त्रिष्टुप् है। आदित्य के छन्द का नाम जगती है। इन छन्दों का प्रकृत से सम्बन्ध नहीं है, सम्बन्ध है २१—२७—३३ से। जहाँ तक पृथिवी का वाक् जाता है उस वाक् के अन्तिम मण्डल की परिधि को रथन्तर साम किंवा रथन्तर छन्द कहा जाता है। चूंकि रथन्तर—सामयुक्ता वाक् में अग्नि और दो सोमों के कारण २१—२७—३३ ये तीन विभाग हो जाते हैं, अतएव एक रथन्तर साम के तीन साम हो जाते हैं। जो २१ तक का साम है उसे तो रथन्तरसाम ही कहा जाता है एवं २७ तक के साम को वैरूप साम कहा जाता है एवं ३३ तक के साम को शाक्वर साम कहते हैं। साम को पृष्ठ शब्द से भी व्यवहृत किया जाता है। एस प्रकार एक ही वाक् से अग्नि-सोम भेदेन तीन साम उत्पन्न हो जाते हैं, जिन्हें कि छन्द भी कहते है। तीनों इसी वाक् से उत्पन्न होते हैं। इन तीनों में जो सब से अन्तिम छन्द है, उसका नाम शाक्वर छन्द है। असल में इस छन्द का नाम है शक्वरी। चूंकि साम इसी शक्वरी छन्द से बनता है अतएव इस साम को शाक्वर साम कहा गया है। प्रत्येक छन्द में भिन्न-भिन्न विभाग माने जाते हैं। रथन्तर छन्द के विभाग और ही हैं। वैरूप के विभाग और ही हैं। शक्वरी छन्द के विभाग और ही हैं। इन तीनों में से प्रकृत में शक्वरी ही विवेच्य है। इस शक्वरी छन्द को ७ विभागों में बाँटा जाता है। यही ७ विभाग इस शक्वरी के सात पैर माने जाते हैं। इसी अभिप्राय से कहा गया है "**सप्त-पदा शक्वरी**" (तैति० संहिता ६।१।८।१) कहना यही है कि वाक् से उत्पन्न होने वाले छन्दों में सबसे अन्तिम छन्द शक्वरी है एवं वह सप्तपदा है। यह गौ (गाय) निदानेन वाक् है। प्रकृति—मण्डल में पार्थिव वाक् की गति ३३ तक है एवं ३३ तक व्याप्त शक्वरी छन्द सप्तपदा है अतएव वाक् को साम खरीदने के लिए अन्तिम शक्वरी छन्द तक पहुँचाने हेतु उत्तर की ओर सात पदों तक ही ले जाते हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि जिस वाङ्मण्डल में जिस वाक् से जो छन्द उत्पन्न हुए हैं, उन में सप्तपदा शक्वरी छन्द ही सबसे अन्तिम छन्द है। अतएव अध्वर्यु प्रकृतिवत् वाक्रूपा गौ को उत्तर की ओर सप्त पद तक अन्तिम स्थान पर ले जा कर वहाँ से अपनी ओर लौटाता है। प्रकृति में वाक् सात पद वाली शक्वरी पर जा कर सोमापहरण कर वापस लौट आती है। उसी की अनुकृति पर अध्वर्यु निदानेन वाक् को सत्तपदा शक्वरी छन्द तक संपत्ति-प्राप्ति के लिए ले जा कर वापस लौटा लाता है—

"यत्र वै वाचः प्रजातानि छन्दांसि सप्तपदा वै तेषां पराध्या शक्वरी तामेवैतत् परस्तादर्वाचीं वृङ्क्ते। तस्मात् सप्तपदान्यनुनिक्रामति" ॥१॥

…………याज्ञवल्क्य कहते हैं कि अध्वर्यु इस गाय को गाय न समझ कर अपितु वाक् समझ कर ही उत्तर की ओर ले जाकर वापस लौटाता है अर्थात् गाय में उस वाक् का भाव रखना चाहिए, जो कि

वाक् प्रकृति में सोम लाया करती है। देवता के हाथ में रहने वाला कमल–पुष्प जैसे पृथिवी है–पुष्प नहीं है, तथैव निदानेन यह गाय, गाय नहीं है–अपितु वाक् है–

"स वै वाच एव रूपेणानुनिक्रामति"

जिस समय गाय को उत्तर की ओर ले जा कर वापस लौटाता है—उस समय अध्वर्यु स्तुतिस्वरूप निम्नलिखित मन्त्र बोलता है–

"वस्व्यस्यदितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासि ।
बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु रुद्रो वसुभिराचके" ।

हे सोमक्रयिणि ! हे वाग् देवते ! त्वं वस्वी असि । अदितिरसि । आदित्यासि । रुद्रासि । चन्द्रासि । हे वाग् देवते ! त्वां बृहस्पतिः सुम्ने रम्णात् । (अपिच) रुद्रो वसुभिः (सह) आचके ।

हे सोम क्रयिणि–आप वस्वी हो, अर्थात् वसुदेवताक हो एवं अदिति हो, अर्थात् पृथिवी-स्वरूप हो, एवं रुद्रदेवताक हो, चन्द्रदेवताक हो, आदित्यदेवताक हो। हे सोमक्रयिणि, मार्ग में बृहस्पति आपको सुख से रमण कराएँ। वसु के साथ रुद्र भी आपके सुख को चाहते हैं।

वाक् पृथिवी में से निकल कर ३३ अहर्गण तक जाती है, यह हम बतला आये हैं। इस वाक् पर ही अग्नि और सोम रहते हैं। इसमें अग्नि घन–तरल–विरल भेद से तीन स्वरूपों में परिणत रहता है। घनाग्नि का नाम अग्नि है। तरलाग्नि का नाम वायु है, विरलाग्नि का नाम आदित्य है। इसमें भी अग्नि की आठ अवस्थाएँ होती हैं। इन्हीं के नाम आठ वसु हैं। वायु की ११ अवस्थाओं के नाम ११ रुद्र हैं। आदित्य की १२ अवस्थाओं के नाम १२ आदित्य हैं। इस प्रकार ये सारे देवता उसी वाक्-मण्डल में रहते हैं। वसु पृथिवीलोक की वस्तु है, रुद्र अन्तरिक्ष की वस्तु है, आदित्य द्युलोक की वस्तु है। जिस प्रकार रुद्र अन्तरिक्ष की वस्तु है तथैव चन्द्रमा भी अन्तरिक्ष की वस्तु है। इस तरह एक ही वाक्–पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ तीन स्वरूपों में परिणत हो जाती है। पृथिवी के अधिष्ठाता वसु हैं, अन्तरिक्ष के रुद्र और चन्द्रमा हैं, द्युलोक के आदित्य हैं। यह सारा विभाग होता है पृथिवी–पिण्ड से। पृथिवी-पिण्ड ही का नाम अदिति है। अदिति ही तो असली वाक् है, वही तो ३३ तक वितत रहती है। रुद्र, वसु, चन्द्रमा, आदित्य इसी अदिति वाक् पर अवलम्बित रहते हैं। एक ही वाक् इतने विभागों में परिणत हो वसु बन जाती है, रुद्र बन जाती है, आदित्य बन जाती है। वही अदिति वाक् सब कुछ बन जाती है। अतएव श्रुति कहती है—

अदितिर्द्यौरदितिरंतरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वे देवा अदितिः पंच जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वं ॥

(ऋग्वेद मं० १।८९।१०)

यह अदिति ही सब कुछ है। अतएव वस्वी इत्यादि मन्त्र का अर्थ करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"वस्वी ह्येषा। अदिति ह्येषा। आदित्या ह्येषा। चन्द्रा ह्येषा"।

सूर्य्य से ऊपर परमेष्ठिमण्डल है। यह अदिति वाक् सोम लाने के लिए इसी परमेष्ठिमण्डल में जाती है। सूर्य्य के ऊपर जो सोम है उसका नाम है बृह्मणस्पति। ब्राह्मणस्पत्य सोम ही को यह वाक् लाती है। इस बृह्मणस्पति और सूर्य्य के बीच में बृहस्पति है। सूर्य्य से नीचे का भाग उत्तरसृष्टि कहलाता है, ऊपर का भाग पूर्वा-सृष्टि कहलाता है। जिस प्रकार इस उत्तर-सृष्टि के पहले अधिष्ठाता सूर्य्य हैं, अर्थात् इन्द्र हैं, तथैव उस स्वयम्भू-परमेष्ठि-स्वरूप पूर्वा-सृष्टि के अन्त में बृहस्पति है। इसीलिए श्रुति कहती है—

"बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः"।

अविभक्ता वाक् का नाम वाक् है और विभक्ता वाक् का नाम गौ है, यह बात हम पूर्व में बतला आए हैं। कहना यही है कि वाक् का नाम गौ है। इस गौ के अधिष्ठाता देवता—रुद्र और बृहस्पति—दो ही हैं। रौद्री ओर बार्हस्पत्या—दो ही प्रकार की गौ होती हैं। सूर्य्य के नीचे की जो गौ है वह रौद्री है। उसे रौद्री इसीलिए कहा जाता है कि पानी चूंकि सूर्य्य के ऊपर है एवं रुद्र सूर्य्य के नीचे है, अतएव इस गौ में रुद्रता रहती है। शरीर को फाड़ देने के कारण ही इसे रौद्री गौ कहते हैं। यही गौ जब सूर्य्य से बाहर परमेष्ठिमण्डल में, आपोमण्डल में, चली जाती है तो इसकी रुद्रता मिट जाती है। तब इसे शिवा गौ कहा जाता है। इस प्रकार परार्ध्य-अपरार्ध्य-भेदेन गौ दो स्वरूपों में परिणत हो जाती है। परार्ध्या के स्वामी बृहस्पति तथा अपरार्ध्या के रुद्र हैं। सोम लाने के पक्ष के बीच में, इसके अधिष्ठाता बृहस्पति रहते हैं। यदि इनकी आज्ञा न ली जाएगी तो यह गौ सोम-लाने में असमर्थ हो जाएगी। बृहस्पति से आगे सोम है। वहाँ जाती हुई वाक् को बृहस्पति रोक न दें अतएव उनसे भी प्रार्थना करते हुए **'सुम्ने'** कहा है—जिससे यह आशय है कि बृहस्पति सुख में रमण कराएँ। सुख में रमण की वास्तविक स्थिति क्या है? किसी तोते को जब पिंजड़े में बन्द कर दिया जाता है तो उस बेचारे को झक मार कर उसी में रमण करना पड़ता है। परन्तु यह रमण दुःख में रमण है। एवं स्वतन्त्र होकर वह जो रमण करता है, वही सुख में सच्चा रमण है। याज्ञवल्क्य-**'सुम्ने रम्णातु'** का अर्थ करते हुए कहते हैं कि आपको बृहस्पति साधुमार्ग से, अच्छे मार्ग से, वापस हमारे पास लौटा दें।

"ब्रह्म वै बृहस्पतिः" बृहस्पतिष्ट्वा साधुना (मार्गेण) आवर्तयत्वित्येवैतदाह"।

जैसे सूर्य्य से ऊपर की गौ के अधिष्ठाता बृहस्पति हैं तथैव सूर्य्य से नीचे की गौ के अधिष्ठाता रुद्र हैं। वाक् भी पशु है अतएव रुद्र पशुपति हैं। संसार में जितने भी पशु हैं, सबके अधिष्ठाता रुद्र ही हैं।

वाक् भी रुद्र के अधीन है। यदि रुद्र की आज्ञा में पशु नहीं रहते तो तो रुद्र उसी समय उनका नाश कर डालते हैं। रुद्र की नजर बचा कर कोई भी पशु नहीं निकल सकता है। इस वाक् पशु को रुद्र के रास्ते में से हो कर जाना है। कहीं रुद्र इसे मार न बैठें—अतएव उनसे प्रार्थना की जाती है। क्रोधी

अफसर का जाने की अनुमति दे देना ही उसकी प्रसन्नता समझनी चाहिए। यदि वह मातहत के काम को चाहने भी लगे तो समझ लो, वह पूर्ण प्रसन्न है। इसीलिए "आचकः"—यह कहा है। जाती हुई वाक् का विरोध न करे, उसके काम को चाहे, यही गनीमत है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"रुद्रो वसुभिराचकः"—यह रुद्र वाक् का नाश न कर डाले। पशु रुद्र का अतिक्रमण नहीं कर सकते। रुद्र की नजर से कोई भी पशु छुपा हुआ नहीं है। अतएव उससे प्रार्थना कर लेना अत्यावश्यक है—

"अप्रणाशायैतदाह रुद्रं हि नाति पशवः" ॥२॥

इस प्रकार पूर्वोक्त मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु सोमक्रयिणी गाय को उत्तर (ऊपर) की ओर सात पांवडे (कदम) ले जाकर वापस दक्षिण में ला कर उसके ठीक सातवें कदम के पास आ कर बैठ जाता है। यजमान एवं ऋत्विक् भी उस सातवें डग पर गाय के खुर के पास आ कर बैठ जाए, इसलिए "**पर्युपविशन्ति**" कहा है। इसके अनन्तर अध्वर्यु उस गाय के खुर में सोने की टिकड़ी रख कर उस पर आज्य की आहुति डालता है—

"अथ सप्तमं पदं पर्युपविशन्ति। स हिरण्यं पदे निधाय जुहोति"।

आहुति अग्नि में ही डाली जाती है। आहुति सोम है। सोम अग्नि के अलावा और कहीं नहीं डाला जा सकता। अग्नि के अतिरिक्त अन्य स्थान में डाला हुआ सोम सर्वथा व्यर्थ जाता है। एवं यहां है गाय का खुर। इसमें अग्नि रखना एक प्रकार से गाय के पैर को जलाना है। अतएव कोई ऐसा उपाय निकालना चाहिए जिससे आहुति भी दी जा सके और गाय का पैर भी न जले। बस, ऐसा उपाय एकमात्र सुवर्ण ही है। सुवर्ण अग्नि का रेत है। एक खास प्रकार की मिट्टी में धर्म्म जब प्रवर्ग्य हो जाता है तो वही धर्म्म सुवर्ण कहलाने लगता है। सुवर्ण साक्षात् अग्नि है। विशिष्ट सूर्यरश्मियाँ ही विशेष प्रकार की मिट्टी से संयुक्त हो कर सुवर्ण में परिणत हो जाती हैं। सुवर्ण अग्नि है। इसमें सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि चाहे दो लाख वर्ष तक सुवर्ण को अग्नि में जलाओ—वह नहीं जल सकता। कारण इसका यही है कि सुवर्ण स्वयं अग्नि—रूप है। आग, आग को कभी नहीं जला सकती। जिसे सुवर्ण की भस्म कहा जाता है वह केवल वही मिट्टी है जिसने सूर्य्य रश्मियों को पकड़ रखा है। औषधियों द्वारा उस मिट्टी को विशकलित मात्र किया जाता है। इस प्रक्रिया से रश्मियाँ उसी समय पकड़ से निकल कर अपने प्रभव सूर्य्य में जा मिलती हैं। उस औषधि और अवशिष्ट मिट्टी को ही सोने की भस्म कहा करते हैं। परन्तु विश्वास रखिए, सोने की खाक कभी नहीं हो सकती। सोना आग है। आग दिव्यलोक की वस्तु है। वह तभी तक यहाँ पर रहती है जब तक कि किसी पदार्थ में आबद्ध हो। बन्धन टूटते ही उसी समय वह दिव्याग्नि में शामिल हो जाती है। अतएव श्रुति कहती है—

शेषे वनेषु मात्रोः सं त्वा मर्तास इंधते।
अतंद्रो हव्या वहसि हविष्कृत आदिद्देवेषु राजसि ॥

(ऋग्वेद मं० ८।६०।१५)

अस्तु, सुवर्ण साक्षात् अग्नि है। इस में आहुति डालने पर अग्नि में आहुति डालने से बचाव भी हो जाता है एवं गाय का पैर भी नहीं जलता है। इसलिए गाय के खुर में अग्नि का स्थानापन्न सुवर्ण रख कर ही उस पर आहुति दी जाती है।

इसी अभिप्राय से कहते हैं कि सुवर्ण पर आहुति डालने से अध्वर्यु को अग्नि में आहुति नहीं डालनी पड़ती क्योंकि हिरण्य (सुवर्ण) अग्नि का ही रेत है। ऐसा करने से अध्वर्यु की आहुति अग्निमती हो कर ही हुत होती है—

"न वाऽअनग्नावाहुतिर्हूयतेऽग्निरेतसं वै हिरण्यम् तथो हास्यैषाग्निमत्येवाहुतिर्हुता भवति"।

गाय के खुर में सोना रख कर उस पर घृत की आहुति क्यों डाली जाती है, इसका कारण बतलाते हैं। यह जो घृत है, वह वज्र है। वज्र इन्द्र के शस्त्र का नाम है। घृत और तेल दोनों ही अग्नि और इन्द्र हैं। वरुण से मारा हुआ जो अग्नि है, उसी का नाम घृत है एवं उसी से मारा हुआ जो इन्द्र है उसी का नाम तेल है। इन्द्र ही यज्ञ के देवता हैं अतएव इन्द्र के लिए तिल की आहुति दी जाती है। अस्तु, कहना हमें यही है कि वरुण असुर हैं, जबकि इन्द्र, देवता हैं। इन्द्र–वरुण में परस्पर घोर शत्रुता है। इन्द्र और अग्नि दोनों अविनाभूत हैं। न इन्द्र बिना अग्नि के रह सकता है, न अग्नि बिना इन्द्र के रह सकता है। इसीलिए कितने ही कर्मों में इन्द्र और अग्नि, दोनों को साथ–साथ ऐन्द्राग्न्य द्वादशकपाल पुरोडाश दिया जाता है। अग्नि में जो इन्द्र बैठा हुआ है उसीके साथ वरुण की शत्रुता है। अग्नि में बैठा हुआ इन्द्र तत्त्व जब वरुण के कब्जे में आ जाता है तो उस पदार्थ का नाम पड़ता है घृत और जब साक्षात् इन्द्र स्वयं वरुण के कब्जे में आ जाता है तो उस पदार्थ का नाम है तेल। इन्द्र–शक्ति का नाम ही वज्र है। अतः जौ या आज्य की आहुति देना आज्यस्वरूप वज्र का प्रयोग करना ही है। अतएव—

"**वज्रो वाऽआज्यम्**" यह कहा गया है। गाय का सप्तमपदीय खुर सोमस्वरूप है। गाय वाक्स्वरूपा है। यह उत्तर में जा कर सोम को लाई है। एवं उसी सोम को इसने सातवें डग पर स्थित अपने क्षुर–स्वरूप दक्षिण भाग में रक्खा है। असुरप्राण सोम पर आक्रमण करते रहते हैं। कहीं ऐसा न हो कि आया हुआ यह सोम वापस असुरों के कब्जे में चला जाए। अतएव अध्वर्यु आज्य स्वरूप शस्त्र से असुर–संहारकरखुर रूप में रक्खे हुए हुए सोम को अपने वशीकृत किए है। सप्तम् स्थान पर खुर में सुवर्ण रख कर आज्याहुति देने का यही रहस्य है।

"वज्रेणैवैतदाज्येन स्पृणुते तां स्पृत्वा स्वीकुरुते" ॥३॥

इसका अर्थ यह समझना चाहिए कि सोम की बेल होती है। गाय का सातवाँ खुर सोमवल्ली युक्त है। गाय पृथिवीस्वरूप है। उसमें सोमवल्ली उग रही है। अतएव आज्यस्वरूप शस्त्र से, छुरे से, उसे काट कर यज्ञ के लिए ग्रहण करते हैं। अतएव अन्य ब्राह्मणों में "**घृतं वै देवा वज्रं कृत्वा सोममघ्नन्**—यह कहा जाता है।

सातवें खुर में सुवर्ण रख कर आहुति क्यों देनी चाहिए इसका कारण बतला दिया गया। अब पद्धति बतलाते हैं। वह अध्वर्यु निम्नलिखित मन्त्र बोलता हुआ आज्याहुति देता है—

"स जुहोति। अदित्यास्त्वा मूर्धन्नाजिघर्मि। देवयजने हि पृथिव्यै इडायास्पदमसि घृतवत् स्वाहा"।

यह जो गाय का खुर है वह निदानेन वाक् है। वाक् ही का नाम पृथिवी है। पृथिवी का नाम अदिति है, यह हम पूर्व प्रकरण में बतला आए हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

हे आज्य, हे घृत, मैं तुझको अदिति के मस्तक पर डाल रहा हूँ। तेरी आहुति अदिति के मस्तक पर कर रहा हूँ **"अदित्यास्त्वा मूर्धन् (मूर्ध्नि) आजिघर्मि।"** अदिति का मस्तक कैसा है—यह बतलाते हुए कहते हैं कि पृथिवी के देवयजन—भाग रूपी अदिति के मस्तक पर डाल रहा हूँ। अर्थात् यह आहुति देवताओं को मिल रही है न कि असुरों को। सूर्य्य देवप्राणघन हैं, जैसा कि **"चित्रं देवानामुदगादनीकं"** इत्यादि मन्त्र से स्पष्ट है। सूर्य्य को एक तरफ रखिए और पृथिवी को दूसरी तरफ। ऐसी अवस्था में सूर्य्य का प्रकाश पृथिवी के ठीक आधे हिस्से पर पड़ेगा। सौर प्रकाश का सम्बन्ध पृथिवी के आधे भाग से होगा। बस, इस सौरप्रकाश युक्त आधे भाग का नाम ही देवयजन—प्रदेश (अदिति) है। इतने प्रदेश में सौर—प्रकाश पृथिवी पर पड़ रहा है। अर्थात् देवताओं से यह प्रदेश युक्त है। अतएव इसे हम देवयजन कहने के लिए तैय्यार हैं। इसी को अदिति कहते हैं। क्यों कि सूर्य्य का प्रकाश इतनी दूर तक पड़ता है अतएव इस प्रदेश का नाम **"अदिति—मण्डल"** है। चूंकि पृथिवी के पृष्ठभाग पर सौर—प्रकाश नहीं पहुंचता अतएव उसे **"दितिमण्डल"** कहा जाता है। यह जो आज्य की आहुति है वह पृथिवी के देवयजन—भाग में डाली जाती है अर्थात् देवताओं के लिए डाली जा रही है न कि असुरों के लिए। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"इयं वै पृथिव्यदितिः। अस्यै (अस्याः) हि मूर्धन् (मूर्ध्नि) जुहोति। देवयजने हि पृथिव्यै जुहोति"।

इस प्रकार आहुति डाल कर प्रार्थना करते हैं कि आप इडा के अर्थात् गौ के आस्पद हो, स्थान हो, एवं आप घृतयुक्त हो। इसी का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि गौ, इडा का ही नाम है इसीलिए गौ के खुर में आज्याहुति डाली जाती है। चूंकि आहुति के अनन्तर यह इडा—पद घृतयुक्त हो जाता है अतएव '**घृतवत् स्वाहा**"—यह कह दिया जाता है—

"गौर्वाऽइडा, गोर्हि पदे जुहोति। घृतवत् स्वाहेति। घृतवद्ध्येतदभिहुतं भवति"।४।।

इसके अनन्तर स्फ्य से अर्थात् काष्ठ की तलवार से उस खुर की मिट्टी को कुचरते हैं—

"अथ स्फ्यमादाय परिलिखति" ।

यह स्फ्य वज्र है, इन्द्र का शस्त्र है । अतएव स्फ्य से कुचरना वज्र से कुचरना है । घृत से सोम वल्ली को काटा जाता है एवं वज्र से सोम को सुरक्षित कर अपने कब्जे में किया जाता है अतएव खुर को वज्र–स्वरूप स्फ्य से कुचरा जाता है । स्फ्य से कुचरना ही वज्र से कुचरा जाना है—

"वज्रो वै स्फ्यो । वज्रेणैवैतत् परिलिखति" ।

उस स्फ्य से तीन बार खुर की मिट्टी को कुचरा जाता है । वज्र त्रिवृत् होता है । एक ही इन्द्राग्नि के विद्युत्, उल्का, धिष्ण्या, वज्र और तारा ये पाँच भेद हो जाते हैं । आकाश में जो लकीर सी चमक जाती है उसका नाम है विद्युत् । वही विद्युत् यदि "त्रिवृत्" (△) हो जाती है तो वज्र कहलाने लगती है । यही △ वज्र का आकार है । इसमें से यदि तीनों ओर ज्वालाएँ निकलने लगती हैं तो यह महा-वज्र कहलाता है । यही महावज्र का स्वरूप है । यही हजारों वर्षों के अन्तर से पृथिवी पर पड़ा करता है । कहना हमें यही है कि वज्र त्रिवृत् होता है । अतएव वज्र–स्वरूप सम्पत्ति के लिए स्फ्य से तीन बार ही परिलेखन करना चाहिए । यदि एक ही बार किया जाएगा तो वज्र नहीं होगा, विद्युत् हो जाएगा । विद्युत् में कम बल होता है । वज्र में अधिक बल होता है । अतएव वज्र से ही परिलेखन करना चाहिए । इसी अभिप्राय से कहते हैं कि त्रिवृत जो वज्र है उससे कोई सोम का हिस्सा अतिक्रमण कर बाहर न चला जाए अतएव समन्तात् (चारों ओर से) उस सोम को ले लेते हैं—

"त्रिवृतैवैतद्वज्रेण समन्तं परिगृह्णात्यनतिक्रमाय" ।।५।।

क्यों परिलेखन करना चाहिए–इसका कारण बतला दिया । अब पद्धति बतलाते हैं । वह अध्वर्यु "**अस्मे रमस्वेति**" यह बोलता हुआ उस मिट्टी को कुचरता है। सुपां सु लुक् से 'शे' आदेश होकर अस्मे बना है । इसके अस्मभ्यं, मया, मयि–ये अर्थ हो सकते हैं । यहाँ पर सप्तम्यन्तार्थ ही अभिप्रेत है । इसी अभि-प्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—"**यजमाने रमस्व !**" अर्थात् हे पदपांशो, अर्थात् सोम ! आप हमारे यज-मान में रमण कीजिए । अर्थात् यजमान से आत्मसात् होइए । यही तात्पर्य है । सोम कहो, वाक् कहो–एक ही बात है । यह वाक् सौम्या–वाक् है अतएव हे वाक् ! आप यजमान में रमण कीजिए- यह भी अर्थ हो सकता है ।

इस प्रकार मिट्टी को कुचर कर उस मिट्टी को "**अस्मे ते बन्धुः**" यह मंत्र बोलता हुआ एक पात्र में रख देता है । हे पदपांशो ! आप का जो स्नेह–बन्धन है, यह हमारे यजमान से हो । अर्थात् आप हमारे यजमान के बन्धु बन जाएँ, उनके हो जाएँ ।

"यजमाने ते बन्धुरित्येवैतदाह" ।।६।।

इसके अनन्तर अध्वर्यु जिस स्थान से कुचर कर मिट्टी निकालता है, उस परिलिखित प्रदेश में पानी छिड़क देता है—"**तस्मादप उपनिनयति**" ।

उस स्थान पर पानी छिड़कने की क्या आवश्यकता है—यह बतलाते हैं। इस भूमि का हिस्सा खोदते समय ऋत्विक् लोग जो क्रूर कर्म करते हैं अर्थात् स्फ्य-स्वरूप वज्र से उसमें घाव करते हैं एवं उसका सर्वथा नाश कर उसका (मिट्टी का) अंश उठा लेते हैं अतएव वहां शान्ति के लिए पानी छिड़कने की आवश्यकता है। भूमि को खोदना उसकी हिंसा करना है, उसमें जलन पैदा करना है। पानी शान्ति-स्वरूप है अतएव उस जले हुए तथा विष्कलित पृथिवी के भाग को पानी से शान्त करता है एवं उसे जोड़ता है। शान्ति करना और बिखरे को वापस मिला देना, पानी के ये दो ही काम हैं। यदि कोई मनुष्य रो रहा है तो उसकी आंखें पानी से धो डालिए-उसी समय ताप मिट जाएगा। यदि किसी को अति क्रोध आरहा है तो उसे एक गिलास पानी पिला दीजिए, उसी समय शान्ति आ जाएगी। यदि अंगुली में जलन हो रही है तो पानी की भीगी पट्टी बांध दीजिए त्वरित ही शांति हो जाएगी। ताप-शान्ति करना ही पानी का काम है। एवमेव चून (आटे) को इकट्ठा करना चाहते हैं तो पानी डालिए, बिखरा हुआ चून पिण्ड-रूप में परिणत हो जाएगा। संधान भी इसी पानी से होता है। मिट्टी में तलवार चलाई गई थी अतएव उसमें ताप हो गया था एवं मिट्टी की समतलता नष्ट हो गई थी। पानी दोनों को ठीक कर देता है। इसीलिए उस स्थान पर पानी डाला जाता है। जड़-चेतन में कोई फर्क नहीं है, सब चेतन ही है, यह भी इससे सिद्ध होता है।

"यत्र वाऽअस्यै खनन्तः क्रूरीकुर्वन्त्यपघ्नन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः संदधाति तस्मादप उपनिनयति" ॥७॥

इसके अनन्तर वह अध्वर्यु उस स्थालीय पदपांशु को "त्वे रायः"—यह बोलता हुआ यजमान को सौंप देता है।

"अथ यजमानाय पदं प्रयच्छति। त्वे राय इति"।

पशु को ही 'रायः' कहते हैं। रायः का नाम है सम्पत्ति। पशु से गाय-बैल ही नहीं समझना चाहिए अपितु उपकरण एवं साधन का नाम, भोग्यजात का नाम, पशु है। तुम्हारे में पशु हो, अर्थात् तुम सम्पत्तिवान् बनो, मालदार बनो-यही "त्वे रायः" का तात्पर्य है।

"पशवो वै रायः त्वयि पशव इत्येवैतदाह"।

यजमान "मे रायः" कहता हुआ उस पांशु को, खुर की मिट्टी को, दोनों हाथों में ले लेता है। मेरे में पशु हों। मैं इससे दौलतमन्द बनूं यही "मे रायः" का तात्पर्य है।

"मयि पशव इत्येवैतदाह" ॥८॥

यजमान को पदपांशु दे कर उसी समय अध्वर्यु **"मा वयं रायस्पोषेण वियौष्म"** यह बोलता हुआ अपनी छाती का स्पर्श करता है। अध्वर्यु यजमान को मिट्टी नहीं सौंपता है अपितु पशु सौंपता है, सारी दौलत सौंपता है। ऐसी अवस्था में यदि वक्ष (आत्म) का स्पर्श न करेगा तो अध्वर्यु की भी सारी संपत्ति

यजमान में चली जाएगी एवं अध्वर्यु दरिद्र बन जाएगा । अतएव उसे वक्ष (आत्म) के हाथ लगा कर उसी समय जाती हुई सम्पत्ति का अवरोध करना चाहिए ।

हम धन की पुष्टि से, संपत्ति से, अलग न हो जाएँ, हमारी सम्पत्ति यजमान में न चली जाए इस निमित्त से उस समय यह अवश्य ही बोलना चाहिए । इस मन्त्रशक्ति से अध्वर्यु के भावों में परिवर्तन हो जाता है । सम्पत्ति नहीं गई, यह आत्मविश्वास हो जाता है । इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—"मा वयं" इत्यादि मन्त्र बोल कर आत्म-स्पर्श करने से अध्वर्यु पशुओं से अपने आत्मा अर्थात् अपने आपको अलग नहीं करता है ।

"तथो हाध्वर्युः पशुभ्य आत्मानं नान्तरेति" ।।९।।

इसके अनन्तर उस पदपांशु को ऋत्विक् लोग यजमान से उसकी पत्नी को दिला देते हैं—

"अथ पत्न्यै पदं प्रतिपराहरन्ति" ।

क्यों पत्नी को देता है, इसका कारण बतलाते हैं । यजमान के जो घर हैं वे पत्नी की प्रतिष्ठा हैं, अर्थात् बाहर के व्यवहार का स्वामी जैसे पुरुष होता है तथैव घर की मालकिन पत्नी होती है । गृहस्वामिनी घर की अधिष्ठात्री—घर की प्रतिष्ठा—पत्नी है । तो इस पत्नी को यह पांशु सौंपते हुए इसको घरों की प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित करते हैं । घर की प्रतिष्ठा पत्नी है । इसकी प्रतिष्ठा तभी रह सकती है जब कि घर में रक्खी हुई वस्तुओं पर इसका अधिकार हो । तो इसे देना मानो इसे वास्तव में घर की प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित करना है। यदि इसे नहीं दे कर यों ही घर में रख दिया जाय तो घर में फिर पत्नी की क्या प्रतिष्ठा रही ? फिर तो घर में भी यजमान का ही अधिकार हो जाए । अतएव यजमान पत्नी को पदपांशु देता हुआ उसकी प्रतिष्ठा को बनाए रखता है । अतएव घर में न रख कर पत्नी को देता है—

"गृहा वै पत्न्यै प्रतिष्ठा तद्गृहेष्वेवैनामेतत् प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति तस्मात्पत्न्यै पदं प्रतिपराहरन्ति" ।।१०।।

जिस समय पदपांशु को पत्नी यजमान से ले लेती है उस समय नेष्टा नाम का ऋत्विक् पत्नी से "तोतो रायः" यह बुलवाता है । यह सम्पत्ति आप ही से मिली है एवं आप ही की है । अर्थात् मैंने ले ली है । इससे मैं इसका यथेच्छ उपयोग नहीं कर सकती । मैं तो केवल इसे सुरक्षित रखने वाली हूँ । इस सम्पत्ति के भोक्ता तो आप ही हो ।

इसके बाद वही नेष्टा ऋत्विक् इस यजमान पत्नी को सोमक्रयिणी गाय से चौ-नजर करवाता है अर्थात् नेष्टा को चाहिए कि पांशुग्रहणानन्तर सोमक्रयिणी गाय की ओर पत्नी की दृष्टि कर दे । पत्नी से कह दे कि आप उस गाय की तरफ देखिए—

"एनां सोमक्रयण्या संख्यापयति" ।

पत्नी की सोमक्रयिणी गाय के साथ चौनजर करवाने की क्या आवश्यकता है ? पत्नी क्यों इस गाय को देखे ?? इसका कारण बतलाते हैं—

सोम वृषा है अर्थात् पुरुष–प्राण है। एवं पत्नी योषा है अर्थात् स्त्री–प्राण है। यहाँ पर जो सोमक्रयिणी गाय है वही सोम समझी जाती है। सोम चूँकि यही गाय लाएगी अतएव सोम–साधनत्वात् इसे ही सोम समझ लिया जाता है। यजमान यज्ञ द्वारा नया देवात्मा उत्पन्न करना चाहता है। प्रजनन, बिना योषा–वृषा के, स्त्री–पुरुष के, हो ही नहीं सकता। चूंकि यज्ञ-पत्नी योषा है सोमक्रयिणी वृषा है। उनकी चौनजर कराता है। उन दोनों का परस्पर सम्बन्ध करवाता हुआ योषा-वृषात्मक मिथुन-प्रजनन कराता है। अतएव–मिथुन–सम्पत्ति द्वारा दिव्यात्मप्रजनन भावना के लिए ही वह नेष्टा यजमान पत्नी का सोमक्रयणी के साथ दृष्टि–सम्बन्ध करवाता है।

"वृषा वै सोमो योषा पत्न्येष वाऽअत्र सोमो भवति यत्सोमक्रयणी मिथुन-मेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्मादेनां सोमक्रयण्या संख्यापयति" ।।११।।

क्यों संख्यापन करना चाहिए, इसका कारण बतला दिया गया। अब पद्धति बतलाते हैं। वह नेष्टा यजमान-पत्नी द्वारा निम्नलिखित मन्त्र बुलवाता हुआ सोमक्रयिणी से दृष्टि–सङ्क्रम कराता है—

"स संख्यापयति। समख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुचक्षसा। मामऽआयुः प्रमोषीर्मोऽअहं तव वीरं विदेय तव देवि संदृशि"–इति।

वाक् देवी धी–स्वरूपा है। कैसे धी–स्वरूपा है, यह "चिदसि मनासि" मन्त्र की व्याख्या में बतला दिया गया है। दक्षिणा है अर्थात् परच्छन्दानुवर्तिनी है। उरुचक्षा है अर्थात् जिसकी दृष्टि बड़ी दूर (३३ अहर्गण) तक जाती है, ऐसी देवी के समक्ष खड़ी हुई हूँ। हे सोमक्रयिणी ! आप मेरी आयु को नष्ट न करें। एवं मैं भी आपकी आयु को नष्ट न करूं। सोमक्रयिणी सोम है। यदि यह आत्मा में आहुत नहीं होती तो जीवन नष्ट हो जाता है। एवं इस सोम को यदि हम यज्ञ में न शामिल करेंगे तो इससे यज्ञ भी नष्ट हो जाएगा। अतएव "मामऽआयुः" इत्यादि कहा है। वस्तुतस्तु हमारा और आपका जीवन एक हो जाए। हम-आप दोनों मिल जाएँ। आप (सोम) आत्मसात् हो जाएँ, यही तात्पर्य्य है।

हे देवि, आपकी निगरानी में मुझे पुत्र मिले। मैं पुत्रवती बनूँ। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यही फल माँगना है।

"आशिषमेवैतदाशास्ते पुत्रो वै वीरः पुत्रं विदेय तव संदृशीत्येवैतदाह" ।।१२।।

सोमक्रयिणी गाय कैसी होनी चाहिए यह बतलाते हैं। जो गाय बभ्रु रंग वाली हो–अर्थात् खाकी रंग की हो (जो रंग की सफेद होती है एवं काले रंग की झांई होती है उसे बभ्रु कहते हैं) एवं आंखों के भीतर का अधोभाग पीलापन लिए हुए हो वही गाय सोमक्रयिणी कहलाती है—

"सा या बभ्रुः पिङ्गाक्षी । सा सोमक्रयणी"।

ऐसी ही गाय क्यों लेनी चाहिए–इसका कारण बतलाते हैं—

संसार का निर्म्माण ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि और सोम इन पाँचों अक्षरों से होता है। अव्ययालम्बन पर बैठ कर ये पाँचों अक्षर सारी सृष्टि का संचालन करते हैं। इनमें ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र ये तीन तो केन्द्र में रहते हैं एवं अग्नि–सोम केन्द्र के बाहर ३३ अहर्गण तक रहते हैं। अग्नि २१ तक रहता है, सोम ३३ तक रहता है। ब्रह्मा प्रतिष्ठा है। इस प्रतिष्ठालम्बन पर इन्द्र और विष्णु सदा लड़ा करते हैं, इन्द्र बाहर से लाये हुए अन्न को बाहर फेंका करते हैं। विष्णु अन्न को ला कर आहुत किया करते हैं। आदान करना विष्णु का काम है, विसर्ग करना इन्द्र का काम है। इन्द्र विक्षेपणधर्म्मा है। विष्णु आदान–धर्म्मा है। प्रत्येक पदार्थ में ये पाँचों अक्षर रहते हैं। आदान–विसर्गात्मक क्रिया प्रत्येक पदार्थ में हुआ करती है। आय–व्यय होना दोनों धर्म्म नित्य हैं। हमने बतलाया है कि अमृताग्नि को वाक् कहते हैं। यह वाक् अर्थात् अमृताग्नि इन्द्र–विष्णु की स्पर्धा से तीन भागों में विभक्त हो जाती है। विभक्ता वाक् को गौ कहते हैं। वाक् में चूंकि सहस्र विभाग होते हैं अतएव इसमें हजार गौएँ मानी जाती हैं। ये हजार गौएं इन्द्र–विष्णु की स्पर्द्धा से ३३३–३३३–३३३ इन तीन भागों में विभक्त हो जाती हैं। अग्नि को बाहर करना इन्द्र का काम है। अग्नि में सोम की आहुति डालना विष्णु का काम है। यदि अग्नि में सोम की आहुति न पड़े तो अग्नि प्रज्वलित होकर कभी ऊपर तक अर्थात् २१ तक नहीं जाए। एवं इन्द्र कभी गति न करे तो सोमाहुति की भी आवश्यकता न हो। इन्द्र-विष्णु की स्पर्द्धा से ही अग्नि—घन-तरल-विरल तीन अवस्थाओं में परिणत हो जाता है। बस, इसी कारण वे हजार गौएं ३३३ के हिसाब से तीन भागों में विभक्त हो जाती हैं। अग्नि की घनावस्था का नाम वसु है, तरलावस्था का नाम रुद्र है, विरलावस्था का नाम आदित्य है। इस प्रकार ३३३ गौ वसु से सम्बन्ध रखने वाली हैं, ३३३ रुद्रदेवताक हैं ३३३ आदित्यदेवताक हैं।

इस प्रकार ९९९ तो विभक्त हो जाती हैं। एक गौ बच जाती है। इसी का नाम कामगवी है। तीनों से (वसु–रुद्र–आदित्य से) फल नियत रूप से मिलता है। कामगवी से तीनों की सम्पत्ति मिल जाती है। इसी का नाम अमृतगवी भी है। यही सोम लाती है। सोम का रंग बभ्रु है, अतएव बभ्रु रंग वाली गाय को ही सोमक्रयिणी बनाना चाहिए। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"यत्र वाऽइन्द्राविष्णू त्रेधा सहस्रं व्यैरयेतां तदेकात्यरिच्यत तां त्रेधा प्राजनयतां तस्माद्योप्येतर्हि त्रेधा सहस्रं व्याकुर्यादेकैवातिरिच्येत" ॥१३॥

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हजार के तीन विभाग करोगे तो एक ही शेष बचेगा। इसी अर्थ को मन्त्र–श्रुति बतलाती है—

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथां" ॥

(ऋग्वेद मं० ६।६९।८)

कहने का तात्पर्य्य यही है कि जो गौ बभ्रु और पिंगाक्षी है वही सोमक्रयिणी है एवं जो लाल रंग की गाय है वह इन्द्रदेवत्या है। संग्राम में जीत कर परकीय राष्ट्र से राजा जिस लाल गौ को लाता है वह वार्त्रघ्नी है अर्थात् उसे इन्द्र-देवत्या समझना चाहिए।

जिसकी आँखें काली हों वह पितृदेवत्या है। काला सोम है। सौम्य प्राण को ही पितर-प्राण कहते हैं। इसी का श्राद्ध के दिनों में पितरों के लिए आलम्भन किया जाता है ॥१४॥

यहां कौन सी गाय लेनी चाहिए-इसका निर्णय करते हैं। जो बभ्रु और पिंगाक्षी है वही सोम-क्रयिणी होनी चाहिए। यदि यह न मिले तो अरुणा अर्थात् गुलाबी हो सकती है। यह भी न मिले तो लाल हो सकती है। याज्ञवल्क्य कहते हैं, लाल रंग मात्र पर ध्यान देना चाहिए। उसकी आँख भी काली हो। वह श्वेताक्षा हो, बभ्रु की आशा में नहीं बैठे रहना चाहिए ॥१५॥

यह गाय अप्रवीता अर्थात् अगृहतीगर्भा हो। यह सोमक्रयिणी गाय निदानेन वाक् है। वाक् अयातयाम्नी है अर्थात् अगतरसा है। जो अप्रवीता होती है वह गाय भी अगतरसा ही होती है। बच्चे हुए बाद तो उसका रस बच्चे में बँट जाता है, अतएव अप्रवीता ही होनी चाहिए।

यह गाय अवक्रा होनी चाहिए अर्थात् बांडे सींग नहीं होने चाहिए। एवं अक्रूरा हो अर्थात् सुडौल सींग वाली हो। अकाणा हो। अकर्णा से अलक्षित हो। अर्थात् कान वगैरह कटा हुआ न हो। एवं पूरे ८ खुरों वाली हो। इस प्रकार सम्पत्ति-सम्पन्न एवं एकरूपा हो। क्योंकि वाक् एकरूपा ही है एवं निदानेन यह गाय वाक् ही है ॥१६॥

। इति सोमक्रयणीब्राह्मणं समाप्तम् ।

॥ इति तृतीयाऽध्याये प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥

तृतीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

'सोमोपनहन ब्राह्मणम्'

[मूल] पदं समुप्य पाणीऽअवनेनिक्ते । तद्यत्पाणीऽअवनेनिक्ते वज्रो वाऽआज्यं रेतः सोमो नेद्वज्रेणाज्येन रेतः सोमं हिनसानीति तस्मात्पाणीऽअवनेनिक्ते ।।१।।

अथास्यां हिरण्यं बध्नीते । द्वयं वाऽइदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या अग्निरेतसं वै हिरण्यं सत्येनांशूनुपस्पृशानि सत्येन सोमं पराहणानीति तस्माद्वाऽअस्यां हिरण्यं बध्नीते ।।२।।

अथ सम्प्रेष्यति । सोमोपनहनमाहर सोमपर्याणहनमाहरोष्णीषमाहरेति स यदेव शोभनं तत्सोमोपनहनं स्याद्वासो ह्यस्यैतद्भवति शोभनं ह्येतस्य वासः स यो हैनं शोभनेनोपचरति शोभते हाथ य आह यदेव किं चेति यद्वैव किंच भवति तस्माद्यदेव शोभनं तत्सोमोपनहनं स्याद्यदेव किंच सोमपर्याणहनम् ।।३।।

यद्युष्णीषं विन्देत् । उष्णीषः स्याद्यद्युष्णीषं न विन्देत्सोमपर्याणहनस्यैव द्व्यङ्गुलं वा त्र्यङ्गुलं वावकृन्तेदुष्णीषभाजनमध्वर्युर्वा यजमानो वा सोमोपनहमादत्ते य एव कश्च सोमपर्याणहनम् ।।४।।

अथाग्रेण राजानं विचिन्वन्ति । तदुदकुम्भ उपनिहितो भवति तद्ब्राह्मण उपास्ते तदभ्यायन्ति प्राञ्चः ।।५।।

तदायत्सु वाचयति । एष ते गायत्रो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते त्रैष्टुभो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते जागतो भाग इति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानां साम्राज्यं गच्छेति मे सोमाय ब्रूतादित्येकं वाऽएष क्रीयमाणोऽभि-

क्रीयते छन्दसामेव राज्याय छन्दसां साम्राज्याय घ्नन्ति वाऽएनमेतद्यदभिषुण्वन्ति तस्मैतदाह छन्दसामेव त्वा राज्याय क्रीणामि छन्दसां साम्राज्याय न बधायेत्य-थेत्य प्राङुपविशति ॥६॥

सोऽभिमृशति । आस्माकोऽसीति स्व-इव ह्यस्यैतद्भवति यदागतस्त-स्मादाहास्माकोऽसीति शुक्रस्ते ग्रह्य इति शुक्रं ह्यस्माद्ग्रहं ग्रहीष्यन्भवति विचित-स्त्वा विचिन्वन्तिति सर्वत्वायैतदाह ॥७॥

अत्र हैके । तृणं वा काष्ठं वा वित्त्वापास्यन्ति तदु तथा न कुर्यात्क्षत्रं वै सोमो विडन्या ओषधयोऽन्नं वै क्षत्रियस्य विट् स यथा ग्रसितमनुहायाछिद्य परास्येदेवं तत्तस्मादभ्येव मृशेद्विचितस्त्वा विचिन्वन्त्विति तद्यऽएवास्य विचेता-रस्तऽएनं विचिन्वन्ति ॥८॥

अथ वासः । द्विगुणं वा चतुर्गुणं वा प्राग्दशं वोदग्दशं वोपस्तृणाति तद्राजानं मिमीते स यद्राजानं मिमीते तस्मान्मात्रा मनुष्येषु मात्रो यो चाप्य-न्या मात्रा ॥९॥

सावित्र्या मिमीते । सविता वै देवानां प्रसविता तथो हास्माऽएष सवितृप्रसूत एव क्रयाय भवति ॥१०॥

अतिछन्दसा मिमीते । एषा वै सर्वाणि छन्दांसि यदतिछन्दास्तथो हास्यैष सर्वैरेव छन्दोभिर्मितो भवति तस्मादतिछन्दसा मिमीते ॥११॥

स मिमीते । अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम् । ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत्सवी मनि हिर-ण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वरिति ॥१२॥

एतया सर्वाभिः । एतया चतसृभिरेतया तिसृभिरेतया द्वाभ्यामेतयैकयै-तयैवैकयैतया द्वाभ्यामेतया तिसृभिरेतया चतसृभिरेतया सर्वाभिः समस्याञ्ज-लिनाध्यावपति ॥१३॥

स वाऽउदाचं न्याचं मिमीते। स यदुदाचं न्याचं मिमीतऽइमा एवैतद ङ्गुलीर्नानाजानाः करोति तस्मादिमा नाना जायन्तेऽथ यत्सह सर्वाभिर्मिमीते संश्लिष्टा–इव हैवेमा जायेरंस्तस्माद्वाऽउदाचं न्याचं मिमीते ।।१४।।

यद्वेवोदाचं न्याचं मिमीते । इमा ऐवैतन्नानावीर्याः करोति तस्मादिमा नानावीर्यास्तस्माद्वाऽउदाचं न्याचं मिमीते ।।१५।।

यद्वेवोदाचं न्याचं मिमीते । विराजमेवैतदर्वाचीं च पराचीं च युनक्ति पराच्यह देवेभ्यो यज्ञं वहत्यर्वाची मनुष्यानवति तस्माद्वाऽउदाचं न्याचं मिमीते ।।१६।।

अथ यद्दश कृत्वो मिमीते । दशाक्षरा वै विराड्वैराजः सोमस्तस्माद्दश कृत्वो मिमीते ।।१७।।

अथ सोमोपनहनस्य समुत्पार्यान्तान् । उष्णीषेण विग्रथ्नाति प्रजाभ्यस्त्वेति प्रजाभ्यो ह्येनं क्रीणाति स यदेवेदं शिरश्चांसौ चान्तरोपेनितमिव तदेवास्यैतत्करोति ।।१८।।

अथ मध्येऽङ्गुल्याकाशं करोति । प्रजास्त्वानुप्राणन्त्विति तमयतीव वाऽएनमेतत्समायछन्नप्राणमिव करोति तस्यैतदत एव मध्यतः प्राणमुत्सृजति तं ततः प्राणन्तं प्रजा अनुप्राणन्ति तस्मादाह प्रजास्त्वानुप्राणन्त्विति तं सोमविक्रयिणे प्रयछत्यथातः पणनस्यैव ।।१९।।

[अनुवाद] वह अध्वर्यु उस पद को अर्थात् गाय के खुर से अंकित मिट्टी को एक तरफ फेंक कर अपने दोनों हाथों को धोता है। क्यों कि जैसा पूर्व ब्राह्मण में बतलाया गया है, आज्य वज्रस्वरूप है और जिस सोम की अग्नि में आहुति दे कर नवीन दिव्यात्मा उत्पन्न करने जा रहा है वह सोम रेत (वीर्य्य) रूप है। अध्वर्यु आगे सोम का स्पर्श करने वाला है। गाय ने जहाँ अपना सातवां पद रखा है उस में आज्य की आहुति दे कर उसकी मिट्टी अध्वर्यु ने बाहर निकाल कर फेंकी है। इससे अध्वर्यु के हाथ का आज्य-रूप वज्र से सम्पर्क होने के कारण उस में वज्र का धर्म्म आ गया है। जल से बिना धोये अध्वर्यु के हाथ का सम्पर्क हो जाएगा तो उस से रेत-रूप वीर्य्य का नाश हो जाएगा और नवीन दिव्यात्मा की उत्पत्ति नहीं होगी अतः अध्वर्यु गाय के खुर-प्रदेश की मिट्टी को बाहर फेंक कर अपने

दोनों हाथों को धो लेता है जिससे आज्यरूप वज्र के संस्पर्श से आई हुई हिंस्रता का शमन हो जाता है ।।१।।

तदनन्तर अध्वर्यु अनामिका अंगुलि में उस हिरण्य की टिकिया को बाँध लेता है, जिसे हिरण्य को आहुति देते समय अलग निकाल कर रख लिया था । इसका कारण यह है कि संसार में सत्य व अनृत दो ही प्रकार के पदार्थ हैं । तीसरे प्रकार का कोई पदार्थ नहीं है । उन दोनों में देवता सत्यस्वरूप हैं सत्यधर्म्मा हैं तथा मनुष्य अनृतरूप व अनृतधर्म्मा हैं । इसीलिए 'सत्य संहिता वै देवा अनृतसंहिता मनुष्याः, यह श्रुति देवताओं को सत्यसंहिता–सत्यधर्म्म का पालन करने वाला तथा मनुष्यों को अनृतसंहिता–अनृतधर्म्म का पालन करने वाला बतला रही है । अग्नि, इन्द्र, वरुण, सूर्य्य आदि की तरह सोम भी देवता है तथा देवताओं की वस्तु है अतः वह सत्यस्वरूप है, सत्यधर्म्म वाला है, उसका अनृत धर्म्मवाला मनुष्य कैसे स्पर्श कर सकता है ? इसलिए उसे सत्यस्वरूप बनने के लिए हिरण्य को अंगुलि में बाँधना पड़ता है । हिरण्य अग्नि का रेत है । अतः अग्निरूप है । मैं सत्य से सोमवल्ली के अंशुओं का स्पर्श करूँ, इस भाव से अनामिका अंगुलि में हिरण्य को बाँधता है ।।२।।

पश्चात् अध्वर्यु अन्य ऋत्विजों से कहता है कि 'सोमोपनहनमाहर' सोमपर्याहिणनमाहर' 'उष्णीषमाहर' अर्थात् सोमोपनहन वस्त्र लाओ, सोमपर्याहिणन वस्त्र लाओ, उष्णीष-वस्त्र लाओ ।

सोमोपनहन, सोमपर्याहिणन व उष्णीष की व्याख्या करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यज्ञ करने वाले अतिशय सम्मान के साथ सोमविक्रय करने वालों के पास सोम-वल्ली को लाने के लिए जाते थे । क्यों कि सोम कोई सामान्य वस्तु नहीं है किन्तु सोमयाग का तथा प्राणदेवताओं का भी सर्वस्व है । बिना उसके सोमयाग निष्पन्न नहीं हो सकता और सोमयाग के बिना नवीन दिव्यात्मा की उत्पत्ति नहीं होती । जो दिव्यात्मा यजमान को स्वर्ग के देवताओं में स्थान दिलाता है । इसी प्रकार प्रकृति में, अग्नि में २१ वें अहर्गण से आगे रहने वाले सोम की आहुति न होती तो आग्नेय प्राणदेवताओं की स्थिति ही नहीं रह सकती थी । अतः सोम देवताओं का भी देवता है, महान् है । महान् पुरुष के बैठने के लिए जो वस्त्र बिछाया जाता है उसे सोमोपनहन कहते हैं । अतः यज्ञकर्ता जब सोम खरीदने के लिए जाता है उस समय सोम को खरीद कर जिस वस्त्र पर सोमवल्ली को रखता है वही वस्त्र सोमोपनहन है । यह वस्त्र बहुत सुन्दर व बहुमूल्य होना चाहिए । इसीलिए भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है—'यदेवशोभनं तत् सोमोपनहनंस्यात्' इति ।

जो मनुष्य इस सोम राजा का सत्कार बहुमूल्य वस्त्र बिछा कर करता है वह स्वयं भी शोभा को प्राप्त होता है । जो इस सोम की प्रतिष्ठा करता है, वह स्वयं भी प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है । जो इस सोम के लिए सामान्य वस्त्र बिछाता है, वह स्वयं भी सामान्य ही हो जाता है ।

सोम को खरीद कर बहुमूल्य वस्त्र पर उसे शकट से लाया जाता है। उस शकट के चौतरफ जो पर्दा लगाया जाता है, जिस वस्त्र से सोम को वेष्टित किया जाता है उस वस्त्र को सोम पर्याहरणन कहते हैं। सोमपर्याहरणन वस्त्र सामान्य भी हो सकता है। उसका बहुमूल्य होना आवश्यक नहीं है ॥३॥

सोमोपनहन व सोमपर्याहरणन के अतिरिक्त जो तीसरा वस्त्र, जिसका कि सोम लाते समय उपयोग किया जाता है, वह वस्त्र 'उष्णीष' है। यह वस्त्र जरीदार पगड़ी के समान होना चाहिए। इस उष्णीष वस्त्र से शकट में बिखरी हुई सोमलता को बाँधा जाता है, यह बाँधना बन्धन नहीं है किन्तु जैसे महान् प्रतिष्ठित पुरुष के शिर पर पगड़ी धारण की जाती है, उसके समान है। सोम पर एक प्रकार की पगड़ी वेष्टित करना उष्णीष से सोमलता को बाँधना है। यह वस्त्र उष्णीष ही होना चाहिए। यदि समय पर उष्णीष उपलब्ध न हो तो सोमपर्याहरणन वस्त्र से दो अङ्गुल या तीन अङ्गुल चौड़ी पट्टी उष्णीष जितनी लम्बी काट कर उसके द्वारा सोमलता को बाँधना चाहिए।

सोम के लिए बिछाने का, सोम के बैठने का, जो वस्त्र सोमोपनहन है उसे अध्वर्यु या यजमान ही सोम खरीदने के स्थान पर ले जाते हैं, अन्य सामान्य पुरुष नहीं, किन्तु सोमपर्याहरणन वस्त्र को कोई भी ले जा सकता है। क्यों कि वह सामान्य वस्त्र है ॥४॥

इसके पश्चात् प्राचीन वंश के अग्रभाग में अर्थात् पूर्व की ओर सोमलता को रखते हैं और साफ करते हैं। अर्थात् सोम के साथ जो अनुपादेय अंश आ गया है उसे बाहर निकाल देते हैं। सोम खरीदने के स्थान पर एक जल से भरा हुआ घड़ा रहता है तथा उसी घड़े के पास सोम बेचने वाला ब्राह्मण बैठा रहता है। इस घड़े से पानी ले कर सोमलता को साफ किया जाता है। बाद में उसकी अंशु (पूलियाँ) बनाई जाती हैं। उस स्थान पर ऋत्विक् प्राङ्मुख हो कर अर्थात् जिधर सोम रखा है उधर मुख करके सोम लेने के लिए जाते हैं ॥५॥

सोम प्रकृति में वाक् द्वारा लाया जाता है। यह वाक् पृथिवी–केन्द्र से ३३ वें अहर्गण तक वितत रहती है। वाङ्मण्डल ही संवत्सरमण्डल है। संवत्सरमण्डल में गायत्री आदि सात छन्द हैं। त्रिवृतस्तोम तक गायत्री छन्द है। पश्चात् पञ्चदश स्तोम तक त्रिष्टुप छन्द है। इस के आगे एकविंश स्तोम तक जगती छन्द हैं। इन तीनों छन्दों से अतिरिक्त संवत्सर मण्डल में उष्णिक् अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति ये चार छन्द और हैं। इस प्रकार जैसे प्रकृतिमण्डल में वाक् द्वारा लाया हुआ सोम सात विभागों में विभक्त हो जाता है, उसी प्रकार इस वैध यज्ञ में सोमक्रयणी गायरूप वाक् के द्वारा लाया हुआ एकरूप सोम ही देवतानुसार सात भागों में विभक्त किया जाता है। अर्थात् देवताओं की प्रकृति के अनुसार सोम के टुकड़े काट कर गायत्री आदि ७ भागों में विभक्त कर लिया जाता है। किन्तु इस प्रकार सोम को ७ खण्डों में विभक्त करना सोम को दुःख देने के लिए नहीं अपितु उसे राजा व सम्राट् बनाने

के लिए है। राजा अथवा सम्राट् की सत्ता प्रजा पर निर्भर है। बिना प्रजा के कोई राजा या सम्राट् नहीं कहलाता। प्रजा एकरूपा नहीं है अपितु नानारूपा है। अग्नि में सोम की आहुति से ही प्रजा उत्पन्न होती है। अतः नानारूपा प्रजा की उत्पत्ति के लिए उसे उपयुक्त ७ भागों में विभक्त होना पड़ता है। और इस प्रकार प्रजा की उत्पत्ति होने पर ही वह सोम इस नानारूपा प्रजा का राजा या सम्राट् बन सकता है। मैं आपको सम्राट् बनने के लिए ही ये विभाग करता हूँ न कि आपके वध के लिए।

इसलिए सोम को काट कर उसे सात भागों में विभक्त किया जाता है। उस समय अध्वर्यु के द्वारा सोम से यह प्रार्थना की जाती है कि हे सोम ! मैं आप की गायत्री आदि छंदोरूप जो प्रजा है उसके निर्म्माण के लिए आपको इन भागों में विभक्त करता हूँ जिस से आप उस प्रजा के द्वारा उसके अधिपति, राजा या सम्राट् बन सकें। अतः जब यजमान और ऋत्विक् सोम खरीदने के स्थान पर जाते हैं तब यजमान अध्वर्यु द्वारा सोम से प्रार्थना करता है कि हे सोम राजा ! यह आपका गायत्र विभाग है, यह त्रैष्टुभ विभाग है और यह जागत विभाग है। इसी प्रकार उष्णिक् आदि छन्दों के लिए भी कहलवाता है। अर्थात् आप के ये विभाग आपकी प्रजा गायत्री आदि छन्दों की तृप्ति के लिए किये जा रहे हैं। यह प्रार्थना यद्यपि यजमान ही करता है किन्तु साक्षात् न बोल कर पर्दे के पीछे से बोलता है। सोम का सम्बन्ध साक्षात् यजमान से न रह कर सोम के समक्ष बैठे हुए अध्वर्यु से है। अतः यह कहा गया है कि अध्वर्यु के द्वारा यह प्रार्थना यजमान कराता है। अर्थात् आप इस प्रकार गायत्री आदि छन्दों में विभक्त हो कर अपनी छन्दोरूप प्रजा के साम्राज्य को प्राप्त करें ॥६॥

इस प्रकार मन्त्र बोल कर अध्वर्यु सोम के पास जा कर पूर्व की ओर मुख कर अर्थात् सोम की ओर मुख कर बैठ जाता है। तदनन्तर वह अध्वर्यु 'हे सोम ! अब आप हमारे हैं, यह कह कर सोम का स्पर्श करता है। अर्थात् सोम जब सोम बेचने वाले से यजमान के घर आ गया है तो अब वह उसका बन गया है।

यह सोम दिव्यलोक की वस्तु है जैसा कि 'तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्' यह तैत्तिरीय श्रुति बतला रही है। जब तक यह दिव्यलोक में रहता है तब तक इसकी ध्रुव, धर्त्र, धरुण, धर्म्म ये चार ही अवस्थाएँ होती है। किन्तु अन्तरिक्ष में आने पर उसकी ४० अवस्थाएँ हो जाती हैं जिनको ग्रह (गैस) कहते हैं। अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश में आने और सूर्य्य में इस सोम की आहुति होने पर इस सोम के ४० भेद हो जाते हैं जिन्हें ग्रह कहते हैं। ग्रह की कुल ४० जातियाँ हैं जिन के नाम उपांशुसवन, उपांशु, अन्तर्याम, शुक्र, मन्वी आदि हैं। इन ४० ग्रहों में शुक्र और मन्वी में दो ग्रह ही प्रधान हैं। सूर्य्य जिस सोम को अन्तरिक्ष में से खींचता है, आकर्षण करता है, उसे शुक्र कहते हैं एवं चन्द्रमा सम्बन्धी सोम मन्वी कहलाता है। सूर्य्य और चन्द्रमा ही आकाश के अधिष्ठाता हैं। अतः आन्तरिक्ष्य ४० ग्रहों में शुक्र और मन्वी दो ग्रह ही प्रधान हैं। प्रकृति में ४० आन्तरिक्ष्य ग्रहों की आहुति प्रातःसवन

माध्यन्दिन सवन तथा सायं सवन इन तीन सवनों में ही होती है। उन में सर्वप्रथम शुक्र ग्रह की आहुति होती है। इसी प्रकार प्रकृतिवत् वैध यज्ञ में सोमवल्ली से रस निकाल कर उसे ४० पात्रों में भर दिया जाता है जिन्हें कि ग्रह कहा जाता है। इन ४० ग्रहों की आहुति प्रकृतियाग की तरह प्रातः सवनादि तीन सवनों में ही दी जाती है। सोमलता से निकाले हुए सोम में से थोड़ा नियत सोम लेकर उस के ४० भाग किये जाते हैं और शेष सोम उपांशु सवन आदि कर्म्मों के लिए रख लिया जाता है।

इस के पश्चात् अध्वर्यु सोम का विभाग करने वाले विचित लोगों से कहता है कि आप लोग इस सोम का विभाग कर लें। यह सोम का विभाग केवल एक ग्रह के लिए नहीं करना अपितु ४० ग्रहों के लिए करना है। इसीलिए 'विचिन्वन्तु सर्वत्वायैव' यह कहा गया है ।।७।।

कितने ही याज्ञिकों का मत है कि सोम की छाँट करते समय उसमें विजातीय तृण-काष्ठ आदि हो, उन को निकाल कर बाहर फेंक दें। किन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य का कथन है कि ऐसा न करे क्यों कि सोम औषधियों का क्षत्र है। सारी औषधियों की स्थिति-परि-पुष्टि सोम पर ही निर्भर है। यह पहले काण्ड में बतलाया जा चुका है कि जिस रात्रि में चन्द्रमा न उदयकाल में और न अस्तकाल में दिखाई दे उस रात्रि को सोम इन औषधि वनस्पतियों में प्रविष्ट हो जाता है। अतः सब औषधियों के आप्यायन का कारण सोम ही है। सोम राजा है और औषधियाँ उसकी प्राण हैं। राजा का जीवन प्रजा पर निर्भर है। सोम से जो औषधि आदि लिपट रही है। यह एक प्रकार से सोम द्वारा भुक्त अन्न है। उन को सोम से अलग करना मुँह में लिये हुए अन्न को मुँह से निकाल कर बाहर फेंकने के समान है। यह सोमवल्ली भी प्राकृतिक सोम की स्थानापन्न है, उसी का रूप है। अतः सोम के साथ लिपटी हुई औषधि को सोम की छाँट करते समय बाहर निकाल कर नहीं फेंकना चाहिए।

अपि च सोम की छँटनी भी यजमान से भिन्न ऋत्विक् आदि ही करें जिन्हें कि विचित (सोम छाँटने वाला) कहा जाता है। यजमान तो केवल सोम का स्पर्श ही करे ।।८।।

तत्पश्चात् जितना बड़ा सोमोपनहन वस्त्र हो उसके अनुसार उसे दोहरा, तिहरा, या चौहरा कर वह अध्वर्यु बिछा देता है। यदि सोमोपनहन वस्त्र अधिक बड़ा हो तो तिहरा और चौहरा करके बिछा दे। यदि अधिक बड़ा न हो तो उसे दोहरा करके बिछा दे।

उस वस्त्र के जो पल्ले हैं उन्हें पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख रख कर उस सोमोपनहन वस्त्र को बिछाना चाहिए। क्योंकि पूर्व दिशा देवताओं की है और सोम की दिशा उत्तर है। उत्तर से ही सोम आता है। तदनन्तर उस वस्त्र पर सोम को रख कर उसके विभाग किये

जाते हैं कि इतना सोम-भाग उपांशु, सवन ग्रह के लिए, इतना उपांशु ग्रह के लिए, इतना सोम अन्तर्याम ग्रह के लिए है। इस प्रकार चालीसों ग्रहों के लिए सोम का विभाग कर लिया जाता है।

अध्वर्यु द्वारा इस प्रकार सोम का विभाग करने से ही मनुष्य के अंगुलि, हाथ, पाद, नासिका, कान, इत्यादि विभाग बनते हैं। अग्नि में सोम की आहुति से ही संसार के यावन्मात्र पदार्थों का निर्म्माण होता है। स्त्री का असृक अग्नि है, अग्नि के समान उष्ण है। पुरुष का वीर्य्य साक्षात् सोमस्वरूप है, क्यों कि सोममय अन्न से ही वीर्य्य बनता है। यज्ञकर्ता पुरुष स्त्री के अग्निरूप रक्त में ही इस सोमरूप वीर्य्य की आहुति देता है। उसके बाद स्त्री की योनि में सिक्त रेत को नाभानेदिष्ठ प्राण योनि में प्रतिष्ठित करता है, क्यों कि योनि में अप्रतिष्ठित सोम से वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। यह नाभानेदिष्ठ प्राण पुरुष के सोममय वीर्य्य में ही रहता है। योनि में वीर्य्यसेचन के बाद वह प्राण योनि की वस्तु बन जाता है। तदनन्तर बाल के समान सूक्ष्म वालखिल्य उस प्रतिष्ठित वीर्य्य को हस्तपादादि अवयवों में विभक्त करता है। तत्पश्चात् वृषाकपि नामक इन्द्रप्राण उन विभक्त अवयवों में बलाधान करता है। बलाधान के बाद उन में आदानविसर्गात्मक क्रिया होने लगती है। इससे उन सोम की मात्राओं पर अर्थात् हस्तपादादि अवयवों पर लोम, त्वक् आदि का चयन होता है और इन लोम-त्वगादि चितियों में बलधान भी इन्द्ररूप वृषाकपि प्राण ही करता है। इस चयन के अनन्तर गर्भ का स्वरूप निष्पन्न हो जाता है। किन्तु अभी तक गर्भ, प्रतिष्ठा से रहित है। उसमें स्वप्रतिष्ठा उत्पन्न नहीं हुई है। वह माता की प्रतिष्ठा से ही प्रतिष्ठित है। इसमें एवया नामक मरुत् प्रतिष्ठा उत्पन्न करता है, जो कि श्लथ गर्भ में रुक्षता उत्पन्न कर उस को कठिन पिण्ड बना देता है। जब एवया मरुत् इस गर्भ में प्रतिष्ठा उत्पन्न कर देता है तब वह स्वप्रतिष्ठा से प्रतिष्ठित होकर मातृ—गर्भाशय से बाहर निकल आता है। इस प्रकार नाभानेदिष्ठ, वालखिल्य, वृषाकपि तथा एवया मरुत्-ये चार प्राण अध्यात्म में सहचर भाव से रहते हैं। वीर्य्य को प्रतिष्ठित करना, हस्तपादादि अवयवों में वीर्य्य का विभाजन कर उन में आत्मा का संस्थापन तथा गर्भ में प्रतिष्ठा उत्पन्न करना ही इन का काम है। ये चारों सहचारी हैं। अतः इन चारों का प्रसङ्गतः निरूपण कर दिया है किन्तु प्रकृत में नाभानेदिष्ठ, वालखिल्य प्राण से ही सम्बन्ध है। क्यों कि सोम को प्रतिष्ठित करने तथा उसे ४० विभागों में विभक्त करने का ही प्रकरण है। यह सब प्रकृतियाग में होता है, जिससे मानव की उत्पत्ति होती है। यहाँ भी यजमान को यज्ञ द्वारा नवीन दिव्यात्मा उत्पन्न करना है तो इन प्राणों की आवश्यकता है। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यहाँ वैध यज्ञ में अध्वर्यु सोमोपनहन वस्त्र पर सोमरूप सोमलता को रख कर उसे विभाजित करता है। प्रकृति में सोम-विभाजन का प्रत्यक्ष प्रमाण उस सोम से उत्पन्न मानव के हस्तपादादि अवयव विभाग ही हैं। केवल मनुष्य में नहीं-संसार के यावत् पदार्थों में-मात्रा-विभाग इसी सोम के विभाजन के कारण ही है ॥६॥

वह अध्वर्यु सावित्री छन्द से अर्थात् सवितृदेवताक अतिछन्द से इस सोमवल्ली का माप करता है। क्योंकि सविता देवता ही देवताओं को सभी कार्यों के लिए प्रेरित करने वाले, अनुज्ञा देने वाले हैं। अतः सोम का क्रय तथा उसका विभाजन भी उन्हीं की अनुज्ञा से हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसलिए सवितृदेवताक सावित्री रूप अतिछन्दा से ही अध्वर्यु सोम का क्रयण व उसका विभाजन करता है ॥१०॥

एक चरण में १२ अक्षरों से अधिक अक्षरों वाला छन्द अतिच्छन्द कहलाता है। गायत्री से ले कर जगती तक सभी छन्दों का समावेश छन्द में हो जाता है। इसलिए अति च्छन्द में ये सभी छन्द आ जाते हैं। अतिच्छन्दसे सोम का माप करना इन सभी छन्दों से माप करना है अतः अतिच्छन्द छन्द से ही सोम को मापा जाता है ॥११॥

वह अध्वर्यु निम्नलिखित सवितृदेवताक मन्त्र का उच्चारण करता हुआ सोम का विभाजन करता है—

'अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम्।
ऊर्ध्वा यस्याऽमतिर्भा अदिद्युतत्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः ॥इति
(यजुः० ४।२५)

अर्थात् मैं उस सविता (सूर्य्य) देवता की पूजा करता हूँ, स्तुति करता हूँ, जो द्युलोक, पृथिवीलोक तथा उन दोनों के मध्यवर्ती अन्तरिक्ष लोक का शासक है, जो कि सुचतुर प्रेक्षा-पूर्वक कार्य करने वाला है, जिस की अनुज्ञा का कोई निवारण नहीं कर सकता, जो सुवर्ण हीरक आदि बहुमूल्य वस्तुओं का धारण करने वाला, निर्म्माण करने वाला है क्यों कि सभी बहुमूल्य वस्तुओं का निर्म्माण सूर्य्यरश्मियों से ही होता है जो अभिप्रिय अर्थात् सर्वतः प्रिय हैं, जो कि बुद्धिस्वरूप है, जो सब को क्रान्तदर्शी बनाने से कविरूप है, जिसकी ऊपर की भा विचार में आने योग्य नहीं है, जिसकी अनुज्ञा में सारा विश्व चमक रहा है, ऐसे सविता देवता की मैं अर्चना करता हूँ। तात्पर्य यह है कि सूर्य्य से ऊपर स्वयंभू तथा परमेष्ठीलोक हैं। ये ऊर्ध्व लोक है। सूर्य्य से नीचे चन्द्रमा तथा पृथवीलोक हैं। ये अधोलोक हैं। हमारी ओर अर्थात् नीचे की ओर आने वाली सूर्य्य की भा है उसको तो हम कुछ जान सकते है किन्तु सूर्य से ऊपर जाने वाला सूर्य्य का प्रकाश है, उसका हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है अतएव वह सर्वथा अमति है। सूर्य्य के ऊपर का स्वयंभू व परमेष्ठो अमृतरूप है तथा सूर्य्य के नीचे का भाग चन्द्रमा और पृथिवी मर्त्यरूप हैं। सूर्य्य इन अमृत व मर्त्य दोनों का विभाजक है। इन में ऊपर का अमृत भाग प्रधान है। वही सब का शासन करने वाला है। इसी अभिप्राय से मन्त्र में 'ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि' यह कहा है। वह सविता (सूर्य्य) सुवर्णमय हाथों वाला है क्यों कि रश्मियाँ उसके हाथ हैं और वे रश्मियाँ सुनहरी हैं। वह सविता सुक्रतु-अच्छे विचार वाला है। उसने कृपापूर्वक अपने रश्मिरूपी हाथों से स्वर्ग को नाप लिया है ॥१२॥

वह अध्वर्यु प्रथम 'आदित्यं देवं सवितारमोण्यो' इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ पाँचों अङ्गलियों से सोम को नापता है, फिर इसी मन्त्र को बोल कर चारों अंगुलियों से सोम को नापता है, फिर तीनों अंगुलियों से, पश्चात् दो अंगुलियों से और अन्त में १ अंगुलि से सोम को नापता है, सोम का विभाजन करता है। सोम को नापने में यह अवरोह-क्रम है।

तदनन्तर आरोहक्रम से इसी मन्त्र का उच्चारण करते हुए सोम को नापता है—पहिले एक अंगुलि से, फिर दो अंगुलियों से, फिर तीन अंगुलियों से, पश्चात् चार अंगुलियों से और अन्त में सब अंगुलियों से अर्थात् पांचों अंगुलियों से नापता है।

इस प्रकार दस बार अंगुलियों से नाप कर पश्चात् दोनों हाथों को मिलाकर अञ्जलि से सारे सोम का स्पर्श करता है, अर्थात् सोम का नाप करता है ।।१३।।

इस प्रकार यह अध्वर्यु अंगुलियों को ऊँचा–नीचा करके आरोह-अवरोहक्रमानुसार सोम को नापता है। आरोह–अवरोहक्रम का १३ वीं कण्डिका में निरूपण किया जा चुका है। इसी अभिप्राय से 'स वा उदाचं न्याचं मिमीते' यह कहा है। यहाँ उदाच का अर्थ आरोही तथा न्याच का अर्थ अवरोहक्रम है ।।१३।।

वह अध्वर्यु अवरोह-क्रम में ५, ४, ३, २, १ इस रूप से ५ बार अंगुलियों से सोम को नापता है तथा आरोह–क्रम में १, २, ३, ४, ५ इस रूप से ५ बार अंगुलियों से सोम को नापता है। इसीलिए अंगुलियाँ दोनों हाथों में १० होती हैं और भिन्न-भिन्न स्थान से उत्पन्न होती हैं। प्रकृति के सृष्टि–निर्म्माण में सोम उदाच व न्याच रूप से ही परिणत रहता है। यदि सोम एकरूप ही होता तो अंगुलि एक ही होती और एक स्थान से ही उत्पन्न होती। आज यजमान को यज्ञ द्वारा दिव्यात्मा उत्पन्न करना है अतः प्रकृति-मण्डल की तरह इस सोमवल्ली-रूप सोम को उदाच–न्याच किया जाता है। अतएव दस अंगुलियाँ उत्पन्न होती हैं और भिन्न-भिन्न स्थान से उत्पन्न होती हैं।

वह अध्वर्यु १० अंगुलियों को साथ मिला कर अञ्जलि रूप से एक बार सोम को नापता है अतः अंगुलियाँ भिन्न-भिन्न होती हुई भी परस्पर सम्बद्ध रहती हुई उत्पन्न होती हैं। यह सब प्रकृति के अनुकरण पर किया जाता है। प्रकृति में सोम का अलग अलग विभाजन होता है किन्तु वे विभाग अन्त में एक प्राण से सम्बद्ध रहते हैं–उसी प्रकार यहाँ वैध यज्ञ में भी सोम का पृथक्-पृथक् १० बार विभाजन किया जाता है किन्तु अन्त में अध्वर्यु उन सब को मिला कर एक बार सब से नापता है ।।१४।।

अंगुलियों के उदाच-न्याच रूप से अर्थात् आरोह-अवरोह क्रम से सोम को नापने का दूसरा प्रयोजन भी है। इससे अंगुलियों को भिन्न-भिन्न वीर्य्य से युक्त करना है। किसी अंगुलि में कम वीर्य्य (शक्ति) है और किसी में अधिक वीर्य्य। इस का कारण यह उदाच-न्याच मान

से अंगुलियों से सोम को नापना ही है। इसी प्रकार अंगुलियों में कोई छोटी है और कोई बड़ी है, इसका कारण भी यह उदाचन्याच भाव से नापना ही है।।१५।।

सोम को उदाच-न्याच रूप से नापने का तीसरा प्रयोजन बतला रहे हैं कि विराट् नाम सोम का है। क्यों कि सूर्य्यमण्डल से ऊपर परमेष्ठिमण्डल है। परमेष्ठिमण्डल पृथिवी से २९ वें अहर्गण पर है। सूर्य्य पृथिवी से २१ वेंअहर्गण तथा परमेष्ठि २९ वें अहर्गण पर है। सोम इसी परमेष्ठिमण्डल में रहता है। इसीलिए 'तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्' यह तैत्तिरीय श्रुति तृतीय द्युलोक अर्थात् परमेष्ठी में सोम की सत्ता बतला रही है। २१ वें अहर्गण तक पृथिवी का रथन्तर साम है, २९ वें अहर्गण तक वैराज साम है तथा ३३ वें अहर्गण तक शाक्वर साम है। पृथिवी के २९ वें अहर्गण का साम इस विराट् सोम के कारण ही वैराज कहलाता है। वह अध्वर्यु पहले अवरोहक्रम से तथा बाद में आरोहक्रम से अंगुलियों द्वारा सोम को नापता है। इस प्रकार नापता हुआ वह देवताओं तथा मनुष्यों दोनों को तृप्त करता है।

२९ वें अहर्गण पर अर्थात् तृतीय द्युलोक परमेष्ठी में रहने वाला सोम पहले सूर्य्य द्वारा पृथिवी पर आता है। उस से पार्थिव पदार्थों और मनुष्यों की रक्षा होती है, क्यों कि सोम से ही अन्न उत्पन्न होता है और उसके खाने से मनुष्य जीवित रहते हैं। किन्तु वही सोम पुनः सूर्य्य-रश्मियों के आकर्षण से द्युलोक में पहुँचता है उससे देवताओं की तृप्ति होती है, उन का जीवन रहता है, सत्ता रहती है। इसीलिए 'इतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति यह कहा गया है। प्रकृति में सोम इसी प्रकार नीचे व ऊपर जाया करता है। उसी के अनुकरण पर अवरोह व आरोह क्रम से अंगुलियों से सोम को इस वैध यज्ञ में अध्वर्यु नापता है। किन्तु प्रकृति में पहले सोम ऊपर से नीचे आता है और बाद में नीचे से अर्थात् पृथिवी से ऊपर सूर्य्य की ओर जाता है। अतः वैध यज्ञ में अध्वर्यु पहले अवरोहक्रम से अंगुलियों से सोम को नापता है पश्चात् आरोहक्रम से ।।१६।।

वह अध्वर्यु पाँच बार अवरोहक्रम से तथा पाँच बार आरोहक्रम से-इस प्रकार दस बार सोम को नापता है। क्यों कि विराट् छन्द दस अक्षरों का होता है अर्थात् विराट् दशावयव होता है। २९ वें अहर्गण पर रहने वाला सोम विराट् है अतएव दशावयव है। अतः पूर्ण सोम की प्राप्ति के लिए दस बार ही सोम को नापा जाता है ।।१७।।

इसके बाद वह अध्वर्यु सोम के नीचे बिछाये हुए सोमोपनहन वस्त्र के प्रान्त भागों के किनारे की एक पट्टी फाड़ कर उसे उष्णीष वस्त्र से बाँध दे तथा 'प्रजाभ्यस्त्वा' इस मन्त्र का उच्चारण करे। अर्थात् मैं प्रजा के लिए आप को खरीदता हूँ। मस्तक और स्कन्ध का अन्तराल प्रदेश जैसे संलग्न सा रहता है उसी प्रकार उष्णीश ग्रन्थिबन्धन से सोम का अन्तरालप्रदेश से संलग्न सा सम्बन्ध बन जाता है ।।१८।।

तदनन्तर उस ग्रन्थि के बीच में दो अंगुलियाँ डाल कर उन्हें चौड़ी कर अंगुल्याकाश बनाता है । यह अंगुल्याकाश 'प्रजास्त्वाऽनुप्राणन्' यह मन्त्र बोलते हुए करना चाहिए । सोमोपनहन वस्त्र की पट्टी लेता हुआ सोमोपनहन वस्त्र के अन्य भागों का संग्रह करता हुआ यह अध्वर्यु सोम को ग्लानि पहुँचाता है, प्राण रहित करता है, उस का दम घोटता है। इस प्रकार सोमग्रन्थि में अंगुलि से अवकाश बनाता हुआ अध्वर्यु उस सोम में प्राण का आधान करता है, प्राणदान करता है। इस के बाद उस सोम को सोम बेचने वाले को दे देता है। अब आगे सोमविक्रय की विधि बतलाई जाती है ।।१६।।

[**विज्ञान भाष्य**] सोमक्रयणी गाय कैसी होनी चाहिए, इसका निर्णय हो चुका है। अब आगे का कर्म्म बतलाते हैं। वह अध्वर्यु उस पद को, (गाय के मिट्टी में अंकित खुर को) एक तरफ फेंक कर पानी से अपने दोनों हाथ धो लेता है। पदं समुप्य (प्रक्षिप्य) पाणी अवनेनिक्ते (अवनेजनमुदकेन शोधनम्) इस कर्म्म में जिस कारण वह पद को फेंक कर हाथ धोता है उसका अभिप्राय बतलाते हैं—

"तत् (तत्र) यत् (यस्मात्) पाणीऽअवनेनिक्ते (तदुच्यते इति शेषः)" ।

इस खुर में आज्य (घृत) की आहुति दी गई है। आज्य वज्रस्वरूप है। वरुण से बद्ध अग्नि का नाम आज्य है। अग्नि इन्द्र के बिना रह नहीं सकता। इन्द्र की शक्ति–जिससे कि वह आधिदैवतमण्डल पर शासन करता है—वज्र है। अतएव इन्द्र–सम्बन्धेन हम आज्य को वज्र कह सकते हैं। वज्रोवा आज्यम्। एवं यह सोम रेतस्वरूप है। इसी रेत की अग्नि में जब आहुति दी जाती है तो इससे दिव्यात्मा उत्पन्न होता है। यही दिव्यात्मा–यही यज्ञात्मा–यजमान के मानुष–आत्मा का स्वर्ग से (२१वें स्थान से) सम्बन्ध करता है। हमारा वीर्य्य भी सोमस्वरूप ही है। अन्न में सोम भरा रहता है। अन्न खाने से ही वीर्य्य बनता है। वह वीर्य्य साक्षात् सोम है। यहाँ पर खुर में आज्य डालना, सोम पर वज्र-प्रहार करना है, आहुति द्वारा सोमक्रयणी से सोम मंगवाना है। सोम रेत है। आज्य वज्र है। ऐसी अवस्था में यदि उस घृतयुक्त खुर को, पद को, फेंक–कर हाथ बिना धोए ही यदि सोमवल्ली का स्पर्श कर लिया जाएगा तो आज्य रूपी वज्र से सोम का नाश हो जाएगा। सोम गर्मी पाते ही पिघल जाता है। पिघल जाने से उसकी वह शक्ति जाती रहती है जिससे कि प्रजनन–क्रिया होती है। अग्नि–विद्युत् से सोम के तात्त्विक अंश में विकृति हो जाती है। आज्य साक्षात् अग्नि है। अतएव इसकी गर्मी यदि सोम में प्रविष्ट हो जाएगी तो सोम यातयाम हो जाएगा। अतएव हाथ धो लेने चाहिए। पानी में शांत करने का धर्म है। अग्नि के ताप को पानी उसी समय शान्त कर देता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि आज्य वज्रस्वरूप है। सोम रेतस्वरूप है। हम आज्य–वज्र से सोम–रेत का नाश न कर डालें, बस इसीलिए, इसी खयाल से, अध्वर्यु आज्य युक्त पद को–मिट्टी के खुर को–फेंक कर अपने दोनों हाथ धो डालता है—

"वज्रो वाऽआज्यं रेतः सोमो नेद्वज्रेणाज्येन रेतः सोमं हिनसानीति तस्मात् पाणीऽअवनेनिक्ते" ।।१।।

इसके अनन्तर अध्वर्यु अनामिका में उस सोने को बाँध लेता है—"**अथास्यां हिरण्यं बध्नीते** (अध्वर्यु:) । क्यों बाँधता है, इसका कारण बतलाते हैं । सारे विश्व में सत्य और अनृत ये दो ही पदार्थ हैं । तीसरा पदार्थ है ही नहीं । साँच और झूठ के अलावा वास्तव में कोई तीसरी वस्तु है ही नहीं । देवता और मनुष्य–इन दो के अलावा कोई तीसरा प्रजा नहीं है । अतएव सत्य–अनृत के अलावा कोई तीसरा धर्म्म नहीं है । देवता सत्य–धर्म का पालन करते हैं । देवता सत्य–स्वरूप हैं । मनुष्य मिथ्या–स्वरूप है । देवताओं का मन–प्राण–वाक् एक लीक पर चलता है । मनुष्यों का मन–प्राण–वाक् भिन्न–भिन्न लीकों पर वक्रित हो कर चलता है । सदा एक भाव से रहने का नाम ही सत्य है । जिसका भूत, भविष्यत्, वर्तमान–तीनों कालों में विपर्यय न हो उसी का नाम सत्य है । एवं जो सदा अपना रंग पलटता रहे, कभी किसी रूप में आ जाय, कभी किसी रूप में आ जाय–उसी का नाम अनृत है ।

अग्नि–वायु–सूर्य्य–वरुण–इन्द्र–वसु–रुद्र–आदित्य इत्यादि–इत्यादि अनन्त देवता हैं । सारे देवता अपने स्वरूप में सदा नियतरूपेण रहते हैं । अग्नि प्रातिस्विकरूपेण कभी ताप नहीं त्याग सकता । जिस दिन अग्नि में से ताप निकल जाएगा, उस दिन अग्नि, अग्नि ही न रहेगा । अग्नि का स्वभाव है कि वह ऊर्ध्वमुखी प्रज्वलित होता है । अग्नि अपनी ओर से कभी इस नियम से च्युत नहीं हो सकता । अग्नि को जब भी प्रज्वलित करोगे, उसकी ज्वाला सीधी और ऊपर ही जाएगी । वायु का धर्म्म है तिर्यग् रूप से बहना–स्वेद सुखा देना, इत्यादि । चाहे कुछ भी हो जाय, वायु अपने इन नियमों से विचलित नहीं हो सकती । जब चलेगी तिर्यक् ही चलेगी । सूर्य्य प्रातःकाल अवश्य पूर्व में ही दिखाई देगा एवं सायंकाल अवश्य ही पश्चिम में अस्त हो जाएगा । सूर्य्य–रश्मि एकदम सीधी जाएगी, यदि सामने तिल भी आ जाएगा तो–उससे टक्कर खा कर वापस उसी सीधे मार्ग पर आ जाएगी । क्या मजाल, जरा भी लीक से इधर–उधर हो जाय । इसीलिए हम देवताओं को सत्य कहने के लिए तैय्यार हैं । वे अपने नियम से कभी विचलित नहीं हो सकते ।

परन्तु मनुष्य झूठे हैं । दिन में दस बार रंग पलटते हैं । कभी खुश होते हैं, तो कभी रोते हैं । कभी सोते हैं, तो कभी जागते हैं । कभी चलते हैं, तो कभी बैठ जाते हैं, कभी विद्याभ्यास जैसा पवित्र काम करते हैं, तो कभी अकर्मण्यता के पाश में बद्ध हो जाते हैं । कहते कुछ हैं, विचारते कुछ हैं, करते कुछ हैं । मन–प्राण–वाक् तीनों अलग–अलग रास्तों से जाते हैं । तीनों कुटिल मार्ग से जा सकते हैं । मनुष्य भी प्राणिमात्र का एक उपलक्षण है । घोड़े के चाबुक मार दीजिए । जरा दूर चल कर वह फिर सुस्त हो जाएगा । प्राणि–मात्र सदा एक नियम से रहना पसन्द ही नहीं करते । उनके स्वभाव में, आचार-व्यवहार में, हर वक्त परिवर्तन होता रहता है । जो तत्त्व सदा बदलता रहता है, नष्ट होता रहता है, उसे क्यों कर सत्य कहा जा सकता है ? सत्य तो नियत–धर्म्म का, नित्य धर्म्म का, नाम है । इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रख कर कहते हैं—

"द्वयं वाऽइदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च । सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः" ।

अध्वर्यु चूंकि मनुष्य है, अतएव मिथ्याधर्म्म से युक्त है। यज्ञ देवताओं के लिए किया जाता है। देवता सत्य-स्वरूप हैं। सोम, देवताओं की वस्तु है। सोम भी एक देवता है। भला देवताओं की वस्तु को, जो वस्तु स्वयं भी देवता है—मनुष्य क्यों कर छू सकता है? एक राजा के शरीर का स्पर्श मामूली अदना मनुष्य क्यों-कर कर सकता है? सोम राजा है। राजा ही नहीं बादशाह है। बादशाह ही नहीं शहंशाह है। उसका स्पर्श एक मामूली मनुष्य (अध्वर्यु) क्यों-कर कर सकता है? हाँ, यदि किसी प्रकार अध्वर्यु अपनी आत्मा को सत्य-स्वरूप बना ले तो सोमांशु का (प्रादेशमित सोमवल्ली की फलियों का) स्पर्श कर सकता है। बस, इसीलिए वह अपनी अंगुली में सुवर्ण बाँधता है। सुवर्ण, अग्नि का रेत है। आग ही तो सोना बना हुआ है। अग्नि, देवता है। देवता, सत्यमय है। सोने को अंगुली में बाँधना सत्य को आत्मसात् करना है। अध्वर्यु सोना बँधे हुए हाथ से जो सोम का स्पर्श करता है, वह सत्य से ही स्पर्श करता है। हाथ से स्पर्श नहीं करता, सत्य से स्पर्श करता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—यह हिरण्य अग्नि का रेत है। मैं सत्य से सोमांशुओं का स्पर्श करूं, सत्य से सोम को काम में लाऊँ, बस इसी अभिप्राय से वह, अपनी अनामिका में उस सुवर्ण को बाँधता है—

"अग्निरेतसं वै हिरण्यं सत्येनांशूनुपस्पृशानि सत्येन सोमं पराहणानीति तस्माद्वाऽअस्यां हिरण्यं बध्नीते"—इति ॥२॥

इसके अनन्तर जिन वस्त्रों में सोम आएगा एवं जिससे सोमवल्ली बँधेगी, उनके लिए अध्वर्यु अन्यान्य ऋत्विजों को आज्ञा देगा। अध्वर्यु कहेगा—

"सोमोपनहनमाहर-सोमपर्याणहनमाहर। उष्णीषमाहर"।

हे ऋत्विजो! जिस वस्त्र में सोम आएगा, उस सोमोपनहन वस्त्र को लाओ एवं सोम जिस शकट में रक्खा जाएगा एवं उसके चारों ओर जिस वस्त्र को लपेटा जाएगा उस सोमपर्याहरण नाम के वस्त्र को लाओ एवं जिससे सोमवल्लियाँ बाँधी जाएँगी उस उष्णीष को लाओ। इस प्रकार अध्वर्यु उनको आज्ञा देगा, बाध्य करेगा—

"सम्प्रेष्यति। सोमोपनहनमाहर। सोमपर्याणहनमाहर। उष्णीषमाहर"

यहाँ हम प्रसंगागत शतपथ के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाली दो-चार बात बतला देते हैं। इस शतपथ ब्राह्मण को-माध्यन्दिनी शाखा का बतलाया जाता है।

सम्पूर्ण भारतीय शास्त्र आगम और निगम दो भागों में विभक्त है। आगम के विषय में हमें कुछ नहीं कहना है-कहना है निगम के विषय में। निगम-ऋक्, साम, यजुः, अथर्व इन ४ भागों में विभक्त है। इनमें प्रत्येक वेद की कई-कई शाखाएँ हैं। ऋग्वेद की २१ शाखाएँ हैं। सामवेद की हजार शाखाएँ हैं, यजुर्वेद की १०१ शाखाएँ हैं, अथर्ववेद की ९ शाखाएं हैं। भिन्न-भिन्न ऋषियों के कारण ही यह

शाखा-भेद हुआ है। यजर्वेद की १०१ शाखाओं में १६ शाखाएँ शुक्ल यजुर्वेद की कहलाती हैं। इन १६ के निम्नलिखित नाम हैं—

१-काण्वाः, २-माध्यन्दिना, ३-जाबाला, ४-बुधेया, ५-शाकेया, ६-तापनीया, ७-कपोला, ८-पौण्ड्रवत्सा, ९-आवटिका, १०-परमावटिका, ११-पाराशरीया, १२-वैनया, १३-वैधेया, १४-औधेया १५-गालवा १६-इन सोलहों में से आज काण्व और माध्यन्दिनी दो ही शाखाएँ उपलब्ध हैं।

कृष्ण यजुर्वेद की ८५ शाखाएँ हैं-चाक, आह्वरक, कठ, प्राच्यकठ, वादतन्तवीय, श्वेव, पाताण्डिनेय, इत्यादि-इत्यादि नाम इन शाखाओं के हैं। इन सारी शाखाओं में से आज केवल एक मैत्रायणी संहिता उपलब्ध होती है। एक सहस्र शाखाएँ सामवेद की हैं। तृणापनीय, शाठ्यमुग्र, महाकापोल, जांगलिक, इत्यादि इन शाखाओं के नाम हैं। अथर्ववेद की ९ शाखाएँ हैं।

प्रत्येक शाखा में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्-ये चार-चार विभाग होते हैं। प्रातिशाख्य संहिता भिन्न है—ब्राह्मण भिन्न हैं, आरण्यक भिन्न हैं, उपनिषद् भिन्न हैं। सारे निगम में ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और उपासना काण्ड-इन तीन ही का विवेचन है। तीनों को अलग-अलग समझाने के लिए आरण्यकादि विभाग कर दिये गये हैं। ब्राह्मणग्रन्थ कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करते है, आरण्यक उपासना काण्ड हैं, उपनिषद् ज्ञानकाण्ड हैं। उपनिषद् वेद का अन्तिम भाग है। अतएव इसे वेदान्त भी कहा जाता है। एवं जिनके आधार पर ज्ञान-कर्म्म-उपासना की स्थिति है उन मन्त्रों के संग्रह का नाम संहिता है। इस प्रकार प्रत्येक शाखा चार-चार भागों में विभक्त है। इससे सिद्ध हो जाता है कि जितनी शाखाएँ हैं उतनी ही संहिताएँ हैं, उतने ही ब्राह्मण हैं उतने ही आरण्यक हैं, उतने ही उपनिषद्।

"एकशतमध्वर्यु शाखाः सहस्रवर्त्मा-सामवेदः, एक-विंशतिधा बाह्वृच्यं नवधा अथर्वणो वेदः"।

भगवान् भाष्यकार के इस कथन से कुल ११३१ शाखाएँ सिद्ध होती हैं। बस इतने ही ब्राह्मण समझिए, इतने ही आरण्यक समझिए, इतने ही उपनिषद् समझिए। कुल मिला कर केवल वेद की ४५२४ पुस्तकें हो जाती हैं जिनमें से आज मुश्किल से ५० पुस्तकें मिलती होंगी। बाकी सब काल के गाल में समा गई हैं। प्रकृत में हमें यह बतलाना है कि कितने ही मनुष्य शतपथ ब्राह्मण को माध्यन्दिनी शाखा का बतलाते हैं। परन्तु हमारे हिसाब से यह बात गलत है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनुसार मन्त्र संहिताएं बनी हैं। ब्राह्मण पहले बने हैं, संहिताएँ बाद में बनी हैं। संहिता नाम है मन्त्र-संग्रह का। संस्कृत में जिसे संग्रह कहते हैं, वैदिक भाषा में उसे ही संहिता कहते है। स्वामी दयानन्द कहते हैं—संहिता के बाद ब्राह्मण बने हैं। इन महापुरुषों के विषय में तो हमें कुछ कहना ही नहीं है। जबकि आप-४ संहिताओं के अलावा अन्य संहिताओं को और ब्राह्मण भाग को वेद ही नहीं मानते। संहिता शब्द ही इस बात को सूचित करता है कि ब्राह्मणों में से मन्त्रों का संग्रह कर ये संहिताएँ बनी हैं। याज्ञवल्क्य शुक्लयजुर्वेद के अधिष्ठाता थे। उनके १६ शिष्य थे। सोलहों ने अलग-अलग पुस्तक बनाई। अतएव शुक्ल यजुर्वेद की १६ शाखाएँ हो गई। अस्तु, इस विषय का विस्तृत विवेचन करना प्रकृत

से दूर जाना है। यहाँ सिर्फ यही कहना है कि यह शतपथब्राह्मण माध्यन्दिनी शाखा का नहीं है। कारण इसका यही है कि कितने ही मन्त्र इस ब्राह्मण में ऐसे आये हैं जिनका प्रचलित संहिता में पता भी नहीं है। काण्व और माध्यन्दिनी शुक्लयजुर्वेद की दो ही शाखाएँ प्रचलित हैं। दोनों ही संहिताओं में ये मन्त्र नहीं हैं। इससे मानना पड़ता है कि यह शतपथ दोनों शाखाओं से भिन्न किसी तीसरी ही शाखा का है। यदि इस शतपथ को माध्यन्दिनी शाखा का ही माना जाता है तो संहिता माध्यन्दिनी शाखा की नहीं मानी जा सकती। उदाहरणार्थ "सोमोपनहनमाहर" यह मन्त्र प्रचलित मन्त्र-संहिता में नहीं है। अतएव मानना पड़ता है कि शतपथ माध्यन्दिनी शाखा का नहीं है। प्रसंगागत हमने यह बात बतला दी है। अब पुनः प्रकृत का अनुसरण करते हैं। हमने कहा था कि अध्वर्यु ऋत्विजों से सोमोपनहन इत्यादि मन्त्र से प्रैष करता है। सोमोपनहन किसे कहते हैं? सोमपर्याणहन किसे कहते हैं? उष्णीष की क्या जरूरत पड़ती है?—यह बतलाते हैं।

सोम की बेलें कट-कट कर भारतवर्ष में ईरान की ओर से बिकने को आती थीं जैसा कि हमने सोमाख्यान ब्राह्मण में बतला दिया है। उस सोम के लिए अध्वर्यु सोमभाग हेतु वहाँ जाता है जहाँ कि सोम बेचने वाले बैठे हैं। सोम, बेचने वालों की दृष्टि में भले ही मामूली सी चीज हो परन्तु जो याज्ञिक मनुष्य हैं उनका ता सोम ही सर्वस्व है। यज्ञ-विद्या का आधार एकमात्र सोम ही है। प्राणदेवताओं तक का जीवन इसी सोम से रहता है। सोम, प्राण देवताओं तक का आराध्य है। फिर हम मनुष्यों की तो कथा ही क्या है? सोम यज्ञकर्ता मनुष्यों का सम्राट् है, बादशाह है। आज यह अध्वर्यु उस बादशाह को लेने जा रहा है। बादशाह के लिए जो बिछायत होती है उसीका नाम है सोमोपमहन। सोम को यों ही चाहे जैसे नहीं लाया जाता है, अपितु बिछायत बिछाकर, ऊपर से छत्र लगाकर चारों ओर वेष्टन करके बड़ी धूम-धाम से सोमराजा की सवारी निकाली जाती है। बस उस सोम के लिए नीचे बिछाने का जो वस्त्र है, उसी का नाम है सोमोपनहन। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जो बहुमूल्य, अतिसुन्दर वस्त्र है वही सोमोपनहन होना चाहिए। अर्थात् सोम जिस पर रक्खा जाएगा वह वस्तु बहुमूल्य, बेलबूंटेदार, जरी का काम की हुई होनी चाहिए। मामूली वस्त्र न हो, अपितु बेशकीमती वस्त्र हो, उसे ही सोमोपनहन बनाना चाहिए—

"स यदेव शोभनं तत् सोमोपनहनं स्यात्"।

सोम को रखने के लिए ऐसे बहुमूल्य वस्त्र की क्या आवश्यकता है? इसका कारण बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि भाई, यह सोमोपनहन सोम की पोशाक है। सोम राजा ही नहीं, महाराजा है। क्या महाराजा लोग मामूली पोशाक पहना करते हैं? नहीं, उनकी पोशाक बेशकीमती होती है अतएव सोमोपनहन बहुमूल्य और अतिसुन्दर ही होना चाहिए।

"वासो ह्यस्यैतद्भवति। शोभनं ह्येतस्य वासः"।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जो मनुष्य इस सोमराजा का उपचार बहुमूल्य वस्त्रों से करता है, वह स्वयं भी शोभा को प्राप्त होता है। सोम की इज्जत करना अपनी इज्जत करना है। राजा की प्रतिष्ठा

से प्रजा प्रतिष्ठित रहती है । यदि राजा ही प्रतिष्ठित नहीं है तो फिर प्रजा की प्रतिष्ठा कैसे रह सकती है ? सोम राजा है, अध्वर्यु वगैरः उसकी प्रजा हैं । अतएव अध्वर्यु को चाहिए कि वह राजा की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रक्खे । राजा के लिए मामूली पोशाक नजर करना–मामूली बिछायत करना–राजा की बेइज्जती करना है । उसकी बेइज्जती से प्रजारूप इस यजमान की भी बेइज्जती होती है । अतएव उसे चाहिए कि यह सोमोपनहन वस्त्र बहुमूल्य ही लाए ।

"योहैनं शोभनेन उपचरति, शोभते"—इति ।

जो मनुष्य सोम के लिए चाहे जैसा मामूली वस्त्र ही उपयोग में लाता है वह स्वयं यत्–किंचित् हो जाता है । अर्थात् सोम के साथ वह भी मामूली मनुष्य ही रह जाता है । उसकी जरा भी प्रतिष्ठा नहीं रहती । अतएव जो बहुमूल्य वस्त्र हो, वही सोमोपनहन होना चाहिए । सोमोपनहन सोम की पोशाक है । इसे मामूली पोशाक रखने से यजमान स्वयं पतित हो जाता है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—

जो मनुष्य सोचता है कि अरे बाबा, बहुमूल्य वस्त्र की क्या आवश्यकता है—रखना तो इस पर सोम ही है अतएव चाहे जैसे मामूली वस्त्र को सोमोपनहन बना देना चाहिए, वह स्वयं प्रतिष्ठा से च्युत हो जाता है, यत्किञ्चित हो जाता है । ऐसा न हो कि हम अपनी पोजीशन (स्तर, पद) से न गिर जाएँ अतएव जो वस्त्र बहुमूल्य हैं वही सोमोपनहन होने चाहिए ।

जिस पर सोम रक्खा जाता है, उसका नाम है सोमोपनहन एवं शकट के चारों ओर जिस वस्त्र का पर्दा लगाया जाता है उसका नाम सोमपर्याणहन है । याज्ञवल्क्य कहते हैं कि सोमपर्याणहन के लिए ये नियम नहीं हैं । वह मामूली भी हो सकता है । वह तो पर्दा है । पर्दा भी बेशकीमती ही हो, इसकी जरूरत नहीं है । पोशाक जरूर बेशकीमती होनी चाहिए । सोमपर्याणहन तो चाहो जैसा कर सकते हो ।

"अथ य आह यदेव किञ्चेति (सोमोपनहनम्) यद्धैव किं च भवति (स-मनुष्यः) तस्माद्यदेव शोभनं तत् सोमोपनहनं स्यात् । यदेव किं च सोमपर्याणह-नम् (नात्र सोमोपनहनवन्नियम इति भावः) ।।३।।

तीसरी चीज है उष्णीष । उष्णीष पगड़ी का नाम है । इसमें दोनों ओर जरी के पल्ले होते हैं । इससे बिखरी हुई सोम–लता को इकट्ठी कर बाँधा जाता है । सोम राजा है उसके लिए बाँधने का शब्द बुरा है अतएव उष्णीष शब्द का प्रयोग किया है । उष्णीष बाँधना बुरा नहीं कहलाता । उष्णीष बाँधना तो एक प्रकार से राजा के मस्तक पर मुकुट रखना है । उष्णीष जरा कीमती चीज है । यदि यह समय पर न मिले तो दूसरी चीज भी ली जा सकती है परन्तु जहाँ तक हो सके उष्णीष ही लाना चाहिए । इसी अभिप्राय से कहते हैं कि यदि इस काम के लिए उष्णीष मिल जाए तो उष्णीष ही को लेना चाहिए । अच्छा तो बस यही है । यदि कारणवशात् उष्णीष प्राप्त न हो सके तो जिस वस्त्र को लपेटा जाता है, जिसका कि नाम सोमपर्याहणन है, उसमें से २ अंगुल चौड़ी अथवा ३ अंगुल चौड़ी लीर फाड़ लेनी चाहिए । यह कर्तित वस्त्रांश ही उष्णीष के स्थान में मान लिया जाता है । तात्पर्य्य यही है

कि यदि समय पर पगड़ी न मिल सके तो सोमपर्याहरणन में से दो-तीन अंगुल चौड़ी, जितनी कि सोमवल्ली बँधने में उपयुक्त हो, फाड़ लें। यही पगड़ी मान ली जाती है।

"यद्युष्णीषं विन्देत्–उष्णीषः स्यात् यद्युष्णीषं न विन्देत् सोमपर्याणहनस्यैव द्व्यङ्गुलं वा त्र्यङ्गुलं "वावक्रन्तेदुष्णीषभाजनम्"।

जितनी बड़ी पगड़ी होनी चाहिए उतनी ही बडी लीर होनी चाहिए। यही उष्णीषभाजनम् का तात्पर्य्य है। सोमोपनहन सोमराजा की पोशाक है। इसे मामूली आदमी नहीं ले जा सकता। अध्वर्यु अथवा यजमान–ये दो ही मनुष्य इसे ले जाने के अधिकारी हैं। परन्तु सोमपर्याणहन कोई भी ले जा सकता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"अध्वर्युर्वा यजमानो वा सोमोपनहमादत्ते। य एव कश्च सोमपर्याणहनम्" ॥४॥

इसके अनन्तर प्राचीन वंश के (पूर्व-पश्चिम जो ऊपर की थूणी है–उसी का नाम प्राचीन वंश है) अग्रभाग में अर्थात् पूर्व की ओर सोम राजा की छाँट करते हैं। प्राचीन वंश के आगे सोमवल्ली रक्खी रहती है। उसे साफ करते हैं, उसमें जो अनुपादेय अंश आ गया है, उसे निकाल देते हैं, यही तात्पर्य्य है। **"अथाग्रेण राजानं विचिन्वन्ति"**। एवं उस क्रय–स्थान में, जहाँ से कि सोम खरीद कर लाया जाएगा, वहाँ पानी से भरा हुआ घड़ा रक्खा रहता है। एवं वहीं उस घड़े के पास ही सोम बेचने वाला नियत ब्राह्मण बैठा रहता है। पानी से सोमवल्ली साफ की जाएगी। बाद में उसके अंशु बनाये जाएँगे। अतएव वहाँ पानी का घड़ा भी रहना चाहिए एवं उसी स्थान पर सोमविक्रयी ब्राह्मण को मौजूद रहना चाहिए। **"तदुदककुम्भ उपनिहितो भवति तद् ब्राह्मण उपास्ते।"** उस स्थान पर ऋत्विग् लोग प्राङ्मुख हो कर, अर्थात् जहाँ कि घट रक्खा है उधर की ओर मुंह करके, सोम लेने के लिए जाते हैं—

"तदभ्यायन्ति (प्रत्यभिगच्छन्ति) प्राञ्चः (सोमक्रयप्रदेशाभिमुखाः सन्तः –इति भावः)" ॥५॥

सोम वाक् द्वारा लाया जाता है। वही सोम वाक् में विभक्त रहता है जो कि वाक् पृथिवीपृष्ठ से ३३ अहर्गण तक बितत रहती है। इस वाक् में कुल सात छन्द हैं। वाङमण्डल का नाम ही संवत्सर–मण्डल है। इस संवत्सर–मण्डल में कुल ७ छन्द हैं। पृथिवी के त्रिवृत पृष्ठ तक अर्थात् ६ अहर्गण तक तो गायत्री छन्द है। बाद में पञ्चदश तक त्रिष्टुप् छन्द है। एकविंश तक जगती छन्द है एवं इन्हीं में उष्णिक्–अनुष्टुप्-बृहती–पंक्ति—ये चार छन्द और हैं। इस प्रकार ७ छन्द हो जाते हैं। २१ के ऊपर रहने वाला सोम इन सात छन्दों में विभक्त रहता है। सातों छन्दों का स्वरूप सर्वथा पृथक्-पृथक् है। सातों का प्राण भिन्न-भिन्न है। एक ही सोम को सात भागों में विभक्त होना पड़ता है।

एक के सात टुकड़े हो जाते हैं। इस प्रकार प्रकृति–मण्डल में वाग् द्वारा लाया गया एकरूप सोम यहाँ आ कर गायत्री आदि छन्द–भेद से कई विभागों में विभक्त हो जाता है। प्रकृति–यज्ञ के अनुसार ही मानुष–यज्ञ का वितान होता है अतएव समूह-रूप से आया हुआ जो सोम है, उसे यहाँ भी गायत्र्यादि देवतानुसार अलग-अलग विभक्त करना पड़ता है। सोमवल्ली इकट्ठी ही, एकरूपा ही यहाँ आती है। उस समष्टि को ही खरीद लिया जाता है। बाद में देवतानुसार **बेलड़ी** (वल्ली) को काट-काट कर उसके विभाग किये जाते हैं। क्यों कि प्रकृति में भी तो पहले सोम समष्टि रूप से ही आ जाता है, बाद में विभाग होता है।

सोम राजा है, इसे काटना बड़ा अनर्थ है। परन्तु क्या करें, काटना पड़ता ही है। बिना काटे यज्ञ हो नहीं सकता। देवता-विभाग से पहिले इसके विभाग अवश्य ही करने पड़ते हैं। परन्तु यह काटना, काटना नहीं है, अपितु सोम को राजा बनाना है। राजा प्रजा का होता है। यदि प्रजा नहीं तो राजा, राजा ही नहीं रहता। एक रियासत के यच्चयावत् मनुष्यों को आप बाहर निकाल दीजिए देखें राजा जी कहाँ और कैसे बचते हैं। प्रजा का राजा है। राजा शब्द प्रजा की अपेक्षा रखता है। प्रकृतिमण्डलस्थ सोम, राजा इसलिए कहलाता है कि यह सारा विश्व इसकी प्रजा है। परन्तु इस प्रजा का निर्म्माण तभी होता है जब सोम विभक्त हो कर नीचे फैलता है। यदि विभक्त न होता–एकरूप ही रहता तो सृष्टि ही न बनती। नानाभाव में परिणत होने पर ही सृष्टि बनती है। हमारा कान, नाक से अलग है, भिन्न शक्ल का है। नाक, आँख से नहीं मिलता। पैर हाथों से नहीं मिलते। हाथ पैरों से नहीं मिलते। सबका स्वरूप भिन्न-भिन्न है। यह सोम–विभाग की ही महिमा है। विभाग ही से प्रजा बनती है। एवं प्रजा बनती है तभी सोम सम्राट् कहलाता है। सोम वाङ्मण्डल का अधिपति है परन्तु अधिपति तभी तक है जब तक कि वह स्वयं विभक्त हो कर वाक्-अग्नि में आहुत होता रहता है। जिस दिन इस अग्नि में सोम की आहुति न पड़ेगी उस दिन वाङ्मण्डल ही न होगा। जब वाङ्मण्डल ही नहीं रहेगा तो मण्डलेश्वर किस मण्डल की अपेक्षा से मण्डलेश्वर कहलाएँगे ? तात्पर्य्य यही है कि प्रकृति में एकरूप सोम वागग्नि में आ कर जब विभक्त हो जाता है तभी वाक्मण्डल स्थित रहता है। एवं तभी सोम सम्राट् कहलाता है। उसी प्रकृति के अनुसार यह मानुष-यज्ञ है। इसमें भी गायत्री आदि के हिसाब से जो सोम को काट-काट कर अलग-अलग विभागों में विभक्त करना है, वह इसे काटना नहीं है। अपितु प्रजा बन कर उस प्रजा का उसे सम्राट् बनाना है, अध्यात्म-प्रजा उत्पन्न कर उसका स्वामी बनाना है। यह तभी हो सकता है जब कि इसके खण्ड किये जाएँ। क्योंकि प्रजा तो नानाभाव को लेकर ही उत्पन्न होती है। यह सब कुछ है परन्तु आखिर सोम काटा जाता है। अतएव एक तरह से उसे पीड़ा पहुँचती है। अध्वर्यु यजमान की ओर से सोम से प्रार्थना करता है कि मैं आपको अपने स्वार्थ के लिए नहीं काटता अपितु आपके प्रजारूप जो गायत्री छन्द हैं उनके लिए आपका विभाग इसलिए करता हूँ कि आप उनके राजा बने रहें। जब तक आपकी ओर से उन्हें मदद मिलती रहेगी तब तक वे जीवित रहेंगे एवं जब तक प्रजाजन जीवित रहेंगे तभी तक आप राजा कहलाएँगे। तो मै आपके राजत्व को सुरक्षित रखने के लिए ही आपके नाना विभाग करता हूँ। यदि प्रजा एकरूपा होती तब भी कोई बात न थी परन्तु गायत्री आदि प्राणभेद से प्रजा नानारूपों की है

अतएव प्रजानुसार अवश्य ही आपको विभक्त करना पड़ना है। इसलिए आप मेरे इस अपराध को क्षमा करेंगे। जिस समय यजमान और ऋत्विक् लोग सोम-क्रय स्थान पर आ जाते हैं तो उनके आने के बाद यजमान अध्वर्यु से कहलाता है—

"एष ते गायत्रो भाग इति मे सोमाय ब्रूतात्"।

हे अध्वर्यु ! तुम मेरी ओर से सोम राजा को कह दो कि हे सोमराजा ! आपका यह विभाग गायत्र है, अर्थात् गायत्री से सम्बन्ध रखने वाला है। गायत्री आदि जो आपकी प्रजा है उनको तृप्त करने के लिए ही आपका क्रय और विभाग किया जाता है, न कि वध के लिए। हम आपकी हिंसा नहीं करते अपितु गायत्री आदि प्रजा को तृप्त कर आपके साम्राज्य को सुरक्षित रखते हैं, यही तात्पर्य्य है। "इति मे सोमाय ब्रूतात्" का तात्पर्य्य यही है कि तुम मेरी ओर से सोम के लिए "एष ते गायत्रो भाग" यह कह दो। बोलता है यह मंत्र यजमान ही, परन्तु साक्षात् न बोल कर पर्दे की ओट से बोलता है। राजा जी सामने बैठे हुए हैं। खवास जी (सेवारत नापित) उनके पास बैठे हुए हैं। उनसे राजा जी को सुनाते हुए कह रहे हैं कि हे खवास जी ! आप महाराज साहब से कह दीजिए कि हम यह काम आपकी प्रजा के सुख के लिए कर रहे हैं, न कि आपको किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाना चाहते हैं। बस इसी प्रकार का "**एष ते गायत्रो भाग इति मे सोमाय ब्रूतात्**"—यह कहना है। चूंकि गायत्रीवत् वाक् में त्रिष्टुप् और जगती आदि छन्द भी रहते हैं अतएव एष ते वे त्रैष्टुभो भाग-इत्यादि कह दिया गया है।

"तदायत्सु (ऋत्विग् यजमानेषु क्रयदेशे समागच्छत्सु-अध्वर्यु यजमानम्) वाचयति। एष ते गायत्रो भाग इति मे सोमाय ब्रूतात्। एष ते त्रैष्टुभो भाग इति मे सोमाय ब्रूतात्। एष ते जागतो भाग इति मे सोमाय ब्रूतात्"।

अध्वर्यु यजमान से परोक्ष भाव से एष ते····इत्यादि बुलवाता है। गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, तीन छन्द मुख्य हैं एवं इस वाङ्मण्डल में अनुष्टुप् आदि चार छन्द हो रहे हैं। उनके लिए भी इस सोम का विभाग किया जाता है। अतएव कहते हैं—पंक्ति आदि छन्द हैं नाम जिनके, ऐसों के ऊपर आप साम्राज्य प्राप्त कीजिए। हे अध्वर्यु ! आप मेरी तरफ से सोम के लिए यह कह दीजिए। छन्द ही तो सोम की प्रजा हैं। इसलिए "छन्दोनामानां" कहा है। अर्थात् छन्द नाम वाली प्रजा के आप सम्राट् बनाए जा रहे हैं, न कि आपकी हिंसा की जा रही है।

'छन्दो नामानां साम्राज्यं गच्छ-इति मे सोमाय ब्रूतात्' आपका यह गायत्र भाग है, यह त्रैष्टुप् है-इस प्रकार से कहने की आवश्यकता ही क्या है ? इसी का स्पष्टीकरण करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—क्रीयमाण जो सोम है, वह एकरूप ही खरीदा जाता है अर्थात् सोमवल्ली को विभक्त करके नहीं खरीदा जाता अपितु समष्टि-रूप से एकरूप ही खरीदा जाता है। क्यों कि प्रकृति मण्डल में भी तो एकरूप ही—समष्टि-रूप ही वाक्, सोम को अपने में आहुत करती है। बाद में छन्दों के राज्य के लिए और छन्दों के साम्राज्य के लिए अर्थात् सोम को छन्दों का सम्राट् बनाने के लिए ऋत्विक् लोग अलग-

अलग काटते हैं एवं काट कर उसका रस निकालते हैं क्यों कि प्रकृति–यज्ञ में भी तो दिव्यप्राण–रूप ऋत्विक् लोग उस आगत सोम को गायत्री आदि के विभाग से विभक्त कर उसे सारे वाङ्मण्डल का सम्राट् बना देते हैं। तात्पर्य यही है कि हम हिंसा करने के अभिप्राय से सोम के टुकड़े नहीं करते अपितु सम्राट् बनाने के लिए करते हैं।

सोम केवल छन्दों के सम्राट् बनाये जाने के खयाल से ही खरीदा जाता है। इसका एकमात्र यही प्रयोजन है कि सोम इनका सम्राट् बन जाए परन्तु इसको जो कूटते हैं, वे इसका नाश ही करते हैं। इसके लिए "एष ते गायत्र" इत्यादि कहा जाता है।

"एकं वाऽएष क्रीयमाणोऽभिक्रीयते छन्दसामेव राज्याय छन्दसां साम्राज्याय घ्नन्ति वाऽएनमेतद्यदभिषुण्वन्ति। तमेतदाह छन्दसामेव त्वा राज्याय क्रीणामि, छन्दसां साम्राज्याय न बधाये–इति"।

अभी सोम का विभाग किया नहीं है अपितु होने वाले विभाग को लक्ष्य में रख कर ही "एष ते गायत्रः" इत्यादि कह दिया है। इस प्रकार मन्त्र बोल कर वह अध्वर्यु सोम के पास जा कर प्राङ्मुख होकर बैठ जाता है—

"अथ एत्य (सोमम्) प्राङ् उपविशति" ॥६॥

इसके बाद वह **"आस्माकोऽसीति"** यह बोलता हुआ सोम का स्पर्श करता है। **"सोऽभिमृशति–आस्माकोऽसीति"**।

याज्ञवल्क्य कहते हैं यह सोम आज अपना ही बन जाता है। अब तक इस पर बेचने वाले का अधिकार था परन्तु अब इस पर यजमान का अधिकार हो जाता है—

"स्व-इव ह्यस्यैतद् भवति यदागतः तस्मादाह आस्माकोऽसीति"।

यह सोम दिव्यलोक में रहता है। सोम मृत्युलोक की वस्तु नहीं है, अपितु दिव्यलोक की वस्तु है। दिव्यलोक में भी तीसरे दिव्यलोक की वस्तु है। इसीलिए **"तृतीयस्यां इतो दिवि सोम आसीत्"**। (तै०ब्रा० १।१।३।१०) यह कहा जाता है। वही सोम अन्तरिक्ष में आता है। इसी सोम की सूर्य में आहुति होती है। जब तक यह सोम दिव्यलोक में रहता है तब तक इसकी ध्रुव, धर्त्र, धरुण, धर्म्म, ये ४ अवस्थाएँ रहती हैं। परन्तु अन्तरिक्ष में आ कर यही सोम ४० स्वरूपों में परिणत हो जाता है। अन्तरिक्ष में आया हुआ यह सोम ग्रह नाम से व्यवहृत होता है। ग्रह को ही पाश्चात्य जगत् गैस कहता है। ये गैस कुल ४० प्रकार की हैं। इनकी ४० जातियाँ है। इन्हीं के लाखों अवान्तर भेद हैं। उपांशुसवन, उपांशु, अन्तर्याम, शुक्र, मन्थी इत्यादि इन ग्रहों के नाम हैं। ग्रह कुल ४० ही हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है:—

षट्त्रिंशांश्च चतुरः कल्पयंतश्छन्दांसि च दधत आद्वादशम् ।
यज्ञं विमाय कवयो मनीष ऋक्सामाभ्यां प्र रथं वर्तयन्ति ।।
(ऋग्वेद मं १०।११४।६)

इन ४० ग्रहों में शुक्र और मन्थी दो ही ग्रह प्रधान हैं। दो में भी शुक्र प्रधान है। सूर्य्य जिस सोम को अन्तरिक्ष में से खींचता है उसका नाम है शुक्र। एवं चन्द्रमा सम्बन्धी सोम का नाम है मन्थी। सूर्य और चन्द्रमा दो ही आकाश के अधिष्ठाता हैं। एवं दोनों में भी शुक्र ही अर्थात् सौर सोम ही प्रधान है।

कहने का तात्पर्य्य यही है कि अन्तरिक्ष सोम का नाम ग्रह-सोम है। इसी को गृह्य भी कहते हैं। ये चूंकि ४० हैं अतएव यहाँ भी ४० ही ग्रह किये जाते हैं। प्राकृतिक सोम-याग में प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन, सायंसवन, इन तीन सवनों में ४० ग्रहों की आहुति हो जाती है। उन सब में पहिली आहुति शुक्र-ग्रह की होती है। बस, ठीक इसी प्रकार इस सोम-यज्ञ में भी ४० पात्रों में सोम भर लिया जाता है। यही ४० ग्रह कहलाते हैं। इनकी भी उसी प्रकार प्रातःसवनादि क्रम से आहुति होती है। इन सब में पहला चूंकि शुक्र ग्रह है-इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"शुक्रस्ते ग्रह्यः (ग्रहः)" अर्थात् हे सोम ! आपका पहला ग्रह यह शुक्र ही है। इस मंत्र को बोलते हुए इस सोम-पिण्ड से शुक्र ग्रह का ही ग्रहण किया जाता है। चूंकि ४० ग्रह होते हैं, अतएव सोम को ४० भागों में विभक्त किया जाता है। सम्पूर्ण सोम के ४० भाग नहीं किये जाते हैं अपितु थोड़ा सा नियमित हिस्सा ले कर उसके भाग किये जाते हैं। शेष सोम उपांशुसवन अन्तर्यामादि कर्म्मों के लिए छोड़ दिया जाता है। इसके बाद फिर अध्वर्यु बोलता है-"विचितस्त्वा विचिन्वन्तु" इस सोम से ग्रह-याग होगा-इससे उपांशुसवन होगा-इससे अन्तर्याम होगा। इस प्रकार सोम की छांट करने वाले पुरुष नियत रहते हैं। उनका काम सिर्फ यही रहता है कि वे कर्म्मानुसार उसे विभक्त कर दें, ऐसे मनुष्य का नाम **'विचित'** रख दिया गया है। अब सोम-विभाग का मौका आ गया है। अतएव अध्वर्यु कहता है-हे सोम ! विचित पुरुष आपका विभाग करे। सर्वत्व के लिए विचिन्वन्त्विति कहा है। एक ही ग्रह नहीं है। एक ही ग्रह का विभाग नहीं करना है, अपितु ४० ग्रहों के लिए विभाग करना है। इन सबके लिए ही विचिन्वन्ति-इस बहुवचन का प्रयोग किया गया है।

"शुक्रस्ते ग्रह्य इति शुक्रं ह्यस्मात् (सोमपिण्डात्) ग्रहं ग्रहीष्यन् भवति। विचितस्त्वा विचिन्वन्त्विति सर्वत्वायैतदाह" ।।७।।

कई आचार्य लोग सोम ग्रहों के लिए जिस समय सोम की छाँट की जाती है, उस समय उस सोम में (सोमवल्ली में) यदि सोम से अतिरिक्त विजातीय तृण अर्थात् अन्य लकड़ी आदि के टुकड़े आ जाते हैं तो उन्हें बाहर निकाल देते हैं। तात्पर्य्य यही है कि कितने ही याज्ञिक सम्प्रदायों की राय है कि सोम की छाँट करते समय यदि उस सोम में कूड़ा-कर्कट हो तो उसे निकाल कर बाहर फेंक देना चाहिए। केवल शुद्ध सोम ही रखना चाहिए—

"अत्र हैके । तृणं वा काष्ठं वा वित्वा अपास्यन्ति" ।

परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। "तदु तथा न कुर्यात्' याज्ञवल्क्य कहते हैं–सोम क्षत्र है, अर्थात् राजा है एवं अन्य जितनी भी औषधियाँ हैं, वे सब इसकी प्रजा हैं। वास्तव में बात सच है। सारी औषधियों की स्थिति एवं आप्यायन (तुष्टि) सोम से ही तो होती है। अमावस्या के दिन चन्द्रसोम इन औषधियों में भर जाता है। अतएव कहा जाता है–

"तदेष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः स यत्रैष एतां रात्रिं न पुरस्तान्न पश्चाद्दृषे तदिमं लोकमागच्छति। स इहापश्चौषधीश्च प्रविशति" ।

(शत० १।६।४।१५)

सोम ही तो औषधियों का जीवन है। ये औषधियाँ—सोमवल्ली, (साक्षात् सोम) ही हैं। अतएव यह वल्ली-सोम सारी औषधियों का स्वामी–अधिपति–है। सारी औषधियाँ इसकी प्रजा हैं। यह उनका क्षत्र है।

"सोमो वै क्षत्रः । विडन्या ओषधयः" ।

यह विट् अर्थात् प्रजा, क्षत्र (राजा) का अन्न है। प्रजा ही तो राज्यों की भोग्य सामग्री है। सारे भोगजात प्रजा से ही तो मिलते हैं। प्रजा कर (टैक्स) न दे तो राजा भूखों मर जाए। ये जो तृण सोम से लिपट रहे हैं, तृण नहीं लिपट रहे हैं अपितु क्षत्र सोम ने प्रजा–स्वरूप औषधि-अन्न को–अपने कब्जे में कर रखा है। सोम ने तृण को–अपने अन्न को–ले रखा है। तो जिस प्रकार भुक्त अन्न को जबर्दस्ती ले कर, उसे खाने वाले से छुडा कर, कोई दुष्ट मनुष्य दूर फेंक दे–वैसा ही यह तृण अथवा काष्ठ निकालना है। सोम में से तृण को निकालना, सोम के मुँह से अन्न को खींच कर बाहर डालना है, राजा–प्रजा के सम्बन्ध को विच्छिन्न करना है। इसलिए हमारी राय है कि हमें तृण वगैर: बाहर निकाल कर हर्गिज नहीं फेंकने चाहिए। हम केवल उसका (सोम का) स्पर्श ही कर लें। यजमान सोम की छाँट भी न करे अपितु यजमान कह दे–"विचितस्त्वा विचिन्वन्तु" बस, यजमान के जो विचित लोग हैं वे ही इसे कर्म–भेदेन विभक्त करते हैं। यजमान तो केवल स्पर्श मात्र ही कर लेता है।

"अन्नं वै क्षत्रियस्य विट् स यथा ग्रसितमनुहायाच्छिद्य परास्येदेवं तत् (तृणवदेतद्बहिधाक्षेपणम्) तस्मादभ्येव मृशेत्। विचितस्त्वा विचिन्वन्त्विति। तद्यऽएवास्य विचेतारस्तऽएनं विचिन्वन्ति" ॥८॥

इसके अनन्तर जितना सोमोपनहन हो–उस अन्दाज से उस वस्त्र को दो–लड़ा (दुहरा) अथवा तीन–लड़ा (तिहरा) अथवा चौ–लड़ा (चौहरा) कर वह अध्वर्यु बिछा देता है। सोम रखने के लिए सोमोपनहन वस्त्र को दो–लड़ा अथवा तीन–लड़ा अथवा चौ–लड़ा करके (जितना बड़ा कपड़ा हो उसके

अनुसार) बिछा देना चाहिए। एवं उसके जो फलने (वस्त्र के छोर) हैं या तो उनका मुँह पूर्व की ओर करना चाहिए अथवा उत्तर की ओर करना चाहिए। पूर्व दिक् देवताओं की है, उत्तरा दिक्–इस सोम की अपनी दिक् है। अतएव दोनों में कामाचार है—

"अथ वासः। द्विगुणं वा चतुर्गुणं वा प्राग्दशं वोदग्दशं वोपस्तृणाति"।

इस प्रकार प्राग्दश अथवा उदग्दश वस्त्र बिछाकर उस पर सोम को मापते हैं। अर्थात् इतने सोम से ग्रहयाग होगा–इतने से उपांशु–सवन होगा, इतने से अन्तर्याग होगा। ग्रहों में भी ग्रह के लिए नियत सोम के ४० विभाग होंगे। इस प्रकार उस समष्टि–सोम की व्यष्टि करते हैं। उसे कर्म्मभेदेन सोमोपनहन वस्त्र पर अलग-अलग छाँटते हैं—

"तद् (तत्र वस्त्रोपरि) राजानं (सोमं) मिमीते"।

चूँकि अध्वर्यु वस्त्र पर सोम का मात्रा–विभाग करता है, अलग-अलग छाँटता है, अतएव मनुष्यों में अंगुली, हाथ, पैर, माथा, इत्यादि मात्राएँ उत्पन्न होती हैं।

संसार के यावन्मात्र पदार्थ चाहे वे जड़ हों अथवा चेतन,–अग्नि और सोम से ही बनते हैं। अग्नि में जब सोम की आहुति होती है तभी नई वस्तु उत्पन्न होती है। स्त्री का रज आग्नेय है। अग्नि के समान गरम है। एवं पुरुष का वीर्य्य साक्षात् सोम है। अन्न खाने से वीर्य्य बनता है। अन्न सोममय है। अतएव हम कह सकते हैं कि यह वीर्य्य सोम–स्वरूप है। इसलिए तो **"रेतः सोमः"** यह कहा गया है। इसी वीर्य्य की –इसी सोम की—यह यज्ञकर्ता पुरुष,स्त्री के अग्निमय असृक् में आहुति देता है। आहुति देना ही इस पुरुष का काम है। आगे का सारा काम अन्य देवताओं के अधीन है। पुरुष के सिक्त सिंचित रेत को योनि में प्रतिष्ठित रखने वाला एक प्राण(नाभानेदिष्ठ)है। वही प्राण सिक्त रेत को योनि में प्रतिष्ठित करता है। जब यह प्राण नहीं होता तो स्त्री की योनि में वीर्य प्रतिष्ठित रह ही नहीं सकता। सिक्त रेत को योनि में प्रतिष्ठित करने वाले इस प्राण का नाम है **"नाभानेदिष्ठ"**। वस्तुतः यह प्राण सोम में ही रहता है। योनि में सिक्त हो कर उसकी वस्तु बन जाता है। इस सोम में ही एक ऐसा प्राण रहता है जो कि इसे योनि में प्रतिष्ठित करता है। जिसके शुक्र में नाभानेदिष्ठ प्राण नहीं रहता वह अल्पवीर्य्य कहलाता है। इस प्राण से शुक्र की प्रतिष्ठा है। प्राण नहीं है तो योनि में वह प्रतिष्ठित हो नहीं सकता। अस्तु, जब वीर्य्य नाभानेदिष्ठ द्वारा प्रतिष्ठित हो जाता है तो बाल के समान सूक्ष्म अतएव वालखिल्य नाम से व्यवहृत होने वाले प्राण उस समष्टि–वीर्य्य को व्यष्टिरूप में परिणत कर देते हैं। माथा, गर्दन, हाथ, पैर, अंगुलियाँ, नाक, कान, आँख, उपस्थ, इत्यादि अंगों के लिए उस एक सोम के, **"वालखिल्य"** प्राण द्वारा टुकड़े–टुकड़े कर दिये जाते हैं। इतने से हाथ बनेगा इतने से पैर बनेगा, इस प्रकार उस वीर्य्य को विभक्त कर दिया जाता है। यदि वीर्य्य विभक्त न हो तो शरीर एकाकार हो कर एक पिण्ड सा बन जाए। इसमें जो हाथ, पैर, नाक, कान, मस्तक अलग-अलग छँटे हुए दीखते हैं यह बात कभी न हो। इस मात्रा–विभाग का कारण एकमात्र वही सोम–विभाग है। एक ही सोम वाल्यखिल्याओं द्वारा शिरोग्रीवादि भेदेन नाना मात्राओं में परिणत कर दिया जाता

है। यद्यपि सृष्टि अग्नि और सोम दोनों के मेल से उत्पन्न होती है तथापि विचयन सोम ही का होता है, विभाग सोम ही का होता है। अग्नि तो उन विभागों में प्रतिष्ठित हो जाता है। हाथ यदि अलग छँट गया है तो उसमें भी गर्मी घुस गई है। नाक अलग है तो उसमें भी अग्नि मौजूद है। विचयन सोम का होता है। सोम के विचयन से ही मनुष्य में मात्रा–विभाग होता है। अग्नि उस विचित सोम में जा बैठता है। जब वालखिल्या प्राण शिरोग्रीवादि भेदेन समष्टि–सोम को व्यष्टिरूपेण परिणत कर देते हैं तो तदनन्तर वृषाकपि नाम का प्राण उसमें प्राणाधान करता है। वीर्य्य भिन्न-भिन्न स्वरूपों में रहता है। अतएव आहित प्राणों का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न हो जाता है। वृषाकपि इन्द्रप्राण को कहते हैं। इसी इन्द्र प्राण से प्रविविक्त वीर्य्य में बलाधान होता है। बल–विभाग के अधिष्ठाता वृषाकपि–इन्द्र ही हैं अतएव "**या च का च बलकृतिरिन्द्र कर्म्म एव तत्**" यह कहा जाता है। जब बलाधान हो जाता है तो उसमें आपसे आप आदान–विसर्गात्मिका क्रिया होने लगती है। इस वीर्य्य की मात्राओं के चिनाव (चयन) से ही लोम, त्वचा, अस्थि, मांस, मज्जा, इत्यादि का निर्म्माण होने लगता है। यह भी उसी इन्द्र का काम है। लोम, त्वचा आदि सातों का चयन कर उन सातों में फिर बलाधान करना भी इसी वृषाकपि का काम है। इस प्रकार क्रमशः आत्मा, प्राण, शुक्र, मज्जा, अस्थि, मेद, मांस, असृक, त्वचा, इनका चयन होता है। इनमें आत्माप्राण मुख्य हैं। इन पर शुक्रादि स्वरूप सात चितियाँ होती हैं। इस चयन के अनन्तर गर्भ का स्वरूप बन जाता है। इस प्रतिष्ठारहित, अस्थि–मांस–समूह में एवया नाम का मरुत् प्रतिष्ठा करता है। "**एवया मरुत**" एक विशेष प्रकार का वायुमय प्राण है जो कि रुक्षता पैदा कर उस ढीले गर्भ–पिण्ड को कठोर बना देता है। जब तक एवया मरुत् का उसमें प्रवेश नहीं होता है तब तक वह गर्भ दूसरे की (माता की) प्रतिष्ठा से ही प्रतिष्ठित रहता है। अतएव वह तब तक गर्भाशय को नहीं छोड़ता। तब तक गर्भाशय को नहीं छोड़ता जब तक कि एवया मरुत् उसे प्रतिष्ठित नहीं बना देता। एवया मरुत् से जब यह गर्भ प्रतिष्ठित हो जाता है तो उसी समय स्व-प्रतिष्ठा से अपने आपको प्रतिष्ठित रखने का सामर्थ्य प्राप्त कर गर्भाशय से बाहर निकलने की कोशिश करने लगता है। तात्पर्य यही है कि एवया मरुत् प्रवेशानन्तर ही गर्भ, गर्भाशय से बाहर आता है। इस प्रकार से **नाभानेदिष्ठ-वालखिल्या-वृषाकपि और एवयामरुत्** ये ४ प्राण अध्यात्म में सहचर भाव से रहते हैं इन चारों में से यदि एक भी नहीं होता है तो सृष्टि नहीं हो सकती—इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

तान्येतानि सहचराणीत्याचक्षते नाभानेदिष्ठं वालखिल्या वृषाकपिमेवयामरुतं तानि सहैव शंसेत्।

नाभानेदिष्ठेनैव रेतोऽसिञ्चत्। तद् वालखिल्याभिर्व्यकरोत्। XXX एवयामरुतैतवै करोति तेनेदं सर्वमेतवै कृतमेति यदिदं किञ्च। (ऐत० ब्रा० २२।१०)

एवया मरुत् ही गर्भ को, गमन के लिए (एतवै) प्रवृत करता है। इसी एवया मरुत् से यह सारा पुद्गल एतवैंकृत होकर अर्थात् गमन की ओर अभिमुख हो कर चलने लगता है। तात्पर्य्य यही है कि एवया मरुत् ही प्रतिष्ठापन कर गर्भ को गर्भाशय से बाहर निकालता है! पूर्वकथन से सिद्ध हो जाता

है कि रेत, प्राण, आत्मा, प्रतिष्ठा, ये चार अर्थ ही शरीर–निर्म्माण करते हैं। नाभानेदिष्ठ रेत का प्रतिष्ठापक है, रेत–विभाजक वालखिल्या है। आत्मा–संस्थापक वृषाकपि है एवं प्रतिष्ठापक एवयामरुत् है। नाभानेदिष्ठ सम्बन्धी जो रेत है वह सोम है। वालखिल्या प्राणवायु है। वृषाकपि विष्णु है। एवया मरुत् अत्रि है। इन चारों में से प्रकृत में केवल नाभानेदिष्ठ और वालखिल्या का ही सम्बन्ध है। यदि वह सोम विभक्त न हो तो मनुष्य का शरीर एकाकार ही बन जाए। अंगुलियाँ अलग हैं, हाथ अलग छँट गये हैं, मस्तक ऊपर निकल गया है—यह बात न होती। इस मात्रा–विभाग का एकमात्र कारण सोम का मापना ही है। वालखिल्या प्राणात्मक वायु सोम को व्यष्टि–रूप में परिणत कर देता है। तभी मनुष्यों में अंगुल्यादि मात्रा–विभाग होता है। इसी प्राकृतिक सोम–यज्ञ की अनुकृति पर हमारा यह यज्ञ है। इससे जैसे मनुष्यादि की सृष्टि होती है तथैव इस वैध यज्ञ से नया दिव्यात्मा उत्पन्न किया जाता है। इस सोम को विभक्त कर, इसकी आहुति देकर दिव्यात्मा उत्पन्न किया जाता है। इस विज्ञान को परोक्षभाव से यहाँ बतलाया जाता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह अध्वर्यु सोमोपनहन पर सोम को रख कर—इसका विभाग करता है, छाँट करता है, अतएव मनुष्यों में हाथ–पैर–अंगुली वगैरः का मात्रा–विभाग हो रहा है। इसका तात्पर्य्य यही है कि प्रकृति में सोम विभक्त हो कर ही सृष्टि में परिणत हो रहा है। इसका सबूत मनुष्य का मात्रा–विभाग ही है। अतएव हमें इसी प्रकार सोम को विभक्त करना चाहिए—

"स यद् राजानं मिमीते तस्मात् (सोमोमात्रात् विभागात्) मात्रा मनुष्येषु" ।

अन्त में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि मनुष्य ही में नहीं अपितु प्राणिमात्र में जो मात्रा–विभाग है वह सोममात्रात्मक ही है। अर्थात् मात्रा–विभाग का एकमात्र कारण सोम–मात्रा ही है।

"यो चाप्यन्या मात्रा (सापि सोमस्यैवेति भावः)" ॥९॥

वह अध्वर्यु सावित्री छन्द से अर्थात् सवितादेवताक अतिच्छन्द से इस सोम राजा की माप करता है। अतिच्छन्द बोलते हुए सोम का विभाग करना चाहिए, यही तात्पर्य्य है। सावित्र्या मिमीते। सवितादेवताक मंत्र से ही विभाग क्यों करने चाहिए, इसका कारण बतलाते हैं। सविता ही देवताओं के प्रसविता हैं, प्रेरयिता हैं। देवता संसार में जिन्हें कुछ देना चाहते हैं वह वस्तु सविता देवता द्वारा ही मिलती है। इज्रा (निर्णय की तामील) करना सविता का काम है। बिना सविता की प्रेरणा के, किसी को कुछ नहीं मिल सकता, चाहे अन्य देवता उस पर कितने ही प्रसन्न हों। सर्वकर्म्मविषयानुज्ञाप्रद यही सविता है। आज यजमान सोम खरीद रहा है। यह क्रय बिना सोम की आज्ञा के नहीं हो सकता एवं न उसकी आज्ञा बिना इसका विभाग ही हो सकता है। अतएव प्रत्येक कर्म्म के पहले सविता देवता की आज्ञा प्राप्त कर लेना परमावश्यक हो जाता है। सविता की आज्ञा बिना सारा कर्म नष्ट–भ्रष्ट हो जाता है। अतएव सवितादेवताक अतिच्छन्द से ही–सावित्री छन्द से ही–सोम-क्रय करना है। इसी से सोम का विभाग करना है। ऐसा करने से इस यजमान के लिए यह सोम सवितृ–प्रसूत हो क्रय के लिए

उपयुक्त हो जाता है। अर्थात् सवितादेवताक मंत्र बोल कर सोम खरीदने से एवं विभाग करने से यह खरीदना उसकी आज्ञा से खरीदना हो जाता है—

"सविता वै देवानां प्रसविता। तथो हास्माऽएष सवितृप्रसूत एव क्रयाय भवति" ॥१०॥

सविता देवता से सम्बन्ध रखने वाले अनेक छन्द होते हैं। उनमें से अतिच्छन्द से ही अध्वर्यु सोम–विभाग करता है—

"अतिच्छन्दसा मिमीते"।

वैदिक छन्द-पथ्या, छन्द, अतिछन्द, दण्डक छन्द भेदेन चार प्रकार के होते हैं। एक अक्षर से प्रारम्भ कर पाँच अक्षरों तक के जो छन्द हैं, वे सभी पथ्या छन्द कहलाते हैं। इनमें अक्षर से तात्पर्य्य चरण से है अर्थात् प्रत्येक चरण मेंएक से लगा कर पाँच अक्षर तक होते हैं। सबसे छोटा एवं प्रारम्भ का जो छन्द, है वह कुल ४ अक्षरों का है। इसमें एक अक्षर प्रतिचरण (अर्थात् कुल ४ अक्षर) और मिला दें, तो प्रति चरण दो अक्षरों का छन्द होजाएगा। इसी प्रकार क्रमशः चार· चार अक्षर प्रति छन्द में (अर्थात् प्रति चरण एक अक्षर) बढ़ाते जाएँ तो अन्तिम (सबसे बड़ा) पथ्या छन्द पाँच–पाँच अक्षर प्रति चरण के हिसाब से २० अक्षरों का हो जाएगा। बस,पथ्या छन्द २० अक्षरों से अधिक का नहीं हो सकता।

इसके आगे ६ अक्षर प्रति चरण से लगाकर १२ अक्षर प्रति चरण तक के छन्दों का नाम छन्द ही है। २० अक्षरों के (सबसे बड़े) पथ्या छन्द में ही यदि प्रति चरण एक अक्षर के हिसाब से कुल ४ अक्षर और बढ़ा कर कुल २४ अक्षर कर दिये जाएँ तो पथ्या न रह कर, छन्द हो जाता है। गायत्री ही वह प्रथम छन्द है जिसमें ६ अक्षर प्रति चरण के हिसाब से कुल २४ अक्षर होते हैं। इस षडाक्षरी चरणों वाली गायत्री छन्द में ही क्रम–क्रमशः १ अक्षर प्रति चरण (अर्थात् कुल ४ अक्षर) के हिसाब से बढ़ाते जाने पर गायत्री के बाद तारतम्य से उष्णिक् (७×४=२८ अक्षरयुक्त), अनुष्टुप् (८×४=३२ अक्षर), वृहती (९×४=३६ अक्षरयुक्त) पंक्ति (१०×४=४० अक्षरयुक्त) त्रिष्टुप् (११×४=४४-अक्षरयुक्त) तथा जगती (१२×४=४८ अक्षरयुक्त) छन्द बन जाते हैं। बस, इन छन्दसंज्ञक छन्दों की समाप्ति ४८ अक्षरीय जगती छन्द पर हो जाती है। जगती ही छन्द–वर्गीय छन्दों में सबसे बड़ा छन्द है।

सारांश यह, कि इन सातों छन्दों में सबसे छोटा छन्द ६ अक्षरीय चरणों का है अर्थात् २४ अक्षरों का गायत्री छन्द है। एवं अन्तिम छन्द १२ अक्षरीय चरणों का अर्थात् ४८ अक्षरों का जगती छन्द है। इनके नाम छन्द हैं। इसके बाद १३ से २४ अक्षर तक प्रति चरण वाले छन्दों का नाम अतिच्छन्द है। अतिच्छन्दों में सबसे छोटा छन्द १३ अक्षर प्रति चरण का अर्थात् कुल ५२ अक्षरों का है एवं सबसे बड़ा २४ अक्षरीय चरण का अर्थात् कुल ९६ अक्षरों का है। ४८ तक जगती है, उसी में ६–६ अक्षर प्रति चरण और मिलाने से सबसे बड़ा छन्द पूरा हो जाता है। बस यहीं से अतिच्छन्द का प्रारम्भ हो जाता है। यह छन्द गायत्री आदि सातों छन्दों का अतिक्रमण कर जाता है, सातों छन्दों को अपने पेट में ले

लेता है, अतएव इसे अतिच्छन्द कहते हैं। इसके बाद २५ अक्षरीय प्रति चरण युक्त छन्द तथा आगे तक जितने बड़े छन्द हैं, वे सारे के सारे दण्डक छन्द कहलाते हैं। दण्डक छन्दों में सबसे छोटा छन्द १०० अक्षरों का है। यहाँ पर अतिच्छन्द से ही सोम-विभाग क्यों किया जाता है, इसका कारण बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस अतिच्छन्द के पेट में चूंकि सारे छन्द आ जाते हैं अतएव यह सर्वच्छन्द-स्वरूप है। ऐसी अवस्था में अतिच्छन्द से माप करने पर यजमान का यह सोम, गायत्री आदि सारे छन्दों से मित हो जाता है। वाङ्मण्डल में सोम भरा हुआ है। यह सोम गायत्री आदि ७ छन्दों में विभक्त हो रहा है अतएव यहाँ भी इन्हीं छन्दों से विभाग करना चाहिए। ऐसी अवस्था में ७ मन्त्र बोलने पड़ेंगे। अतएव कोई ऐसा उपाय निकालना चाहिए जिससे एक ही तो मंत्र बोलना पड़े और काम हो जाए सातों छन्दों का। बस वह उपाय यह अतिच्छन्द ही है। अतिच्छन्द में सारे छन्द आ जाते हैं। अतएव इससे माप करने में सातों छन्दों से सोम मित हो जाता है। और छन्दों से मित न कर अतिच्छन्द से मित करने का यही कारण है। परन्तु ध्यान रहे, अतिच्छन्द सवितादेवताक ही हो।

"अतिछन्दसा मिमीते। एषा वै सर्वाणि छन्दांसि यदतिछन्दास्तथो हास्यैष सर्वैरेव छन्दोभिर्मितो भवति। तस्मात् अतिच्छन्दसा मिमीते" ॥११॥

अतिच्छन्द से क्यों विभाग करना चाहिए-वह भी सवितादेवताक ही क्यों हो—इसका कारण बतला दिया है। अब पद्धति बतलाते हैं। वह अध्वर्यु निम्नलिखित सवितादेवताक मंत्र बोलता हुआ सोम-विभाग करता है—"स मिमीते" वह मन्त्र यह है—

"अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम्। ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वरिति" ॥१२॥

"त्वं सवितारं देवं अभ्यर्चामि। कीदृशं तं अभ्यर्चामि आण्योः कविक्रतुम्। सत्यसवसम्। रत्न-धाम्। अभिप्रियम्। मतिम् कविम्—एतादृशं देवं सवितारमभ्यर्चयामि। यस्य अमितिः ऊर्ध्वा भाः सवीमनि (अनुज्ञायाम्) अदिद्युतत् एतादृशाः हिरण्यपाणिः कृपा (कल्पनया) स्वः अभिमीत"।

मैं इस सविता देवता की पूजा करता हूँ, स्तुति करता हूँ। यह सवितादेवता द्यावा-पृथिवी का कविक्रतु है। क्रतु कहते हैं—काम करने वाले को। इस द्यावा-पृथिवी का शासन यह सूर्य्य ही करता है। क्या पृथिवी, क्या अन्तरिक्ष, क्या स्वर्ग, तीनों लोकों के अधिष्ठाता यही भगवान सूर्य्य हैं। यदि सूर्य्य न हों तो इसी समय सारा ब्रह्माण्ड नष्ट हो जाय। काम करने वाले दो तरह के होते हैं। एक तो ऐसे होते हैं कि काम करते हैं परन्तु गलती कर जाते हैं। एक ऐसे होते हैं जिनके काम में कभी भी गलती नहीं हो सकती। ऐसे मनुष्य को "कवि" कहा जाता है। प्रेक्षापूर्वकारी को ही कवि कहते हैं। जो सदा सोच-समझ कर ही काम करता है, कभी चूक नहीं करता, वही कवि कहलाता है। सुचतुर प्रेक्षापूर्वकारी कारीगर कविक्रतु कहलाता है। सूर्य्य सारे विश्व का सञ्चालन करता है। त्रिभुवन का कर्म्म इसी की प्रेरणा से होता है। क्या मजाल, इसमें जरा भी गड़बड़ हो जाय। अग्नि की प्रेरणा ही

अग्नि के स्वरूप की रक्षा करती है। पानी की प्रेरणा पानी के स्वरूप की रक्षा करती है। वह सविता नियति है, सत्यरूप से सर्वथा विद्यमान है। द्यावा-पृथिवी में ऐसा जो सुचतुर कर्म्मकर्ता सविता देवता है, उसको प्रणाम करता हूँ—**श्राण्योः (द्यावापृथिव्योः) कविम् तमभ्यर्चामि**–एवं यह सविता सत्यसवस है। अर्थात् अनिवारितानुज्ञ है। सविता देवता की आज्ञा को कोई नहीं टाल सकता। सूर्य्य की रश्मियाँ कहीं भी नहीं रुक सकतीं, सर्वत्र इनका राज्य है। सर्वत्र इन्हीं की हुकूमत चलती है। इनकी आज्ञा को कौन टाल सकता है ? ऐसे सत्यानुज्ञ को मैं प्रणाम करता हूँ। **'सत्यसवमभ्यर्चामि'** यह सविता रत्नधा है। संसार की बहुमूल्य वस्तुओं को यही धारण करता है। सुवर्ण, हीरा, पन्ना, माणिक, इत्यादि बहुमूल्य पदार्थ सूर्य्य ही से बनते हैं। ये सारे पदार्थ पार्थिव नहीं हैं, अपितु सौर हैं। सूर्य्य रश्मियाँ ही सुवर्ण बनती हैं बहुमूल्य वस्तुओं के अधिष्ठाता यही सविता देवता हैं, यही सूर्य्य हैं—**"तादृशं रत्नधातममयर्चामि"**।

यह सविता देवता सर्वतः प्रिय हैं। सूर्य्य किसे प्यारे नहीं लगते ? इन्हीं से अन्न का परिपाक होता है। यही तमोमय प्राण का नाश कर आत्मा को प्रतिष्ठित रखते हैं। इन्हीं की कृपा से संसार का काम चलता है। रात को जरा देर के लिए जब ये विश्राम करने चले जाते हैं, तो सारा काम चौपट हो जाता है। भला ऐसे सविता देवता किसे प्यारे नहीं लगें ? ऐसे सर्वतःप्रिय सविता देवता को मैं प्रणाम करता हूँ—**"अभिप्रियमर्चयामि"** यही सूर्य्य बुद्धि के प्रदाता हैं, अतएव बुद्धिस्वरूप हैं। विज्ञान के प्रदाता भी यही सविता हैं। सविता बुद्धि को प्रेरित करते हैं। इसीलिए ब्राह्मण लोग प्रातः काल ही **"तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि। धियो योनः प्रचोदयात्"** मन्त्र से सविता देवता के तेज को आत्मसात् किया करते हैं। ऐसे मतिस्वरूप सविता को मैं प्रणाम करता हूँ—**"मतिं तमभ्यर्चयामि"** सविता बड़े ही कवि हैं अर्थात् सब को कवि बनाने वाले हैं। जो सूर्य्य की आराधना करता है, वह कवि बन जाता है। उसकी बुद्धि अति तीव्र हो जाती है। ऐसे कविस्वरूप सविता देवता की मैं आराधना करता हूँ—**"कविमभ्यर्चामि"** एवं जो खयाल में आने लायक नहीं है, उसी की अनुज्ञा में सारा विश्व चमक रहा है। सारा विश्व उसी की आज्ञा का पालन करने के कारण अपनी सत्ता कायम किये हुए है। सूर्य्य के ऊपर परमेष्ठी और स्वयम्भूमण्डल हैं एवं नीचे चन्द्रमा और पृथिवी हैं। ये दोनों अधोलोक हैं। ऊपर के ऊर्ध्वलोक हैं। हमारी ओर आने वाली जो सूर्य्य की भा (आभा) है उसका हमें कुछ-कुछ ज्ञान है। हमारी ओर जो प्रकाश आता है, उसका हमें पता है। परन्तु जो ऊर्ध्वाभा है, सूर्य्य के ऊपर का रश्मिमण्डल है, उसका हमें कुछ भी पता नहीं है। वह सर्वथा अ-मति है, उसमें खयाल नहीं दौड़ सकता। उसी की अनुज्ञा में सारा संसार चलता है। सूर्य्य से नीचे का भाग **मर्त्य** कहलाता है, ऊपर का **अमृत** कहलाता है। सूर्य्य अमृत-मर्त्य दोनों के बीच में है, दोनों का विभाजक है। अतएव कहा जाता है—

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥ (यजुः० ३३।४३)

इसमें प्रधान अमृत भाग है। वास्तव में अमृत भाग ही संसार का शासन करता है। यह सूर्य्य के ऊपर है। अतएव **"ऊर्ध्वभाः"** कहा जाता है। तो जिस सविता देवता की अमति-ऊर्ध्वाभा की अनुज्ञा में संसार चलता है, उसी का हम अर्चन करते हैं—

ऊर्ध्वा यस्याममतिर्भा तस्यांसवीमनि (अनुज्ञाया) सवीमा प्रक्ष-वोऽनुज्ञा-इति विश्वकोशः । अदिद्युतत् तमभ्यर्चामि ।

वास्तव में सूर्य्य के प्रकाश से ही सारे पदार्थों का निम्मणि होता है । प्रकाश ही उसकी अनुज्ञा है । जिस वस्तु से सूर्य्य-रश्मियों का सम्बन्ध होता है, उसी की सत्ता रहती है । **"नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः"** यह अटल सिद्धान्त है ।

यह "हिरण्यपाणि" अर्थात् सोने के हाथ वाला जो सविता देवता है, जो कि सुक्रतु है अर्थात् अच्छे विचार वाला है, उसने अपनी कृपा से ही अर्थात् कल्पना से ही, अपने हाथों से सारे स्वर्ग को नाप दिया है । स्वर्ग ही नहीं, त्रिभुवन को सूर्य्य-रश्मियों से नाप रक्खा है । रश्मियाँ हिरण्य वर्ण की हैं । रश्मियाँ ही उसके हाथ हैं । ये रश्मियाँ सारी रोदसी त्रिलोकी में व्याप्त हो रही हैं । इसीलिए **"अधः स्विदासीत् उपरि स्विदासीत्"** यह कहा जाता है । तात्पर्य्य इस स्तुति का यही है कि इस सोम का विभाग मैं नहीं करता अपितु संसार को अपने हाथों से नापने वाले हिरण्यपाणि सविता ही इसे नाप रहे हैं । इस प्रकार यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु सोम को नापता है तथा नाप कर विभक्त करता है ।

वह अध्वर्यु पहले-पहल **"आदित्यदेवं सवितारमोण्योः"** यह ऋचा बोलता हुआ पाँचों अंगुलियों से उसे (सोम को) नापता है । बाद में चार अंगुलियों से नापता है । बाद में इसी ऋचा से तीन अंगुलियों से नापता है । बाद में इसी ऋचा से दो अंगुलियों से नापता है । बाद में इसी ऋचा से एक अंगुली से नापता है । इस प्रकार अवरोह-क्रम में ५ बार १/५–२/४–३/३–४/२–५/१ के हिसाब से सोम को नापता है । इसी अवरोह-क्रम को बतलाते हुए कहते हैं–

(१) "एतया सर्वाभिः (मिमीते इति शेषः) । (२) एतया चतसृभिः । (३) एतया तिसृभिः । (४) एतया द्वाभ्याम् । (५) एतया एकया" ।

इसके बाद आरोह–क्रम से पाँच बार नापता है । पहले इसी ऋचा से एक अंगुली से नापता है । इसी से दो से नापता है । इस मंत्र द्वारा तीन अंगुलियों से नापता है । इसी मन्त्र द्वारा चार अंगुलियों से नापता है । इसी मन्त्र से पाँचों अंगुलियों से नापता है । इसी आरोह–क्रम को लक्ष्य में रखकर कहते हैं—

(१) "एतयैव एकया । (२) एतया द्वाभ्याम् । (३) एतया तिसृभिः । (४) एतया चतसृभिः । (५) एतया सर्वाभिः" ।

इस प्रकार १० बार नाप कर, दोनों हाथों को मिला कर, अंजलि करके–अंजलि से सारे सोम का स्पर्श करता है । पहले १० बार अंगुलियों से माप करनी चाहिए । बाद में दसों को मिला कर एक बार माप करनी चाहिए—

"समस्याञ्जलिनाध्यावपति"–इति ।।१३।।

इस प्रकार वह अध्वर्यु सोम को, अंगुलियों को ऊंचा–नीचा करके आरोह–अवरोह क्रमानुसार नापता है । अंगुलियों को फैला कर नापता है । एवं साथ ही उत्तरोत्तर मिलाता जाता है । पहले सब अंगुलियों से नापता है । बाद में चार से, बाद में तीन से–इस प्रकार फैला कर अलग–अलग अंगुलियों से एवं मिलाकर दोनों तरह से नापता है । यहाँ "उदाचं" का अर्थ आरोह समझना चाहिए एवं "न्याचं" का–अवरोह समझना चाहिए ।

"सा वाऽउदाचं न्याचं मिमीते" ।

वह अध्वर्यु जो कि ऊपर–नीचे शामिल करके एवं अलग–अलग करके सोम को नापता है, इन १० अंगुलियों को ही नाना जन्म (रूप) वती बनाता है । इसीलिए अंगुलियाँ नाना (१०) उत्पन्न होती हैं । प्रकृति–मण्डल में जो सृष्टि–निर्माण होता है उसमें सोम वास्तव में उदाच और न्याय रूप से ही परिणत रहता है । इसीलिए १० अंगुलियों का काम अलग–अलग होता है । अतएव अंगुलियां १० होती हैं । यदि सोम उदाच–न्याच न रह कर एकरूप ही रहता तो अंगुली एक स्थान से पैदा होती और एक ही होती । उसी प्रकृति की नकल पर हमारा यह यज्ञ है । इससे दिव्यात्मा बनता है । अतएव सोम को प्रकृतिवत् उदाच–न्याच किया जाता है । हम उस प्रकृति का ही अनुसरण करते हैं । याज्ञवल्क्य का भाव तो है यह परन्तु परोक्षता के लिए कहते हैं कि अंगुलियाँ १० होती हैं एवं १० भिन्न-भिन्न स्थानों से उत्पन्न होती हैं—

"स यदुदाचं न्याचं मिमीतऽइमा एवैतदङ्गुलीर्नानाजानाः करोति । तस्मादिमा नाना जायन्ते" ।

यह अध्वर्यु १० अंगुलियों को एक साथ मिला कर सबसे एक साथ नापता है । अतएव अंगुलियाँ अलग–अलग रहती हुई भी परस्पर संश्लिष्ट रहकर ही उत्पन्न होती हैं ।

प्रकृति में सोम अलग छँटता है परन्तु अन्त में वह एकात्म प्राण रूप से बँध जाता है । अतएव अंगुलियाँ अलग–अलग रह कर भी एक दूसरी से बँधी रहती हैं । उसी के अनुसार अध्वर्यु भी दसों अंगुलियों को मिलाकर एक साथ नापता है—

"अथ यत् सह सर्वाभिर्मिमीते संश्लिष्टा इव हैवेमा जायेरंस्तस्माद्वाऽउदाचं न्याचं मिमीते" ।।१४।।

उदाच–न्याच का एक ही प्रयोजन नहीं है, अनेक प्रयोजन हैं, जिनके कारण यह उदाच–न्याच करता है । इसकी दूसरी उपपत्ति बतलाते हैं -

"यद्वेवोदाचं न्याचं मिमीते" (तदुच्यते-इति शेषः) ।

उदाच–न्याच करता हुआ यह अध्वर्यु १० अंगुलियों को नाना वीर्य्ययुक्त करता है अतएव अंगुलियाँ नाना वीर्य्ययुक्ता होती हैं ।

तात्पर्य्य यही है कि यदि सोम एकरूप ही होता तो न १० अंगुलियां होतीं न उनमें नानारूप वीर्य्य होता। चूंकि सोम कम-अधिक मात्रा में १० भागों में विभक्त हो जाता है इसीलिए १० अंगुलियां होती हैं एवं दसों में बल का तारतम्य होता है। चिट्टी (अनामिका) अंगुली में सबसे कम ताकत है, उससे अधिक उससे अगली कनिष्ठिका में है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न बल हैं एवं सबकी लम्बाई-चौड़ाई भी भिन्न-भिन्न है।

"इमा ऐवैतन्नानावीर्याः करोति। तस्मादिमा नानावीर्याः। तस्माद्वाऽउदाचं न्याचं मिमीते" ॥१५॥

अपि च उदाच-न्याच करने का एक तीसरा प्रयोजन और भी है। विराट् नाम है सोम का। सूर्य्य से ऊपर परमेष्ठिमण्डल है। परमेष्ठिमण्डल पृथिवी के २९ वें अहर्गण पर है। सूर्य्य २१ पर है। परमेष्ठी २९ पर है। सोम परमेष्ठिमण्डल में है। २१ तक रथन्तर साम है। २९ तक वैराज साम है। ३३ तक शाक्वर साम है। यह बात पूर्व ब्राह्मण में बतला दी गई है। इसमें सोम २९ पर अर्थात् वैराज-साम पर रहता है। अतएव इस पारमेष्ठ्य सोम को विराज कहा करते हैं। अध्वर्यु पहले अवरोह-क्रम से अंगुलियों द्वारा सोम को नापता है, फिर पाँच बार आरोह-क्रम से नापता है। ऐसा करता हुआ यह देवताओं और मनुष्यों-दोनों को तृप्त करता है। तात्पर्य्य यही है कि यह सोम पहले सूर्य्य द्वारा पृथिवी पर आता है। इससे पार्थिव पदार्थों की, मनुष्यादि की, रक्षा होती है।

परमेष्ठिमण्डल से आया हुआ सोम ही पृथिवी-लोक को प्रतिष्ठित रखता है। इस आते हुए सोम से सारे मनुष्य जीवित रहते हैं। सोम ही तो अन्न रूप में परिणत होता है। यदि सोम न आए तो अन्न ही उत्पन्न न हो, अन्न न हो तो सारे प्राणी भूखे मर जाएँ। परन्तु साथ ही वह सोम वापस भी चला जाता है। अर्थात् पार्थिव पदार्थों को सूर्य्य खाता रहता है तथा पृथिवी सौर पदार्थों को खाती रहती है। सूर्य्य प्रतिपल पार्थिव पदार्थों को खाता रहता है। जिन पदार्थों को सूर्य्य खाता है वह सोम ही तो है। यदि सोम आ कर वापस न जाए तो सारा खजाना खाली हो जाए-अतएव मानना पड़ता है कि सोम जितना भी आता है उतना ही जाता भी रहता है। इसी आधार पर—**इतः प्रदानाद्धि देवाः जीवन्ति**—यह कहा जाता है। गायत्री द्वारा ही सोम ऊपर जाता है, उसी के द्वारा वापस आता है। संसार के यच्चयावत् पदार्थ गायत्री द्वारा ही आते और जाते रहते हैं। "**एति च प्रेति च**" यह क्रम अन-वरत चलता रहता है। इसीलिए—गायत्री सोम लेने गई तो उसने देवताओं से कहा कि मैं तो सोम लेने जाती हूँ और आप पीछे से **प्रेति च एति च** इत्यादि मन्त्रों से मंगलपाठ करते रहें। इसका यही रहस्य है। (देखिए, सोमोपाख्यान ब्राह्मण)।

सोम ऊपर से नीचे आता है, इससे मनुष्य जीवित रहते हैं। नीचे से ऊपर जाता है, उससे देवता जीवित रहते हैं। इसी प्राकृतिक यज्ञ की प्रतिकृति पर अध्वर्यु पहले अंगुलियों का अवरोहण करता है। अवरोहण करना सोम के नीचे उतरने की भावना को व्यक्त करना है। एवं आरोहण-क्रम से सोम के ऊपर जाने की प्रक्रिया को अपनाना है। इसी विज्ञान को परोक्ष भाव से बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"यद्वेवोदाचं न्याचं मिमीते । विराजमेवैतदर्वाचीं च पराचीं च युनक्ति । पराच्यह (तु) देवेभ्यो यज्ञं (हव्यं) वहति । अर्वाची मनुष्यानवति । तस्माद्वाऽउदाचं न्याचं मिमीते" ।।१६।।

पाँच बार उदाचभावेन एवं पाँच ही बार न्याचभावेन इस प्रकार १० बार क्यों नापता है, इसका कारण बतलाते हैं—

"अथ यद्दश कृत्वो मिमीते (तदुच्यते)"

विराट् छन्द १० अक्षर का हुआ करता है एवं सोम भी वैराज ही है, जैसा कि पूर्व में बतला आए हैं। हम सोम ही को नाप रहे हैं। इस बात को दृढ़ करने के लिए ही १० बार नापा जाता है। वैराज सोम भी १० है अतः १० दफे नापने से ही उसकी पूरी नाप होती है, यही तात्पर्य्य है—

"दशाक्षरा वै विराट् । वैराजः सोमः । तस्माद्दश कृत्वो मिमीते" ।।१७।।

इसके अनन्तर वह अध्वर्यु सोम के नीचे बँधा हुआ जो सोमोपनहन नाम का वस्त्र है उसके पर्यन्त प्रदेश के एक तरफ के छोर की लीर फाड़ कर उसे उष्णीष के साथ बाँध देता है।

तात्पर्य्य यही है कि अध्वर्यु को चाहिए कि सोमोपनहन में से एक लीर फाड़ कर उसे उष्णीष में बाँध दे। "प्रजाभ्यस्त्वा" यह कहता हुआ बाँधे—

"अथ सोमोपनहनस्य समुत्पार्यान्तान् उष्णीषेण विग्रथ्नाति प्रजाभ्यस्त्वा"–इति ।

प्रजाभ्यस्त्वा कहता हुआ उस लीर को पगड़ी से बाँध देता है। मैं प्रजा के लिए आप को खरीदता हूँ। यही प्रजाभ्यस्त्वा का तात्पर्य्य है। "प्रजाभ्यो ह्येनं क्रीणाति" मस्तक और अंस का अन्तराल प्रदेश जैसे सटा रहता है, बस इसी भाव के लिए एक लीर उष्णीष के बाँध दी जाती है—

"प्रजाभ्यो ह्येनं क्रीणाति स यदेवेदं शिरश्चांसौ चान्तरोपेनितमिव तदेवास्यैतत्करोति" ।।१८।।

इसके बाद उस ग्रन्थि के बीच में दो अंगुलियाँ डाल कर उन्हें चौड़ी कर अंगुल्याकाश करता है। अर्थात् ग्रन्थि के बीच में अंगुलियाँ दे कर उन्हें चौड़ा कर देना चाहिए जिससे कि दोनों अंगुलियों के बीच का स्थान खाली रह जाए—"प्रजास्त्वानुप्राणन्तु" यह मन्त्र बोलते हुए अंगुल्याकाश करना चाहिए—

"अथ मध्येऽङ्गुल्याकाशं करोति । प्रजास्त्वानुप्राणन्तु" —इति ।।

सोमोपनहन की लीर लेता हुआ यह अध्वर्यु एक प्रकार से सोम को हानि पहुँचाता है, उसे प्राण–रहित करता है, अर्थात् उसकी हिंसा करता है, उसे दमघुट करता है।

"तमयतीव वाऽएनमेतत् समायच्छन्-अप्राणमिव करोति" ।

समायच्छन् अन्तान् संगृहणन् तं अयतीव–ग्लापयतीव । प्राणं–सोमं प्राण रहितमिव करोति ।

सोम का दम घुट न जाए अतएव ग्रन्थिस्वरूप जो सोम का शरीर है, उसमें अंगुली से पोल करता हुआ प्राणदान करता है, अर्थात् बँधी हुई ग्रन्थि को अंगुली से चौड़ा कर उसमें पोल करना–बँधे हुए सोम को अवकाश देना है, उसके श्वास लेने के लिए गुंजाइश करना है—

तस्यैतदत एव मध्यतः प्राणमुत्सृजति ।

सोम ही सारी प्रजा का जीवन है । यदि वह जीवित रहता है—उसकी सत्ता रहती है—तो सारी प्रजा की स्थिति रहती है । सोम के प्राणन–व्यापार से सारी प्रजा प्राणन करती है, अर्थात् जीवित रहती है । तो गोया अंगुल्याकाश द्वारा सोम का प्राणन करना प्रजा का प्राणन करना है । अतएव ग्रन्थि में अंगुल्याकाश करता हुआ **प्रजास्त्वानुप्राणन्तु**—यह बोलता है—

"तं ततः प्राणन्तं प्रजा अनुप्राणन्ति तस्मादाह प्रजास्त्वानुप्राणन्त्विति" इति ।

इसके अनन्तर उस सोम को सोमोपनहन वस्त्र में बाँधकर उसे सोम बेचने वाले को देता है—

तं सोमविक्रयिणे प्रयच्छति अथातः पणनस्यैव ।।१९।।

।। इति सोमोपनहनब्राह्मणं समाप्तम् ।।

।। इति तृतीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणं समाप्तम् ।।

—※—

तृतीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

'सोमपणन ब्राह्मणम्'

[मूल] स वै राजानं पणते । स यद्राजानं पणते तस्मादिदं सकृत्सर्वं पण्यं स आह सोमविक्रयिन्क्रय्यस्ते सोमो राजा ३ इति । क्रय्य इत्याह सोमविक्रयी, तं वै ते क्रीणानीति, क्रीणीहीत्याह सोमविक्रयी कलया ते क्रीणानीति, भूयो वाऽअतः सोमो राजार्हतीत्याह सोमविक्रयी, भूय एवातः सोमो राजार्हति, महाँस्त्वेव गोर्महिमेत्यध्वर्युः ॥१॥

गोर्वै प्रतिधुक् । तस्यै शृतं तस्यै शरस्तस्यै दधि तस्यै मस्तु तस्याऽआतञ्चनं तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं तस्याऽआमिक्षा तस्यै वाजिनं ॥२॥

शफेन ते क्रीणानीति । भूयो वाऽअतः सोमो राजार्हतीत्याह सोमविक्रयी भूय एवातः सोमो राजार्हति महाँस्त्वेव गोर्महिमेत्यध्वर्युरेतान्येव दशवीर्याण्युदाख्यायाह पदा तेऽर्धेन ते गवा ते क्रीणामीति क्रीतः सोमो राजेत्याह सोमविक्रयी वयाँसि प्रब्रूहीति ॥३॥

स आह । चन्द्रं ते वस्त्रं ते छागा ते धेनुस्ते मिथुनौ ते गावौ, तिस्रस्तेऽन्या इति स यदर्वाक्पणन्ते परः सम्पादयन्ति तस्मादिदं सकृत्सर्वं पण्यमर्वाक्पणन्ते परः सम्पादयन्त्यथ यदध्वर्युरेव गोर्वीर्याण्युदाचष्टे न सोमस्य सोमविक्रयी महितो वै सोमो देवो हि सोमोऽथैतदध्वर्युर्गां महयति तस्यै पश्यन्वीर्याणि क्रीणादिति तस्मादध्वर्युरेव गोर्वीर्याण्युदाचष्टे न सोमस्य सोमविक्रयी ॥४॥

अथ यत्पञ्च कृत्वः पणते । संवत्सरसंमितो वै यज्ञः पञ्च वाऽऋतवः संवत्सरस्य तं पञ्चभिराप्नोति तस्मात्पञ्च कृत्वः पणते ॥५॥

अथ हिरण्ये वाचयति । शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामीति शुक्रं ह्येतच्छुक्रेण क्रीणाति यत्सोमं हिरण्येन चन्द्रं चन्द्रेणेति चन्द्रं ह्येतच्चन्द्रेण क्रीणाति यत्सोमं हिरण्येनामृतममृतेनेत्यमृतं ह्येतदमृतेन क्रीणाति यत्सोमं हिरण्येन ॥६॥

अथ सोमविक्रयिणमभिप्रकम्पयति । सग्मे ते गोरिति यजमाने ते गौरित्येवैतदाह तद्यजमानमभ्याहृत्य न्यस्यत्यस्मे ते चन्द्राणीति सऽआत्मन्येव वीर्यं धत्ते शरीरमेव सोमविक्रयी हरते तत्ततः सोमविक्रय्यादत्ते ।।७।।

अथाजायां प्रतीचीनमुख्यां वाचयति । तपसस्तनूरसीति तपसो ह वाऽएषा प्रजापतेः सम्भूता यदजा तस्मादाह तपसस्तनूरसीति प्रजापतेर्वर्णऽइति सा यत्त्रिः संवत्सरस्य विजायते तेन प्रजापतेर्वर्णः परमेण पशुना क्रीयसऽइति सा यत्त्रिः संवत्सरस्य विजायते तेन परमः पशुः सहस्रपोषं पुषेयमित्याशिषमेवैतदाशास्ते भूमा वै सहस्रं भूमानं गच्छानीत्येवैतदाह ।।८।।

स वाऽअनेनैवाजां प्रयच्छति । अनेन राजानमादत्तऽआजा ह वै नामैषा यदजैतया ह्येनमन्तत आजति तामेतत्परोऽक्षमजेत्याचक्षते ।।९।।

अथ राजानमादत्ते । मित्रो न एहि सुमित्रध इति शिवो नः शान्तऽएहीत्येवैतदाह तं यजमानस्य दक्षिणऽऊरौ प्रत्युह्य वासो निदधातीन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणमित्येष वाऽअत्रेन्द्रो भवति यद्यजमानस्तस्मादाहेन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणमित्युशन्नुशन्तमिति प्रियः प्रियमित्येवैतदाह स्योनः स्योनमिति शिवः शिवमित्येवैतदाह ।।१०।।

अथ सोमक्रयणाननुदिशति । स्वान भ्राजाङ्घारे बम्भारे हस्त सुहस्त कृशानवेते वः सोमक्रयणास्तान् रक्षध्वं मा वो दभन्निति धिष्ण्यानां वाऽएते भाजनेनैतानि वै धिष्ण्यानां नामानि तान्येवैभ्य एतदन्वदिक्षत् ।।११।।

अथात्रापोर्णुते । गर्भो वाऽएष भवति यो दीक्षते प्रावृता वै गर्भा उल्बेनेव जरायुणेव तमत्राजीजनत तस्मादपोर्णुतऽएष वाऽअत्र गर्भो भवति तस्मात्परिवृतो भवति परिवृता इव हि गर्भा उल्बेनेव जरायुणेव ।। १२ ।।

अथ वाचयति । परि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भजेत्यासीनं वाऽएनमेष आगच्छति स आगतऽउत्तिष्ठति तन्मिथ्या करोति व्रतं प्रमीणाति तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिस्तथो हास्यैतन्न मिथ्याकृतं भवति न व्रतं प्रमीणाति तस्मादाह परि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भजेति ।।१३।।

अथ राजानमादायोत्तिष्ठति । उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृतां २।।ऽअन्वित्यमृतं वाऽएषोऽनूत्तिष्ठति यः सोमं क्रीतं तस्मादाहोदायुषा स्वायुषोदस्थाममृतां२।।ऽअन्विति ।। १४ ।।

अथ राजानमादायारोहणमभिप्रैति । प्रति पन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम् । येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वस्विति ।। १५ ।।

देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयांचक्रुस्तऽएतद्यजुः स्वस्त्ययनं ददृशुस्तऽएतेन यजुषा नाष्ट्रा रक्षांस्यपहत्यैतस्य यजुषोऽभयेऽनाष्ट्रे निवाते स्वस्ति समाश्नुवत तथोऽएवैष एतेन यजुषा नाष्ट्रा रक्षांस्यपहत्यैतस्य यजुषोऽभयेऽनाष्ट्रे निवाते स्वस्ति समश्नुते तस्मादाह प्रति पन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम् । येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वस्विति ।। १६ ।।

तं वाऽइति हरन्ति । अनसा परिवहन्ति महयन्त्येवैनमेतत्तस्माच्छीर्ष्णा बीजं हरन्त्यनसोदावहन्ति ।। १७ ।।

अथ यदपामन्ते क्रीणाति । रसो वाऽआपः सरसमेवैतत्क्रीणात्यथ यद्धिरण्यं भवति सशुक्रमेवैतत्क्रीणात्यथ यद्वासो भवति सत्वचसमेवैतत्क्रीणात्यथ यदजा भवति सतपसमेवैतत्क्रीणात्यथ यद्धेनुर्भवति साशिरमेवैतत्क्रीणात्यथ यन्मिथुनौ भवतः समिथुनमेवैतत्क्रीणाति तं वै दशभिरेव क्रीणीयान्नादशभिर्दशाक्षरा वै विराड् वैराजः सोमस्तस्माद्दशभिरेव क्रीणीयान्नादशभिः ।। १८ ।।

[अनुवाद] अब वह अध्वर्यु सोम बेचने वाले से सोम राजा को खरीदता है । क्यों कि वह अध्वर्यु सोम राजा को खरीदता है इसलिए विश्व के सभी पदार्थ पण्य (क्रय्य) बन जाते हैं । तथैव क्यों कि सकल विश्व अग्निसोममय है अतः सोममय होने से सभी पदार्थ सोम के पण्य (क्रय्य) बन जाने से क्रय्य बन जाते हैं, मूल्य द्वारा खरीदने योग्य बन जाते हैं ।

वह अध्वर्यु सोम बेचने वाले से कहता है कि हे सोम बेचने वाले ! क्या यह तुम्हारा सोम राजा खरीदा जा सकता है ? तब सोम बेचने वाला कहता है, हाँ बेचा जा सकता है । अध्वर्यु कहता है कि तो क्या मैं इसे खरीद लूँ ? सोमविक्रयी कहता है कि खरीद लो ।

अध्वर्यु सोम का मूल्य लगाता हुआ कहता है कि गो नामक सुवर्ण मुद्रा के एक भाग से अर्थात् सोलहवें हिस्से से मैं इसे खरीदता हूँ । सोमविक्रयी कहता है कि सोम राजा का

मूल्य इससे अधिक है। अध्वर्यु कहता है कि यद्यपि सोम राजा अधिक मूल्यवान् है किन्तु गो नामक सुवर्ण सिक्के की षोडशांश कला का महत्त्व भी सोम से कम नहीं है, महान् है ।। १ ।।

'स आह सोमविक्रयिन् क्रय्यस्ते सोमो राजा । 'क्रय्य इत्याह सोमविक्रयी' । 'तं वै ते क्रीणानीति' 'क्रीणीहीत्याह सोमविक्रयी' । 'कलया ते क्रीणानीति' । 'भूयो वाऽअतः सोमो राजार्हतीत्याह सोमविक्रयी'
(का. श्रौ. सू ७।२०१-२०६)

अध्वर्यु कहता है कि गाय से इतने-इतने वीर्य्य अर्थात् द्रव्य उत्पन्न होते हैं। गाय का प्रतिधुक् (ताजा निकाला) दूध उसका एक वीर्य्य है। गर्म किया हुआ दूध (शृतं) दूसरा वीर्य्य है। मलाई (शरः) तीसरा वीर्य्य है। दही (दधि) चौथा वीर्य्य है। मट्ठा (मस्तु) पांचवाँ वीर्य्य है। जिससे दूध जमता है वह आतञ्चन द्रव्य (जावन) छठा वीर्य्य है। नवनीत (कच्चे दूध से निकाला गया सारभाग) सातवाँ वीर्य्य है। घृत (दही का मन्थन कर उससे निकाला हुआ सारभाग) आठवाँ वीर्य्य है। आमिक्षा (गर्म दूध में दही डालने से फट कर निकला हुआ स्थूल भाग) नवाँ वीर्य्य है तथा वाजिन (दूध के फट जाने पर पृथक् हुआ द्रवभाग) दसवाँ वीर्य्य है। इस तरह १० वीर्य्य वाले गो की सोम से कम महिमा नहीं है ।।२।।

'भूय एवातः सोमो राजार्हति महाँस्त्वेव गोर्महिमेत्यध्वर्युः गोर्वै प्रतिधुक् तस्यै शृतं, तस्यैशरस्तस्यै दधि, तस्यै मस्तु तस्याऽआतंचनं तस्यै नवनीतं, तस्यै घृतं तस्याऽआमिक्षा, तस्यै वाजिनम्'
(का. श्रौ. सू. ७।२०७)

जब सोमविक्रयी कहता है कि सोम गो-महिमा से अधिक है तब अध्वर्यु कहता है कि गाय के एक शफ (खुर) मूल्य से तुम से सोम खरीद लूँ। यहाँ शफ से चतुर्थ का अर्धांश अर्थात् दो कला ली गई हैं। क्यों कि गाय के ४ पादों में एक पाद चतुर्थांश है। तथा एक पैर में दो खुर होते हैं। अतः शफ (एक खुर) चतुर्थांश का भी अर्धांश है। अर्थात् सोलह कलाओं में दो कलाएँ होती हैं। तब सोमविक्रयी कहता है, सोम का मूल्य शफ अर्थात् दो कला से भी अधिक है। अध्वर्यु पुनः गाय के प्रतिधुक् आदि वीर्य्यों का वर्णन करता हुआ कहता है कि षोडशकल के चतुर्थांश अर्थात् चार कलाओं से सोम को खरीद लूँ। सोमविक्रयी कहता है कि सोम का मूल्य इससे भी अधिक है। तब अध्वर्यु कहता है कि षोडशकल के अर्धांश अर्थात् आठ कलाओं से सोम को खरीद लूँ। सोमविक्रयी पुनः कहता है कि गो से अर्थात् गो नामक सुवर्णमय पूरे सिक्के से सोम को खरीद लूँ। तब सोमविक्रयी कहता है कि यह इस सोम राजा का उचित मूल्य है। यहाँ पर जैसे-जैसे सोम का मूल्य बढ़ाता है वैसे-वैसे "भूय एवातः सोमो राजार्हति महाँस्त्वेव गोर्महिमा गोर्वै प्रतिधुक्" इत्यादि का आवर्तन करना चाहिए। शफ, पद, अर्ध तथा गो इस क्रम से सोमक्रयण के लिए चार बार मूल्य बढ़ाया गया है। अतः चारों ही बार 'भूय एवातः सोमो राजाऽर्हति' इत्यादि का चार बार आवर्तन करना चाहिए। जैसा कि श्रौत सूत्रकार कात्यायन ने कहा है:—'भूय एवेत्यतः प्रभृति चतुरा-

वर्तयति' (का० श्रौ० सू० ७।२०८)। अन्त में पाँचवीं बार 'गवा ते क्रीणामि' अर्थात् गो से सोम को खरीदता हूँ-यह कहे।

प्राचीन समय में वस्तु खरीदते समय वस्तु के मूल्य से अतिरिक्त बेचने वाले को पारितोषिक रूप में जो कुछ दिया जाता था उसे 'वयम्'कहा जाता था। सोमविक्रयी कहता है कि सोम का तो उचित मूल्य हो गया। अब आप वय के रूप में क्या देंगे, यह बतलाइए—

हिन्दी विज्ञानभाष्यकार (प्रस्तुत ग्रन्थकार) पं० श्री मोतीलाल जी शास्त्री ने चन्द्र का अर्थ इस प्रसंग में चाँदी का रुपया किया है।

'एकैकेनान्ते पणते शफेन पदा अर्धेन गवा'। 'गवा ते क्रीणामीत्यनातः'

'क्रीतः सोमो राजेत्यनये वयांसि प्रब्रूहि सोमविक्रयी' (का. श्रौ सू. ७।२१२)

इस कण्डिका में उसी देय वय का निरूपण किया जा रहा है। अध्वर्यु कहता है कि मैं वय के रूप में तुम्हें चन्द्र अर्थात् आनन्ददायक हिरण्य दूँगा, वस्त्र दूँगा, बकरी दूँगा, धेनु दूँगा, गाय बैल का जोड़ा दूँगा तथा इसके अतिरिक्त तीन गायें और दूँगा।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि अध्वर्यु अल्प मूल्य से प्रारम्भ करता हुआ अन्त में अधिक मूल्य से वस्तु का सम्पादन करता है अर्थात् अधिक मूल्य से सोम का क्रयण करता है। लोक में भी मनुष्य कम मूल्य से वस्तु खरीदने का उपक्रम करते हैं और अन्त में अधिक मूल्य दे कर बस्तु का सम्पादन करते हैं। अध्वर्यु गाय के प्रतिधुक्, शृत आदि मूल्यों का वर्णन करता है किन्तु सोमविक्रयी सोम के वीर्य्यों का कथन नहीं करता। उसका कारण यह है कि सोम अतिप्रशस्त वस्तु है। सोम साक्षात् देवता है। अतः उसके वीर्य्यों के वर्णन की आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार अध्वर्यु गाय की महिमा का वर्णन करता है, उस के वीर्य्यों का वर्णन करता है, उसका यह तात्पर्य है कि गाय में इतने वीर्य्य हैं अतः गाय से ही सोम खरीदना चाहिए। इसी अभिप्राय से कहा है 'अध्वर्युः गां महयति तस्यै पश्यन् वीर्य्याणि क्रीणादिति तस्मादध्वर्युरेव गोर्वीर्याण्युदाचष्टे न सोमस्य सोमविक्रयी' इति ॥४॥

जो यह यजमान सोम का मूल्य-कला, शफ, पाद, अर्ध, गो–इस क्रम से पाँच बार करता है, इसका तात्पर्य्य यह है कि यह यजमान सोमयाग कर रहा है। पार्थिव अग्नि में पारमेष्ठच सोम की आहुति ही सोमयाग है। इसी से विश्व का निर्म्माण होता है। पृथ्वी के केन्द्र से लेकर २१ वें अहर्गण तक का जो मण्डल है वह संवत्सरमण्डल है। यह संवत्सर अग्नि-मण्डल है। इसका ३६० दिनो में जा कर पारमेष्ठच सोम से सम्बन्ध हो पाता है। इसलिए यज्ञ को संवत्सरसंमित कहा जाता है। अर्थात् संवत्सरमण्डल को यज्ञ कहा जाता है। संवत्सर में वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त एवं शिशिर–इस प्रकार से पाँच ऋतुएँ होती हैं। इस रूप से संवत्सर पञ्चावयव है। प्रकृति से पञ्चावयव-रूप संवत्सर के द्वारा यह सोम खरीदा जाता है। क्योंकि संवत्सर की पाँच ऋतुओं में जा कर ही इस संवत्सराग्नि का पारमेष्ठच

सोम से सम्बन्ध होता है, इसी आधार पर इस वैध यज्ञ में यजमान भी पाँच बार सोमवल्ली को खरीदने का उपक्रम करता है ।।५।।

अध्वर्यु सोम खरीदने के लिए एक हथिनी, गाय और हिरण्य, वस्त्र, बकरी आदि दश द्रव्यों में से हिरण्य देने के समय यजमान से निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करवाता है—

शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन ।।इति।।

अर्थात् हे सोम ! दीप्यमान, आह्लादकारक, अमृतस्वरूप सुवर्ण से मैं दीप्यमान, अमृतस्वरूप, आह्लादकारक तथा अमृतरूप आपको खरीदता हूँ । अर्थात् सुवर्ण दीप्यमान है । सोमवल्ली भी रात्रि में दीप्यमान (अर्थात् चमकदार) है। सुवर्ण भी मानव को आनन्द देने वाला है क्यों कि सुवर्ण प्राप्ति से मनुष्य को आनन्द प्राप्त होता है। सुवर्ण अमृतरूप है क्यों कि सूर्य्यकिरण ही पृथिवी से बद्ध होकर सुवर्ण बनती है। सूर्यकिरण दिव्य होने से अमृतरूप है ही और सोम तृतीय दिव्यलोक की वस्तु होने से अमृतरूप है। सोमवल्ली भी उसी सोम का अंश है तथा सोम की आहुति से सोमयाग द्वारा दिव्यात्मा की निष्पत्ति होती है। इसी दीप्यमान, आह्लादजनक तथा अमृतरूप हिरण्य से दीप्यमान, आनन्दजनक एवं अमृतरूप सोम को अध्वर्यु खरीदता है ।।६।।

सोमविक्रयी को उससे सोम खरीदने के लिए गाय और सुवर्ण दोनों दिये जाते हैं। देने पर वे दोनों वस्तुएँ सोमविक्रयी की हो जाती हैं। किन्तु अध्वर्यु उन दोनों को सोमविक्रयी से वापस ले कर उन्हें यजमान को दे देता है। अतः सोमविक्रयी के हृदय में कम्पन हो जाता है। इस प्रकार अध्वर्यु गाय और सुवर्ण को सोमविक्रयी से वापस ले कर उसके हृदय में कम्प उत्पन्न कर देता है। अध्वर्यु यजमान को बुला कर जब उसे गाय और सुवर्ण देता है तब इस मन्त्र का उच्चारण करता है–"सग्मे ते गोः"

अर्थात् हे सोमविक्रयिन् ! तेरी यह जो गाय है वह वस्तुतः यजमान की है। यह मन्त्र बोल कर वह यजमान को गाय सौंपता है[1] सग्म शब्द 'ऋत्विग्भि सह गच्छति तत्तत् कर्मसु' इस व्युत्पति से विभिन्न कर्मों में ऋत्विजों के साथ जाने वाले यजमान का बोधक है। इसके बाद वह अध्वर्यु 'अस्मे ते चन्द्राणि' इस मन्त्रशेष का उच्चारण करता है अर्थात् जैसे यह गाय यजमान की है वैसे ही तुम्हारा सुवर्ण भी हमारे यजमान का है। 'अस्मे' का अर्थ अस्मदीय अर्थात् हमारा यजमान है । इस प्रकार वीर्य्य-रूप हिरण्य को लेता हुआ यजमान अपने में वीर्य्य को धारण करता है। केवल शरीर ही सोमविक्रयी के पास रहता है। इस तरह पहले उस सुवर्ण को यजमान को सौंप कर पश्चात् यजमान के पास रखे हुए सुवर्ण को सोमविक्रयी स्वीकार करें[2] ।।७।।

1. 'सग्मे ते (गोः) इति सोमविक्रयिणं हिरण्येनाभिकम्पयति' (का. श्रौ. सू. ७।२१५)

2. 'सोमविक्रय्येतदादत्ते' (का. श्रौ. सू. ७।२१७)

तदन्तर सोम खरीदने के लिए दी हुई बकरी को पश्चिमाभिमुख कर, उसका स्पर्श कर, यजमान से निम्नलिखित मन्त्र बुलवाता है—'तपसस्तनूरसि' अर्थात् हे बकरी ! तुम प्रजापति के तप की देह हो । अर्थात् चित्याग्निरूप प्रजापति के तप (वाष्प) से तुम उत्पन्न हुई हो । पश्चात् 'प्रजापतेर्वर्णः' मन्त्र को यजमान से कहलाता है । अर्थात् हे अजा ! तुम प्रजापति के वर्णरूप की हो । अर्थात् जैसे प्रजापति वर्ष में ग्रीष्म, वर्षा, शरद् ये तीन विभाग कर तीन बार अन्न को उत्पन्न करता है उसी प्रकार अजा भी एक वर्ष में तीन बार सन्तान उत्पन्न करती है । इसीलिए वर्ष में तीन बार प्रजनन-स्वरूप साधर्म्यात् अजा को प्रजापति का वर्ण बतलाया है । इसी कारण अजा नामक पशु परम उत्कृष्ट है । इससे जो सोम खरीदा जाता है उससे सोम की महत्ता सिद्ध होती है । क्योंकि सोम राजा ही नहीं अपितु सम्राट् है । अतः इसे अजा से खरीदा जाता है जो कि प्रजापति का शरीर है, प्रजापति का वर्ण है, प्रजापति के सर्वथा अनुरूप है । प्रकृति में विभागत्रययुक्त संवत्सराग्नि द्वारा ही परमेष्ठिमण्डल से सोम आता है। अतः यहाँ वैध यज्ञ में भी अग्निप्रजापति की प्रतिकृतिरूपा इस अजा से सोमवल्ली को खरीदा जाता है । अन्त में 'सहस्रपोषं पुषेयम्' अर्थात् मैं पूर्ण पुष्टि प्राप्त करूँ–इस मन्त्र-शेष का उच्चारण करता है । इसके द्वारा यह आशीष की कामना करता है कि मैं भूमा को प्राप्त करूँ, भूमा बन जाऊँ, प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होता जाऊँ ।मन्त्र में सहस्र शब्द का अर्थ भूमा है ।।८।।

वह अध्वर्यु इसी मन्त्र से अजा को सोमविक्रयी को सौंप देता है तथा सोम ले जाता है । सायण भाष्य में 'अनेन, अनेन' इन दोनों पदों से वाम तथा दक्षिण हस्त का ग्रहण किया गया है । अर्थात् एक हाथ (अर्थात् वाम हाथ) से सोमविक्रयी को अजा देता है तथा दक्षिण हाथ से सोम का ग्रहण करता है । भगवान् याज्ञवल्क्य 'अजा' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं कि एकहायनी गाय, हिरण्य आदि सोमक्रय द्रव्यों में अन्ततः इस अजा के द्वारा ही सोम का सांमुख्य प्राप्त करता है, सोम का क्रयण करता है । सोमाजन–साधन होने से यह 'आजा' कहलाती है । और 'आजा' ही परोक्ष भाषा में 'अजा' शब्द से व्यपदिष्ट हुई है ।।९।।

अब अध्वर्यु 'मित्रो न एहि सुमित्रधः' इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ उस सोम राजा को अपने हाथ में लेता है । अर्थात् हे सोम ! शोभन मित्र यजमान के धारक बनते हुए यजमान के घर में पधारिए । अर्थात् आप शान्त बन कर यजमान के घर में पधारें । इसके बाद अध्वर्यु उस सोम को यजमान की दाहिनी जाँघ पर रख कर उसे वस्त्र से ढक देता है । अध्वर्युसोम को यजमान की दक्षिण जंघा पर रखता हुआ 'इन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणम्' अर्थात् हे सोम! आप इन्द्र की दक्षिण जंघा पर बैठिए–इस मन्त्र का उच्चारण करता है । तात्पर्य्य यह है कि अग्नि में सोमाहुति ही यज्ञ है । यह अग्नि पृथिवी के केन्द्र से २१ वें अहर्गण तक वितत रहती है । २१ वें अहर्गण पर सूर्य्य है । इन्द्र, धाता, भग, पूषा, वरुण, विष्णु इत्यादि द्वादश प्राणसमष्टि ही सूर्य्य है । इन प्राणों में इन्द्रप्राण ही प्रधान है । परमेष्ठिमण्डल से

आने वाला सोम २१ वें अहर्गण तक वितत अग्नि में ही आहुत होता है। २१ वें अहर्गण पर सूर्य्य है अर्थात् इन्द्र है, उसी पर वह सोम आ कर बैठता है। उस में दक्षिण जंघा पर बैठने का अभिप्राय यह है कि सूर्य्य का उत्तर भाग उसकी उत्तर अर्थात् वाम जंघा है तथा दक्षिण भाग, दक्षिण जंघा है। अग्नि दक्षिण में रहता है अतः वह दक्षिण जंघा है। उसी पर सोम के आहुतिरूप का उपवेश होता है। उपयुक्त मन्त्र की व्याख्या करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जो यजमान है, वही इन्द्र है। अतः यजमान की दक्षिण जंघा पर रखते हुए सोम के लिए 'इन्द्र की दक्षिण जंघा पर बैठिए' यह कहा है। पुनः 'उशन्नुशन्तम्' इस मन्त्र शेष का उच्चारण करता है। अर्थात् प्रिय! आप यजमान की प्रिय जंघा पर विराजिए। पुनः 'स्यो नः स्योनम्' इस मन्त्रशेष का उच्चारण करता है। अर्थात् शान्तरूप कल्याणकारी आप यजमान की शान्त जंघा पर विराजिए ।।१०।।

इसके अनन्तर सोमक्रयण-साधनभूत वस्तुओं का नाम-निर्देश करते हैं। प्रकृति में गायत्री जब पारमेष्ठ्य सोम को लाने के लिए गई थी उस समय गन्धर्व सोम की रक्षा कर रहे थे। वे गन्धर्व अन्तरिक्ष में रहने वाली धिष्ण्याग्नियाँ हैं, जिन के नाम स्वान, भ्राज, अंघारि, बम्भारि, हस्त, सुहस्त, कृशानु हैं। ये सब गन्धर्व सोम की रक्षा करने वाले हैं। प्रकृति में गायत्री इन्हीं से सोम लाई थी। आज इस वैध यज्ञ में अध्वर्यु इन्हीं गन्धर्वों से प्रार्थना करता है कि आप हमारे वैध यज्ञ में सोमक्रयण-साधनभूत गाय, हिरण्य आदि की रक्षा करें, क्योंकि ये आपके ही हैं। हे गन्धर्वो! आप इन की कभी हिंसा न करें। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि सोमयाग में आन्तरिक्ष्य धिष्ण्याग्नि की नकल पर जो आठ वेदियाँ बनाई गई हैं वे आन्तरिक्ष्य धिष्ण्याग्नियों की स्थानापन्न हैं। स्वान, भ्राज, अंघारि आदि आन्तरिक्ष्य धिष्ण्याग्नियों के नाम हैं। अतः यहाँ भी इन के वे ही नाम रखे गये हैं। इन आन्तरिक्ष्य धिष्ण्याग्नियों की स्तुति करता हुआ अध्वर्यु इनकी सोमक्रयणसाधन-भूत गवादि पर कृपादृष्टि करा देता है ।।११।।

दीक्षा के समय यजमान के मस्तक पर जो शिरःप्रावरण वस्त्र डाल दिया गया था उसे अब सोम को यजमान की दक्षिण जंघा पर रखने के बाद हटा देता है। क्यों कि जो मनुष्य दीक्षा लेता है वह दिव्यात्मास्वरूप में उत्पन्न होने के लिए गर्भ बन जाता है। गर्भ उल्व व जरायु से आवृत रहना है। अतः यजमान रूप गर्भ को उल्व (बाह्य गर्भावरण) से आवृत रहना पड़ता है। इसीलिए यजमान दीक्षा के समय उल्वस्थानीय मेखला धारण करता है तथा जरायुस्थानीय शिरोवस्त्र मस्तक पर डालता है। किन्तु आज सोमविक्रयण पर गर्भभूत यजमान को अध्वर्यु ने उत्पन्न कर दिया है अतः वह उस शिरःआवरण को हटा लेता है।

इसके अनन्तर अध्वर्यु निम्नलिखित मन्त्र यजमान से बुलवाता है—

'परिमाग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज ।।इति।।

हे अग्ने ! मुझे दुश्चरित अर्थात् आपत्ति से बचाइए तथा सदाचार में वर्तमान मुझ पर अनुग्रह कीजिए। प्रकृति में दक्षिण दिशा स्थिर रहती है और उसी में उत्तर से सोम आ कर प्रतिष्ठित होता है। तदनुसार इस वैध यज्ञ में भी स्थिर बैठे हुए यजमान की दाहिनी जाँघ पर सोम को रखा जाता है प्रतिष्ठित किया जाता है, तब यजमान उठता है। किन्तु यह नियम-विरुद्ध है, मर्यादा-भङ्ग है कि महान् पुरुष के आ कर बैठ जाने के बाद घर वाले मनुष्य उठें। यह जो शिष्टाचार के नियम का उल्लंघन है, मर्यादाभङ्ग है, इसे ही मिथ्याचरण एवं व्रतभङ्ग कहा है। उस व्रतभङ्ग के प्रायश्चितरूप में यजमान मन्त्रोच्चारण करता हुआ अपराध के लिए क्षमायाचना करता है। इससे मर्यादा भंगरूप व्रत-भङ्ग का दोष हट जाता है ।।१३।।

तदन्तर यजमान निम्नांकित मन्त्र का उच्चारण करता हुआ सोम को अपने हाथों में ले कर खड़ा हो जाता है।

'उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ अनु' इति। अर्थात् आयु के साथ तथा स्वायु के साथ अर्थात् आयुसाधनभूत सोम के साथ (जो कि सोम अमृत रूप है) मैं उठ गया हूँ। जो सोम के साथ उठता है, वह अपनी आयु के साथ ही उठता है क्यों कि सोम ही आयु का साधन है। सोमाहुति पर ही आत्माग्नि की स्थिति है ।।१४।।

इसके बाद सोम को ले कर सोमारोहण-स्थान शकट की ओर जाता है और निम्न-लिखित मन्त्र का उच्चारण करता है—

'प्रतिपन्थामपद्महि स्वस्ति गामनेहसम्। ये न विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु' इति। अर्थात् ऐसे मार्ग से, जो कि सुपरिष्कृत सुमार्ग है, हम जा रहे हैं। जिस मार्ग से जाता हुआ मनुष्य सर्व शत्रुओं को नष्ट कर निकाल देता है तथा धन को प्राप्त करता है ।।१५।।

इस कण्डिका में आख्यायिका द्वारा मन्त्र का प्रभाव बतलाया जाता है। भुवन स्वर्ग-वासी यज्ञ किया करते थे। असुर और राक्षस देवताओं के विरोधी थे। अतः उन्हें उन राक्षसों व असुरों के आक्रमण से भय हुआ। उन्होंने स्वस्त्ययन नामक इस मन्त्र को देखा। उन्होंने इस मन्त्र के द्वारा यज्ञविध्धंस करने वाले राक्षसों को नष्ट कर इस मन्त्र के यज्ञ-विध्वंसक राक्षसों से रहित अभयप्रदस्थान में यज्ञ को निर्विघ्न समाप्त किया। तथैव इस वैध यज्ञ में यह यजमान इस मन्त्र से यज्ञ-विध्वंसक असुरों का नाश कर इस मन्त्र-शक्ति से अभयप्रद, असुर-रहित स्थान में निर्विध्न यज्ञ का समापन करता है। जिस मन्त्र-शक्ति से यज्ञविध्वंसक असुरों का नाश किया था, वह यही मन्त्र है—

'प्रतिपन्थामपद्महि स्वस्ति गामनेहसम्'।
येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु' इति

इस मन्त्र का अर्थ पूर्व-कण्डिका की व्याख्या में बतलाया जा चुका है ।।१६।।

इस सोम को पहले पूर्वोक्त प्रकार से मस्तक पर रख कर लाते हैं, पश्चात् शकट में रख कर नियत स्थान पर ले जाते हैं। इस प्रकार वे इस सोम का सत्कार करते हैं। पहले भौमस्वर्गवासी देवता इस सोम को क्रयणस्थान से मस्तक पर रख कर लाये थे और बाद में शकट पर रखकर लाये थे। उसी प्रकार आज भी कृषक बीज का वपन करते समय उसे प्रथम मस्तक पर रख कर लाते हैं तथा बाद में गाड़ी में रख कर ले जाते हैं।।१७।।

जहाँ सोम को खरीदा जाता है वहाँ जल रहता है। जल के स्थान पर ही सोम खरीदा जाता है। क्यों कि जल रस-रूप है और सोम भी सरस है, अतः जल-स्थान पर ही सोम को खरीदा जाता है। वह सोम हिरण्य से खरीदा जाता है, क्यों कि हिरण्य तेजोद्रव्य है। अतः उससे सोम खरीदना तेजोयुक्त सोम को खरीदना है। वस्त्र से खरीदता है। वस्त्र से खरीदता हुआ त्वचायुक्त सोम को खरीदता है। बकरी से सोम को खरीदता हुआ तपोयुक्त सोम को खरीदता है, क्यों कि अजा आग्नेय पशु है। गाय से सोम को खरीदता हुआ मलाई-युक्त अर्थात् सारभाग युक्त सोम को खरीदता है। गाय-बैल के जोड़े से सोम को खरीदता हुआ प्रजनन-क्रिया में समर्थ मिथुन भावयुक्त सोम को खरीदता है। क्यों कि प्रजनन-सामर्थ्य मिथुन में ही है। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हिरण्यादि दश द्रव्यों से सोम को खरीदना चाहिए। क्योंकि सोम वैराज है और विराट् दशाक्षरा है, अतः उसे दश द्रव्यों से ही खरीदा जाता है।।१८।।

[विज्ञान भाष्य] सोम को सोमोपनहन वस्त्र में बाँध कर सोम बेचने वालों को दिया जाता है एवं बाद में उससे सोम खरीदा जाता है। सोम को अध्वर्यु ही खरीदता है।

वह अध्वर्यु सोम बेचने वाले से सोमराजा को खरीदता है। "**स वै राजानं पणते**"। वह अध्वर्यु चूँ कि सोम राजा को खरीदता है अतएव संसार के यच्चयावत् पदार्थ एक बार तो अवश्य ही पण्य बनते हैं अर्थात् एक बार सबकी कीमत होती है। जो वस्तु हम बेकार समझते हैं उसकी भी कभी-कभी इतनी कीमत हो जाती है, जिसका कोई ठिकाना नहीं। तात्पर्य्य यही है कि प्रकृतियज्ञ में वाग् द्वारा वास्तव में सोम खरीदा जाता है एवं उस खरीदे हुए सोम से ही विश्व के सारे पदार्थ बनते हैं। सारा विश्व अग्नी-षोमात्मक ही तो है। सोम कीमती वस्तु है, खरीदी जाती है। अतएव सोम से निर्मित संसार के यच्च-यावत् पदार्थों का कोई मूल्य नहीं है, अर्थात् वे अमूल्य हैं। संसार में कोई भी चीज व्यर्थ नहीं है। यह चीज तो रद्दी है-अब यह किसी काम की नहीं है—यह कहना परमेश्वर की सृष्टि का तिरस्कार करना है। सब पण्य हैं अर्थात् पणितव्य (क्रय-विक्रय योग्य) हैं। सब की कीमत है। व्यर्थ की, बिना मूल्य की, कोई वस्तु हीं है। प्रकृति में सोम खरीदा जाता है। इसी बात को परोक्ष रूप से बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"स यद् राजानं पणते तस्मादिदं सकृत् सर्वं पण्यम्"।

अध्वर्यु सोम बेचने वाले से कहता है-सोमविक्रयिन ! (हे सोम बेचने वाले !) क्या तुम्हारा यह सोम राजा क्रय्य है ? अर्थात् क्या तुमने इसे बेचने के लिए यहाँ रक्खा है। सोम-विक्रयी उत्तर देता है-

क्रय्यः। हाँ, यह वास्तव में बेचने के लिए है। अतएव यहाँ रक्खा गया है। अध्वर्यु कहता है, तो फिर तुम्हारे इस सोम को मैं खरीद सकता हूँ। सोम-विक्रयी कहता है-हाँ अवश्य खरीदिए।

अध्वर्यु सोम की कीमत लगाता हुआ कहता है कि-क्या एक कला (गौ नाम के सोने के सिक्के के १६ वें हिस्से) से अर्थात् सुवर्ण की एक इकन्नी (पूर्व-प्रचलित रुपए के सोलहवें भाग) से खरीद सकता हूँ? सोमविक्रयी कहता है-हे अध्वर्यु! यह सोम-राजा एक कला से अधिक मूल्यवान है।

अध्वर्यु सोमविक्रयी से कहता है-सोम की एक कला से अधिक मूल्य की हैसियत है, तुम्हारा यह कहना बिल्कुल ठीक है। परन्तु साथ ही तुम्हें यह भी समझ लेना चाहिए कि जिस गौ के सिक्के की यह कला है, उसकी महिमा भी तुम्हारे सोम से कम नहीं है। सिक्के से ही गौ आती है। अतएव तत्-साधन को-सिक्के को-गौ कह दिया जाता है। स आह—

सोमविक्रयिन् क्रय्यस्ते सोमो राजा इति (प्रश्नार्थे प्लुतः)।
क्रय्य-इत्याह सोमविक्रयी।
अध्वर्युः—तं वै ते क्रीणानि-इति।

"क्रीणीहीत्याह सोमविक्रयी कलया ते क्रीणानि इति। भूयो वाऽअतः सोमो राजार्हतीत्याह सोमविक्रयी। भूय एवातः सोमो राजार्हति महाँस्त्वेव गोर्महिमा इत्यध्वर्युः" ॥१॥

अध्वर्यु कहता है कि देखो, गाय की यह महिमा है। गाय से इतने-इतने वीर्य्य उत्पन्न होते हैं। गाय का जो उसी वक्त निकाला हुआ दूध है, वह गाय का पहला वीर्य्य है। गरम दूध दूसरा वीर्य्य है। मलाई इसका तीसरा वीर्य्य है। दधि इसका चौथा वीर्य्य है। दधि से होने वाला जो मट्ठा है, वह पाँचवां वीर्य्य है। एवं जिससे दही जमता है, वह आतञ्चन नाम का छठा वीर्य्य है। कच्चे दूध से निकाला गया नवनीत ७ वां वीर्य्य है। घृत आठवाँ वीर्य्य है। एवं आमिक्षा और वाची क्रमशः नवें तथा दसवें वीर्य्य हैं। इस प्रकार गाय की जिस कला से हम सोम खरीद रहे हैं वह गाय १० वीर्य्य धारण किए हुए है। क्या इतने पर भी गौ महान नहीं हैं?

"गोर्वै प्रतिधुक्"। तस्यै (तस्याः) शृतम्। तस्यै शरः। तस्यै दधि। तस्यै मस्तु। तस्याऽआतञ्चनम्। तस्यै नवनीतम्। तस्यै घृतम्। तस्याऽआमिक्षा। तस्यै वाजिनम्" ॥ २ ॥

परन्तु सोमविक्रयी एक कला में राजी नहीं होता है। तब अध्वर्यु कहता है कि अच्छा, तो क्या एक शाक से अर्थात् दो आने (रुपए के आठवें भाग) से तुम्हारे इस सोम को खरीद लूँ? सोमविक्रयी कहता है-नहीं, सोमराजा की कीमत इससे भी अधिक है। अध्वर्यु कहता है-यह ठीक है कि सोम

राजा इससे भी अधिक कीमत का है, परन्तु इस गाय की भी कम कीमत नहीं। यह कह कर अध्वर्यु फिर "गोर्वै प्रतिधुक्" इत्यादि शब्दों से गाय के १० वीर्यों का बखान करता है और कहता है—अच्छा तो क्या एक चौअन्नी (पदा) से तुम्हारे सोम को खरीद सकते हैं ? वह सोम-विक्रयी वापस "भूयो वा" इत्यादि उत्तर देता है। फिर अध्वर्यु गौ-महिमा का बखान कर कहता है कि अच्छा तो गौ के आधे हिस्से से—अर्थात् आठ आने से—खरीद सकता हूँ ? फिर सोमविक्रयी ना कर देता है। फिर अध्वर्यु कहता है—अच्छा तो हम पूरे एक गौ (सोने के सिक्के) से सोम खरीदते हैं। जब अध्वर्यु "गवा ते क्रीणानि" यह कह देता है तो सोम-विक्रयी कहता है कि अब आपने सोम को क्रीत कर लिया, क्यों कि एक गौ ही इसका उचित मूल्य है—

"शफेन ते क्रीणानीति। भूयो वाऽअतः सोमो राजार्हतीत्याह—सोमविक्रयी। भूय एवातः सोमो राजाऽर्हति, महांस्त्वेव गोर्महिमेत्यध्वर्युरेतान्येव दश वीर्याण्युदाख्यायाह-पदा ते-(क्रीणानीति-भूयो वा अतः इत्यादि पूर्वोक्तम् सर्वं वक्तव्यम्) अर्धेन ते (क्रीणानीति सर्वं वक्तव्यम्) गवा ते क्रीणामि इति। क्रीतः सोमो राजेत्याह सोमविक्रयी"।

प्राचीन समय में एक रिवाज था कि जब कोई वस्तु खरीदी जाती थी तो बेचने वाले को ऊपर से बतौर पारितोषिक के, कुछ अतिरिक्त भी दिया जाता था, जिसका नाम था—वय। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि जब सोने का एक सिक्का मूल्य हो जाता तो सोम विक्रयी अध्वर्यु से कहता कि मूल्य तो हो गया अब आप वय क्या देंगे यह बतलाइए—

"वयांसि प्रब्रूहीति (इत्याह सोमविक्रयीति शेषः)" ॥ ३ ॥

अध्वर्यु कहता है—मैं वय में तुम्हें चन्द्रमा दूँगा, अर्थात् चाँदी का रुपया दूँगा, वस्त्र दूँगा, बकरी दूँगा, गाय दूँगा, बैल दूँगा एवं तीन गौएँ अलग दूँगा—

"स आह—चन्द्रं ते (दास्यामीति शेषः)। वस्त्रं ते। छागा ते। धेनुस्ते। मिथुनौ ते गावौ। तिस्रस्तेऽन्या इति"।

भगवान् याज्ञवल्क्य व्यवहार-ज्ञान कराते हुए कहते हैं—वह अध्वर्यु चूँकि छोटी-छोटी रकम से मूल्य लगाता है एवं अन्त में जा कर बड़ी रकम पर सौदा तय करता है, अतएव आज भी सौदा खरीदते समय पहले-पहले मनुष्य थोड़ी ही कीमत लगाते हैं और बाद में बढ़ी हुई रकम पर तय करते हैं क्योंकि शुरू से ऐसा ही होता आया है।

"स यदर्वाक् पणन्ते-परः सम्पादयन्ति। तस्मादिदं सकृत् सर्वं पण्यमर्वाक्पणन्ते परः सम्पादयन्ति"।

गाय की बहुत महिमा है, यह दस वीर्य्यों की धारक है, बहुत ही श्रेष्ठ वस्तु है। इस प्रकार अध्वर्यु ही गाय के वीर्य्यों की प्रशंसा करता है। सोमविक्रयी एक बार भी सोम की प्रशंसा नहीं करता। कारण इसका यही है कि सोम तो अतिप्रसिद्ध वस्तु है। सोम तो साक्षात् देवता है, दुनिया में प्रसिद्ध है। इसकी महिमा का बखान करना सूर्य्य को दीपक दिखाना है।

"अथ यदध्वर्युरेव गोर्वीर्याण्युदाचष्टे—न सोमस्य सोमविक्रयी। महितो वै सोमः। देवो हि सोमः"।

सोम को गाय से ही खरीदना चाहिए। क्यों कि गाय में ही इतने वीर्य्य हैं। बस, लोग-बाग याज्ञिक मनुष्य—गाय के इन वीर्य्यों का परिचय दे कर गाय से ही सोम खरीदें। अतएव अध्वर्यु गाय की ही प्रशंसा करता है, सोमविक्रयी सोम की नहीं करता। क्यों कि वह तो प्रसिद्ध ही है—

"अथैतदध्वर्युर्गां महयति। तस्यै पश्यन् वीर्याणि क्रीणात् इति। तस्मादध्वर्युरेव गोर्वीर्याण्युदाचष्टे—न सोमस्य सोमविक्रयी" ॥४॥

अध्वर्यु सोम का मूल्य क्रमशः कला, शफ, पद, अर्ध, गौ—इन पाँच वस्तुओं से लगाता है। पाँच बार वह बढ़ा-बढ़ा कर सोम का मूल्य लगाता है। वास्तव में देखा जाय तो सोम खरीदा तो जाता ही है। फिर यह जो पाँच बार मोल-भाव बढ़ा कर सोम खरीदने का अभिनय करना है, इसका कारण कुछ और ही है। सोने के रूप में मूल्य के निमित्त जो-कुछ सोम विक्रयी को दिया जाता है, वह उससे वापस लौटा लिया जाता है। केवल एक बकरी उसे दी जाती है। अतएव मालूम पड़ता है कि ये पाँच मूल्य-क्रम भी किसी खास कारण से ही रक्खे गये हैं। पाँच ही बार मूल्य बढ़ा कर क्यों सोम राजा को खरीदते हैं ? तीन या चार बार में ही मूल्य का निश्चय क्यों नहीं हो जाता ? भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—भाई ४ या ६ बार मोल न लगा कर जो ५ बार ही मोल-भाव बढ़ाने और सोम के खरीदने का अभिनय किया जाता है, उसका कोई खास मतलब है।

बस जिस अभिप्राय से अध्वर्यु पाँच बार बोली बढ़ा कर ही सोम खरीदता है, उसका कारण बतलाते हैं—

"अथ यत् (यस्मात्) पञ्च कृत्वः पणते(तदुच्यते—इति शेषः)"।

हम सोम-यज्ञ कर रहे हैं। अग्नि में सोम की आहुति पड़ने का नाम ही यज्ञ है। पार्थिव अग्नि में पारमेष्ठ्य सोम की आहुति पड़ा करती है—इसी से सारे संसार का निर्माण हो रहा है। पृथिवी के केन्द्र से ले कर २१ अहर्गण तक का जो मण्डल है उसी का नाम संवत्सर है। यह संवत्सर अग्निमण्डल ही है। पूरे संवत्सराग्नि का ३६० दिन में उस पारमेष्ठ्य सोम से सम्बन्ध हो पाता है, अतएव संवत्सरमण्डल को यज्ञ कहा जाता है। संवत्सराग्नि में सोमाहुति पड़ने का नाम ही तो यज्ञ है। अतएव हम अवश्य ही यज्ञ को संवत्सर-संमित कह सकते हैं। इस संवत्सर की वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त—ये पाँच ऋतुएँ होती हैं। शिशिर को हेमन्त में

मिला लिया जाता है। पञ्चर्तु विभाग वैदिक विभाग है। इसीलिए आज भी **"पून्यूं पड़वा टाले, दिन बहुत्तर गाले"** की कहावत प्रचलित है, जिसका यही मूल है। इसीलिए श्रुतियों में बार-बार **'पञ्चर्तवः संवत्सरस्य। हेमन्त शिशिरयोः समासेन "** यह लिखा रहता है। संवत्सराग्नि को आत्मसात् करने का नाम ही तो यज्ञ है। चूंकि संवत्सर पंचावयव है एवं संवत्सराग्नि यज्ञाधिष्ठाता सोम है। प्रकृतिमण्डल में पञ्चावयव-स्वरूप संवत्सर से ही वह सोम खरीदा जाता है, अतएव इस वैध यज्ञ में भी यह यजमान पांच बार मोल-भाव करके ही सोम खरीदता हुआ उस यज्ञ को पाँच अवयवों से प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य्य यही है कि प्राकृतिक यज्ञ पाँच अवयवों में विभक्त है। अतएव पाँच बार मोल-भाव करके खरीदना-भावना द्वारा-उस पंचावयव यज्ञ को आत्मसात् करना है। इसीलिए पाँच बार ही सोम का मूल्य लगाया जाता है—

"संवत्सरसंमितो वै यज्ञः। पञ्च वाऽऋतवः संवत्सरस्य। तं पञ्चभिराप्नोति। तस्मात् पञ्च कृत्वः पणते" ।।५।।

सोम खरीदने के लिए, एकहायनी गौ और हिरण्यादि द्रव्य दिए जाते हैं। इन १० द्रव्यों से अध्वर्यु जब सोम खरीदने के लिए सोमविक्रयी को सुवर्ण इत्यादि देता है-उस समय यह अध्वर्यु यजमान से निम्नलिखित मन्त्र बुलवाता है—

"शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि, चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन" ।

शुक्र अर्थात् वीर्य्य-स्वरूप दीप्तियुक्त जो आप (सोम) हैं, उनको मैं वीर्य्यस्वरूप दीप्त सुवर्ण से ही खरीद रहा हूँ। अर्थात् **"गुञ्जया सह तोलनम्"**—वत् मैं आपकी बेइज्जती नहीं करता हूँ, अपितु जैसा आपका स्वरूप है उसी के अनुसार आपको खरीद रहा हूँ। आप भी दीप्यमान हैं और सुवर्ण भी दीप्यमान है। चन्द्र स्वरूप आह्लादक आपको, आह्लादकारी सुवर्ण से ही खरीदता हूँ एवं अमृतस्वरूप जो आप हैं उनको अमृत से ही खरीदता हूँ। सुवर्ण वास्तव में अमृत है। सुवर्ण दिव्य-लोक की वस्तु है। पृथिवी में बद्ध सूर्य-रश्मि का नाम ही तो सुवर्ण है। अतएव इसे हम अवश्य ही अमृत कह सकते हैं। सोम शुक्र-स्वरूप है-चमकदार है। सोम फास्फोरस की तरह चमका करता है। सोम राल की तरह दाह्य पदार्थ है एवं आह्लादकर है। इसको देखने से ही तबियत हरी हो जाती है। एवं पीने से भी तबियत फड़क उठती है। यह तीसरे द्यु की वस्तु है, अतएव अमृत भी है। इसी अमृत को पी कर तो पार्थिव आग्नेय देवता मर नहीं पाते।

जो गुण सोम में हैं वे ही सुवर्ण में हैं। सुवर्ण भी चमकदार है। देखते ही तबियत फड़क उठती है। एवं पृथिवी में पड़ती हुई सौर-रश्मियाँ ही तो सुवर्ण हैं, अतएव अमृत भी है। अर्थात् दिव्यलोक की वस्तु है। ऐसी अवस्था में शुक्र-चन्द्रवत् अमृतस्वरूप सोम को शुक्र-चन्द्र-अमृतस्वरूप हिरण्य से खरीदना-सोम को इज्जत के साथ खरीदना है। जैसा कीमती योग सोम है तदनुरूप ही उसकी कीमत भी है।

बस इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रख कर मन्त्र का अर्थ करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—यह सुवर्ण शुक्र है–इस प्रकार सुवर्ण से इसे खरीदता हुआ–शुक्र से शुक्र को खरीदता है।

"शुक्रं ह्येतत् शुक्रेण क्रीणाति–यत्सोमं हिरण्येन"।

यह हिरण्य वास्तव में चन्द्र है अर्थात् आह्लादकर है। तो सोम को जो सुवर्ण से खरीदता है वह चन्द्र से चन्द्र को खरीदता है—

"चन्द्रं ह्येतत्। चन्द्रेण क्रीणाति यत्सोमं हिरण्येन"।

सुवर्ण वास्तव में अमृत है। तो, जो यजमान सुवर्ण से सोम खरीदता है, वह अमृत से अमृत को खरीदता है—

"अमृतं ह्येतत् अमृतेन क्रीणाति यत्सोमं हिरण्येन" ।।६।।

सोम–विक्रयी को गौ और सुवर्ण दोनों दे दिये जाते हैं। ऐसी अवस्था में गौ और सुवर्ण दोनों सोमविक्रयी की वस्तुएँ बन जाती हैं। उससे अध्वर्यु दोनों वस्तुएँ ले कर फिर यजमान को वापस दे देता है। अपनी सम्पत्ति यदि छिन जाती है तो आत्मा काँप उठता है। धैर्य जगह छोड़ देता है। अध्वर्यु सोम–विक्रयी को दी हुई वस्तु वापस ले कर यजमान को देता है अतएव सोम–विक्रयी का दिल जगह छोड़ देता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"अथ सोमविक्रयिणमभिप्रकम्पयति (अध्वर्यु)"।

अध्वर्यु सोम–विक्रयी से कहता है **"सग्मे ते गौः"** हे सोम विक्रयिन्! तेरी जो यह गाय है वह वास्तव में यजमान की है। गौ सम्पन्न को सग्म कहते हैं। यजमान संपन्न है अतएव यह गाय तेरी नहीं अपितु पालने वाले की है, अर्थात् यजमान की है। इस प्रकार **"सग्मे ते गौः"** कह कर वहाँ पर यजमान को बुला कर उस गाय को यजमान के सुपुर्द करता हुआ कहता है—

"तद्यजमानमभ्याहृत्य न्यस्यति। अस्मे ते चन्द्राणि"।

अध्वर्यु कहता है कि जैसे गौ यजमान की है, वैसे यह तुम्हारा सुवर्ण मेरे लिए है। यह कह कर अध्वर्यु दक्षिणा–स्वरूप द्रव्य को आत्मसात् कर लेता है। इस प्रकार यजमान गौ को ले लेता है एवं अध्वर्यु सुवर्ण ले लेता है। बेचारा सोम–विक्रयी अपने हाथ को वापस लौटा लेता है। तात्पर्य्य इस प्रपञ्च से यही बतलाना है कि सुवर्ण और गाय दोनों सोम–विक्रयी को दे दिये जाते हैं। परन्तु यजमान और अध्वर्यु इस सम्पत्ति–दान से सदा के लिए गौ–सुवर्ण से शून्य न हो जाएँ अतएव दोनों को आत्मसात् करने की भावना से सोम–विक्रयी से वापस लौटा लिया जाता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"सग्मे ते गोरिति यजमाने ते गौरित्येवैतदाह। तद्यजमानमभ्याहृत्य न्यस्यति। अस्मे (अध्वर्यवे) ते चन्द्राणि इति। स (अध्वर्युः) आत्मन्येव वीर्यं (सुवर्णं) धत्ते। शरीरमेव सोमविक्रयी हरते"।

सोम-विक्रयी अध्वर्यु के कहने पर हाथ में रक्खे हुए सुवर्ण को आगे बढ़ाता है एवं अध्वर्यु जब सोना ले लेता है तो वह बेचारा अपने खाली हाथ को वापस लौटा लेता है। यहीं "**शरीरमेव सोम-विक्रयो हरति**" यह कहा गया है। सोम-विक्रयी से दोनों वस्तुएँ केवल, हमसे सम्पत्ति सदा के लिए न चली जाए, इस खयाल से ले ली गई थीं। जब सम्पत्ति के आत्मसात् करने की भावना मन्त्र द्वारा हो जाती है तो गाय और सुवर्ण सोम-विक्रयी को वापस लौटा दिए जाते हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"तत्ततः सोमविक्रय्यादत्तो" ।।७।।

सोम खरीदने के लिए जैसे सुवर्ण और गाय दी जाती है वैसे ही एक बकरी भी दी जाती है। इस बकरी को प्रतीचीन (पश्चिम की ओर) मुख करके अर्थात् जिधर सोम-विक्रयी खड़ा है उस ओर बकरी का मुख करके अध्वर्यु यजमान से निम्नलिखित मन्त्र बुलवाता है—

"तपसस्तनूरसि इति। प्रजापतेर्वर्णः। परमेण पशुना क्रीयसेऽइति। सहस्रपोषं पुषेयम्"-इति।

हे अजे, आप प्रजापति के तप से बनी देह हो। पुरुष, अश्व गौ, अवि, अज-ये पाँच पशु-प्राण कहलाते हैं। ये पाँचों ही प्रजापति से उत्पन्न होते हैं। प्रजापति से चित्याग्नि अभिप्रेत है।

अग्नि, मर्त्य-अमृतभेदेन दो प्रकार का है। दोनों में से मर्त्य अग्नि की जो वाष्प है, उसी से अजाप्राण उत्पन्न होता है। इसीलिए—"**आग्नेयो वै अजः**" यह कहा जाता है। अज भाप से पैदा होता है। पुरुष वैश्वानर से उत्पन्न होता है। गौ सूर्य से उत्पन्न होती है। अश्व पार्थिव तथा सौर अग्नि के घर्षण से अर्थात् अंगिरा-आदित्य के घर्षण से उत्पन्न होता है।

प्रकृत में केवल अजा के विषय में ही कहना है। अजा का आरम्भण द्रव्य प्रजापति की अर्थात् चित्याग्नि की भाप है। उसी से अज पशु उत्पन्न होता है। इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"तपसो ह वाऽएषा प्रजापतेः संभूता-यदजा। तस्मादाह तपसस्तनूरसीति"।

यह अजा प्रजापति के ढंग की है। प्रजापति का और अजा का स्वरूप मिलता-जुलता है। प्रजापति अग्नि का नाम है। इसका शरीर संवत्सर ही है। संवत्सर-मण्डल का नाम ही तो अग्नि है। अग्नि ही का तो नाम संवत्सर है। यह अग्नि सारे संवत्सर में भरा हुआ है। यह संवत्सर-अग्नि, प्रजापति-संवत्सर के तीन विभाग करके उसे तीन ही बार प्रसूत करता है, अर्थात् उत्पन्न करता है। वर्ष भर में प्रजापति तीन बार अन्न उत्पन्न करता है—श्यालू (खरीफ) उन्हालू (रबी) और चौमासा-एक वर्ष में ये तीन फसलें होती हैं। एवं उधर बकरी संवत्सर (वर्ष) में तीन बार बच्चे देती है। अन्य पशु वर्ष में एक ही बार बच्चा देते हैं परन्तु बकरी साल भर में तीन बार ब्याती है।

अतएव प्रजनन-स्वरूप साधर्म्यात् हम इस बकरी को भी प्रजापति-सवर्ण कहने के लिए तैयार हैं। वास्तव में बात ठीक है। यदि तीनों प्राण इसमें न आते तो यह हर्गिज तीन बार नहीं ब्या सकती

थी। परन्तु ब्याती है—अतएव मानना पड़ता है कि प्रजापति की तीनों प्रजनन-शक्तियाँ इसमें शामिल हैं।

"सा यत्त्रिः संवत्सरस्य विजायते तेन प्रजापतेर्वर्णः"।

ऐसा जो यह अजा नामक परम अर्थात् अत्युत्कृष्ट पशु है, उससे सोम को खरीदते हैं। और-और पशुओं में संवत्सर प्रजापति का प्राण अल्पमात्रा में आता है एवं इस अजा में संवत्सर के तीनों प्राण आ जाते हैं। यह अजा इसी की बदौलत एक वर्ष में तीन बार ब्याती है। अतएव अन्य पशुओं की अपेक्षा हम इसे परमपशु कहने के लिए तय्यार हैं।

"सा यत् त्रिःसंवत्सरस्य विजायते तेन परमः पशुः"।

तात्पर्य्य यही है कि सोम मामूली वस्तु नहीं है, अपितु महाविशिष्ट वस्तु है। सोम राजा है। राजा ही नहीं, सम्राट् है। अतएव इसको अजा से खरीदा जाता है। क्यों कि अजा भी सामान्य वस्तु नहीं है, यह भी प्रजापति का शरीर है, परम पशु है, आग्नेय है, संवत्सर के अनुरूप है। प्रकृति-मण्डल में विभागत्रय युक्त संवत्सराग्नि द्वारा ही तो परमेष्ठि-मण्डल में से सोम आता है। यह अजा उसी अग्नि प्रजापति की प्रतिकृति है। तो इसके प्रतिफल में सोम खरीदना, उस प्रजापति से सोम खरीदना है—

"सहस्रपोषं पुषेयम्"।

हे सोम ! मैं परिपूर्ण पुष्टि को प्राप्त हो जाऊँ। सारे मन्त्र का अर्थ यही है कि हे अजे, आप प्रजापति के तप का शरीर हैं। आप प्रजापति अग्नि के वाष्प से उत्पन्न हुई हैं। एवं आप प्रजापति की वर्ण हैं। ऐसा जो यह परम पशु है, अत्युत्कृष्ट पशु है, हे सोमराजा, इसे दे कर मैं आपको खरीदता हूँ। अतएव आप मुझे ऐसा आशीर्वाद दीजिए कि जिससे मैं पुत्र-पौत्रादिरूप परिपूर्ण पुष्टि को, परिपूर्ण भूमा को प्राप्त हो जाऊँ।

याज्ञवल्क्य मन्त्र का तात्पर्य्यार्थ बतलाते हुए कहते हैं कि यजमान इस मन्त्र से आशीष ही माँगता है। सहस्र का अर्थ कोई हजार नहीं समझे अतएव कहते हैं कि भूमा को, बहुत्व को, सहस्र कहते हैं। ऐसी अवस्था में "सहस्रपोषं पुषेयम्" का यही तात्पर्य है कि मैं भूमा को, बढ़ोत्तरी को, प्राप्त हो जाऊँ—

"आशिषमेवैतदाशास्ते, भूमा वै सहस्रं। भूमानं गच्छानीत्येवैतदाह" ॥८॥

वह अध्वर्यु इसी मन्त्र से अजा को, सोम-विक्रयी को सौंप देता है और सोम ले लेता है। इसी मन्त्र से बकरी को सौंप देता है और इसी मन्त्र से सोम को ले लेता है—

"स वाऽअनेनैवाजां प्रयच्छति-अनेन राजानमादत्ते"।

याज्ञवल्क्य "अजा" शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं कि जिसे अजा शब्द से कहा जाता है वह वास्तव में "आजा" है। "आजा"—यह असली नाम है, चूँकि इसी से अन्ततोगत्वा सोम-यजमान

की ओर आता है। अतएव "आजनसाधकत्वात्" इसे आजा कहते हैं। सोम खरीदने के लिए सोना-गाय-वस्त्र आदि कई वस्तुएँ दी जाती हैं। परन्तु अन्ततोगत्वा सोम-बकरी से ही अभिमुख होता है। "आज" कहते हैं अभिमुख्य को। इसमें साधनभूता यह बकरी ही है। अतएव इसे ही आजा कहने लग गये। इसी को परोक्षप्रिय देवता "अजा" शब्देन व्यवहृत करते हैं—

"आजा ह वै नामैषा यदजा। एतया ह्येनं (सोम्) अन्ततः आजति। तामेत्परोऽक्षमजेत्याचक्षते" ॥९॥

बकरी पूर्वोक्त मन्त्र द्वारा सोम-विक्रयी को दे दी गई। अब अध्वर्यु—

"मित्रो न ऽएहि सुमित्रधः"।

यह कहता हुआ उस सोम राजा को अपने हाथ में ले लेता है।

हे सोम, आप सुमित्रधा होते हुए यजमान के मित्र बन कर इस यज्ञ में पधारिए। मित्रता दोनों से सम्बन्ध रखती है। यदि दोनों परस्पर एक दूसरे को चाहते हैं तो मित्रता रहती है। एक के मन में कपट है तो फिर मित्रता नहीं निभ सकती। सुमित्रधः का यही तात्पर्य्य है कि जैसे यजमान आपको अपना मित्र समझता है तथैव आप भी यजमान को अवश्य ही अपना मित्र समझें-आप सुमित्रधा हैं, अर्थात् अच्छे-अच्छे मित्र रखने वाले हैं। हे सोम! ऐसे आप मित्र बन कर इस यज्ञ में आइए।

कई पदार्थ ऐसे होते हैं कि घर में जिनके आते ही उपद्रव हो जाता है। किसी-किसी का पग-फेरा ही ऐसा होता है। कोई मनुष्य तो ऐसा होता है कि घर में जिसके आते ही त्राहि-त्राहि मच जाती है। किसी के आते ही पौ-बारा-पच्चीस हो जाते हैं। सोम आज हमारे यजमान के घर में आ रहा है। कहीं ऐसा न हो कि इसका आगमन बजाय शांति के, उपद्रव का कारण बन जाए। इसीलिए सोम से प्रार्थना करते हैं कि हे सोम! आप हमारे लिए (यजमान के लिए) शिव और शान्तस्वरूप बन कर ही इस यज्ञ में पधारिए। यही—"मित्रो न एहि सुमित्रधः" का तात्पर्य्य है—

"शिवो नः शान्त ऽएहीत्यवैतदाह"।

इसके बाद अध्वर्यु उस सोम को यजमान की दाहिनी जाँघ पर रख कर उस सोम पर वस्त्र रख देता है। क्रीत सोम को यजमान की दाहिनी जाँघ पर रख कर उसे एक वस्त्र से ढ़क देना चाहिए-यही तात्पर्य्य है।

जिस समय अध्वर्यु यजमान की दाहिनी गोद में सोम रखता है-उस समय यह कहता है—

"इन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणम्"।

हे सोम! आप इन्द्र की दाहिनी जाँघ पर बैठिए। अग्नि में सोमाहुति पड़ने का नाम ही यज्ञ है; यह बात पूर्व के प्रकरणों में हम कई स्थानों पर बतला आये हैं। यह अग्नि पृथिवी के २१ अहर्गण तक

वितत रहता है। २१ पर सूर्य्य है। इन्द्र-धाता-भग-पूषा इत्यादि द्वादश प्राण-समष्टि का नाम ही सूर्य्य है। इन सब प्राणों में इन्द्र ही प्रधान है। इन्द्र ही जाँघ का अधिष्ठाता है। गति से ही संसार-यज्ञ हो रहा है। हाथ-पैर चलना बन्द हुआ कि सारा काम समाप्त हुआ। यज्ञ-प्रवर्तक इन्द्र-प्राण ही है। इसीलिए श्रुति कहती है—

"यज्ञ इन्द्रमवर्धयत्-यद्भूमिं व्यवर्तयत्। चक्राण ओपशं दिवि"-इति।
(ऋग्वेद मं० ८।१४।५)

यज्ञ के अधिष्ठाता इन्द्र सूर्य्यप्राण का नाम है। अतएव हम सूर्य्य को भी, यज्ञ कह सकते हैं। इस सूर्य्य का जो उत्तर भाग है, वह इसका उत्तर जाँघ है और दक्षिण भाग दक्षिण जाँघ है। जैसे अग्नि दक्षिण से उत्तर को जाया करता है तथैव सोम उत्तर से दक्षिण को आया करता है। सोम का दक्षिण की ओर आना इन्द्र की दाहिनी जाँघ पर आना है।

प्रकृतिमण्डलस्थ क्रीत सोम उत्तर दिशा से आ कर इन्द्र की दाहिनी जाँघ पर ही बैठता है। अर्थात् सोम की स्थिति दक्षिण में होती है। अतएव इसी के अनुसरण पर यजमान-स्वरूप इन्द्र की दाहिनी जाँघ पर ही यह सोम रक्खा जाता है। अपि च भुवन-स्वर्गवासी इन्द्र देवता ने सोम-रक्षार्थ चन्द्रमा का ब्रह्मा द्वारा राज्याभिषेक करवा कर, प्रसन्न हो कर, उसे अपनी दाहिनी जाँघ पर बैठाया था। तात्पर्य्य यही है कि इस पूर्वोक्त मन्त्र के ऐतिहासिक और आधिदैविक दोनों अर्थ हैं। आज यह यजमान अपने यज्ञ का इन्द्र है, स्वामी है। अतएव प्रकृतिवत् दाहिनी जाँघ पर सोम रक्खा जाता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"एष वाऽअत्रेन्द्रो भवति यद्यजमानः। तस्मादाह-इन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणमित्युशन्नुशन्तमिति"।

हे सोम, कामयमान आप-कामयमान जो उरु है—उस पर विराजिए। तात्पर्य्य यही है कि उरु भी आपसे उद्विग्न न हो और आप भी उरु से उद्विग्न न हों। दोनों में प्रेम रहे। बाज मौके पर-हमें एक मक्खी भी शरीर पर नहीं सुहाती। ऐसा न हो कि जाँघ उद्विग्न हो जाए एवं साथ ही आप भी (जाँघ पर तिष्ठ रहना) पसन्द न करें-यही तात्पर्य्य है।

इसका अर्थ करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—प्रिय जो आप हैं वे प्रिय उरु पर विराजिए।

"प्रियः प्रियमित्येवैतदाह स्योनः स्योनमिति शिवः शिवमित्येवैतदाह"।।१०।।

कल्याणस्वरूप जो आप हैं, वे कल्याणस्वरूप इस उरु पर विराजिए। तात्पर्य्य कथन का यही है कि सोम का यजमान के साथ याज्ञिक-सम्बन्ध हो जाए। यजमान सोमात्मक बन जाए।

जिस समय गायत्री सोम लेने गई थी, उस समय गन्धर्व उस सोम की रक्षा कर रहे थे। धिष्ण्याग्नि वह कहलाती है जो कि अन्तरिक्ष में रहती है। ये ही आठ गन्धर्व हैं। परमेष्ठी में से आने वाला सोम इन्हीं आठों आन्तरिक्ष्य धिष्ण्याग्नियों में व्याप्त रहता है। अन्तरिक्ष में सोम अतिमात्रा में भरा रहता है-

अतएव **"त्वमात्नो सर्वान्तरिक्षम्"** यह कहा जाता है। ये आठों ही विद्युत् हैं। बिजली के आठ ही सीगे (विभाग) होते हैं। आठ जाति की बिजली होती है। यही ८ विद्युत–जातियाँ धिष्ण्याग्नि नाम से प्रसिद्ध हैं। इन आठों के स्वान, भ्राज, अंगार, बम्भार, हस्त, सुहस्त, कृषानु आदि–आठ नाम हैं। जिस विद्युत् में चट्-चट्-चट् आवाज आती है, वह स्वान–गन्धर्व कहलाता है एवं जिससे एकदम प्रकाश हो जाता है। उसे भ्राज–गन्धर्व कहते हैं। जिस विद्युत् से पाप का विनाश होता है अर्थात् हवा फिल्टर होती है, उसका नाम अंघार है, एवं जो अतिशयेन भरण करता है—बल देता है, वही बम्भार–गन्धर्व कहलाता है विद्युत् का नाम ही इन्द्र है। इसीलिए–**"तस्यैष सृष्टिविधाते ते विद्युदाह"** यह कहा जाता है। इन्द्र ही अर्थात् विद्युत् ही से तो बल मिलता है अतएव **"या च का च बलकृतिरिन्द्र कर्म एव ता"** यह कहा जाता है। एवं जिससे विकास होता है, जो मुग्धभाव हरता है, उसका नाम हस्त है। जो विद्युत् दूर तक जाती है उसी का नाम सुहस्त है। एवं जो विद्युत् स्थूल वस्तु को पैना बना देती है, उसी का नाम कृषानु है।

विद्युत् यद्यपि एक ही है परन्तु आठ अवस्थाओं के कारण एक ही के आठ नाम हो जाते हैं। ये सभी रूप अन्तरिक्षमें रहते हैं। रहते हैं यद्यपि त्रिभुवन में परन्तु प्रातिस्विक स्थान इनका अन्तरिक्ष ही हैं। इन्हीं के द्वारा हमारे पृथिवीलोक पर सोम आता है। अन्तरिक्ष में ही आठों गन्धर्व रहते हैं वे ही सोमविक्रयी हैं। पार्थिवाग्नि अर्थात् गायत्री इन्हीं से सोम खरीदती है। इनकी ही अनुकृति पर इस सोम-याग में आठ धिष्ण्याग्नियाँ बनाई जाती हैं। ये गन्धर्व ही सोम के देने वाले हैं–अतएव इनसे प्रार्थना करते हैं—

"स्वान भ्राजाङ्गारे बम्भारे हस्तसुहस्त कृशानवेते वः सोमक्रयणास्तान् रक्षध्वम्। मा वो दभन्"।

हे स्वानभ्राजादिगन्धर्वो! यह सोमक्रयण अर्थात् सोम खरीदने वाले–सोम खरीदने के साधनभूत –गौ–हिरण्य-वस्त्रादि आपके हैं अर्थात् सोम खरीदने से सब आप ही के हैं। चूँकि ये सब आपके हैं अत-एव आप सोमक्रय–साधनभूत इनकी (वागादि की) रक्षा कीजिए। हे गन्धर्वो! आप इनकी हिंसा कभी न करें। कभी इनको न दबाएँ–हमारी यही प्रार्थना है।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि सोमयज्ञ में जो आठ वेदियाँ बनाई जाती हैं वे आन्तरिक्ष्य—धिष्ण्याग्नियों की स्थानापन्न हैं। अंघार इत्यादि उन धिष्ण्याग्नियों के नाम हैं अतएव इनके भी यही नाम रक्खे गए हैं। बस, इन आठों की स्तुति करता हुआ यह अध्वर्यु इन पदार्थों के लिए (सोम क्रयार्थ द्रव्यों के लिए) उन्हें आठों गन्धर्वों की क्षमादृष्टि में ला देता है। उनकी कृपा–दृष्टि इनके लिए प्राप्त कर इन्हें सम्पन्न कर देता है।

तात्पर्य्य यही है कि सोम के अधिष्ठाता धिष्ण्याग्नि ही हैं। अतएव सोम लेते समय अवश्य ही उनकी स्तुति करनी चाहिए—

"धिष्ण्यानां वाऽएते भाजनेनैतानि वै धिष्ण्यानां नामानि तान्येवैभ्य ऽएतदन्वदिक्षत्" ॥११॥

दीक्षा के समय यजमान को वस्त्र उढ़ाया जाता है। मस्तक पर वस्त्र डाल दिया जाता है। सोम को यजमान के दक्षिण उरु पर रखने के बाद वह अध्वर्यु उस वस्त्र को उघाड़ देता है, शिर-आवरण वस्त्र को उतार लेता है-

"अथात्रापोर्णुते"।

क्यों इस समय वह वस्त्र हटा दिया जाता है? इसका कारण बतलाते हुए कहते हैं कि जो मनुष्य दीक्षा लेता है-वह गर्भ बनता है। दिव्यात्म स्वरूप में पैदा होने के लिए यजमान को गर्भ बनना पड़ता है। गर्भ उल्व और जरायु से आवृत रहते हैं। चूँ कि यजमान गर्भ बना हुआ है—अतएव इस यजमान को प्राकृतिक नियमानुसार उल्व और जरायु से आवृत होना पड़ता है। इसीलिए वह उल्व-स्थानीय मेखला पहिनता है और सिर पर जरायु स्थानीय वस्त्र डालता है। उस गर्भभूत यजमान को सोमविक्रयानन्तर अध्वर्यु ने नए दिव्यात्मरूप में पैदा कर दिया है। अतएव अध्वर्यु उस जरायुस्थानापन्न वस्त्र को हटा लेता है, क्यों कि प्रकृति में भी पैदा हुए बाद जरायु अपने आप हट जाते हैं। जब तक सोम नहीं आता तब तक दिव्यात्म-प्रजनन में संदेह रहता है। परन्तु सोम के आते ही मान लिया जाता है कि दिव्यात्मा उत्पन्न हो गया, यद्यपि अभी वह उत्पन्न होगा। क्षपयाग (सुत्या) के अनन्तर यह मान लिया जाता है—

"अथात्रापोर्णुते। गर्भो वाऽएष भवति यो दीक्षते। प्रावृता वै गर्भा ऽउल्बेनेव जरायुणेव तमत्राजीजनत। तस्मादपोर्णुतः"।

पहले प्रावरण हो तभी तो उसे हटाया जाए। तो यहाँ पर प्रश्न होता है कि पहले उस पर आवरण कहाँ था? इसी का उत्तर देते हुए कहते हैं कि यजमान इस यज्ञ में गर्भ बनता है। अतएव वह दीक्षा के समय ही वस्त्र से परिवृत हो जाता है क्यों कि गर्भ उल्व और जरायु से परिवृत ही होते हैं। बस उसी आवरण को सोमानन्तर अध्वर्यु हटा देता है—

"एष वाऽअत्र गर्भो भवति तस्मात् परिवृतो भवति परिवृता ऽइव हि गर्भा उल्बेनेव जरायुणेव" ॥१२॥

इसके अनन्तर अध्वर्यु यजमान से निम्नलिखित मन्त्र बुलवाता है—

"परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज-इति"।

हे अग्ने, मा (मां) दुश्चरितात् बाधस्व (त्रायस्व) मा (मां) सुचरिते (सदाचारे) आभजे। हे सोम! आपत्तियों से मुझे बचाइए और मुझे सदाचार में प्रवृत्त कीजिए। मैं असदाचारी न बनूँ अपितु सदाचारी बनूँ, यही आशीर्वाद दीजिए।

प्रकृतिमण्डल में इन्द्र का दाहिना पाँव अर्थात् दक्षिण दिशा स्थिर रहती है एवं इस स्थिर-दिशा में आता हुआ सोम उस पर स्थिर हो जाता है। उसी के अनुसार यज्ञाधिपति इन्द्र का स्थानापन्न यह

यजमान बैठा रहता है एवं उस बैठे हुए यजमान की जाँघ पर ही सोम ला कर रक्खा जाता है। तात्पर्य्य यही है कि बैठे हुए यजमान की ओर सोमराजा आता है। यजमान बैठा रहता है और सोम को उसकी दक्षिण जाँघ पर बैठा दिया जाता है। जब सोम इसकी दाहिनी जाँघ पर आ जाता है तब जा कर यह यजमान उठता है–ऐसा करता हुआ यह यजमान बहुत अनुचित करता है। मिथ्याचरण अर्थात् विरुद्धाचरण करता है एवं व्रतभंग करता है।

यदि कोई बड़ा आदमी अपने घर पर आए और उसे आते देखकर हम न उठें, अपितु वह आ कर हमारे पास बैठ जाय तब उठें–यह व्यवहार जैसे सर्वथा मर्यादा के विरुद्ध है तथैव सोम के आने पर अगवानी न करना एवं उसके पास आ जाने पर बाद में उठना सर्वथा मर्यादा–भंग करना है। परन्तु करें क्या, यजमान बाध्य है, नहीं उठ सकता क्योंकि प्रकृति में स्थिर अवस्था में ही सोम आता है। परन्तु निषिद्ध आचरण करने से यजमान अपराधी हो जाता है। बस, इस अपराध के प्रायश्चित्त के लिए ही '**महिमाग्ने**' इत्यादि बोला जाता है। इस मन्त्र से क्षमा माँग लेने पर यजमान का सोम के आने पर उठ जाना अपराध नहीं माना जाता है। एवं माफी माँगने से यजमान व्रत–भंग के दोष से मुक्त हो जाता है। व्रतपति देवता ही हैं। अतएव '**परिमाग्ने**' कहा गया है। इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रख कर याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"आसीनं वाऽएनमेष (सोम) आगच्छति। स (यजमानः) आगतऽउत्तिष्ठति तन्मिथ्या करोति व्रतं प्रमीणाति तस्यो हैषा प्रायश्चितिः। तथो हास्यैतन्न मिथ्याकृतं भवति न व्रतं प्रमीणाति, तस्मादाह परिमाग्ने इत्यादि" ॥१३॥

इसके बाद निम्नलिखित मन्त्र बोलता हुआ, सोम को अपने हाथों में ले कर यजमान खड़ा हो जाता है—

"अथ राजानमादायोत्तिष्ठति। उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृता"।

फिर वह यजमान आयु के साथ–साथ ही–स्वायु के साथ अर्थात् आयु-साधन सोम के साथ–अमृतस्वरूप सोम के साथ उठता है। ऐसा कर यजमान सोम को नहीं अपितु आयु के साधन सोम को उठाता है, यही तात्पर्य्य है। सोम ही से आयु रहती है। जब तक आत्माग्नि में सोम की आहुति पड़ती रहती है तभी तक आयु रहती है। जिस दिन आत्माग्नि में सोमाहुति बंद हो जाएगी, उस दिन आत्मा शरीर से उत्क्रान्त हो जाएगा। अतएव स्वायु तो सोम ही है। सोम को ले कर उठता हुआ यजमान अपने आयु–सोम के साथ उठता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"अमृतं वाऽएषोऽनूत्तिष्ठति यः सोमं क्रीतं तस्मादाहोदायुषा–इत्यादि" ॥१४॥

इसके अनन्तर सोमांशुओं को ले कर सोम को निकट में रखने के लिए इस स्थान से, (जहाँ पर कि सोम खरीदा था) चलता है। एवं साथ ही में निम्नलिखित मन्त्र बोलता है—

"प्रतिपन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम् ।
येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु ।।१५।।

"स्वस्तिगाम् (शोभन गमनम्) अनेहसम्–(सुपरिष्कृतम्) पंथाम्-प्रत्यपद्महि (प्रति पद्येमहि) येन (मार्गेण गच्छन् पुरुषः) विश्वाः द्विषः (शत्रून्) परि वृणक्ति। वसु (धनं) विन्दते (लभते) एतादृशं पन्थां प्रतिपद्महीतिभावः"।

जो सुमार्ग है, अर्थात् राजपथ है, सुपरिष्कृत है, ऐसे मार्ग में हो कर हम जा रहे हैं। जिस मार्ग से जाता हुआ मनुष्य सारे शत्रुओं को नष्ट कर खदेड़ देता है, एवं जिस मार्ग में हो कर जाने से मनुष्य दौलतमन्द बन जाता है, उसी रास्ते से हम जा रहे हैं। सोम ले जाना यज्ञ के रास्ते पर चलना है। यज्ञ वास्तव में अति सुमार्ग है। यज्ञ–मार्ग पर चलने वाले यजमान के सारे शत्रु नष्ट हो जाते हैं एवं यज्ञकर्ता यजमान बड़ा ही संपत्तिशाली हो जाता है। इसीलिए तो **'एष वस्विष्ट कामधुक्'** यह कहा जाता है।

भुवनस्वर्गवासी देवता यज्ञ किया करते थे। असुर और राक्षस यज्ञ के विरोधी थे। एक समय देवताओं ने यज्ञ-वितान किया परन्तु उन्हें भय हुआ कि कहीं राक्षस और असुर हमारे यज्ञ में विघ्न न डाल दें। इस असुराक्रमण से भयभीत हो कर जब वे स्वस्त्ययन नाम के **'प्रतिपन्थाम्'** इस मन्त्र के मन्त्र–द्रष्टा हुए अर्थात् इस मन्त्रशक्ति का देवताओं को पता लगा, फिर क्या था, इसी मन्त्रशक्ति के बल से देवताओं ने यज्ञ–विध्वंस करने वाले असुरों का नाश कर इस मन्त्र–बल की अभयाच्छन्न छाया में यज्ञ को निर्विघ्न सम्पन्न कर लिया। इसी प्रकार आज यह यजमान भी इस यजु–मन्त्र से असुरों को मार कर निर्विघ्न स्थान में यज्ञ कर यज्ञफल–भोग करता है। अतएव सोम ले जाते समय **'प्रतिपन्थाम्'** इत्यादि मन्त्र बोलता है—

देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः। तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयांचक्रुः। तऽएतद्यजुः स्वस्त्ययनं ददृशुः। तऽएतेन यजुषा नाष्ट्रा रक्षांस्यपहत्यैतस्य यजुषोऽभयेऽनाष्ट्रे निवाते स्वस्ति समाश्नुवत तथोऽएवैष एतेन यजुषा नाष्ट्रा रक्षांस्यपहत्यैतस्य यजुषोऽभयेऽनाष्ट्रे निवाते स्वस्ति समश्नुते तस्मादाह–प्रति पन्थाम्–इत्यादि" ।।१६।।

याज्ञवल्क्य कहते हैं—इस सोम को पूर्वोक्त प्रकार से मस्तक पर रख कर लाते हैं और फिर शकट में रख कर नियत स्थान पर ले जाते हैं। मस्तक पर ले जाना और फिर गाड़ी में रख कर ले जाना–इस सोम का आदान–प्रदान करना है। मस्तक पर ले जाता हुआ यजमान सोम का सत्कार करता है, उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाता है—

"तं वाऽइति (पूर्वोक्त प्रकारेण शिरसा धृत्वा) हरन्ति अनसा परिवहन्ति। महयन्त्येवैनमेतत् (कर्मणा)" ।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि प्रारम्भ में भुवन-स्वर्ग-वासी देवताओं ने पहले मस्तक पर और बाद में शकट पर सोम रखने की व्यवस्था चलाई थी । अतएव उसी मर्यादा के अनुसर आज भो खेतिहर लोग अन्न को खेत से मस्तक पर बाँध कर लाते हैं और फिर गाड़ी में रख कर ले जाते हैं—

"तस्माच्छीर्ष्णा बीजं हरन्ति । अनसोदावहन्ति" ।।१७।।

जहाँ पर सोम खरीदा जाता है, वहाँ पर पानी रहता है । पानी के स्थान के पास ही सोम खरीदा जाता है—

"अथाग्रेण राजानं विचिन्वन्ति तदुदकुम्भ उपनिहितो भवति" (शत० ३।३।२।५)

पानी के पास से ही किस लिए सोम खरीदा जाता है, इसका कारण बतलाते हैं । पानी रस-स्वरूप है । पानी रखने का यही कारण है कि सोम भी सरस ही होना चाहिए । सूखे सोम से रस नहीं निकलता । अतएव-अपामनो (जल के किनारे से) से यह यजमान सरस सोम को ही खरीदता है-

"रसो वाऽआपः । सरसमेवैतत् क्रीणाति" ।।१८।।

साथ ही, हिरण्य से जो सोम खरीदा जाता है, वह शुक्र सहित अर्थात् तेजोयुक्त सोम को खरीदा जाता है ।

क्यों कि वस्त्र दिया जाता है, अतः वस्त्र देता हुआ त्वचायुक्त सोम को ही खरीदता है एवं क्यों कि अजा दी जाती है, अतः तप के साथ सोम क्रीत होता है । गाय देने से सोम साशिर अर्थात् मलाईयुक्त या सारभागयुक्त हो जाता है । गाय-बैल का जोड़ा इसलिए दिया जाता है कि उससे प्रजनन-क्रिया में समर्थ मिथुन भावयुक्त सोम को ही खरीदता है । याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस प्रकार सोम को १० द्रव्यों से ही खरीदना चाहिए । पंक्ति छन्द दशाक्षरा होता है एवं सोम वैराज है । इसलिए उसे १० द्रव्यों से ही खरीदना चाहिए ।

।। इति सोमपणनब्राह्मणं समाप्तम् ।।

।। इति तृतीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणं समाप्तम् ।।

—❀—

तृतीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्

'सोमपर्य्याणहन ब्राह्मण'

[मूल] नीडे कृष्णाजिनमास्तृणाति । अदित्यास्त्वगसीति सोऽसावेव बन्धुरथैनमासादयत्यदित्यै सदऽआसीदेतीयं वै पृथिव्यदितिः सेयं प्रतिष्ठा तदस्यामेवैनमेतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति तस्मादाहादित्यै सदऽआसीदेति ॥१॥

अथैवमभिपद्य वाचयति । अस्तभ्नाद्द्यां वृषभोऽअन्तरिक्षमिति देवा ह वै यज्ञं तन्वानास्तेऽसुररक्षसेभ्य ऽआसङ्गाद्बिभयांचक्रुस्तऽएनमेतज्ज्यायांसमेव वधाच्चक्रुर्यदाहास्तभ्नाद्द्यां वृषभोऽअन्तरिक्षमिति ॥२॥

अमिमीत वरिमाणं पृथिव्या इति । तदेनेनेमाँल्लोकानास्पृणोति तस्य हि न हन्ताऽस्ति न वधो येनेमे लोका ऽआस्पृतास्तस्मादाहामिमीत वरिमाणं पृथिव्या इति ॥३॥

आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राडिति । तदेनेनेदँ सर्वमास्पृणोति तस्य हि न हन्तास्ति न वधो येनेदँ सर्वमास्पृतं तस्मादाहासीदद्विश्वा भुवनानि सम्राडिति ॥४॥

विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानीति । तदस्मा ऽइदँ सर्वमनुवर्त्म करोति यदिदं किं च न कं चन प्रत्युद्यामिनं तस्मादाह विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानीति ॥५॥

अथ सोमपर्याणहनेन पर्याणह्यति । नेदेनं नाष्ट्रा रक्षाँसि प्रमृशानीति गर्भो वाऽएष भवति तिरऽइव वै गर्भास्तिर ऽइवैतद्यत्पर्याणद्धं तिरऽइव वै देवा मनुष्येभ्यस्तिरऽइवैतद्यत्पर्याणद्धं तस्माद्वै पर्याणह्यति ॥६॥

स पर्याणह्यति । वनेषु व्यन्तरिक्षं ततानेति वनेषु हीदमन्तरिक्षं विततं वृक्षाग्रेषु वाजमर्वत्सु पय उस्रियास्विति वीर्यं वै वाजाः पुमाँसोऽर्वन्तः पुंस्वेवैतद्वीर्यं दधाति पय उस्रियास्विति पयो हीदमुस्रियासु हितं हृत्सु क्रतुं वरुणो

विश्वग्निमिति हृत्सु ह्ययं क्रतुर्मनोजवः प्रविष्टो विक्ष्वग्निमिति विक्षु ह्ययं प्रजास्वग्निर्दिवि सूर्य्यमदधात्सोममद्राविति दिवि ह्यसौ सूर्यो हितः सोममद्राविति गिरिषु हि सोमस्तस्मादाह दिवि सूर्यमदधात्सोममद्राविति ॥७॥

अथ यदि द्वे कृष्णाजिने भवतः । तयोरन्यतरत्प्रत्यानह्यति प्रतीनाहभाजनं यद्युऽएकं भवति कृष्णाजिनग्रीवा एवावकृत्य प्रत्यानह्यति प्रतीनाहभाजनँ सूर्यस्य चक्षुरारोहाग्नेरक्ष्णः कनीनकम् । यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चितेति सूर्यमेवैतत्पुरस्तात्करोति सूर्यः पुरस्तान्नाष्ट्रा रक्षांस्यपघ्नन्नेत्यथाभयेनानाष्ट्रेण परिवहन्ति ॥८॥

उद्धते प्रऽउग्ये फलके भवतः । तदन्तरेण तिष्ठन्त्सुब्रह्मण्यः प्राजति श्रेयान्वाऽएषोऽभ्यारोहाद्भवति को ह्येतमर्हत्यभ्यारोढुं तस्मादन्तरेण तिष्ठन्प्राजति ॥९॥

पलाशशाखया प्राजति । यत्र वै गायत्री सोममच्छापतत्तदस्याऽआहरन्त्याऽअपादस्ताभ्यायत्य पर्णं प्रचिच्छेद गायत्र्यै वा सोमस्य वा राज्ञस्तत्पतित्वा पर्णोऽभवत्तस्मात्पर्णो नाम तद्यदेवात्र सोमस्य न्यक्तं तदिहाप्यसदिति तस्मात्पलाशशाखया प्राजति ॥१०॥

अथानड्वाहावाजति । तौ यदि कृष्णौ स्यातामन्यतरो वा कृष्णस्तत्र विद्याद्वर्षिष्यत्यैषमः पर्जन्यो वृष्टिमान्भविष्यतीत्येतदु विज्ञानम् ॥११॥

अथ युनक्ति । उस्रावेतं धूर्षाहावित्युस्रौ हि भवतो धूर्षाहाविति धूर्षाहौ हि भवतो युज्येथामनश्रूऽइति युज्येते ह्यनश्रूऽइत्यनार्ताविति तदवीरहणावित्यपापकृताविति तद्ब्रह्मचोदनाविति ब्रह्मचोदनौ हि भवतः स्वस्ति यजमानस्य गृहान्गच्छतमिति यथैनावन्तरा नाष्ट्रा रक्षांसि न हिंस्युरेवमेतदाह ॥१२॥

अथ पश्चात्परिक्रम्य । अपालम्बमभिपद्याह सोमाय क्रीतायानुब्रूहीति सोमाय पर्युह्यमाणायेति वाऽतो यतरथा कामयेत ॥१३॥

अथ वाचयति । भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पतऽइति भद्रो ह्यस्यैष भवति तस्मान्नान्यमाद्रियतेऽप्यस्य राजानः सभागा ऽआगच्छन्ति पूर्वो राज्ञोऽभिवदति भद्रो हि भवति तस्मादाह भद्रो मेऽसीति प्रच्यवस्व भुवस्पतऽइति भुवनानां ह्येष पतिर्विश्वान्यभि धामानीत्यङ्गानि वै विश्वानि धामान्यङ्गान्येवैतदभ्याह मा त्वा परिपरिणो विदन्मा त्वा परिपन्थिनो विदन्मा त्वा वृका अघायवो विदन्निति यथैनमन्तरा नाष्ट्रा रक्षांसि न विन्देयुरेवमेतदाह ॥१४॥

श्येनो भूत्वा परापतेति वयऽ एवैनमेतद्भूतं प्रपातयति यद्वाऽउग्रं तन्नाष्ट्रा रक्षांसि नान्ववयन्त्येतद्वै वयसामोजिष्ठं बलिष्ठं यच्छ्येनस्तमेवैतद्भूतं प्रपातयति यदाह श्येनो भूत्वा परापतेति ॥१५॥

अथ शरीरमेवान्ववहन्ति । यजमानस्य गृहान्गच्छ तन्नौ संस्कृतमिति नात्र तिरोहितमिवास्ति ॥१६॥

अथ सुब्रह्मण्यामाह्वयति । यथा येभ्यः पक्ष्यन्त्स्यात्तान्ब्रूयादित्यहे वः पक्तास्मीत्येवमेवैतद्देवेभ्यो यज्ञं निवेदयति सुब्रह्मण्यो ३ म् सुब्रह्मण्यो ३ मिति ब्रह्म हि देवान्प्रच्यावयति त्रिष्कृत्व ऽआह त्रिवृद्धि यज्ञः ॥१७॥

इन्द्रागच्छेति । इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्रागच्छेति हरिव आगच्छ मेधातिथेर्मेषवृषणश्वस्य मेने । गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जारेति तद्यान्येवास्य चरणानि तैरेवैनमेतत्प्रमुमोदयिषति ॥१८॥

कौशिक ब्राह्मण गौतम ब्रुवाणेति । शश्वद्धैतदारुणिनाऽधुनोपज्ञातं यद्गौतम ब्रुवाणेति स यदि कामयेत ब्रूयादेतद्यद्यु कामयेतापि नाद्रियेतेत्यहे सुत्यामिति यावदहे सुत्या भवति ॥१९॥

देवा ब्रह्माण आगच्छतेति । तद्देवांश्च ब्राह्मणांश्चाहैतैर्ह्यत्रोभयैरर्थो भवति यद्देवैश्च ब्राह्मणैश्च ॥२०॥

अथ प्रतिप्रस्थाता । अग्रेण शालामग्नीषोमीयेण पशुना प्रत्युपतिष्ठतेऽग्नीषोमौ वाऽएतमन्तर्जम्भऽआदधाते यो दीक्षतऽआग्नावैष्णवं ह्यदो दीक्षणीयं

हविर्भवति यो वै विष्णु: सोमः स हविर्वाऽएष देवानां भवति यो दीक्षते तदेनमन्तर्जम्भऽआदधाते तत्पशुनाऽऽत्मानं निष्क्रीणीते ।।२१।।

तद्धैके । आहवनीयादुल्मुकमाहरन्त्ययमग्निरयं सोमस्ताभ्यां सहसद्भ्यां निष्क्रेष्यामहऽइति वदन्तस्तदु तथा न कुर्याद्यत्र वाऽएतौ क्व च तत्सहैव ।।२२।।

स वै द्विरूपो भवति । द्विदेवत्यो हि भवति देवतयोरसमदे कृष्णसारंगः स्यादित्याहुरेतद्धचे नयो रूपतममिवेति यदि कृष्णसारङ्गं न विन्देदथोऽअपि लोहितसारङ्गः स्यात् ।।२३।।

तस्मिन्वाचयति । नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तद्दतं सपर्यत । दूरेदृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसतेति नम एवास्माऽएतत्करोति मित्रधेयमेवैनेनैतत्कुरुते ।।२४।।

अथाध्वर्युरारोहणं विमुञ्चति । वरुणस्योत्तम्भनमसीत्युपस्तम्भनेनोपस्तभ्नाति वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थ इति शम्येऽउद्वृहति स यदाह वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थ इति वरुण्यो ह्येषऽएर्तह भवति यत्सोमः क्रीतः ।।२५।।

अथ चत्वारो राजासन्दीमाददते । द्वौ वाऽअस्मै मानुषाय राज्ञ ऽआददातेऽअथैतां चत्वारो योऽस्य सकृत्सर्वस्येष्टे ।।२६।।

औदुम्बरी भवति । अन्नं वाऽऊर्गुदुम्बर ऊर्जोऽन्नाद्यस्यावरुद्धचै तस्मादौदुम्बरी भवति ।।२७।।

नाभिदघ्ना भवति । अत्र वाऽअन्नं प्रतितिष्ठत्यन्नं सोमस्तस्मान्नाभिदघ्ना भवत्यत्रोऽएव रेतस आशयो रेतः सोमस्तस्मादत्रदघ्ना भवति ।।२८।।

ताभभिमृशति । वरुणस्य ऽऋतसदन्यसीत्यथ कृष्णाजिनमास्तृणाति वरुणस्यऽऋतसदनमसीत्यथैनमासादयति वरुणस्यऽऋतसदनमासीदेति स यदाह वरुणस्यऽऋतसदनमासीदेति वरुण्यो ह्येष एर्तह भवति ।।२९।।

अथैनं शालां प्रपादयति । स प्रपादयन्वाचयति या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम् । गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्रचरा सोम दुर्यानिति गृहा वै दुर्या गृहान्नः शिवः शान्तोऽपापकृत्प्रचरेत्येवैतदाह ॥३०॥

अत्र हैके । उदपात्रमुपनिनयन्ति यथा राज्ञऽआगतायोदकमाहरेदेवमेतदिति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यान्मानुषँ ह ते यज्ञे कुर्वन्ति व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद्व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्मान्नोपनिनयेत् ॥३१॥

[**अनुवाद**] अध्वर्यु, गाय आदि दस द्रव्यों से क्रीत सोम को शकट में रखने से पूर्व शकट के परितः आवृत मध्यप्रदेश में कृष्णमृगचर्म बिछाता है तथा 'अदित्यास्त्वगसि', इस मन्त्र को पढ़ता है।[1] तात्पर्य्य यह है कि वाक् जब पारमेष्ठच सोम को लाई थी तब इसी पृथिवी पर पार्थिव देवताओं के लिए लाई थी। पृथिवी कृष्णवर्णा है। इसीलिए इस से कृष्ण रश्मियाँ निकलती हैं। इसी पृथिवी पर सोम को रक्खा था। अतः प्रकृतियाग की तरह इस वैधयाग में यजमान भी कृष्णमृगचर्म पर ही सोम को रखता है। अदिति नाम पृथिबी का है। कृष्णमृगचर्म पृथिवी का ही चर्म है। इसीलिए मन्त्र में कृष्णमृगचर्म को अदिति अर्थात् पृथिवी की त्वचा कहा है।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि प्रथम काण्ड में अवहनन प्रकरण में 'इयं वै पृथिव्यदितिस्तस्या अस्यै त्वग् यदिदमस्यामधि किञ्च। तस्मादाहादित्यास्त्वगसि।' यह जो ब्राह्मण भाग है वह इसी का समानार्थक है। तदन्तर 'अदित्यै सदआसीद'[2] इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ उस सोम को कृष्णमृगचर्म पर रख देता है। कृष्णमृग पृथिवी की त्वचा होने से पृथिवी–रूप है। अतः कृष्णमृगचर्म पर सोम को रखता हुआ वह उसे पृथिवी–रूप प्रतिष्ठा पर ही प्रतिष्ठित करता है। प्रकृति में भी पारमेष्ठच सोम को पृथिवी पर ही प्रतिष्ठित किये जाने से उसी की नकल पर सोमवल्ली को यजमान भी पृथिवी पर ही प्रतिष्ठित करता है ॥१॥

इसके बाद अध्वर्यु इस सोम का स्पर्श करके यजमान से—

'अस्तभ्नाद् द्यां वृषभोऽन्तरिक्षममिमीत वरिमाणं पृथिव्याः।
आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राट् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि ॥इति॥

इस मन्त्र का उच्चारण करवाता है।[3] अर्थात् जल बरसाने वाले अथवा सर्व देवों में श्रेष्ठ सोम ने ऊपर (ऊर्ध्व स्थान में) द्युलोक का स्तम्भन किया तथा अन्तरिक्षलोक का

---

१ **'कृष्णाजिनमास्तृणात्यदित्यास्त्वगिति'** (का० श्रौ० सू० ७।२२९)

२ **'तस्यिन् सोमं निदधात्यदित्यै सद इति'** (का० श्रौ० सू० ७।२३०)

३ **'अस्तभ्नाद् द्यामिति सोममालभ्य वाचयति'** (का० श्रौ० सू० ७।२३१)

स्तम्भन किया है। पृथिवी के परिमाण महत्त्व को अर्थात् पृथिवी इतनी बड़ी है इसको भी सोम ने नाप रखा है। सम्यक् प्रकाशमान अतएव सम्राट् इस सोम ने सारे भुवनों को व्याप्त कर रक्खा है। ये सारे भुवन पापनिवारक सोम के व्रत (नियम) का पालन करने वाले हैं। सारा विश्व सोम की आज्ञा में चलता है। उपर्युक्त मन्त्र की व्याख्या करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि प्राचीन काल में देवता यज्ञ का वितान करते हुए असुरों व राक्षसों के आक्रमण से भयभीत हुए। उन्होंने अपनी सुरक्षा तथा असुरकृत उद्वेग के परिहार के लिए इस सोम को श्रेष्ठ बना दिया। तीनों लोकों में इसे वितत कर दिया। इसी तथ्य का प्रतिपादन मन्त्र के 'अस्तभ्नाद्द्यांवृषभोऽन्तरिक्षम्' इस मंत्र-भाग में किया गया है ।।२।।

तीसरी कण्डिका में मन्त्र के 'अमिमीत वरिमाणं पृथिव्याः' इस अंश की व्याख्या की गयी है। पृथिवी का नाप करने वाले इस सोम ने तीनों लोकों को व्याप्त कर बलवान् बना रखा है। अतः इस सोम को न तो मारने वाला है, न इस का वध होता है क्यों कि यह अमृतरूप है और त्रिलोकी का अधिष्ठाता है ।।३।।

चतुर्थ कण्डिका में मन्त्र के 'आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राट्' इस भाग की व्याख्या है। अर्थात् यह सोम तीनों लोकों का सम्राट् बन कर बैठा हुआ है। अतः इस सोम का न कोई मारने वाला है और अमृत रूप होने से इसका वध भी संभव नहीं है ।।४।।

पाँचवी कण्डिका में मन्त्र के 'विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि' इस भाग की व्याख्या है। अर्थात् इस मन्त्र भाग को कहता हुआ वह सारे विश्व को अनुवर्त (अनुगामी या अनुकूल) बनाता है। और किसी को भी मुकाबला करने वाला नहीं बनाता ।।५।।

तदनन्तर सोमपर्याणहन वस्त्र को शकट के चारों ओर इसलिए वेष्टित करते हैं कि वायु में रहने वाले कीटाणु जिन्हें नाष्ट्रा कहते हैं वे इस सोम को दूषित न कर डालें तथा शकट के चलने से जो धूलि उड़ेगी वह सोम को दूषित न कर डाले। दूसरी बात यह है कि यह सोम गर्भ-रूप है क्यों कि इस सोम की अग्नि में आहुति होने पर ही दिव्यात्मा उत्पन्न होगा। अतः आज इस शकट में रक्खा हुआ सोम गर्भ-रूप है। गर्भ मनुष्यों की दृष्टि से प्रच्छन्न रहता है। अतः आज दिव्यात्मा के गर्भ-रूप इस सोम को तिरोहित रखने के लिए सोमपर्याणहन वस्त्र से वेष्टित किया जाता है। तीसरी बात यह है कि यह सोमवल्ली सोम होने से देवतारूप है। देवता मनुष्यों से तिरोहित रहते हैं। अतः इस सोमवल्ली का सोम-पर्याणहन वस्त्र से चौतरफ वेष्टन किया जाता है ।।६।।

इसके पश्चात् अध्वर्यु निम्नलिखित मन्त्र बोलता हुआ उस सोम को चारों ओर से ढक देता है। मन्त्र यह है:—

'वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्त्रियासु ।
हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्वग्निं दिविसूर्यमदधात्सोममद्रौ' ।।इति।।
(ऋग्वेद मं० ५।८५।२)

अर्थात् इस वरुण(आपोमय) सोम ने वृक्षों में अन्तरिक्ष को वितत कर रखा है । क्योंकि वृक्ष-मूल में घनीभूत रस जब वृक्ष के फैलने पर वृक्षाग्रों में आते हैं तो उन रसों के बीच में अन्तरिक्ष (आकाश) हो जाता है । पुरुषों में वाज (वीर्य व उत्साह) को उत्पन्न किया है । इसीलिए बलवान् उत्साही पुरुष के लिए—यह पानीदार है, ऐसा कहा जाता है । और गायों में दूध को, हृदयों में क्रतुं (संकल्प) को, प्रजाओं में अर्थात् यावत् चेतन पदार्थों में अग्नि को, द्युलोक में सूर्य-पिण्ड को तथा पर्वतों में सोम को स्थापित किया है । मन्त्र में अर्वत् शब्द का अर्थ पुरुष तथा वाज शब्द का अर्थ वीर्य है । द्युलोक में सूर्य पिण्ड की स्थिति वरुणरूप सोम के कारण ही है । सोम की आहुति यदि सूर्याग्नि में न हो तो सूर्य्य उच्छिन्न हो जाए । इसीलिए 'सूर्य्यो वा अग्नि होत्रम्' इस श्रुति ने सूर्य्य को अग्निहोत्र बतलाया है अर्थात् सूर्य्याग्नि में पारमेष्ठ्य सोम की आहुति निरन्तर होती रहती है, उसी से सूर्य्य की स्थिति रहती है । सोमवल्ली पर्वतों में ही होती है इस अभिप्राय से 'अदधात्सोममद्रौ' कहा है । प्राकृतिक सोम पर्वतों में चुआ करता है और वही सोमवल्ली बनता है ।।७।।

दीक्षा प्रकरण में बतलाया गया है कि कृष्णमृगचर्म दो या एक होता है । यदि दो कृष्णमृगचर्म हों तो उनमें एक को सोम के नीचे बिछा देते हैं तथा दूसरे को प्रतीनाहभाजन बना कर प्रत्यानहन कर देते हैं । शकट के अग्रभाग में तथा शकट के जिस भाग में गाड़ीवान बैठता है उसके पास एक बाँस का स्तम्भ रहता है जिसे प्रतीनाह कहते हैं । उसी पर कृष्ण-मृगचर्म को लपेट देना चाहिए तथा दूसरे मृगचर्म को ध्वजा के काम में लेना चाहिए । यदि एक ही कृष्णमृगचर्म हो तो उसकी ग्रीवा को काट कर प्रतीनाहस्थान में उसी का प्रत्यानहन कर देना चाहिए । प्रत्यानहन के समय निम्न मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए—

'सूर्य्यस्य चक्षुरारोहाग्नेरक्ष्णः कनीनकम् ।
यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चिता' ।।इति।।

हे कृष्णाजिन ! तुम सूर्य्य के चक्षु हो और अग्नि अर्थात् वैश्वानर पुरुष के पर्याय मनुष्य की आँख की कनीनिका हो । सूर्य्य पृथिवी से ऊपर रहता है तथा मनुष्य के आँख की कनीनिका भी मस्तक भाग में ऊपर रहती है । अतः आप भी शकट के ऊपरी भाग-ध्वज-प्रदेश में आरोहण कीजिए । इसी अभिप्राय से 'सूर्य्यस्य चक्षुरारोह, अग्नेरक्ष्णः कनीनकमारोह' कहा है । जिस पर आरूढ होने पर अश्वों के द्वारा मेधावी सोम के साथ दीप्यमान होते हुए जाते हो । भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि मन्त्र में 'सूर्य्यस्य चक्षुः' इस कथन से सूर्य्य को सोम के आगे करता है । अर्थात् सूर्य्य सोमविनाशक असुर राक्षसों का नाश करता

हुआ जाता है । अतः अभयप्रद तथा जीवों से रहित निरापद मार्ग से सोम को शकट पर ले जाते हैं ।।८।।

शकट के अग्रभाग में दो लम्बी लकड़ियाँ लगी रहती हैं । जब बैलों को गाड़ी से खोल दिया जाता है तब उन्हीं लकड़ियों के सहारे गाड़ी खड़ी रहती है, नीचे नहीं गिर पाती । वे लकड़ियाँ कस्तम्भी कहलाती हैं । ये दोनों लकड़ियाँ शकट के जिस अग्रभाग से बँधी रहती हैं उसे प्रऽउग्य कहते हैं । अर्थात् जब कस्तम्भीरूप दोनों लकड़ियों को हटा दिया जाता है तो गाड़ी का अग्रभाग जमीन पर टिक जाता है जो कि ऊपर से चौड़ा तथा मुखाग्र पर पलंग के पाये के समान होता है । उसे प्रऽउग्य कहते हैं । जिनके नीचे दोनों बैल जुतते हैं वे ही फलक कहलाते हैं । जूड़े को ही फलक कहते हैं । जहाँ सोम रक्खा रहता है उसके अग्रभाग में एक बाँस होता है जिसे ध्वजा भी कहा जाता है और प्रतीनाह भी कहते हैं । जब बैल गाड़ी में जोत दिये जाते हैं तो प्रऽउग्य सम्बन्धी फलक ऊँचे हो जाते हैं और वे चिबुक तक ऊपर आ जाते हैं । इसी अभिप्राय से कहा है 'उद्धते प्रऽउग्ये फलके भवतः' इति ।

गाड़ी चलाने वाला उन दोनों फलकों के बीच बैठ कर गाड़ी को हाँकता है । अर्थात् सामान्यरूप से गाड़ी चलाने वाला जिस स्थान से गाड़ी चलाया करता है उस स्थान पर बैठ कर गाड़ीवान सोम को ले जाते समय गाड़ी नहीं चलाता । अपितु सोम शकट के जिस प्रदेश में रखा हुआ है उस से दूर दोनों फलकों के बीच बैठ कर गाड़ी चलाता है । क्यों कि जो गाड़ी पर या अन्य सवारी पर चढ़ता है वह भूमि पर स्थित मनुष्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ रहता है अतः आज यह सोम भी शकट पर सवार होने से श्रेष्ठ है । तब इसके बराबर स्थान पर गाड़ीवान कैसे बैठ सकता है ? अतः गाड़ीवान सोम रखने के स्थान से दूर दोनों फलकों के बीच के स्थान पर बैठ कर ही गाड़ी को हाँकता है ।।९।।

वह सुब्रह्मण्य (गाड़ीवान) पलाशशाखा से ही बैलों को हाँकता है । इसका कारण बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जब सोम लाती हुइ सुपर्ण या श्येनरूप गायत्री का नीचे के प्रदेश में पक्ष (पाँख) गिर गया अर्थात् सोम का ही कुछ हिस्सा नीचे गिर गया, तो वही गायत्री का पंख या सोम का हिस्सा जो नीचे गिरा, पतित होने से पर्ण अथवा पलाश कहलाया –'गायत्र्यै वा सोमस्य वा राज्ञस्तत् पतित्वा पर्णोऽभवत्तस्मात् पर्णो नाम' इति । अतः सोम का जो भाग नीचे गिर गया वह भी हमारे यज्ञ में आ जाय और इस तरह सर्वात्मना सोम का ग्रहण हो जाय । इसीलिए पलाश की शाखा से बैलों को हाँका जाता है ।।१०।।

जब बैलों को गाड़ी में जोता जाता है उस समय यदि दोनों बैलों में काली झांई आ जाए तो समझ लो कि वर्षा बहुत होगी । यदि एक बैल में ही काली झांई हो तो भी वर्षा होगी, यही विज्ञान है । ग्रंथकार पं० मोतीलालजी ने श्रद्धेय गुरुवर ओझाजी के अनुसार इसकी व्याख्या की है कि यदि बैलों को जोतते समय उनमें काली परछाईं प्रतीत

हो तो इस वर्ष बहुत वर्षा होगी, और यदि एक बैल में ही काली परछाँई प्रतीत हो तो भी ठीक वर्षा होगी यह समझना चाहिए, क्यों कि बैलों पर काली परछाँई पड़ना यह शकुन है जिससे भावी वर्षा का अनुज्ञान होता है। जानबूझ कर कृष्णवर्ण बैलों को गाड़ी में जोतने से वर्षा हो जाय, यह शकुन-विज्ञान नहीं है। वह तो आकस्मिक बात है कि बैलों के सामने किसी मानव या अन्य वस्तु के आ जाने से बैलों पर काली झाँई पड़े तो वर्षा होगी। घटना या वस्तु का हो जाना ही शकुनविज्ञान है। (अतः स्व० शास्त्री जी ने जो इसका अर्थ किया है वही उचित प्रतीत होता) है ।।११।।

इसके अनन्तर वह सुब्रह्मण्य निम्नलिखित मन्त्र को पढ़ता हुआ दोनों बैलों को गाड़ी में जोतता है—

'उस्रावेतं धूर्षाहौ युज्येथामनश्रू अवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ ।
स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतम्' ।। इति ।।

अर्थात् धुरे को सहने में समर्थ, व्यथारहित, शृङ्ग के अग्रभाग से पुत्र आदि के न मारने वाले, मन्त्र के द्वारा प्रेरित, बैलो ! आप इस शकट में जुतिए और कुशलतापूर्वक यजमान के घर जाइए। याज्ञवल्क्य मन्त्र के प्रत्येक पद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ये बैल उस्र नाम से प्रसिद्ध हैं। धूर्षाहौ—ये धुर का भार वहन करने वाले हैं। अनश्रू अर्थात् अश्रुरहित हैं। भार वहन करने में इन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव न करते हुए आप इस रथ में जुत जाइए। ये अवीरहणौ–पाप नहीं करने वाले हैं अर्थात् किसी के सींग नहीं मारने वाले है। ब्रह्मचोदनौ–मन्त्र से प्रेरित हैं। ये क्षेमपूर्वक यजमान के घर जाएँ। अर्थात् विनाशक प्राणी राक्षस आदि इन्हें मार्ग में न सताएँ ।।१२।।

तत्पश्चात् अध्वर्यु शकट के पश्चिम (पीछे के) भाग में हो कर अथवा शकट के पीछे के भाग का सहारा लेकर 'सोमाय क्रीताय अनुब्रूहीति सोमाय पर्युह्यमाणाय अनुब्रूहि' ऐसा कहता है। सोम खरीदने के बाद जो कर्तव्य है, वह परिवहण ही है। अतः चाहे सोमाय क्रीताय अनुब्रूहि ऐसा कहे चाहे 'सोमाय पर्युह्यमाणाय अनुब्रूहि' कहे एक ही तात्पर्य्य है। अर्थात् हे ऋत्विजो ! आप यजमान से कह दो कि सोम खरीद लिया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में इनमें विकल्प न मानते हुए समुच्चय-रूप में 'सोमाय क्रीताय प्रोह्यमाणायानुब्रूहि इत्याह अध्वर्युः' यह कहा गया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार इन दोनों पक्षों में इच्छानुसार कह देना चाहिए[1] ।।१३।।

इसके अनन्तर अध्वर्यु यजमान से निम्न मन्त्र बुलवाता है:—

———

1. 'पश्चात् परीत्यालम्बनं गृहीत्वा सोमाय क्रीतायानुवाचयति पर्युह्यमाणायेति वा' (का. श्रौ. सू. ७।२३७)

'भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पते विश्वान्यभिधामानि ।
मा त्वा परिपरिणो विदन्, मा त्वा परिपन्थिनो विदन्, मा त्वा वृका
अघायवो विदन् ।। इति ।।

अर्थात् हे सोम ! आप कल्याणकारी हैं । हे तीनों लोकों का पालन करने वाले सोम! आप सारे स्थानों को लक्ष्य में रख कर जहाँ-जहाँ आवश्यकता हो वहाँ जाइए । अर्थात् उपांशुसवन अन्तर्याम आदि ग्रहों में जहाँ भी आप की आवश्यकता हो, पधारिए । तदनन्तर तीन प्रकार के शत्रुओं से सोम अविज्ञात ही रहे, यह कामना की गई है । पहले प्रकार के शत्रु वे हैं, जो हमारे द्रव्य को चुरा कर ले जाना चाहते हैं, चोरी कर भाग जाना चाहते हैं उन्हें 'परिपरिन्' कहा गया है । द्रव्य चुर कर भाग जाने वाले शत्रु आप को मालूम न कर सकें । हमारे यज्ञादि कर्म पर आक्रमण करने वाले जो शत्रु हैं उन्हें यहाँ परिपन्थिन् शब्द से कहा है । ये परिपन्थी शत्रु भी आप को मालूम न कर सकें । तीसरे प्रकार के शत्रु वे हैं जो हमारी आत्मा के नाशक या घातक है उन्हें यहाँ वृक (भेड़िया) कहा गया है । ये आत्मघाती शत्रु भी आप को न जान सकें । अर्थात् हे सोम ! ये नीच प्रकार के शत्रु आप को न जान सकें । अपि च हे सोम ! आप श्येन बन कर यजमान के घर जाइए । अर्थात् आप बलिष्ठ बन कर इतने वेग से जाइए जिससे तीनों प्रकार के शत्रुओं का नाश हो जाए । अपि च हे सोम ! आप का और हम ऋत्विजों का संस्कृत स्थान यजमान का घर ही है । आप भी यजमान के घर में काम आएँगे और हम ऋत्विजों का काम भी वहीं पड़ेगा ।

अब उपर्युक्त मन्त्र की व्याख्या करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह सोम यजमान का कल्याण करने वाला है । सोम से बढ़ कर यजमान का कल्याण करने वाला कोई दूसरा नहीं है । अतएव साथ में आते हुए जो राजा लोग हैं उनका भी यह यजमान आदर नहीं करता । यजमान सर्वप्रथम सोम राजा का ही अभिवादन करता है, क्यों कि सोम उसका कल्याण करने वाला है । यह सोम तीनों भुवनों का स्वामी है । यज्ञाङ्ग ही इस सोम के भाग हैं । उन्हीं यज्ञाङ्गों को लक्ष्य में कर ही–सोम! जाओ, यह कहा है । हे सोम ! परिपरिन् अर्थात् यजमान के द्रव्य को चुराने वाले, परिपन्थिन् अर्थात् यज्ञ सम्बन्धी कर्मों पर आक्रमण करने वाले तथा अघायु वृक् अर्थात् आत्मघाती ये तीनों प्रकार के शत्रु तुम्हें न जान सकें । अर्थात् किसी भी प्रकार के नाशक राक्षस तुम्हें न जान सकें ।।१४।।

१५वीं कण्डिका में 'श्येनो भूत्वा परापत' इस मन्त्रांश की व्याख्या है । अर्थात् यह सोम श्येन बन कर, उग्र बन कर बड़े वेग से जाता है । अतः शत्रु राक्षस उस की ओर नहीं आते हैं । क्यों कि श्येन पक्षियों में सब से अधिक ओजस्वी व बलवान् है, अतः श्येन बन कर यजमान के घर की ओर जाने को कहा है ।।१५।।

१६वीं कण्डिका में बतलाया गया है कि यदि प्रमादवश राक्षस असुर आदि आक्रमण भी करें तो 'श्येनो भूत्वा' इत्यादि मन्त्र के सामर्थ्य से सोम के सारभाग आत्मा का कुछ

नहीं बिगड़ता । केवल सोमवल्ली का त्वचा रूप जो शरीर है उसे ही न कि आत्मा को नष्ट करने के लिए असुर उस का अनुगमन करते हैं । आगे 'यजमानस्य गृहान्गच्छ तन्नौ संस्कृतम्' इस मन्त्रांश का अर्थ ऊपर पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है ।।१६।।

तदनन्तर अर्थात् सोम के यजमान के घर पहुँच जाने पर सुब्रह्मण्य नामक देवता का उक्त मन्त्र से आह्वान करते हैं । देवता जिस मन्त्र से बुलाया जाता है, उसे ब्रह्म कहते हैं तथा मन्त्र को सुब्रह्म कहा जाता है । जो देवता शोभन मन्त्र से बुलाने योग्य है उसे सुब्रह्मण्या कहते हैं । जैसे जिसको भोजन दिया जाने वाला है उससे घरवाला कह देता है कि कल आप हमारे यहाँ भोजन करेंगे, यह लौकिक मर्यादा है, उसी प्रकार इस यज्ञ में जिन देवताओं को सोम दिया जाने वाला है उन्हें निगद मन्त्रों से पहले निवेदन करता है कि कल आप को सोम दिया जाएगा । यह निवेदन-मन्त्र ही सुब्रह्म है । और इस निवेदन मन्त्र से जिन देवताओं का आह्वान किया जाता है उन्हें सुब्रह्मण्या कहते हैं । मूल में 'इत्यहे' शब्द से पाकदिवस का निर्देश है । जिस मन्त्र से देवताओं का आह्वान किया जाता है वह मन्त्र 'सुब्रह्मण्योम्, सुब्रह्मण्योम्' यह है । यह मन्त्र देवताओं को अपने स्थान से च्युत कर देता है । वाक् से अन्तरिक्ष में स्थान हो जाता है और उससे देवता आ जाते हैं । यह मन्त्र तीन बार बोला जाता है क्यों कि यज्ञ त्रिवृत् होता है । तात्पर्य्य यह है कि सूर्य्य का नाम ही यज्ञ है । सूर्य्य के दिन भर के सत्ता-काल में प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन व सायं सवन ये तीन भाग होते हैं, क्यों कि सूर्य्य सवन-भेद से त्रिवृत् है । सूर्य्य ही यज्ञ है, अतः इस मन्त्र को तीन बार बोला जाता है ।।१७।।

सुब्रह्मण्या के आह्वान के बाद 'इन्द्रागच्छ' मन्त्र के द्वारा इन्द्र को बुलाया जाता है । इन्द्र यज्ञ के देवता हैं अतः उन्हें बुलाया जाता है कि 'हरिव आगच्छ । मेधातिथेर्मेष वृषणश्वस्य मेने । गौरावस्कन्दिन् अहल्यायै जार' इस मन्त्र के द्वारा इन्द्र की स्तुति करते हैं । इन्द्र हरि नामक घोड़ों से आता है अतः उसे हरिवाहन् कहा जाता है । हे हरिवाहन् इन्द्र ! आइए । मेधातिथि के यज्ञ में इन्द्र मेष बन कर आये थे । अतः इन्द्र के लिए 'मेधातिथिमेष' कहा गया है । इन्द्र के घोड़े (गायत्री आदि सातों छन्द) अत्यन्त बलिष्ठ हैं अतः 'वृषणश्वस्य' कहा है । हे गौरावस्कन्दिन्-गौर पशु को मारने वाले तथा अहल्या के जार इन्द्र ! आप हमारे यज्ञ में आइए ।

दिन का नियमन करने वाली रात्रि 'अहर्यमयति' इस व्युत्पत्ति से अहर्या कहलाती है । और अहर्या ही परोक्ष भाषा में अहल्या कहलाती है, क्यों कि देवता परोक्षप्रिय हैं । सूर्य्य के 'इन्द्रोधाता भगः पूषाः मित्रोऽथवरुणोऽर्यमा इत्यादि १२ प्राणों में इन्द्र भी अन्यतम प्राण है । इस प्राण के आते ही रात्रिरूप अहल्या जीर्ण हो जाती है । अतः इन्द्र प्राण को अहल्या का जार कहा गया है न कि अहल्या के साथ व्यभिचार के कारण ।

इन्द्र के आते ही गोतम (पृथिवी में व्याप्त अन्धकार) चला जाता है। यही इन्द्र के आने के समय अहल्या (रात्रि) के पति गौतम का आश्रम से चले जाना है। इन्द्रप्राण का समय प्रातःकाल पौ फटते ही आता है। और इसके बाद ही सूर्य्य की सहस्र रश्मियाँ चमकने लगती हैं। संसार में इन सहस्ररश्मियों का प्रसारण ही इन्द्र के सहस्र भग कहलाते हैं। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इन्द्र के जो ये चरित्र हैं उन्हीं उत्तम चरित्रों के निरूपण से इन्द्र को प्रसन्न करने की इच्छा व्यक्त की जाती है ॥१८॥

'कौशिक ब्राह्मण गौतम ब्रुवाण' इति। चित्रा नक्षत्र आदि अनेकविध इन्द्रों में दक्षिण में पञ्चपक्षियों में एक कौशिक भी इन्द्र है। उसके लिए कौशिक कहा गया है। इस कौशिक इन्द्र का प्रचार सर्वप्रथम गौतम अर्थात् उद्दालक महर्षि ने किया था इसलिए कहा है कि 'ब्राह्मण गौतम ब्रुवाणेति' परन्तु याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इसके बोलने में कामचार है–बोलो या न बोलो। जितने दिन तक सुत्या-सवनकर्म होता है उतने दिन तक ऊह करना चाहिए। अर्थात् जिस दिन सुत्या होती है उस दिन का नाम लेकर देवता का आह्वान करना पड़ता है। जितने दिन तक सुत्या होती है उतने दिन तक देवता का आह्वान करना चाहिए ॥१९॥

पश्चात् 'देवा ब्राह्मण आगच्छत' इति। अर्थात् हे देवताओ ओर ब्राह्मणो (ऋत्विजो) यज्ञ में आइए। क्यों कि यज्ञनिष्पादनार्थ देवताओं और ब्राह्मणों (ऋत्विजों) की ही आवश्यकता है। देवता यष्टव्य हैं इसलिए आवश्यकता है तथा ब्राह्मण (ऋत्विज) याज्ञिक (यज्ञ करने वाले) हैं एतदर्थ इनकी भी यज्ञ में आवश्यकता है। यज्ञ में देवता तथा ऋत्विक् दोनों से ही यज्ञरूप प्रयोजन सिद्ध होता है ॥२०॥

इसके बाद प्रतिप्रस्थान नामक ऋत्विक् यज्ञशाला के पूर्व भाग में अग्नीषोमीय पशु के साथ उपस्थित होता है। अर्थात् प्रतिप्रस्थाता अग्नीषोमीय पशु को ले कर जाते हुए सोम के अभिमुख खड़ा कर दे, क्यों कि दीक्षित यजमान को अग्नि और सोम अपनी दाढ़ के मध्य में रख लेते हैं। दीक्षणीयेष्टि से आग्नावैष्णव एकादश कपाल पुरोडाश की हवि दी जाती है। उस दक्षिणीयेष्टि से यजमान अग्नि और सोम (विष्णु) दोनों के बीच में दाढ़ में आ जाता है। ३३ आग्नेय देवताओं में अग्नि प्रथम तथा सोम (विष्णु) अन्तिम है। जैसा कि 'अग्निर्वै देवानामवमः विष्णुः परमस्तदन्तरेणान्याः सर्वा देवताः' इस ब्राह्मण श्रुति से सिद्ध है। अन्य सब देवता उनके मध्य में हैं। अतः अग्नि व सोम के द्वारा सब देवताओं का ग्रहण हो जाता है। दीक्षणीयेष्टि से यजमान, अग्नि और सोम (विष्णु) दोनों के उदर में, दोनों की दाढ़ में बद्ध हो जाता है। 'विष्णुर्वै सोमः' इस ब्राह्मणश्रुति के अनुसार सोम विष्णु ही है। अग्नीषोमीय पशु दे कर यजमान अपने आत्मा को उन दोनों की दाढ़ से अर्थात् भोग्यता से दूर कर लेता है। अर्थात् अग्नीषोमीय पशु से आत्मा को खरीद लेता है ॥२१॥

इस आह्वनीय पशु का आलम्भन किया जाता है। इसके लिए अग्नि का उल्मुक बना कर लाया जाता है और उसे अग्नीषोमीय पशु पर घुमाया जाता है। यहाँ पर कितने ही

आचार्य (तैत्तिरीय सम्प्रदाय वाले) आहवनीयाग्नि से उल्मुक लाते हैं। क्योंकि यह पशु अग्नीषोमीय है, अतः उल्मुक ऐसा होना चाहिए जिसमें अग्नि व सोम दोनों साथ रहते हों। आहवनीयाग्नि में जलाया हुआ उल्मुक अग्नि रूप तो है ही। और आहवनीयाग्नि में सोम की आहुति होने से वह अग्नि-सोम युक्त है। साथ में रहने वाले अग्नि व सोम से आत्मा का निष्क्रय करेंगे, इस आशय से आहवनीयाग्नि से जलते हुए उल्मुक को लाते हैं। किन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि आहवनीयाग्नि से उल्मुक नहीं लाना चाहिए, क्योंकि अग्नि व सोम सर्वत्र साथ ही रहते हैं। अग्नि बिना सोम के नहीं रहती और सोम बिना अग्नि के नहीं रहता। दोनों अविनाभूत हैं। अतः आहवनीयाग्नि से उल्मुक का आहरण करने पर भी अग्निसोम का साहचर्य ही रहता है ॥२२॥

वह अग्नीषोमीय पशु दो-रूप वाला (दुरङ्गा) होता है। क्योंकि अग्नीषोमीय पशु अग्नि व सोमभेद द्विदेवत्य अर्थात् दो देवताओं की वस्तु है। यदि एक रूप का अग्नीषोमीय पशु होगा तो अग्नि व सोम देवताओं में परस्पर झगड़ा होगा अतः दो रङ्ग वाला ही पशु होना चाहिए।

कितने ही आचार्यों का कथन है कि पशु कृष्णसारङ्ग अर्थात् श्वेत तथा कृष्णवर्ण का सम्मिश्रण होना चाहिए। कृष्णसारङ्ग वर्ण अग्नि व सोम दोनों देवताओं का अत्यन्त अभिमत रूप है। क्योंकि अग्नि का कृष्ण रूप है और सोम का श्वेत। यदि कृष्णसारङ्ग वर्ण का पशु न मिले तो लोहितसारङ्ग वर्ण का अग्नीषोमीय पशु होना चाहिए। क्योंकि प्रज्वलित अग्नि का लाल वर्ण है और सोम का श्वेत, अतः लोहितसारङ्ग वर्ण भी द्विदेवत्य है ॥२३॥

जब प्रतिप्रस्थाता कृष्णसारङ्ग अथवा लोहितसारङ्ग पशु को ले आता है तब अध्वर्यु यजमान से निम्न मन्त्र का उच्चारण कराता है—

'नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतं सपर्यत।
दूरे दृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत' ॥ इति ॥

चक्षु दो प्रकार के हैं-बाह्य चक्षु और आन्तर चक्षु। बाह्य चक्षु सूर्य्य है और आन्तर चक्षु नेत्र है। बाह्यचक्षुरूप सूर्य्य, मित्र (अर्थात् खगोल के पूर्व कपाल) तथा वरुण (अर्थात् पश्चिम कपाल) दोनों का द्रष्टा (प्रकाशक) है। अपि च 'अहर्वैमित्रं', 'रात्रिर्वरुणः' इस ब्राह्मणश्रुति में अथवा 'मैत्रं वा अहर्वारुणी रात्रिः' इस तैत्तिरीय श्रुति में मित्र नाम दिन का तथा वरुण नाम रात्रि का है। दिन और रात्रि के अधिष्ठाता सूर्य्य ही हैं। ऐसे सूर्य्य को नमस्कार है। हे ऋत्विजो ! आप ऐसे महादेव के लिए ऋत अर्थात् सोम प्रदान कीजिए। सूर्य्य के प्रकाश का नाम महः है इसलिए मन्त्र में 'महो देवाय' कहा है। परमेष्ठिमण्डल के सोम की आहुति सूर्य्य में होती रहती है। अतः इसी अभिप्राय से इस सूर्य्य को सोम प्रदान करें, यह कहा है।

अपि च हे ऋत्विजो! सूर्य्य बड़ी दूर तक देखनेवाला अर्थात् सारे ब्रह्माण्ड का द्रष्टा है तथा उसी से सारे देवता उत्पन्न हुए हैं क्यों कि सौर-प्रकाश व सौर-रश्मियों का नाम ही देवता है, जो देवसमूहरूप हैं । इसीलिए 'चित्रंदेवानामुदगादनीकम्' यह मन्त्र सूर्य्य को देव-समूह बतला रहा है । अतः जो बुद्धि का प्रदाता है और दिन का पुत्र है ऐसे सूर्य्य की स्तुति करें । भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस मन्त्र के द्वारा यजमान सूर्य्य को नमस्कार करता है । नमस्कार द्वारा सूर्य्य को अपने पर कृपादृष्टि रखने वाला बनाता है ।।२४।।

इसके बाद अध्वर्यु शकट के आरोहण को, जिसे कि उत्तम्भन कहते हैं, 'वरुणस्योत्त-म्भनमसि'-वरुण का उत्तम्भन हो, यह मन्त्र बोल कर शकट के आगे जो दो लकड़ियाँ बँधी रहती हैं, उन को खोल देता है । इस से शकट जमीन पर न गिर कर पूर्व की तरह समस्थिति में खड़ा रहता है । इस उत्तम्भन को कुस्तुम्भी भी कहा जाता है । पश्चात् बैलों को गाड़ी से खोलने के पहले बँधी हुई दोनों लकड़ियों को 'वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थः' तुम वरुण के उत्तम्भन हो, इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ खोल देता है । उपस्तम्भन से उस शकट का उपस्तम्भन करता है,[1] नीचे गिरने से बचाता है । यदि दोनों लकड़ियाँ जमीन पर बिना टेके बैलों को खोल देगा तो शकट के जमीन पर गिरने से सोम जमीन पर गिर जाएगा ।

इसके बाद बैलों के गले में बँधी हुई चर्म की पट्टी जूड़े की जिन कीलों के आश्रय पर टिकी रहती है, उन कीलों को 'वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थः' अर्थात् हे कीलो ! आप स्कम्भ-सर्जनी हो, ऐसी आप को मैं निकालता हूँ । इस प्रकार दोनों कीलों को निकाल कर बैलों के जोत उतार देता है ।[2] यद्यपि स्कम्भसर्जनी सोम की है न कि वरुण की तथापि सोम आज बँधा हुआ है, बन्धन वरुण देवताक होता है अतः 'वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थः' ऐसा कह दिया है । 'वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थः' कह कर दोनों कीलों को खोल देता है । सोम वरुण्य है क्यों कि बँधा है और उसे खरीदा जा चुका है ।।२५।।

सोम को शकट से उतारने के बाद चार ऋत्विक् सोम राजा के सवार होने के लिए नियत सिंहासन को लाते हैं । जो मनुष्य राजा होता है उसके सिंहासन को उठाने के लिए दो आदमी आते हैं । किन्तु सोम की आसन्दी (सिंहासन) को उठाने के लिए चार आदमी आते हैं । क्यों कि सोम राजाओं का भी राजा है, देवाधिपति है अतएव इस आसन्दी की प्रतिष्ठार्थ चार ऋत्विक् उठाते हैं ।।२६।।

यह आसन्दी गूलर की लकड़ी की होती है ।[3] अन्न ही ऊर्क् है । अर्थात् अन्न के खाने से ऊर्क् (बल) पैदा होता है । गूलर का वृक्ष ऊर्क् मय है । संसार में गूलर औषधियों में सबसे

१. 'समीपेऽन उपस्थाप्योत्तम्भनेनोपस्तम्नाति वरुणस्योत्तम्भनमिति' (का० श्रौ० सू० ७।२४६)
२. शम्ये चोद्वृहति वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थ इति' (का० श्रौ० सू० ७।२४७)
३. 'औदुम्बरीमासन्दीं नाभिददतामरत्निमात्राङ्गीभूतामाहरन्ति चत्वारः (का० श्रौ० सू० ७।२४८)

अधिक बल होता है। अन्नाद्य के संग्रहण के लिए, बलयुक्त सोम में और अधिक बलाधान के लिए औदुम्बरी (गूलर वृक्ष की) आसन्दी होती है ।।२७।।

यह आसन्दी नाभि परिमाण की (नाभि जितनी ऊँची) होती है। नाभि में ही भुक्त अन्न प्रतिष्ठित होता है। रस-रूप आदि का विभाग नाभि से ही होता है। सोम अन्न है। अतः इसे नाभिस्थान में ही प्रतिष्ठित करना चाहिए। इसीलिए आसन्दी नाभि जितनी ऊँची (नाभि प्रमाण की) होती है। अपि च इस नाभि में ही वीर्य्य का स्थान है। सोम ही वीर्य्य है। अतः नाभिप्रमाण की आसन्दी होती है ।।२८।।[4]

पश्चात् अध्वर्यु 'वरुणस्य ऋतसदनमसि' आप वरुण (सोम की) ऋतसदनी हो इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ उस आसन्दी का स्पर्श करता है। प्रकृति में सोम परमेष्ठी में रहता है। ऋत का अर्थ परमेष्ठी है जैसा कि 'ऋतमेव परमेष्ठी' यह श्रुति बतला रही है। अतः यहाँ भी सोम जिस आसन्दी पर रखा जाता है उस में परमेष्ठी की भावना की जाती है।

इसके पश्चात् 'वरुणस्य ऋतसदन्यसि' इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ उस आसन्दी पर कृष्णमृगचर्म्म बिछाता है। तत्पश्चात् 'वरुणस्य ऋतसदनमासीद' इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ सोम को उस पर विराजमान कर देता है। यह खरीदा हुआ सोम बँधा हुआ होने से वरुणदेवताक है। अतएव मन्त्रों में सर्वत्र 'वरुणस्य' पद प्रयुक्त किया गया है ।।२९।।

इसके पश्चात् इस सोम को यज्ञशाला में पहुँचा देता है। यज्ञशाला में सोम को पहुँचा कर उसे यज्ञशाला में विराजमान कराते हैं। उस समय अध्वर्यु यजमान से निम्न मन्त्र बुलवाता है—

'या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वापरिभूरस्तु यज्ञम्।
गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्रचरा सोमदुर्यान्' ।। इति ।।

अर्थात् हे सोम ! आपको हविरूप में परिणत कर आपके जिन स्थानों का ऋत्विक् लोग यजन करते हैं उस स्थानों को एवं यज्ञ को आप व्याप्त कर लें। अर्थात् ये सारे कर्म स्वतन्त्र न बनें अपितु अङ्गी यज्ञ के सहकारी बनें। हे सोम ! आप गयस्फान (गृह वर्धक) हैं, प्रत्तरण (आपत्ति निवारक) हैं, सुवीर (अच्छी सन्तान देने वाले) हैं, आप अवीरहा (पुत्रादिक के घातक) न बन कर-अर्थात् कृपालु बन कर, यजमान की यज्ञशाला में विराजें। आप कल्याणरूप शान्त और पापकर्ता न बन कर घर में विराजें। दुर्य नाम घर का है। इसीलिए लिखा है 'गृहा वै दुर्याः' इति ।।३०।।

कितने ही याज्ञिक सोम के आने पर, जिस प्रकार घर में आये हुए राजा के लिए पूजार्थ जलपात्र लाया जाता है, उसी प्रकार जलपात्र लाना चाहिए ऐसा कहते हुए जलपात्र

४. अभिमृशत्येतां वरुणस्य ऋतसदन्यसि' इति। (का. श्रौ. सू. ७।२४६)

लाते हैं। परन्तु याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ऐसा नहीं करना चाहिए। क्यों कि गृहागत अतिथि के सत्कार के लिए जलपात्र लाना मानुष कर्म है। मानुष कर्म करने से यज्ञ की ऋद्धि का नाश होता है। अतः घर में सोम के आने पर उदपात्र नहीं लाना चाहिए ॥३१॥

[**विज्ञान भाष्य**] सोम खरीद लिया गया एवं यजमान अपने मस्तक पर रख कर उसे शकट के पास ले गया। इस छकड़े में सोम रख कर गाजे-बाजे के साथ इसे ले जाया जाएगा। शकट में सोम रखने से पहले उसमें कृष्णमृगचर्म्म बिछाया जाता है। काले हरिण का चमड़ा ही इस सोम के लिए बिछाया जाता है। एवं जिस कृष्णमृगचर्म्म पर यजमान दीक्षा लेता है, उसे बिछाया जाता है। वह अध्वर्यु

"अदित्यास्त्वगसि"।

यह कहता हुआ शकट के नीड़-भाग में, आस्थान-भाग में (शकट में जहाँ पर अनाज वगैरः रक्खा जाता है—उस स्थान का नाम नीड़ है) कृष्णाजिन बिछाता है। गायत्री सोम लेने गई थी। तब वह सोम इस पृथ्वी पर आया था। यह यज्ञ उसी की अनुकृति पर किया जाता है। अतएव कृष्ण-मृगचर्म्म पर सोम रक्खा जाता है। कृष्णमृगचर्म्म प्रतीक रूप से इस पृथिवी का ही चर्म्म है। इस पर सोम का रखना, पृथिवी पर रखना है। याज्ञवल्क्य इसका अर्थ बतलाते हुए कहते हैं कि प्रथमकाण्ड में "अदित्यास्त्वगसि"-यह जो ब्राह्मण-भाग है, वही उसका बन्धु है। अर्थात् पूर्वोक्त ब्राह्मण का सम्मानार्थक ही यह ब्राह्मण-भाग है। अतः इसका अर्थ उसी सन्दर्भ में समझना चाहिए। इसके बाद—

"सोऽसावेव बन्धुः। अदित्यै सद आसीद" ॥१॥

यह बोलता हुआ उस सोम को कृष्णमृगचर्म्म पर रख देता है। यह पृथिवी ही अदिति है, यही प्रतिष्ठा है। संसार के यच्चयावत् पदार्थ, क्या औषधि, क्या वनस्पति, क्या मनुष्य, क्या पशु-पक्षी, जड़-चेतन, सभी इस अदिति पृथिवी पर ही प्रतिष्ठित हैं। प्राकृतिक सोम ही गायत्री द्वारा अपहृत हो कर इसी पर प्रतिष्ठित होता है। बस, कृष्णमृगचर्म्म-स्वरूप अदिति की त्वचा पर सोम रखता हुआ अध्वर्यु प्रकृतियज्ञवत् पृथिवी की प्रतिष्ठा में ही इसे प्रतिष्ठित करता है। अतएव—

"अदित्यै सद आसीद"।

यह कहा गया है। इसके अनन्तर अध्वर्यु इस सोम का स्पर्श करके यजमान से निम्नलिखित मन्त्र बुलवाता है—

"अस्तभ्नाद् द्यां वृषभोऽअन्तरिक्षमिति××× वरिमाणं पृथिव्या ॥२॥

आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड्" ॥३॥

"विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि"-इति (वृषभः—द्यां स्तंभितवान्)।

तथा च अन्तरिक्षं स्तम्भितवान् । एवं पृथिव्याः वरिमाणं (वरिमाणमहत्त्वं) अमिमीत । एतादृशः सम्राट् विश्वा भुवनानि आसीद (सर्वाणि भुवनानि) इत् (अपि) वरुणस्य सोम–व्रतानि देवा अनुसरन्तीति शेषः) ।

यह सोम सर्वश्रेष्ठ है । देवताओं को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है । सोम देवताओं से भी श्रेष्ठ है । यदि सोम न हो तो आग्नेय देवता उसी क्षण नष्ट हो जाएँ । देवता ही क्या, अपितु प्राणिजात का अधिष्ठाता यही सोम है ।

अतएव इसे वृषभ कहा जाता है । इस वृषभ ने अर्थात् सर्वश्रेष्ठ सोम ने द्यौ का स्तम्भन कर रक्खा है । अर्थात् यह सोम द्युलोक तक, परमेष्ठि तक, व्याप्त है । सोम से एक पिण्ड भी खाली नहीं है । जहाँ तक यह आकाश दीखता है, सोम पृथिवी से लेकर वहाँ तक परिव्याप्त है । इसी ने अन्तरिक्ष का भी स्तम्भन कर रक्खा है । द्यौ की तरह अन्तरिक्ष भी इसके अधिकार में है । अन्तरिक्ष भी सोम से व्याप्त हो रहा है --यही तात्पर्य्य है । अतएव—"**त्वमाततनोसर्वान्वरिक्षम्**" यह कहा जाता है । एवं इसी सोम ने पृथिवी की परिमा को नाप डाला है । पृथिवी यहाँ तक है, इतनी बड़ी है, सोम ने यह नाप डाली है । अर्थात् सोम पृथिवी पर ही नहीं अपितु पृथिवी से भी बहुत दूर तक त्रिलोकी में व्याप्त हो रहा है । पृथिवी तो सोम के पेट में एक कोने में पड़ी हुई है । सोम परमेष्ठिमण्डल की, क्रन्दसी–लोक की, वस्तु है । परमेष्ठी का जो ब्रह्मणस्पति ग्रह है, वहीं सोम रहता है । इसी सोम के लिए कहा जाता है–

"पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते श्रृतास इद्वहंतस्तत्समाशत" ।।

(ऋग्वेद मं० ९।८३।१)

यही सोम रोदसी भुवन में अर्थात् सूर्य्य से ले कर पृथिवी तक की रोदसी त्रिलोकी में आता है एवं यही उस अपने लोक से ऊपर के संयती भुवन में भी आता है । इस प्रकार तीनों भुवनों में, सम्पूर्ण त्रैलोक्य–त्रिलोकी में, यह व्याप्त हो रहा है । इसीलिए इसका नाम सार्वभौम है । इसीलिए तो इसे सम्राट् कहा गया है ।

ये सारे विश्व इस वरुण के अर्थात् सोम के व्रत का–नियम का–पालन करते हैं । सारा ब्रह्माण्ड सोम का अनुचर है । यदि सोम की आज्ञा न मानें तो उसी समय विश्व नष्ट हो जाए । भृगु और अंगिरा ये दो तत्त्व प्रधान हैं । दोनों ही वायु हैं । भृगु भी वायु है । अंगिरा भी वायु है । इस वायु पर जब और वायु का चिनाव होता है तो यह वायु पानी के स्वरूप में परिणत हो जाता है । वायु की धनावस्था का नाम ही पानी है । एवं तद्–अवस्था विशेष का नाम ही सोम है । इस प्रकार एक ही भृगु वायु–घन–तरल-विरल भेदेन अप्–वायु–सोम ये तीन स्वरूप धारण कर लेता है । अप् धनावस्था है, वायु तरलावस्था है, सोम विरलावस्था है । तीनों सोम ही हैं । इस आपोमण्डल को ही वरुण कहते हैं । भृगु वरुण के पुत्र हैं । अतएव "**भृगुर्वैवारुणिः**" (तै० उ० ३।१।१) यह कहा जाता है ।

सोम में व्याप्त होने का सामर्थ्य नहीं है। व्याप्ति पानी में ही होती है। चारों ओर फैलना यह पानी का धर्म्म है। पानी भी सोम ही है। इसलिए सोमस्तुति में विरोध भी नहीं समझना चाहिए। पानी में आप्ति धर्म्म है अतएव "**यदाप्नोत् तस्मादापः**" यह कहा जाता है।

पानी के अधिष्ठाता वरुण हैं। अतएव यहाँ वरुण का नाम ले दिया है। वरुण भी सोम ही की अवस्था विशेष है। "**अग्नीषोमात्मकं जगत्**" में सोम से तीनों का ग्रहण है। एवं "**अस्तिवैचतुर्थो देवलोक आपः**" में अप् से तीनों का ग्रहण है। पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ तीन लोक कहलाते हैं। इन तीनों के अधिष्ठाता अग्नि-वायु-आदित्य ये तीन अंगिरा हैं। बस, सारा ब्रह्माण्ड इन छहों में बँटा हुआ है। अग्नि-सोम कहो या भृगु-अंगिरा कहो या अप्-वायु-सोम-अग्नि-वायु-आदित्य कहो-एक ही बात है। इस प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि वरुण आप्ति के सम्बन्ध से कह दिया गया है। इस मन्त्र के एक-एक भाग का याज्ञवल्क्य अर्थ करते हैं—

देवता लोग यज्ञ-वितान करते हुए असुरों और राक्षसों के आक्रमण से डरने लगे। उन्होंने अपने को सुरक्षित रखने के लिए असुरों के आघात द्वारा वध के भय से इस सोम को बहुत अधिक दूर तक फैला दिया। असुर कृष्ण-प्राण का नाम है। कृष्ण-प्राण पृथिवी की वस्तु है। इसकी दौड़ पृथिवी तक ही है। परन्तु सोम तो परमेष्ठी तक है। इसके महत्त्व का क्या ठिकाना है? असुरों की पहुँच पृथिवी तक ही तो थी। बस, इन असुरों को दबाने के लिए प्राणदेवताओं ने सोम को तीनों लोकों में फैला दिया। सोम ही से देवताओं की विजय है। देवता आग्नेय हैं। अग्नि में जब तक सोमाहुति पड़ती रहती है तभी तक देवता अर्थात् अग्नि असुरों के आक्रमण से बचा रहता है। तभी तक अग्नि नहीं बुझने वाला। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"अस्तभ्नाद्द्यां वृषभोऽन्तरिक्षम्" ॥२॥

यह सोम त्रिलोकी में व्याप्त हो रहा है। अतएव इस सोम-साधक मन्त्र से-किंवा सोम से-यह यजमान भी अपनी आत्मा को तीनों लोकों में अभिव्याप्त करता है—

"तदेनेनेमाँल्लोकानास्पृणोति"—इति।

त्रिलोकी में व्याप्त इस सोम को मारने वाला कोई भी नहीं है। एवं यदि कोई मारने वाला है भी तो इसका वध नहीं हो सकता। सोम अमृत तत्त्व है। अमृत तत्त्व का कभी भी विनाश नहीं होता। भला, जिस सोम से तीनों लोक व्याप्त हो रहे हैं, जो सबका अधिष्ठाता है, उसे कौन मार सकता है? मारे जिसको तो यह मारे, इसे कौन मारे? भाव इसका यही है कि मैंने आज ऐसे को आत्मसात् किया है जो कि त्रिलोकी का अधिष्ठाता है, अतएव मुझे किसी का डर नहीं है—

"तस्य हि न हन्तास्ति न वधो येनेमे लोका आस्पृतास्तस्मादाह अमिमीत वरिमाणं पृथिव्या इति" ॥३॥

"आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राट्-इति" ।।४।।

सोम ही सम्पूर्ण भुवनों का सम्राट् बन कर बैठा हुआ है। इसका तात्पर्य्य भी यही है कि इस मन्त्र से—यह यजमान—सारे लोकों में व्याप्त हो जाता है। इस सोम का, जो कि त्रिलोकी में व्याप्त हो रहा है, न कोई हन्ता है, न इसका वध हो सकता है।

"विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि"।

कहता हुआ यह अध्वर्यु इस सोम के लिए, सारे विश्व को अनुकूल बनाता है। जो भी कुछ इस ब्रह्माण्ड में है, वास्तव में सोम सब पर हावी है। रोदसी, क्रन्दसी, संयती, तीनों भुवनों में सोम व्याप्त हो रहा है। "**विश्वेत्तानि**" कहता हुआ यह अध्वर्यु सोम के प्रति किसी को प्रत्युद्यामी अर्थात् मुकाबला करने वाला नहीं बनाता, अपि तु सब को सोम का मातहत बनाता है। बनाता क्या है, जो स्थिति है, उसे बतलाता है—

"तस्मादाह विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि"–इति ।।५।।

इस प्रकार स्तुतिपूर्वक नीड़ में बिछे हुए कृष्णमृगचर्म्म पर सोम रख दिया गया। अब उसका चारों ओर सोमपर्य्याणहन से वेष्टन करते हैं। सोमोपनहन, सोमपर्याणहन और उष्णीष, ये तीनों चीजें काम में आती हैं। इन तीनों में से शकट के चारों ओर लपेटने का जो वस्त्र है, उसे ही सोम-पर्याणहन कहते हैं। सोम को रखने के बाद उसी वस्त्र को लपेटते हैं। शकट के चारों ओर वस्त्र लपेटने के तीन कारण हैं।

वायु में एक प्रकार के जीव रहते हैं जिन्हें कि नाष्ट्रा कहते हैं। ये जिस पदार्थ में घुस जाते हैं, उसे ही दूषित कर डालते हैं। शकट के चलने से धूल उड़ेगी, यह धूल यदि सोम में पड़ जाएगी तो सोम दूषित हो जाएगा। बस, नाष्ट्रा जीव इसी सोम के सारभाग को नष्ट न कर डालें, इसमें धूल, कचरा, वगैरः न पड़ जाए—इसलिए इसके चारों ओर वस्त्र लगाया जाता है—

"नेदेनं नाष्ट्रा रक्षांसि प्रमृशान्"–इति ।

यह सोम ही दिव्यात्मा बनेगा। मन्त्र द्वारा अग्नि में जब सोम की आहुति दी जाएगी तो यही सोम आत्मा बनेगा। आज शकट में रक्खा हुआ सोम गर्भ बनता है। गर्भ मनुष्यों की दृष्टि से छुपा रहता हैं। गर्भ का प्रत्यक्ष नहीं होता। एवं जो पर्याणद्ध अर्थात् ढ़का हुआ होता है वह भी तिरइव ही है। सोम गर्भ है। गर्भ तिरइव रहते हैं। पर्याणद्ध तिरइव ही है। इसलिए निदानेन गर्भ संपत्यर्थ इसका पर्याणहन किया जाता है—

"गर्भो वाऽएष भवति, तिरऽइव वै गर्भाः। तिरऽइवैतद् यत्पर्याणद्धम्"।

अपि च यह सोम देवता है। इसे मामूली बेलड़ी (बेल, वल्लरी) नहीं समझना चाहिए। सोम तो देवताओं का भी देवता है। देवता मनुष्यों से छुपे हुए रहते हैं। वरुण, इन्द्र का नाम हम खूब सुनते हैं। नाम ही नहीं सुनते, वे सारे देवता हमारे शरीर में ही बैठे हुए हैं। परन्तु हम उन्हें आँखों से नहीं देखते। सोम देवता है—अतएव निदानेन इसको तिरइव बनाने के लिए चारों ओर कपड़ा लपेटा जाता है—

"तस्माद्वै पर्याणह्यति" ।। ६ ।।

क्यों पर्याणहन होता है, इसकी उपपत्ति बतला चुके। अब पद्धति बतलाते हैं। वह अध्वर्यु निम्नलिखित मन्त्र बोलता हुआ–उस सोम को चारों ओर से ढक देता है। वह मन्त्र–यह है—

"वनेषु हि इदं अन्तरिक्षं विततं वृक्षाग्रेषु वाजमर्वत्सु पय उस्त्रियासु। हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निम् दिवि सूर्यमदधात्सोममद्रौ" ।

इस मन्त्र से वरुण के सारे काम गिना दिये गये हैं।

वन कहते हैं काष्ठ को, अर्थात् वृक्ष को। इस वरुण सोम ने–वंनों में अर्थात् वृक्षों में अन्तरिक्ष का वितान कर रक्खा है। वृक्षरस प्रारम्भिक अवस्था में संभूय ही रहते हैं। मूल में सब रस घनीभूत हो कर ही रहते हैं। बाद में ज्यों–ज्यों वे ऊपर बढ़ने लगते हैं, त्यों–त्यों विशकलित होने वगते हैं। ऊपर जा कर वे ही रस फैल जाते हैं। बस, इस फैलाव के कारण ही रसों के बीच में सन्धि हो जाती है अर्थात् अन्तरिक्ष आ जाता है। यदि ये सब फैलते नहीं और इकट्ठे हो कर ही रहते, तो ऊपर जा कर इनके अग्रभागों में कभी सन्धि नहीं रहती। प्रत्येक शाखा ऊपर जा कर अलग छँट जाती है, सारे पत्ते अलग–अलग हो जाते हैं। यदि रस घनीभूत होता तो जैसी स्थिति वृक्ष के मूल में होती है वैसी ही वृक्षाग्र में रहती। परन्तु वही इस वृक्षाग्र में जा कर चारों ओर वितत हो जाते हैं। वृक्ष घेर-घुमेर बन जाता है। यह घुमाव–यह अन्तरिक्ष इसी वरुण ने अर्थात् पानी ने किया है। यदि पानी न होता तो क्या मजाल वृक्ष फैल जाता। वृक्ष को इसी पानी ने अर्थात् वरुण ने फैलाया है। इससे बतलाना यही है कि वृक्षों में एक जो फैलाव देखा जाता है वह इसी वरुण का काम है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—'**वनेषु** (वृक्षाग्रेषु) **हीदमन्तरिक्षं विततम्** वनेषु का अर्थ वृक्षाग्रेषु किया गया है। वृक्ष के मूल में अन्तरिक्ष नहीं होता, वृक्षाग्र में ही वह फैला होता है। । पुरुष को ही अर्वन् कहते है। वीर्य्य को ही वाज कहते हैं। उत्साह का नाम ही वाज है। पुरुषों में स्त्रियों की अपेक्षा जो एक उत्साह दीखता है–वह इसी वरुण की महिमा है। यह वरुण ही वीर्य्याधान करते हैं। अतएव भाषा में बलिष्ठ मनुष्य के लिए पानीदार शब्द का व्यवहार होता है—

"वीर्यं वै वाजाः। पुमांसोऽर्वन्तः। पुंस्वेवैतत् वीर्यं दधाति। पय उस्त्रियासु इति" ।।

यह पय ही गायों में स्थित है। गायों में जो दूध देखा जाता है वह इसी वरुण (पानी) की महिमा है। जिसमें अधिक पानी रहता है वह गाय उतना ही अधिक दूध देती है—

"पयो हीदमुस्त्रियासु हितम् हृत्सु ऋतुम्" ।

हृदयों में जो ऋतु है उसके उत्पादक भी वरुण ही हैं। ऋतु नाम है इरादे का। नई-नई उमंगें इसी सोम के कारण उठती हैं। जिसमें प्राणमात्रा जितनी अधिक होती है उसमें उमंगें उतनी ही अधिक होती हैं अन्न से जैसे मन बनता है तथैव पानी से प्राण बनता है। इसीलिए-**अन्नमयं हि सोम्यमन-आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्**-(छां० उ० ६।५।४) यह कहा जाता है। पानी वरुण ही है। अतएव हम कह सकते हैं कि चित्तोत्साहके अधिष्टाता भी यही वरुण हैं। जिसमें पानी की मात्रा कम होती है, जो पानीदार नहीं होता है उसका मन मरा रहता है। ऐसे मनुष्य के मुख पर मक्खियाँ भिनभिनाया करती हैं। एवं जो पानीदार होता है, वह नई-नई उमंगों से ओतप्रोत रहता है, उत्साहयुक्त रहता है—

"वरुणो विक्ष्वग्निम्" ।

प्रजाओं में अर्थात् यच्चयावत् जड़-चेतन पदार्थों में अग्नि को इसी वरुण ने स्थिर कर रक्खा है। अग्नि विशकलनधर्म्मा है। वरुण अर्थात् सोम संकोच-धर्म्मा है। पिण्ड बनाना सोम ही का काम है। यदि अग्नि में सोम की आहुति न हो तो पिण्ड ही न बने।

यच्चयावत् पदार्थों में पिण्डरूप में परिणत जो अग्नि दिखलाई पड़ रहा है, वह इसी वरुण की महिमा है। यदि सोम न हो तो विशकलनधर्म्मा अग्नि क्षण मात्र में पदार्थ के खण्ड-खण्ड कर दे। शरीर को जहाँ छूते है, वहीं गरमी मालूम होती है। यदि पूछो कि यह गरमी किससे है, तो हम यही कहेंगे कि वरुण से है, सोम से है।

अन्न द्वारा जो सोम इस अग्नि में आहुत होता है-वही शरीर की गर्मी की स्थिति का कारण है। यदि अन्न खाना बन्द कर दिया जाए तो उसी समय हाथ-पैरों की गरमी निकल जाए। कहने का तात्पर्य यही है कि प्राणीमात्र में अग्नि को स्थिर रखने वाला यही वरुण है। अपि च सूर्य अग्नि का गोला है। इसके चारों ओर यही आपोमय वरुणमण्डल है। इसी वरुणमण्डल को परमेष्ठि-मण्डल कहते हैं। इसी से सूर्य का गोला स्थित है। सूर्य्य अग्नि है, यदि उसमें पारमेष्ठ्य सोमाहुति न हो, तो सूर्य्य एक सेकण्ड में नेस्तनाबूद हो जाए। इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह वरुण हृदयों में ऋतु-स्वरूप है, उमंग-स्वरूप है। उमंग उत्पन्न करना इसी का काम है। मनोजव बन कर वरुण हृदय-स्थान में प्रविष्ट हो रहा है—

"हृत्सु ह्ययं ऋतुः। मनोजवः प्रविष्टः" ।

यही वरुण प्रजाओं में अग्निस्वरूप है, अर्थात् प्रजाओं में जो अग्नि दीखती है वह इसी वरुण सोम की महिमा है—

"विक्षु ह्ययं प्रजास्वग्निः दिवि सूर्यमदधात्" ।

इसी वरुण ने सूर्य्य को द्युलोक में रोक रक्खा है। परमेष्ठिमण्डल के पेट में सूर्य्य है। सूर्य्य द्युलोक में स्थित है। इसका एकमात्र कारण यही वरुण है। यदि वरुण सोम इसमें न आए तो सूर्य्य अभी द्युलोक में से नष्ट हो कर गिर जाए—

"दिवि ह्यसौ सूर्यो हितः" ।

सोम पर्वतों में ही होता है । इसके दो अर्थ हैं । सोमवल्ली पर्वतों में ही होती है । पर्वत में ही प्राकृतिक सोम चुआ करता है । वही सोमवल्ली स्वरूप में परिणत हो जाता है । दूसरा अर्थ यही है कि सोम अद्रि में है । अर्थात् सोम के साक्षात् दर्शन करना चाहो तो पत्थर ही है । सोम ही पत्थर बना हुआ है । अग्नि विशकलनधर्म्मा है, सोम संकोचधर्म्मा है, यह बात पूर्व में बतला आए हैं । इस सोम की ध्रुव, धर्त्र, धरुण, धर्म्म ये चार अवस्थाएँ होती हैं । चारों में जो ध्रुव-सोम है, वही पत्थर बनता है । जिसमें ध्रुव-सोम घुस जाता है, वह पत्थर बन जाता है—

"तस्मादाह दिवि सूर्यमदधात् सोममद्राविति" ।। ७ ।।

आज इसी सोम को शकट पर रक्खा गया है एवं इसके चारों ओर वस्त्र लपेटा गया है । वस्त्र को आप्त किया है । आप्ति वरुणसोम का ही काम है । अतएव **"वनेषु व्यन्तरिक्षम्"** इत्यादि मन्त्र से ही अध्वर्यु सोम का पर्याणहन करता है ।

दीक्षा प्रकरण में बतलाया गया था कि कृष्णमृगचर्म्म दो हों अथवा एक हो । दोनों में कामचार है । इसी बात को लक्ष्य में रख कर कह रहे हैं कि यदि कृष्णमृगचर्म्म दो होते हैं तो इन दोनों में से एक तो बिछा दिया जाता है एवं दूसरे का प्रतीनाह भाजन बना कर प्रत्यानहन कर देते हैं । शकट के अग्र-भाग में, जहाँ शकट हाँकने वाला कोचवान बैठता है, उसके पार्श्व में एक बाँस का स्तम्भ रहता है—त्वग रहता है—उसे ही प्रतीनाह कहते हैं । उसी पर उस कृष्णमृगचर्म्म को लपेट देना चाहिए तथा दूसरे मृगचर्म्म को ध्वजा के काम में ले लेना चाहिए ।

"तयोरन्यतरत्प्रत्यानह्यति प्रतीनाहभाजनम्" ।

यदि दो कृष्णमृगचर्म्म न हों, एक ही हो, तो मृगचर्म की ग्रीवा को काट कर प्रतीनाह स्थान में उसी का प्रत्यानहन कर देते हैं—

"यद्युऽएकं भवति, कृष्णाजिनग्रीवा एवावकृत्य प्रत्यानह्यति प्रतीनाहभाजनम्" ।

जिस समय कृष्णमृगचर्म्म को उस ध्वजा में लगाता है, उस समय, अध्वर्यु निम्नलिखित मन्त्र बोलता है—

"सूर्यस्य चक्षुरारोहाऽग्नेरक्ष्णः कनीनकम् ।
यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चिता"—इति।। (यजु० ४।३२)

हे कृष्णाजिन ! (त्वं) सूर्य्यस्य चक्षुस्थानीयम् । एतादृशस्त्वं अनस्युपरि आरोह ।

हे कृष्णाजिन, त्वं अग्नेः कनीनकमारोह । यत्र-(यस्मिन्नारोहे सति), एतेभिः (अश्वैः) विपश्चिता (मेधाविना सोमेन सह) भ्राजमानः (दीप्यमानः सन्) ईयसे—गच्छसि ।

हे कृष्णाजिन, आप सूर्य्य के चक्षु बन कर इस शकट के उपरिभाग में अर्थात् प्रतिनाह (ध्वजा) में एवं अग्नि की कनीनिका में सवार होइए।

सूर्य्य पृथिवी से ऊपर ही रहता है एवं अग्नि की जो कनीनिका है वह भी ऊपर ही रहती है। अग्नि से वैश्वानर मनुष्य का अर्थ अभिप्रेत है। मनुष्य की जो कनीनिका है वह मस्तक-भाग में स्थित चक्षु के बीचों-बीच रहती है। कनीनिका "फोकस" को कहते हैं।

अग्नि का पृथिवी से सम्बन्ध है। सूर्य्य का द्युलोक से सम्बन्ध है। तो इस कृष्णमृगचर्म्म को अग्नि की कनीनिका और सूर्य्य का चक्षु बतलाने से यही अभिप्राय है कि सोम द्यावा-पृथिवी की निगरानी में चल रहा है। कृष्णमृगचर्म्म, सामान्य चर्म्म नहीं है, अपितु द्यावापृथिवी का प्रतीक है। ऊपर टाँकने से सूर्य्य के चक्षुभाव तथा अग्नि की अर्थात् वैश्वानर पुरुष की कनीनिका के भाव का भी समावेश हो जाता है। अतएव-सूर्य्यस्य चक्षुरारोह-इत्यादि कहा गया है। सूर्य्य के घोड़ों का नाम "एतश" है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"उदु त्यद्दर्शतं वपुर्दिव एति प्रतिह्वरे ।
यदीमाशुर्वहति देव एतशो विश्वस्मै चक्षसे अरम्" ।। (ऋ० मं० ७।६६।१४)

जब कि कृष्णमृगचर्म्म-सूर्य्य स्थानापन्न है तो अनस में जुते हुए अश्व अवश्य ही रक्षक हैं। प्रकृति-मण्डल से सूर्य्य पारमेष्ठ्य सोम को ले कर अपने सातों घोड़ों पर सवार हो कर सोम ले जाता रहता है। सूर्य्य की रक्षा में आया हुआ सोम असुर-आक्रमण से बच जाता है। आप्य प्राण का नाम असुर है। यह परमेष्ठि-मण्डल में रहता है। सोम भी परमेष्ठि-मण्डल में ही रहता है। जब तक सोम परमेष्ठि-मण्डल में रहता है तब तक तो वह असुरों से अर्थात् आप्यप्राण से आक्रान्त रहता है। परन्तु जब सूर्य्य में आ जाता है तो आसुराक्रमण से मुक्त हो जाता है। सूर्य्य के प्रखर ताप के सामने आप्यप्राण एक क्षण भी नहीं टिक सकता। बस, सौराग्नि के प्रतीक रूप में ही ध्वजा पर कृष्णमृगचर्म्म को बाँधते हैं। कृष्णमृगचर्म्म सूर्य्य है एवं अनस से जुते हुए घोड़े एतश हैं। हम सोमयज्ञ पृथिवी पर कर रहे हैं। पृथिवी-लोक के अधिष्ठाता अग्नि हैं। अतएव **"अग्ने रक्षणः"** भी कह दिया है।

यदि सिर्फ सूर्य्य ही का नाम लिया जाता तो यजमान की प्रतिष्ठा पृथिवी से उखड़ जाती। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि हे कृष्णाजिन ! आप विभ्रश्चित् अर्थात् भ्राजमान सोम के साथ जिस शकट पर जा रहे हैं, ऐसे आप सूर्य्य के चक्षुस्थान में और अग्नि के अक्षिस्थान में सवार होइए।

इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि **"सूर्यस्य चक्षुः"** इत्यादि कथन से कृष्णमृगचर्म्म को शकट के अग्रभाग में स्थित ध्वजा पर लगाना, सूर्य्य को पूर्वभाग में रखना है। सूर्य्य पश्चिम से पूर्व की ओर असुरों-राक्षसों का संहार करता हुआ, एतश घोड़ों पर सवार हो कर जाता है। जब सूर्य्य राक्षसों का नाश कर देता है तो एतश घोड़े निष्कण्टक मार्ग से सोम को ले जाते हैं। तथैव सूर्य्य की निगरानी में इस शकटस्थ सोम को एतश घोड़े ले जा रहे हैं।

सूर्य्य असुर-निहन्ता है । अतएव उसी के अनुकरण पर कृष्णमृगचर्म्म बांधा जाता है । कृष्णमृग-चर्म्म त्रयी-विद्यास्वरूप है । इसलिए पुरोडाश-सम्पादन ब्राह्मण में इसके लिए "**सैषात्रयी विद्या यज्ञ:**"- कहा जाता है । उधर सूर्य्य भी त्रयी-विद्या-घन है । अतएव—"**सैषा त्रयी विद्या तपतीति**" कहा जाता है । कहना इससे यही है कि निदानेन कृष्णमृगचर्म्म अवश्य ही सूर्य्य की प्रतिकृति माना जा सकता है—

"सूर्य मेवैतत् पुरस्तात् करोति । सूर्यः पुरस्तान्नाष्ट्रा रक्षांस्यपघ्नन्नेति । अथाभयेनानाष्ट्रेण परिवहन्ति" ॥८॥

नीड, कस्तम्भी, प्रउग्य, फलक, प्रतीनाह, इत्यादि शकटावयवों के नाम हैं । जिस स्थान पर अनाज वगैरः रक्खा जाता है एवं मनुष्य बैठते हैं उसका नाम नीड है—"**धान्य निधानाय परिश्रित प्रदेशो नीडः**" । शकट के अग्रभाग में दो लम्बी लकड़ियाँ रहती हैं । जब बैलों को खोल दिया जाता है तो इन दोनों लकड़ियों के सहारे गाड़ी ज्यों की त्यों खड़ी रहती है, नीचे नहीं गिर पातीं—

"शकटस्याधःपतनं वारयितुमीषादण्डप्रोत्तम्भ्यनार्थामिथीकस्तम्भी" ।

ये दोनों लकड़ियां जिसमें बँधी रहती हैं, उसका नान प्रउग्य है । जब कस्तम्भी को भी हटा दिया जाता है तो गाड़ी का अग्रभाग जमीन पर टिक जाता है । जो ऊपर से चौड़ा होता है मुखाग्र पर पलंग के पाए के माफिक होता है उसे प्रउग्य कहते हैं एवं जिनके नीचे दोनों बैल जोते जाते हैं, वे ही फलक कहलाते हैं । भाषा में जिन्हें जूड़ा कहते हैं, उसे ही वैदिक परिभाषा में फलक कहते हैं । जहाँ सोम रक्खा जाता है, उसके अग्रभाग में ही एक बाँस रहता है जिसे कि ध्वजा भी कहते हैं, तथा प्रतीनाह भी कहते हैं ।

प्रकृत में केवल फलक से अर्थात् जूड़े से सम्बन्ध है । जब गाड़ी में बैल जोत दिए जाते हैं तो यह प्रउग्य सम्बन्धी फलक उद्धत हो जाते हैं । इसका प्रमाण चुबुक तक माना जाता है । बैल जुते बाद फलक ठोडी तक आ जाते हैं । प्रउग्य के दोनों ओर फलक रहते हैं एवं वे ऊँचे उठे रहते हैं । बैल जोत दिये गये हैं । सोम रख दिया गया है । अतएव फलक प्रउग्य से भी ऊँचे हो जाते हैं । बस इसी अभि-प्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"उद्धते प्रऽउग्ये फलके भवतः । प्रउग्यसम्बन्धि फलके प्रयुगादप्युन्नते भवतः" ॥

इन दोनों फलकों के बीच में (शकट के अन्तिम स्थान) से बैलों को हाँका जाता है—

"तदन्तरेण तिष्ठन्त्सुब्रह्मण्यः प्राजति" ।

जहाँ पर बैठ कर गाड़ी हाँकी जाती है वहाँ पर सुब्रह्मण्य नहीं बैठ सकता, अपितु इसे सोम से बहुत दूर बैठ कर गाड़ी हाँकनी पड़ती है । इसका कारण बतलाते हैं । जो मनुष्य घोड़े पर अथवा

गाड़ी पर अथवा हाथी पर सवार हो कर चलता है, वह श्रेयान् हो जाता है। सवारी पर चलने वाला मनुष्य पैंदल चलने वालों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है। आज यह सोम शकट पर सवार है अतएव यह श्रेष्ठ हो गया है। सोम पैंदल नहीं चलता अपितु सवारी पर ही चलता है, यही इस सोम की श्रेष्ठता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। भला, जब शकट पर राजाधिराज सोम बैठे हुए हैं तो फिर उनके अधिष्ठित रहते, उस शकट पर और कौन बैठ सकता है? जिस सिंहासन पर राजा सवार हो रहा है सामान्य मनुष्य की क्या ताकत है कि वह उस पर बैठ जाए? सोम के सामने सुब्रह्मण्य मामूली मनुष्य है, वह सोम के पास नहीं बैठ सकता अतएव उसे फलक के मध्य भाग में, सोम से अलग बैठ कर ही गाड़ी चलानी पड़ती है—

"श्रेयान् वाऽएषोऽभ्यारोहाद्भवति को ह्येतमर्हत्यभ्यारोढुं तस्मादन्तरेण तिष्ठन् प्राजति" ॥९॥

वह सुब्रह्मण्य और किसी शाखा से बैलों को न हाँक कर पलाशशाखा से ही हाँकता है—"**पलाशशाखयाप्राजति**" पलाश–शाखा में ही क्या विशेषता है—यह बतलाते हैं।

गायत्री ने धावा मार कर सोमापहरण किया था, जिसका कि विस्तृत विवेचन "**सोमाख्यान**" ब्राह्मण में कर दिया गया है। यहाँ सिर्फ इतना ही कहना है कि गायत्री ने जिस स्थान पर (परमेष्ठी पर) सोम की ओर अभिमुख हो कर, उस पर धावा मारा उस समय सोम लाते समय, नीचे के प्रदेश में आक्रमण कर पर्ण को छेद डाला। अर्थात् जिस समय सोम ऊपर से गिरा तो गिरते हुए उस सोम ने गायत्री के पंख को काट डाला एवं काट कर जमीन पर गिरा दिया—

"यत्र (यस्मिन् स्थाने) वै गायत्री (सुपर्णो भूत्वा) सोममच्छ (सोमम-भिलक्ष्य) आपतत् (अगच्छत्) तत् (तत्र) अस्या–आहरन्त्याऽअपादस्ताभ्या-यत्य पर्णं प्रचिच्छेद"।

किसका पक्ष विच्छिन्न हो गया, इसका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

या तो गायत्री का ही पक्ष कट कर गिर गया–यह समझ लो अथवा सोम का ही पक्ष अर्थात् हिस्सा गिर गया—यह समझ लो। दोनों ही में कोई अनुपपत्ति नहीं है। गायत्री पृथिवी की अग्नि का नाम है। यही सोम ला कर वापस लौटती है। उस समय जो सोम पृथिवी पर चू पड़ता है उस हिस्से को गायत्री और सोम दोनों कह सकते हैं, क्यों कि दोनों अविनाभूत हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"गायत्र्यै (त्र्याः) वा सोमस्य वा राज्ञः"।

वह सोम अधःप्रदेश में गिर कर पर्ण हो गया। पतित पर्ण से यह पलाश बन गया अतएव इसका नाम पर्ण हो गया। पर्ण और पलाश दोनों पर्य्याय हैं। चूँ कि सोम का अंश नीचे गिर गया अतएव उसका नाम पर्ण हो गया। पतित अंश का नाम ही पर्ण है—

"तत् पतित्वा पर्णोऽभवत् तस्मात् पर्णो नाम" ।

तो बस, जितना सा सोम का हिस्सा गायत्री से अलग हो कर जमीन पर गिरा और पर्ण बन गया, पलाश बन गया, वह भी हमारे इस यज्ञ में आ जाए, सर्वात्मना सोम का ग्रहण हो जाए–इसलिए पलाश–शाखा से ही बैलों को हाँकते हैं ।

यदि यह सोम–भाग शामिल नहीं किया जाएगा तो सारा सोम नहीं आ पाएगा । निदानेन सर्वतो सोमकारिता के लिए पलाश–शाखा से ही बैलों को हाँका जाता है—

"तद्यदेवात्र सोमस्य न्यक्तं तदिहाप्यसदिति तस्मात् पलाशशाखया प्राजति"। ॥१०॥

जिस समय बैलों को गाड़ी में जोता जाए–उस समय यदि बैलों में काली झांईं प्रतीत हो तो समझ लो, इस वर्ष बहुत ही वृष्टि होगी । बैल जिस समय गाड़ी को खींचने लगते हैं, उस समय उनके चित्त में एक प्रकार का आवेश होता है । उस समय सुब्रह्मण्य को चाहिए कि उधर ध्यान रक्खे । यदि उस समय दोनों बैलों पर काली झांईं मालूम हो तो समझ लो इस वर्ष पर्जन्य खूब ही मेह बरसाएगा ।

बड़ी गहन विद्या है । समझ में नहीं आता कि काली झाँईं प्रतीत होने से क्यों कर वृष्टि का अनुमान कर लिया जाता है ? इस रहस्य को वे ही जान सकते हैं जो कि विदितवेदितव्य हैं एवं साक्षात् कृतधर्म्मा हैं ।

हम यदि बैठे रहते हैं और हमारे सामने हो कर कोई मनुष्य द्वार के आगे से निकल जाता है तो उसकी काली-सी परछाई पड़ती है । वैसी ही परछाई यदि दोनों बैलों पर पड़े तो समझ लो इस वर्ष बहुत ही वृष्टि होगी । यदि एक ही बैल पर काली परछाईं मालूम हो तो सामान्य वृष्टि होगी । यही इस काली परछाईं का विज्ञान है । इसी को शकुनविद्या कहते हैं । इसे मिथ्या नहीं समझना चाहिए । वेद में सैकड़ों जगह शकुनविद्या का उपपादन किया गया है, जिसका कि विवेचन करना अप्राकृत होगा।

सामने घड़ा भरा हुआ मिलता है तो कार्य–सिद्धि होती है । रीता होता है तो काम बिगड़ जाता है । ऐसा क्यों होता है ? इसका कारण तो हम नहीं जानते परन्तु होता ऐसा अवश्य है । यद्यपि भाष्यकार लोग इसका अर्थ करते हैं कि जुते हुए बैल यदि काले हों तो प्रचुर वृष्टि होगी–तथापि हमारे खयाल से यह अर्थ अशुद्ध है ।

अकल्पित घटना से ही शकुन का सम्बन्ध है । यदि जान-बूझ कर काला बैल लाया जाता है तो उसका शकुन से जरा भी सम्बन्ध नहीं होता । अस्तु, कहना हमें यही है कि गाड़ी में जोतते समय यदि बैलों पर काली परछाईं पड़े तो अतिवृष्टि होगी—

"अथानड्वाहावाजन्ति । तौ यदि कृष्णौ स्यातामन्यतरो वा कृष्णः तत्र विद्याद्वर्षिष्यत्यैषमः (अस्मिन् संवत्सरे) पर्जन्यो वृष्टिमान् भविष्यति–

(यदि–(उभौ) कृष्णौ स्याताम् (तदा) ऐषमः पर्जन्यः (वर्षिष्यति अर्थात् अति-वृष्टिर्भविष्यति) यदि (एक एव) कृष्णस्यात् तदा पर्जन्यो वृष्टिमान्भविष्यति। (अर्थात् साधारण वृष्टिर्भविष्यति।) एतदु विज्ञानम्" ।।११।।

सुब्रह्मण्य को कहाँ बैठना चाहिए–इत्यादि बातों का निर्णय हो चुका। अब पद्धति बतलाते हैं। इसके अनन्तर वह सुब्रह्मण्य निम्नलिखित मन्त्र बोलता हुआ गाड़ी में दोनों बैलों को जोतता है—

"उस्रावेतं धूर्षाहौ युज्येथामनश्रू अवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ।
स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतम्" ।।

"हे उस्रौ (अनड्वाहौ) धूर्षाहौ (धुरंसोढुं समथौ युवाम् एतम् प्रत्यागच्छतम्–शकटम्) युज्येथाम्–अनश्रू–अवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ (एतादृशौ भवन्तौ एवं भूतौ–भवन्तौ) स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतम्" ।।

हे बलीवर्दो ! आप इस धुर को सहने में समर्थ हैं। ऐसे आप इस शकट से जुड़िए। हे बलीवर्दो ! आप अनश्रू हैं अर्थात् शकट में जुड़ने से आपको जरा भी कष्ट मालूम नहीं होता। आप मन्त्रप्रेरित हैं। अथवा आप यज्ञप्रेरयिता हैं, यह भी ब्रह्मचोदनौ का अर्थ हो सकता है। अथवा आपको हाँकने वाले ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण हैं प्रेरयिता जिनके, ऐसे आप हैं। आप शंका आदि से अवीरह हैं अर्थात् शान्त-भाव युक्त हैं। सींग वगैरः से किसी को भी नहीं मारते हैं। ऐसे आप क्षेमकुशलपूर्वक यजमान के घर पधारिए। भगवान् याज्ञवल्क्य प्रत्येक पद का अर्थ करते हैं—

"उस्रावेतंधूर्षाहौ–इति" ।

ये बैल वास्तव में उस्र नाम से ही प्रसिद्ध हैं–"उस्रो हि भवतः"। ये बैल धुरी को वहन करने वाले भी हैं–भारवाही भी हैं—

"धूर्वाहौ हि भवतः। युज्येथामनश्रू" ।

हो कर ये शकट में जुड़ते हैं, यही अनश्रू का तात्पर्य्य है—

"अनार्ताविति–अवीरहणाविति–अपापकृताविति" ।

ये अपापकृत हैं–अर्थात् किसी के सींग नहीं मारते हैं। ये वास्तव में मन्त्रप्रेरित हैं। इस शकट को बीच ही में असुर राक्षस लोग नष्ट न कर दें, क्षेमकुशलपूर्वक दोनों यजमान के घर पहुँच जाएँ, यही स्वस्ति–इत्यादि से कहा है—

"यथैनावन्तरा नाष्ट्रा रक्षांसि न हिंस्युरेवमेतदाह" ।।१२।।

इसके अनन्तर वह अध्वर्यु शकट के पश्चिम भाग में लौट कर अपालम्ब पर सवार हो सोम का स्पर्श करके कहता है—

"सोमाय क्रीतायानुब्रूहीति—सोमाय पर्युह्यमाणायेति वा"।

दोनों में से एक ही वाक्य बोले। सुब्रह्मण्य कहता है—हे ऋत्विजो ! आप यजमान से कह दीजिए कि सोम खरीद लिया गया है—सोम वहन कर लिया गया है—यही मन्त्र का तात्पर्य्य है। ऐतरेय ब्राह्मण में विकल्प-पक्ष नहीं है। वहाँ—

"सोमाय क्रीताय प्रोह्यमाणायानुब्रूहीत्याह अध्वर्युः"। (ऐ० ब्रा० ३।२)

यह बोला जाता है। इसीलिए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि वहाँ एक विकल्प-पक्ष व्यवस्थित नहीं है किन्तु यहाँ तुम एक साथ दोनों वाक्यों को भी बोल सकते हो, अथवा कोई सा एक भी बोल सकते हो—

"अथ पश्चात् परिक्रम्य। अपालम्बमभिपद्याह—सोमाय क्रीतायानुब्रूहीति सोमाय पर्युह्यमाणायेति वा। अतो यतरथा कामयेत" ॥१३॥

इसके अनन्तर अध्वर्यु यजमान से निम्नलिखित मन्त्र बुलवाता है—

"भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पते विश्वान्यभिधामानि। मा त्वा परिपरिणो विदन्मा त्वा परिपन्थिनो विदन्मा त्वा वृका अघायवो विदन् श्येनो भूत्वा परापत। यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ संस्कृतम्"।

हे सोम ! आप भद्र हैं अर्थात् कल्याण करने वाले हैं, अग्नि विशकलनधर्म्मा है। अतएब अग्नि से अशान्ति होती है। सोम ठण्डे हैं। शीतल वस्तु से शान्ति होती है। अतएव—भद्रोऽसि—कहा है। आप भद्र हैं, अर्थात् स्तुत्य हैं।

हे भुवस्पते ! तीनों भुवनों के पालनकर्ता आप अपने सारे स्थानों को लक्ष्य में रख कर इधर-उधर झुकिए। सोम त्रिलोकी में व्याप्त रहता है। रोदसी भुवन, क्रन्दसी भुवन एवं संयती भुवन—इन तीनों में सोम रहता है, अतएव उसे भुवस्पते कहा है। सोम की अनेक जगह जरूरत पड़ती है। इसी से ग्रहयाग होता है। इसी से उपांशुसवन होता है। इसी से अन्तर्याम होता है। बस इसीलिए कहा जाता है कि जहाँ-जहाँ जिस-जिस कर्म में आपकी जरूरत पड़े वहाँ-वहाँ ही आप पधारिए। आप अपने कर्तव्य का खयाल रक्खें। क्यों कि आप देवता हैं अतएव सत्यसंहित हैं। हम मनुष्य हैं—हम से भूल हो सकती है।

शत्रु तीन तरह के होते हैं। एक तो आत्मनाशक होते हैं। वे हमारे काम को भी नहीं बिगाड़ना चाहते, न हमारे द्रव्य को ही लूटना चाहते हैं, वे तो हमारे आत्मा के नाशक हैं। ऐसे को 'आयुवृक' (जीवनाशक हिंस्र भेड़िया) कहा जाता है। एवं कई ऐसे होते हैं जो खाली द्रव्य ही को चुरा कर सताना चाहते हैं; उन्हें परिवर्त कहा जाता है। चोर-चोरी कर दूर से दूर भाग जाना चाहता है, अतएव उसे परिवर्त कहा जाता है। तीसरे ऐसे होते हैं जो हमारे कर्म्म पर आक्रमण करते हैं उन्हें 'परिपन्थी' कहते हैं। तीनों में से किसी एक के भी आ जाने पर यज्ञ नष्ट हो जाता है, अतएव तीनों का नाम लेकर कहते हैं—

हे सोम ! तुम्हें न परिवर्त पहिचानें न परिपन्थी पहिचानें एवं न अधायुवृक लोग ही पहिचानें। आज सोम यजमान के घर आया है। इसका इन तीनों को पता ही न लगे। अपि च हे सोम ! आप श्येन बन कर, अर्थात् बलिष्ठ पक्षी बन कर, यजमान के घर पर पधारिए। अर्थात् आप इतने वेग से—बलिष्ठ बन कर पधारिए कि तीनों शत्रुओं का नाश हो जाए। हे सोम ! आपका और हमारा दोनों का संस्कृत स्थान यही है। आप भी यजमान के घर ही काम करेंगे एवं हमारा (ऋत्विजों का) काम भी वहीं पड़ेगा।

भगवान् याज्ञवल्क्य मन्त्र के प्रत्येक पद का अर्थ करते हैं। भद्रोऽसि—इति''''यह सोम यजमान का भद्र अर्थात् कल्याण करने वाला है। सोम से ही तो यजमानात्मा स्वर्ग से बद्ध होता है। सोम से बढ़ कर यजमान का कल्याण करने वाला संसार में कोई दूसरा है ही नहीं। अतएव सभा में आते हुए जो राजा लोग हैं उनका भी यह आदर नहीं करता है। चाहे यज्ञ में बड़े से बड़ा राजा बैठा हो परन्तु यजमान उसकी पर्वाह न कर पहले सोम राजा का ही अभिवादन करता है, क्यों कि यही इसके लिए कल्याणकारी हैं। इसलिए इन्हें भद्र कहना औरों की अपेक्षा इसे अधिक प्रतिष्ठायुक्त बनाना है।

"भद्रो ह्यस्यैष भवति। तस्मान्नान्यमाद्रियते अप्यस्य राजानः सभागा आगच्छन्ति-पूर्वो राज्ञोऽभिवदति। भद्रो हि भवति-(सोमः)। तस्मादाह भद्रो मेऽसीति। प्रच्यवस्व भुवस्पतऽइति"।

यह सोम वास्तव में तीनों भुवनों का मालिक है--

"भुवनानां ह्येष पतिः। विश्वान्यभिधामानि इति"।

यज्ञांकुशे-इसके धाम हैं-अर्थात् स्थान हैं। यज्ञांगों में सोम की आवश्यकता पड़ती है। "विश्वानि"-यह यज्ञांगों के लिए ही कहा गया है—

"अङ्गानि वै विश्वानि धामान्यङ्गान्येवैतदभ्याह-मा त्वा परिपरिणो इत्यादि"।

इस सोम को राक्षस, असुर लोग न पहिचान लें-यही मा त्वा इत्यादि मन्त्रभाग का तात्पर्य है—

"यथैनमन्तरा नाष्ट्रा रक्षांसि न विन्देयुरेवमेतदाह" ॥१४॥

"श्येनो भूत्वा परापतेति । वय एवैनमेतद्भूतं प्रपातयति" ।

वय कहते हैं पक्षी को । इस सोम को वय बना कर ही यज्ञ में भेजते हैं । उग्रवय अर्थात् प्रबल पक्षी को राक्षस असुर मारने के लिए नहीं आते हैं । उग्र से सब डर जाते हैं । संसार भर के पक्षियों में यह श्येन पक्षी ओजिष्ठ है और बलिष्ठ है । मनोबल और शरीरबल दोनों ही इसमें अधिक रहते हैं । अतएव इसे श्येन बना कर ही भेजते हुए 'श्येनो भूत्वा' कहते हैं । श्येनो भूत्वा कहना—सोम को श्येन बना कर भेजना है—

"यद्वाऽउग्रं—तन्नाष्ट्रा रक्षांसि नान्ववयन्ति (हन्तुम् नानुगच्छन्ति) एतद्वैव यसा-मोजिष्ठं बलिष्ठं यच्छ्रय नः । तमेवैतद्भूतं प्रपातयति । यदाह श्येनो भूत्वा परा-पत"—इति ॥१५॥

यदि प्रमादवश सोम को राक्षस, असुर आदि हिंसक प्राण नष्ट करते भी हैं तो—"श्येनो भूत्वा" इत्यादि मन्त्र—सामर्थ्य से वे श्येन भाव में परिणत श्येन के शरीरमात्र का ही नाश करने में समर्थ होते हैं । सोम के आत्मा का, अर्थात् सारभाग का, कुछ नहीं बिगड़ता । मन्त्र—प्रभाव से सोम पक्षी की जो त्वचा है वही असुरों द्वारा बिगड़ने वाली है । सोम रस का कुछ नहीं बिगड़ता ।

"अथ शरीरमेवान्ववहन्ति (हन्तुमनुगच्छन्त्यसुराः नात्मानमिति भावः) यजमानस्य गृहान् गच्छेति"—

इसका अर्थ तो स्पष्ट ही है ।

"नात्र तिरोहितमिवास्ति" ॥१६॥

सोम यजमान के घर पहुँच गया । अब सुब्रह्मण्या नाम के देवता का निगद मन्त्र से आह्वान करते हैं । देवताओं को बुलाने का जो मन्त्र है उसे ब्रह्म कहते हैं । जो शोभन मन्त्र है उसे सुब्रह्म कहते हैं । जो देवता शोभन मन्त्र के द्वारा बुलाने लायक है, उसका नाम "सुब्रह्मण्या" देवता है । आज इस यज्ञ में ये देवता पधारेंगे एवं इन्हें सोम दिया जाएगा । अतएव निगद मन्त्रों से उनका आह्वान किया जाता है । याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जिनके लिए मनुष्य रसोई का प्रबन्ध करता है, उन्हें कह देता है कि आज के दिन आपकी रसोई हमारे घर है । बस, ठीक इसी प्रकार लौकिक मर्यादानुसार आज यह यज-मान देवताओं के लिए हवि—निवेदन करता हुआ कहता है—हे देवताओ ! आज के दिन आपकी रसोई हमारे यहाँ है । सुत्या, दीक्षा, उपसत् ये तीन कर्म्म तीन—तीन दिन तक होते हैं । अतएव वहाँ—इत्यहेमे—प्रथमेऽहनि, द्वितीयेऽहनि, तृतीयेऽहनि इसका ऊह करना पड़ता है । इसी अभिप्राय से कहते हैं —

"अथ सुब्रह्मण्यामाह्वयति । यथा येभ्यः पक्ष्यन्त्स्यात्तान् ब्रूयात–इत्यहे वः पक्तास्मीत्येवमेवैतत् देवेभ्यो यज्ञं (हव्यं) निवेदयति" ।

वह मन्त्र यह है—

"सुब्रह्मण्योम्—सुब्रह्मण्योम्"—इति ।

देवताओं की स्थिति के अनुरूप ही उच्चावच लहरों से मन्त्र बोलने के कारण स्थिर देवता ऊपर से फिसल पड़ते हैं । वाक् से अन्तरिक्ष में स्थान हो जाता है । उधर से देवता आ जाते हैं—

"ब्रह्म हि देवान् प्रच्यावयति" ।

इस मन्त्र को तीन बार बोलता है । यज्ञ त्रिवृत् होता है । सूर्य्य का नाम ही यज्ञ है । प्रातःकाल से सायंकाल तक सूर्य्य की सत्ता रहती है । इसमें चढ़ाव, समता, उतार–ये तीन भाव रहते हैं । इन्हीं तीनों को प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और सायंसवन कहते हैं—चूंकि देवता त्रिसत्य हैं अतएव मन्त्र तीन बार बोला जाता है—

"त्रिष्कृत्व आह–त्रिवृद्धि यज्ञः" ।।१७।।

सुब्रह्मण्या के अनन्तर इन्द्र को बुलाते है । इन्द्र यज्ञ के देवता हैं । अतएव उन्हें यज्ञ में बुलाना तथा उनकी स्तुति करना अत्यन्त आवश्यक है । उनको बुलाने का मन्त्र है—

"इन्द्रागच्छेति–इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता । तस्मादाह–इन्द्रागच्छेति । हरिव आगच्छ । मेधातिथेर्मेष वृषणश्वस्य मेने । गौरावस्कन्दिन् अहल्यायै जारेति" ।

इन्द्र जिस अश्व पर चलते हैं उसका नाम हरि है । अतएव इन्द्र को हरिवाहन कहा गया है । हे हरिवाहन ! आप यज्ञ में पधारिए–यही 'हरिव आगच्छ' का तात्पर्य है । इन्द्र मेधातिथि के यज्ञ में मेष बन कर गए थे अतएव "**मेधातिथिर्मेषः**" कहा है । ये दोनों विशेषण इन्द्र के मानवीकरण के अभिप्राय से दिए गए हैं ।

इन्द्र के ये घोड़े (सातों छन्द) अत्यन्त बलिष्ठ हैं । हे गौरावस्कन्दिन् अर्थात् गौर नाम के पशु को मारने वाले इन्द्र ! हे अहल्या के जार !! आप हमारे यज्ञ में पधारिए ।

जो दिन का नियमन करती है उसी का नाम अहर्य्या है । दिन का नियमन करने वाली रात्रि ही है । रात ही दिन की आजादी को छीनती है । अतएव "**अहर्य्यायमयति नियच्छति**—इस व्युत्पत्ति से रात्रि को अहर्य्या कहा जाता है । परोक्षप्रिय देवता–अहर्य्या को अहल्या शब्द से व्यवहृत किया करते हैं । सूर्य्य के अन्यतम प्राण का नाम ही इन्द्र है । इसके आते ही अहल्या जीर्ण–शीर्ण हो जाती है । प्रातःकाल में दो घड़ी के शेष रहते ही सूर्य्य अर्थात् इन्द्र की सत्ता स्थापित हो जाती है । तड़का

"अथ सुब्रह्मण्यामाह्वयति । यथा येभ्यः पक्ष्यन्त्स्यात्तान् ब्रूयात-इत्यहे वः पक्तास्मीत्येवमेवैतत् देवेभ्यो यज्ञं (हव्यं) निवेदयति" ।

वह मन्त्र यह है—

"सुब्रह्मण्योम्—सुब्रह्मण्योम्"—इति ।

देवताओं की स्थिति के अनुरूप ही उच्चावच लहरों से मन्त्र बोलने के कारण स्थिर देवता ऊपर से फिसल पड़ते हैं । वाक् से अन्तरिक्ष में स्थान हो जाता है । उधर से देवता आ जाते हैं—

"ब्रह्म हि देवान् प्रच्यावयति" ।

इस मन्त्र को तीन बार बोलता है । यज्ञ त्रिवृत् होता है । सूर्य्य का नाम ही यज्ञ है । प्रातःकाल से सायंकाल तक सूर्य्य की सत्ता रहती है । इसमें चढ़ाव, समता, उतार-ये तीन भाव रहते हैं । इन्हीं तीनों को प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और सायंसवन कहते हैं—चूंकि देवता त्रिसत्य हैं अतएव मन्त्र तीन बार बोला जाता है—

"त्रिष्कृत्व आह-त्रिवृद्धि यज्ञः" ॥१७॥

सुब्रह्मण्या के अनन्तर इन्द्र को बुलाते है । इन्द्र यज्ञ के देवता हैं । अतएव उन्हें यज्ञ में बुलाना तथा उनकी स्तुति करना अत्यन्त आवश्यक है । उनको बुलाने का मन्त्र है—

"इन्द्रागच्छेति- इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता । तस्मादाह-इन्द्रागच्छेति । हरिव आगच्छ । मेधातिथेर्मेष वृषणश्वस्य मेने । गौरावस्कन्दिन् अहल्यायै जारेति" ।

इन्द्र जिस अश्व पर चलते हैं उसका नाम हरि है । अतएव इन्द्र को हरिवाहन कहा गया है । हे हरिवाहन ! आप यज्ञ में पधारिए-यही 'हरिव आगच्छ' का तात्पर्य है । इन्द्र मेधातिथि के यज्ञ में मेष बन कर गए थे अतएव **"मेधातिथिर्मेषः"** कहा है । ये दोनों विशेषण इन्द्र के मानवीकरण के अभिप्राय से दिए गए हैं ।

इन्द्र के ये घोड़े (सातों छन्द) अत्यन्त बलिष्ठ हैं । हे गौरावस्कन्दिन् अर्थात् गौर नाम के पशु को मारने वाले इन्द्र ! हे अहल्या के जार !! आप हमारे यज्ञ में पधारिए ।

जो दिन का नियमन करती है उसी का नाम अहर्य्या है । दिन का नियमन करने वाली रात्रि ही है । रात ही दिन की आजादी को छीनती है । अतएव **"अहर्य्यामयति नियच्छति**—इस व्युत्पत्ति से रात्रि को अहर्य्या कहा जाता है । परोक्षप्रिय देवता-अहर्य्या को अहल्या शब्द से व्यवहृत किया करते हैं । सूर्य्य के अन्यतम प्राण का नाम ही इन्द्र है । इसके आते ही अहल्या जीर्ण-शीर्ण हो जाती है । प्रातःकाल में दो घड़ी के शेष रहते ही सूर्य्य अर्थात् इन्द्र की सत्ता स्थापित हो जाती है । तड़का

उगी (पौ फटते ही) आसमान में सफेदी चमकने लगती है। उसी समय गोतम जो कि अहल्या का पति है, भाग जाता है।

गौ पृथिवी का नाम है। तम अन्धकार का नाम है। जहाँ इन्द्र आया कि पृथिवी का तम नष्ट हुआ। चूँकि इन्द्र ही अहल्या को जीर्ण-शीर्ण करता है अतएव "अहिल्या जीरयति"—इस व्युत्पत्ति से उस सौर प्राण को, इन्द्र को, अहल्या-जार कहा जाता है। अपिच उदय होते ही सूर्य्य की सहस्र रश्मियां संसार में फैल जाती हैं—ये ही इन्द्र के सहस्र भग हैं—इसीलिए मीमांसादर्शनकार कहते हैं—

"सवितै वाहनि लीयमानतया रात्रेरहल्या शब्द वाच्यायाः शयात्मक जरणहेतुत्वात् जीर्य्यत्यस्मादनेन वोदितेन वेत्यहल्याजार उच्यते नतुपरस्त्री व्यवहारात्"—इति। (जै० सू० ६।१।४१-४४ अधि०१५)

इन निगद (व्याख्यान) मन्त्रों का तात्पर्य्यार्थ बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि अध्वर्यु इस इन्द्र के जोउत्तमोत्तम चरित्र हैं उन्हीं के स्तवन से इसकी अनुग्रह-प्राप्ति की इच्छा करता है। विरुदावली बखान कर इन्द्र को अपने ऊपर प्रसन्न करना चाहता है—

"तद्यान्येवास्य चरणानि तैरेवैनमेतत् प्रमुमोदयिषति" (प्रमोदयितुमिच्छति)।।१८।,

"कौशिक ब्राह्मण गौतम ब्रुवाणेति"।

इन्द्र आकाश में कुल १४ हैं। चित्रा को भी इन्द्र कहते हैं। इसीलिए—**"स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा"**—(ऋ० मं० १।८९।६) यह कहा जाता है। उत्तर में ध्रुव के समीप भी एक इन्द्र है, एवं दक्षिण में पञ्चपक्षियों में भी एक कौशिक इन्द्र है। गौतम ब्रुवाण-इसका सबसे पहले दूर तक गौतम महर्षि ने प्रचार किया था, जो याज्ञवल्क्य के गुरु थे। इन्होंने ही इसका प्रतिपादन किया था। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इसमें कामचार है। चाहो तो बोल सकते हो-नहीं तो इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"शश्वद्धैतदारुणिनाऽधुनोपज्ञातं-यद्गौतम ब्रुवाणेति। स यदि कामयेत ब्रूयादेतद्। यद्यु कामयेत-अपि नाद्रियेत। इत्यहे सुत्यामिति"।

जिस दिन सुत्या होती है, जितने दिन तक होती है उन दिनों का, उतने दिन तक ऊह करना पड़ता है। उस दिन का नाम ले कर देवता का आह्वान करना पड़ता है—

"यावदहे सुत्या भवति (तावदहे। इत्यहे-अस्मिन् दिने-सुत्यामागच्छ इति वक्तव्यमिति भावः") ।।१९।।

"देवा ब्रह्माण आगच्छत"—इति।

हे देवताओ और ब्राह्मणो ! अर्थात् ऋत्विजो !! आप मेरे इस यज्ञ में पधारिए। 'देवा ब्राह्मणं' इत्यादि मन्त्र से यजमान देवता और ब्राह्मणों की ओर संकेत करता है। इस यज्ञ में दोनों से ही प्रयोजन सिद्ध होता है। देवता आहुति लेने वाले हैं। ऋत्विग् लोग आहुति देने वाले हैं—अतएव दोनों को बुलाते हैं—

"तद् देवांश्च ब्राह्मणांश्चाह–एतैर्ह्यत्रोभयैरर्थो भवति यद्देवैश्च ब्राह्मणैश्च"—इति ॥२०॥

इसके अनन्तर 'प्रतिप्रस्थाता' नाम का ऋत्विक् शाला के पूर्व भाग में अग्नीषोमीय पशु के साथ उपस्थित होता है। प्रतिप्रस्थाता को चाहिए कि अग्नीषोमीय पशु ले कर जाते हुए उसे सोम के अभिमुख ले जा कर खड़ा कर दे—

"अथ प्रतिप्रस्थाता। अग्रेण शालामग्नीषोमीयेण पशुना प्रत्युपतिष्ठते"।

सोम के सामने अग्नीषोमीय पशु ले कर उपस्थित होने की क्या आवश्यकता है ? इसका कारण बतलाते हैं।

जो यजमान दीक्षा लेकर दीक्षित बनता है, उसे अग्नि और सोम अपनी दाढ़ के बीच में दबा लेते हैं। यज्ञस्वरूप को आत्मसात् करने के लिए दीक्षणीयेष्टि करनी पड़ती है। उसमें आग्नावैष्णव एकादश कपाल पुरोडाश किया जाता है। अग्नि पूर्वावसु है, विष्णु उत्तरा-आदित्य है। अर्थात् ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्यों में सबसे पहला वसु अग्नि है। अन्तिम १२ वाँ आदित्य विष्णु है। इन आदि-अन्त के देवताओं को पकड़ने से सारे देवता पकड़ में आ जाते हैं—

"अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः"।
(ऐत० ब्रा० १।१)

आग्नावैष्णव एकादशकपाल पुरोडाश द्वारा अग्नि विष्णु-स्वरूप यज्ञ को दीक्षणीयेष्टि द्वारा आत्मसात् कर लेता है, जिसका कि विस्तृत विवेचन "दीक्षणीयेष्टि ब्राह्मण" में कर दिया गया है। इस दीक्षणीयेष्टि से यजमान अग्नि एवं सोम (विष्णु) के बीच में-दोनों की दाढ़ में-आ जाता है। उस व्यापक आग्नावैष्णव यज्ञ के पेट में यजमानात्मा बद्ध हो जाता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"अग्नीषोमौ वाऽएतमन्तर्जम्भऽआदधाते–यो दीक्षते"।

दीक्षा लेने वाला यजमान अग्निसोम की दाढ़ में आ जाता है—यह कहना गलत है। क्योंकि दीक्षणीयेष्टि से आग्नावैष्णव एकादशकपाल पुरोडाश होता है न कि अग्नीषोमीय में। अतएव 'अग्नीषोमौ अन्तर्जम्भऽआदधाते'–यह कहना गलत है। इसी पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

अदः अर्थात् प्रायणीय इष्टि से भी अतिपूर्व-अधिकारसमर्पणरूप आग्नावैष्णव दीक्षणीय हवि होती है। अधिकार-समर्पण-रूपा दीक्षणीयेष्टि में आग्नावैष्णव एकादशकपाल पुरोडाश का निर्वाप होता है। इसमें जो विष्णु है—वही सोम है। विष्णु कहते हैं संवत्सराग्नि को, जो कि पृथ्वी के २१ वें अहर्गण तक रहता है। अतएव इस विष्णु को यज्ञ कहा जाता है। २१ वें स्थान पर रहने वाले इस अग्नि में पारमेष्ठ्य सोम की आहुति होती रहती है। इसी से विष्णु की, अर्थात् यज्ञ की, सत्ता रहती है। सोम अन्न है—विष्णु स्वरूप संवत्सराग्नि अन्नाद है, अर्थात् भोक्ता है। अन्न, अन्नाद में जा कर अन्नाद ही बन जाता है। भुक्त अन्न आत्मस्वरूप में परिणत हो जाता है। अतएव हम विष्णु को सोम कहने के लिए तैय्यार हैं। ऐसी अवस्था में अग्निसोमीय कहो या आग्नावैष्णव कहो–कुछ भी विरोध नहीं आता है—

"आग्नावैष्णवं ह्यदो दीक्षणीयं हविर्भवति। यो वै विष्णुः। सोमः स हविर्वाऽएष भवति–यो दीक्षते"।

जो दीक्षणीयेष्टि द्वारा कृष्णमृगचर्म्म पर बैठ कर दीक्षा ले लेता है, वह देवताओं की हवि बन जाता है, देवताओं का पशु अर्थात् भोग्य बन जाता है। वह अग्नि और सोम अर्थात् विष्णु दोनों की दाढ़ में आ जाता है। बस अग्नीषोमीय पशु को दे कर इससे यह यजमान अपने आत्मा को–उन दोनों की दाढ़ में से छुड़ा लेता है, पशु चूंकि अग्नीषोमीय है, अतः उसे देने से यजमान उन दोनों की दाढ़ से निकल भी जाता है। यदि ऐसा न किया जाएगा तो एक वर्ष के भीतर यजमान मर जाएगा—

"तदेनमन्तर्जम्भऽआदधाते–तत् पशुनात्मानं निष्क्रीणीते" ॥२१॥

इस अग्नीषोमीय पशु का आलम्भन किया जाता है। इसके लिए अग्नि लायी जाती है। अग्नि का उल्मुक बना कर लाया जाता है। उसे अग्नीषोमीय पशु पर फिराया जाता है। यहाँ पर कितने ही आचार्य आहवनीयाग्नि से उल्मुक लाते हैं। आहवनीय अग्नि में से ही अग्नि का पूला लाना चाहिए यही उनका सिद्धान्त है। आहवनीय से ही क्यों लाना चाहिए–गार्हपत्य से क्यों नहीं लाए? इसका कारण यह बतलाते हैं कि यह पशु अग्नीषोमीय है; अतएव उल्मुक ऐसा चाहिए जिसमें अग्नि और सोम दोनों साथ रहते हैं। दोनों के साथ रहने से ही दोनों देवताओं से आत्मा खरीद लिया जाएगा।

आहवनीय में जुपा (जलता हुआ) जो उल्मुक है—वह अग्नि भी है और सोम भी है। इस आहवनीय में सोम की आहुति दी जाती है। आहवनीयाग्नि सोममय है। अतएव इसमें जुपा हुआ (जलता हुआ) पूला अग्नि भी है और सोममय भी है। यजमानात्मा अग्नि–सोम दोनों की दाढ़ में है। अतएव ऐसा उल्मुक फिराना चाहिए जो कि अग्निसोममय हो। इस प्रकार आहवनीयाग्नि से प्रज्वलित किया हुआ यह पूला अग्नि भी है और सोम भी है। इन दोनों से, जो कि साथ रहने वाले हैं, हम यजमानात्मा को इस अग्नि-सोम देवता की दाढ़ में से निकालेंगे। यह कहते हुए, यह उपपत्ति बतलाते हुए, कितने ही याज्ञिक आहवनीयाग्नि में से उल्मुक लाते हैं—

"तद्धैके । आहवनीया दुल्मुकमाहरन्ति । अयमग्निः, अयं सोमः । ताभ्यां सहसद्भ्यां निष्क्रेष्यामहे–इति वदन्तः" ।

परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य इस मन्त्र का खण्डन करते हुए कहते हैं—कि ऐसा कभी नहीं करना चाहिए । आहवनीयाग्नि ही सोममय है, यह बात नहीं है । जहाँ पर ये दोनों रहते हैं वहाँ साथ ही रहते हैं । न अग्नि, बिना सोम के रहता है और न सोम, बिना अग्नि के रहता है । दोनों अविनाभूत हैं । अग्नि और सोम की तो ऐसी मित्रता है–ऐसी मित्रता है कि कभी एक दूसरे से जुदा हो ही नहीं सकते । अतएव श्रुति कहती है—

"अग्निर्जागार तमृचः कामयन्तेऽग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः" ।।

(ऋग्वेद मं० ५।४४।१५)

आहवनीयाग्नि में ही चूंकि सोम की आहुति होती है अतएव वही अग्नि सोममय है । अन्य अग्नि सोममय नहीं है । और अत्यावश्यकता है अग्नि तथा सोम दोनों की । अतएव आहवनीय से उल्मुक लेना चाहिए, ऐसा कहना अवैज्ञानिक है । वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर कोई भी अग्नि ऐसा नहीं मिलता जिसमें कि सोम न हो एवं न सोम ही बिना अग्नि के रहता है–अतएव आहवनीय से ही उल्मुक लाना चाहिए–इस नियम को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है—

"तदु तथा न कुर्यात् । यत्र वाऽएतौ क्व च–तत्सहैव" ।।२२।।

वह अग्नि–सोमीय पशु द्विरूप (दुरंगा) होता है । कारण इसका यही है कि यह पशु अग्नि और सोम भेदेन द्विदेवत्य होता है । यह दोनों देवताओं की (अग्निसोम की) चीज है । ऐसी अवस्था में यदि एक ही रंग का होगा तो देव–प्राणों में परस्पर विरोध हो जाएगा । ऐसा न हो, दोनों देवताओं में झगड़ा न हो–अतएव दुरंगा पशु ही होना चाहिए—

"स वै द्विरूपो भवति । द्विदेवत्यो हि भवति । देवतयोरसमदे । (द्विरूपो भवतीति शेषः)" इति ।

कई आचार्यों का कहना है कि यह पशु कृष्ण–सारंग होना चाहिए । कबूतरी रंग को कृष्ण–सारंग रंग कहते है । जिसमें सफेद और काला दोनों रंग मिले हैं, उसे–कृष्णसारंग–कहते हैं । इसी को संस्कृत भाषा में कर्बुर किंवा शबल भी कहते हैं । कृष्णसारंग ही इन दोनों देवताओं का अधिक तम अभिमत रूप है । अग्नि अर्थात् अंगिरा का रूप काला है एवं सोम का रूप शुक्ल है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि दक्षिण में अग्नि रहता है, अतएव दक्षिण के जितने भी आदमी हैं वे १०० में से ९९ काले रंग के होते हैं एवं सोम उत्तर में होता है, अतएव उत्तर में १०० में से ९९ मनुष्य गौर वर्ण के होते हैं ।

अतएव मानना पड़ता है कि अग्नि का वर्ण काला है—सोम का वर्ण गोरा है। यह पशु अग्नीषोमीय है अतः कृष्णसारंगवर्ण का ही होना चाहिए।

यदि उस समय खोज करने पर भी कृष्णसारंग न मिले तो फिर लोहित सारंग भी ले लेना चाहिए।

अंगिरा अर्थात् अग्नि जब तक सुप्त रहता है, तब तक काले वर्ण में परिणत रहता है। जब यह जलता है तो लालरूप धारण कर लेता है। इसकी ज्वालाएँ हिरण्य वर्ण की हो जाती हैं। अतएव लोहित सारंग पशु भी लिया जा सकता है—

"कृष्णसारंगः स्यादित्याहुः–एतद्धयेनयो रूपतममिवेति। यदि कृष्णसारङ्गं न विन्देदथोऽअपि लोहितसारंगः स्यात्" ॥ २३ ॥

जिस समय प्रतिप्रस्थाता उस कृष्णसारंग अथवा लोहितसारंग पशु को ले आता है तो अध्वर्यु यजमान से यह मन्त्र बुलवाता है—

"नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतं सपर्यत।
दूरे दृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत" ॥

बाह्यचक्षु, और अन्तश्चक्षुभेदेन चक्षु दो प्रकार के होते हैं। इन दोनों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। बाह्यचक्षु सूर्य्य नाम से प्रसिद्ध है, आन्तरचक्षु चक्षु नाम से प्रसिद्ध है। यदि सूर्य्य रहता है, तो अन्तश्चक्षु काम देते हैं, यदि अन्तश्चक्षु होते हैं तो सूर्य्य काम देता है। आँखों में जो प्रकाश है वह सूर्य्य का प्रकाश है। अतएव "**सूर्य्यो मे चक्षुषि श्रितः**"। (तैत्ति० ब्रा० ३।१०।८।५) यह कहा जाता है। सूर्य्य-चक्षु त्रिवृत् है। वरुण, मित्र, अर्यमा (अर्थात् अग्नि) इन तीनों के योग से सूर्य्य चक्षुष्वान हुआ है–अतएव "**चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः**" (ऋग्वेद मं. १।११५।१) कहा जाता है। चूँकि सूर्य्य त्रिवृत् है। अतएव हमारे चक्षु भी त्रिवृत् हैं, सबसे पहले सफेद हैं–बाद में काले हैं, उनके पेट में कृष्ण कनीनिका है। सूर्य्य महाचक्षु हैं एवं हमारे चक्षु प्रातिस्विक हैं—अल्प हैं। हमारी आँख से हम ही देख सकते हैं। परन्तु सूर्य्य चक्षु से समस्त संसार को देख सकता है, अतएव महाचक्षु कहलाता है। सूर्य्य को पूर्वोक्त मन्त्र से नमस्कार किया जाता है। मित्र–वरुण (और अग्नि) के जो चक्षु हैं, उनको हम नमस्कार करते हैं। मित्र पूर्व–कपाल का नाम है। वरुण पश्चिम–कपाल का नाम है। अग्नि–प्रसिद्ध ही है। तीनों के चक्षु अर्थात् स्वरूप कायम रखने वाले यही सूर्य्य हैं। सूर्य्य से पूर्व–पश्चिम कपाल की व्यवस्था होती है। यही अग्नि-धन हैं–दिन मित्र को कहते हैं–रात्रि वरुण को कहते हैं। दोनों के अधिष्ठाता सूर्य्य ही हैं–ऐसे सूर्य्य को नमस्कार है!

हे ऋत्विज! अन्ये च प्राणिनः आप ऐसे महादेव के लिए ऋत को प्रदान कीजिए–सोम–निवेदन कीजिए। अग्नि, वायु, सूर्य्य तीनों क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के अधिष्ठाता हैं। पार्थिव प्रकाश

का नाम अम्भः है । अन्तरिक्ष प्रकाश का नाम नभः है और द्यु लोक के प्रकाश का नाम महः है। ये तीनों ही आम्भस, नाभस, माहस, देवता कहलाते है । सूर्य्य के प्रकाश का नाम 'मह' है अतएव महोदेवाय कहा गया है । परमेष्ठिमण्डल का जो सोम है वह इस सूर्य्य में आहुत होता रहता है। अग्नि सत्य है । सोम ऋत है । सोम से यही निवेदन किया जाता है ।

अपि च हे मनुष्यो ! बड़ी दूर तक जिसकी दृष्टि जाती है, अर्थात् जो सारे ब्रह्माण्ड को देख रहा है अथवा जो बहुत दूर पर दिखलाई पड़ता है ऐसे सूर्य्य के प्रति, जिससे देवता उत्पन्न हुए हैं ऐसे देवजात के प्रति (**आहिताग्न्यादिषु इत्यनेन देव शब्दस्य पूर्वनिपातः**) अथवा देव-समूह के प्रति (जातः शाब्दः समूह-वाची) एवं बुद्धि प्रदाता जो दिन के पुत्र सूर्य्य हैं—उन के प्रति स्तुति करो । हम सब मिल कर उसकी स्तुति करें ।

यह पशु आग्नावैष्णव है । अग्नि और विष्णु के लिए ही पशु दिया जाता है । अग्नि आदि में है, विष्णु अन्त में है । अग्नि-विष्णु को देना ३३ देवताओं को देना है । सूर्य्य में ३३ देवता हैं । इसीलिए—

"चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अंतरिक्षं सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" ।
(ऋग्वेद मं० १।११५।१)

यह कहा जाता है । अतएव लाघवात् अज को सूर्य्य के प्रति निवेदित (अर्पित) किया जाता है । सम्पूर्ण मन्त्र का तात्पर्य्यार्थ बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—यह यजमान इस मन्त्र से सूर्य्य के प्रति ही नमस्कार करता है । इस सूर्य्य को मित्रधेय अर्थात् अपने ऊपर कृपा दृष्टि करने वाला बनाता है—

"नम एवास्माऽएतत्करोति । मित्रधेयमेवैनेनैतत्कुरुते" ।।२४।।

इसके अनन्तर अध्वर्यु—

"वरुणस्योत्तम्भनमसि" ।

यह बोलता हुआ शकट को-आरोहण को-जो कि उत्तम्भन नाम से प्रसिद्ध है—खोल देता है । शकट के आगे दो लकड़ियाँ बँधी रहती हैं । बँधी हुई उन दोनों लकड़ियों को खोल दिया जाता है । इससे गाड़ी जमीन पर न टिक कर उसी समभाव से खड़ी रहती है । इस उत्तम्भी को कस्तम्भनी भी कहते हैं । अब सोम को उतारना है । अतएव बैलों को खोलने के पहले शकट में बँधी हुई दोनों लकड़ियों को "**वरुणस्योत्तम्भनमसि**"—यह बोलता हुआ खोल देता है । उपस्तम्भन से उस शकट का स्तम्भन करता है—नीचे गिरने से बचाता है । यदि दोनों लकड़ियों को जमीन पर बिना टेके ही बैल खोल दिये जाएँगे तो वरुण (सोम) जमीन पर खिसक जाएगा । चूँकि इन दोनों के कारण वरुण जमीन पर नहीं गिर पाता अतएव आप वरुण के उपस्तम्भन हो—यह कहा जाता है

"उपस्तम्भनेनोपस्तभ्नाति" ।

सोम वरुण ही है, यह हम बतला आए हैं। अतएव "वरुणस्य" कह दिया गया है।

इसके बाद बैलों के गले में बँधी हुई चर्म्म की पट्टी–जिन कीलों के आधार पर जूड़े (जूए) में टिकी रहती है, उनको—

"वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थः" ।

कहता हुआ निकाल लेता है। हे कीलो ! आप स्कम्भसर्जनी हो। ऐसे आपको मैं निकालता हूँ। इस प्रकार दोनों कीलों को निकाल कर बैलों के जूड़े उतार देता है। असल में "स्कम्भसर्जनी" सोम की है, न कि वरुण की। फिर वरुणस्य क्यों कहा जाता है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि सोम आज बँधा हुआ है। बंधन वरुणदेवताक है। अतएव "वरुणस्य स्कम्भ"—इत्यादि कहा गया है।

"वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थ इति । शम्येऽउद्वृहति स यदाह वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थ इति । वरुण्यो ह्येष एतर्हि भवति यत्सोमःक्रीतः" ।।२५।।

सोम उतार लिया गया–इसके अनन्तर ऋत्विग् लोग, सोमराजा के आसीन होने के लिए नियत सिंहासन को लाते हैं—

"अथ चत्वारो राजासन्दीमाददते" ।

सोम की आसन्दी लाने हेतु चार ऋत्विक क्यों आएँ ? इसका कारण बतलाते हैं कि जो मनुष्य राजा है उसके लिए ही जब दो आदमी आते हैं अर्थात् मनुष्याधिपति की आसन्दी को ही दो आदमी उठाते हैं तो सोम तो उन राजाओं का भी राजा है, देवाधिपति है, अखिल विश्व का स्वामी है। अतएव इसकी आसन्दी की प्रतिष्ठार्थ उसे चार ऋत्विक् क्यों न उठाएँ ?

"द्वौ वाऽअस्मै मानुषाय राज्ञऽआददाते । अथैतां चत्वारो योऽस्य सकृत् सर्वस्येष्टे" ।।२६।।

यह आसन्दी औदुम्बरी (गूलर की लकड़ी की) होती है—"औदुम्बरी भवति"। अन्न ही ऊर्क् है। अन्न खाने के बाद जो रौनक आ जाती है–उसी का नाम ऊर्क्–बल–है। जो उदुम्बर का वृक्ष है वह ऊर्म्मय है अर्थात् संसार में यदि किसी औषधि में अधिक बल है तो वह यही उदुम्बर है। गूलर से अधिक ताकतवर कोई वस्तु नहीं है। बस अन्नाद्य के संग्रह के लिए–बल को आत्मसात करने के लिए–बलयुक्त सोम में और बलाधान करने के लिए–औदुम्बरी आसन्दी होती है—

"अन्नं वाऽऊर्क् । उदुम्बर ऊर्जः । अन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै । तस्मादौदुम्बरी भवति ।।२७।।

वह आसन्दी नाभि जितनी ऊँची होती है। हम जो अन्न खाते हैं, वह नाभि में जा कर प्रतिष्ठित होता है। रसमात्र का विभाग नाभि से होता है। सोम भी देवताओं का अन्न है। प्रकृतिवत् इसे नाभि-स्थान में ही प्रतिष्ठित करना चाहिए। अतएव वह आसन्दी नाभिदघ्ना (नाभिप्रमाण) होती है।

"अत्र (नाभिस्थाने) वाऽअन्नं प्रतितिष्ठति, अन्नं सोमः। तस्मान्नाभिदघ्ना भवति" ॥

अपि च-इस नाभि में ही वीर्य्य का स्थान है। यद्यपि वीर्य्य रहता है सर्वांग शरीर में तथापि ऊर्ध्वरेता, अधोरेता, तिर्य्यक्रेता-ये तीनों विभाग इसी केन्द्र से होते हैं। सोम भी रेत है। प्रकृत में सोम का स्थान नाभि है। अतएव यह आसन्दी अत्रदघ्ना अर्थात् नाभिदघ्ना होती है—

"अत्रोऽएव रेतस आशयः। रेतः सोमः। तस्मादत्रदघ्ना भवति" ॥२८॥

'**वरुणस्य**' यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु उस कुर्सी का स्पर्श करता है। हे आसन्दी, आप वरुण की ऋतसदनी हैं—वरुण अर्थात् सोम परमेष्ठी-स्थान में रहता है। परमेष्ठी ऋत पदार्थ है। अतएव इस कुर्सी में उसी ऋतस्थान की भावना करते हैं-

"वरुणस्यऽऋतसदन्यसि"।

इसके अनन्तर-वरुणस्य ऋतसदन्यसि-कहते हुए उस आसन्दी पर कृष्णमृगचर्म बिछा देते हैं। हे कृष्णमृगचर्म ! आप वरुण के ऋतस्थान हो। इसके अनन्तर—

"वरुणस्यऽऋतसदनमसि"।

यह बोलते हुए सोम को उस पर विराजमान कर देते हैं। हे सोम ! आप वरुण के ऋत-सदन में-अपने स्थान में-विराजिए। आपके बैठने के स्थान पर आपके अतिरिक्त और कौन बैठ सकता है ? यह क्रीत सोम, बँधे रहने के कारण वरुण रहता है अतएव "**वरुणस्य**" कहा जाता है—

"स यदाह—वरुणस्यऽऋतसदनमासीदेति। वरुण्यो ह्येष एतर्हि भवति" ॥२९॥

इसके अनन्तर उस सोम राजा को यज्ञशाला में पहुँचा देते हैं—

"अथैनं शालां प्रपादयति"।

जिस समय यज्ञशाला में सोम को विराजमान करते हैं, उस समय अध्वर्यु यजमान से निम्नलिखित मन्त्र बुलवाता है—

"या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम् ।
गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्रचरा सोम दुर्यान्" ॥

हे सोम ! आपके जिन–जिन स्थानों में (कर्म्मों में) हवि से यजन किया जाता है, आप ही को हवि–रूप में परिणत कर, आपके जिन स्थानों का ऋत्विक् लोग यजन करते हैं, उन सब स्थानों को एवं यज्ञ को आप व्याप्त कर लें । अर्थात् ये सारे कर्म्म स्वतन्त्र न हो जाएँ, अपितु अंगी जो यज्ञ है, उसके सहकारी बनें ।

हे सोम ! आप गयस्फान हैं अर्थात् गृहवर्धक हैं, वृद्धिकारक हैं एवं आप प्रतरण हैं, आपत्ति–निवारक हैं, सुवीर हैं, अर्थात् अच्छी शिकस्त देने वाले हैं । ऐसे आप अवीरहा अर्थात् कृपालु बन कर यजमान की यज्ञ–शाला में विराजिए । अब तक बन्धन में थे, अब स्वतन्त्रता से घूमिए । मन्त्र का तात्पर्य्यार्थ बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं–

घरों को ही दुर्य कहते हैं । आप हमारे लिए कल्याण–मूर्ति बन कर घर में विचरें–यही अर्थ है–

"गृहा वै दुर्याः । गृहान्नः शिवः शान्तोऽपापकृत् प्रचरेत्येवैतदाह" ॥३०॥

कितने ही याज्ञिक लोग सोम के आने पर गृहागत राजा के लिए जैसे पूजार्थ जल लाया जाता है, तथैव यहाँ भी जल लाना चाहिए, यह उपपत्ति बतलाते हुए उदक–पात्र लाते हैं । परन्तु ऐसा कभी नहीं करना चाहिए । जो काम विधि में नहीं है उसे अपनी ओर से शामिल करना यज्ञ को समृद्धि–शून्य करना है—

"तस्मान्नोपनिनयेत्" ॥३१॥

॥ इति सोमपर्याणहनब्राह्मणं समाप्तम् ॥

॥ इति तृतीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥

॥ इति तृतीयकाण्डे तृतीयोऽध्यायश्च समाप्तः ॥

— ४ —

अथ

चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

'आतिथ्येष्टि ब्राह्मणम्'

[मूल] शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं बाहू प्रायणीयोदयनीयौ। अभितो वै शिरो बाहू भवतः। तस्मादभित आतिथ्यमेते हविषी भवतः प्रायणीयश्चोदयनीयश्च ॥१॥

अथ यस्मादातिथ्यं नाम। अतिथिर्वाऽएष एतस्यागच्छति यत्सोमः क्रीतः। तस्माऽएतद्यथा राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महाजं वा पचेत्तदह मानुषं हविर्देवानामेवमस्माऽएतदातिथ्यं करोति ॥२॥

तदाहुः। पूर्वोऽतीत्य गृह्णीयादिति यत्र वाऽअर्हन्तमागतं नापचायन्ति क्रुद्ध्यति वै स तत्र तथा हापचितो भवति ॥३॥

तद्वा ऽअन्यतरऽएव विमुक्तः स्यात्। अन्यतरोऽविमुक्तोऽथ गृह्णीयात्स यदन्यतरो विमुक्तस्तेनागतो यद्वन्यतरोऽविमुक्तस्तेनापचितः ॥४॥

तदु तथा न कुर्यात्। विमुच्यैव प्रपाद्य गृह्णीयाद्यथा वै देवानां चरणं तद्वाऽअनु मनुष्याणां तस्मान्मानुषे यावन्न विमुञ्चते नैवास्मै तावदुदकं हरन्ति नापचितिं कुर्वन्त्यनागतो हि स तावद्भवत्यथ यदैव विमुञ्चतेऽथास्माऽउदकं हरन्त्यथापचितिं कुर्वन्ति तर्हि हि स आगतो भवति तस्माद्विमुच्यैव प्रपाद्य गृह्णीयात् ॥५॥

स वै सन्त्वरमाण इव गृह्णीयात्। तथा हापचितो भवति तत्पत्न्यन्वारभते पर्युह्यमाणं वै यजमानोऽन्वारभतेऽथात्र पत्न्युभयत एवैतन्मिथुनेनान्वारभेते यत्र वाऽअर्हन्नागच्छति सर्वगृह्याऽइव वै तत्र चेष्टन्ति तथा हापचितो भवति ॥ ६ ॥

स वाऽअन्येनैव ततो यजुषा गृह्णीयात् । येनो चान्यानि हवींष्येकं वाऽएष भागं क्रीयमाणोऽभिक्रीयते च्छन्दसामेव राज्याय च्छन्दसां साम्राज्याय तस्य च्छन्दांस्यभितः साचयानि यथा राज्ञोऽराजानो राजकृतः सूतग्रामण्य एवमस्य च्छन्दांस्यभितः साचयानि ।।७।।

न वै तदवकल्पते । यच्छन्दोभ्य इति केवलं गृह्णीयाद्यत्र वाऽअर्हते पचन्ति तदभितः साचयोऽन्वाभक्ता भवन्त्यराजानो राजकृतः सूतग्रामण्यस्तस्माद्यत्रैवैतस्यै गृह्णीयात्तदेव च्छन्दांस्यन्वाभजेत् ।।८।।

स गृह्णाति । अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वेत्यग्निर्वै गायत्री तद्गायत्रीमन्वाभजति ।।९।।

सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वेति । क्षत्रं वै सोमः क्षत्रं त्रिष्टुप्तत्त्रिष्टुभमन्वाभजति ।।१०।।

अतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वेति । सोऽस्योद्धारो यथा श्रेष्ठस्योद्धारऽएवमस्यैषऽऋते च्छन्दोभ्यः ।।११।।

श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे त्वेति । तद्गायत्रीमन्वाभजति सा यद्गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत्तेन सा श्येनः सोमभृत्तेनैवैनामेतद्वीर्येण द्वितीयमन्वाभजति ।।१२।।

अग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वेति । पशवो वै रायस्पोषः पशवो जगती तज्जगतीमन्वाभजति ।।१३।।

अथ यत्पञ्च कृत्वो गृह्णाति । संवत्सरसंमितो वै यज्ञः पञ्च वाऽऋतवः संवत्सरस्य तं पञ्चभिराप्नोति तस्मात्पञ्च कृत्वो गृह्णात्यथ यद्विष्णवे त्वा विष्णवे त्वेति गृह्णाति विष्णवे हि गृह्णाति यो यज्ञाय गृह्णाति ।।१४।।

नवकपालः पुरोडाशो भवति । शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं नवाक्षरा वै गायत्र्यष्टौ तानि यान्यन्वाह प्रणवो नवमः पूर्वार्धो वै यज्ञस्य गायत्री पूर्वार्ध एष यज्ञस्य तस्मान्नवकपालः पुरोडाशो भवति ।।१५।।

कार्ष्मर्यमयाः परिधयः । देवा ह वाऽएतं वनस्पतिषु राक्षोघ्नं ददृशुर्यत्कार्ष्मर्यं शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं नेच्छिरो यज्ञस्य नाष्ट्रा रक्षांसि हिनसन्निति तस्मात्कार्ष्मर्यमयाः परिधयो भवन्ति ॥१६॥

आश्ववालः प्रस्तरः । यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम सोऽश्वो भूत्वा पराङाववर्त तस्य देवा अनुहाय वालानभिपेदुस्तानालुलुपुस्तानालुप्य सार्द्धं संन्यासुस्तत एता ऽओषधयः समभवन्यदश्ववालाः शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं जघनार्धो वालाऽ उभयत ऽएवैतद्यज्ञं परिगृह्णाति यदाश्ववालः प्रस्तरो भवति ॥१७॥

ऐक्षव्यौ विधृती । नेद्बर्हिश्च प्रस्तरश्च संलुभ्यातऽइत्यथोत्पूयाज्यं सर्वाण्येव चतुर्गृहीतान्याज्यानि गृह्णाति न ह्यत्रानुयाजा भवन्ति ॥१८॥

आसाद्य हवींष्यग्नि मन्थति । शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं जनयन्ति वाऽएनमेतद्यन्मन्थन्ति शीर्षतो वाऽअग्रे जायमानो जायते शीर्षत ऽएवैतदग्रे यज्ञं जनयत्यग्निर्वै सर्वा देवता ऽअग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं शीर्षत ऽएवैतद्यज्ञं सर्वाभिर्देवताभिः समर्धयति तस्मादग्नि मन्थति ॥१९॥

सोऽधिमन्थनं शकलमादत्ते । अग्नेर्जनित्रमसीत्यत्र ह्यग्निर्जायते तस्मादाहाग्नेर्जनित्रमसीति ॥२०॥

अथ दर्भतरुणके निदधाति । वृषणौ स्थ ऽइति तद्यावेवेमौ स्त्रियै साकञ्जावेतावेवैतौ ॥२१॥

अथाधरारणिं निदधाति । उर्वश्यसीत्यथोत्तरारण्याज्यविलापनीमुपस्पृशत्यायुरसीति तामभिनिदधाति पुरूरवा ऽअसीत्युर्वशी वाऽअप्सराः पुरूरवाः पतिरथ यत्तस्मान्मिथुनादजायत तदायुरेवमेवैष ऽएतस्मान्मिथुनाद्यज्ञं जनयत्यथाहाग्नये मथ्यमानायानुब्रूहीति ॥२२॥

स मन्थति । गायत्रेण त्वा च्छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा च्छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा च्छन्दसा मन्थामीति तं वै छन्दोभिरेव मन्थति च्छन्दांसि

मथ्यमानायान्वाह च्छन्दांस्येवैतद्यज्ञमन्वायातयति यथाऽमुमादित्यँ रश्मयो जाता-यानुब्रूहीत्याह यदा जायते प्रह्रियमाणायेत्यनुप्रहरन् ॥२३॥

सोऽनुप्रहरति । भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ । मा यज्ञं हिंसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य न इति शांतिमेवाभ्यामेतद्वदति यथा नाऽन्योऽन्यं हिंस्याताम् ॥२४॥

अथ स्रुवेणोपहत्याज्यम् । अग्निमभिजुहोत्यग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रोऽअभिशस्तिपावा । स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यं सदम-प्रयुच्छन्त्स्वाहेत्याहुत्यै वाऽएतमजीजनत तमेतयाऽऽहुत्याऽप्रैषीत्तस्मादेवमभिजुहोति ॥२५॥

तदिडान्तं भवति । नानुयाजान्यजन्ति शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं पूर्वार्धो वै शिरः पूर्वार्धमेवैतद्यज्ञस्याभिसंस्करोति स यद्धानुयाजान्यजेद्यथा शीर्षतः पर्या-हृत्य पादौ प्रतिदध्यादेवं तत्तस्मादिडान्तं भवति नानुयाजान्यजन्ति ॥२६॥

[अनुवाद] सोमयज्ञ पुरुषस्वरूप है जैसा कि आगे आने वाले 'यज्ञपुरुष ब्राह्मण' में बतलाया जाने वाला है। इस यज्ञपुरुष के प्रायणीय व उदयनीय ये दो हाथ हैं अर्थात् प्रायणीयेष्टि व उदयनीयेष्टि हस्तस्थानापन्न हैं तथा आतिथ्येष्टि मस्तकस्थानापन्न है। मस्तक दोनों हाथों के मध्य में है। अतः यज्ञपुरुष की मस्तकस्थानापन्न आतिथ्येष्टि हस्तद्वय-स्थानापन्न प्रायणीयेष्टि व उदयनीयेष्टि के मध्य में की जाती है। प्रारम्भ में प्रायणीयेष्टि, पश्चात् आतिथ्येष्टि तथा उदयनीयेष्टि की जाती है।

लोक में समागत राजा व ब्राह्मण के लिए महोक्ष (मोटे ताजे बैल) अथवा महाज (बड़े बकरे) का मांस पकाया जाता है। जैसा कि याज्ञवल्क्य स्मृति में 'महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्येत्' यह कहा गया है। यह आतिथ्य मनुष्य-अतिथि के लिए किया जाता है। अर्थात् महोक्ष व महाज-रूप हवि मानुषहवि है। उसी प्रकार देवतारूप इस सोम के सत्कार के लिए आतिथ्येष्टि की जाती है। लौकिक श्रौत्रिय अतिथि के लिए वस्तुतः महोक्ष व महाज का मांस पकाया नहीं जाता है अपितु उनके पकाने की भावना की प्रतिपत्रिमात्र की जाती है, क्यों कि गाय को वेद में अवध्य बतलाया गया है। जैसा कि निम्न श्रुति से स्पष्ट है—

'माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसाऽदित्यानाममृतस्य नाभिः ।
मा गामनागामदिति वधिष्ट" ॥२॥

सोम को शकट से उतारा जाए उससे पूर्व ही सोम को पृष्ठभाग में छोड़ कर यजमान घर में जाकर हवि ग्रहण करे। सोम के यज्ञशाला में आने से पूर्व यदि हवि तैय्यार रखी जाती है तो यह उसकी पूजा होती है और वह घर वाले पर क्रुद्ध व अप्रसन्न नहीं होते ।।३।।

हवि ग्रहण का ठीक समय कौन-सा है, इसमें दो मत हैं। कुछ याज्ञिकों का कथन है कि जिस समय एक बैल को जूड़े से मुक्त कर दिया जाए और दूसरे बैल को जूड़े से मुक्त न किया जाए, उस समय हविर्ग्रहण करना चाहिए।

एक बैल को शकट से मुक्त कर देने से सोम के आने का निश्चय हो जाता है और दूसरे बैल को शकट से मुक्त न करने से सोम की अग्रपूजा भी उपपन्न हो जाती है ।।४।।

परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य का कथन है कि ऐसा न करे। किन्तु दोनों बैलों को शकट से खोल कर सोम को यज्ञशाला में पहुँचा कर ही हवि ग्रहण करनी चाहिए। सोम का पूरा आगमन तभी माना जा सकता है जब दोनों बैलों को शकट के जूड़े से मुक्त कर दिया जाय। प्रकृतिमण्डल में प्राणदेवता जैसा कर रहे हैं वैसा ही मनुष्य-देवताओं ने किया था। और जैसा मनुष्य-देवता यज्ञ में करते हैं वैसे ही वैधयज्ञ में मनुष्य भी करते हैं—'यद्वै देवा अकुर्वं-स्तत् करवाणि'। मनुष्य-देवताओं के लिए, अतिथि के घर में पहुँचने पर उदकाहरण तथा पूजा कर्म्म किया जाता है। अतः शकट से दोनो बैलों के खोलने के बाद, सोम के घर पहुँचने पर ही, उसकी हविर्ग्रहण-रूप पूजा करनी चाहिए ।।५।।

किन्तु घर में सोम के पहुँच जाने पर यजमान शीघ्रता से हविर्ग्रहण करे। तभी सोम पूजित कहलाता है। अन्वारम्भण हो जाता है। सम्मिलित रहने पर ही उसकी पूजा पूरी कहलाती है। अतः घर में सोम लाने तक अकेले यजमान की सेवा में रहने पर भी हविर्ग्रहण रूपी वास्तविक पूजा के समय यजमान-पत्नी के सम्मिलित होने से सभी का पूजा में सम्मिलित होना मान लिया जाता है ।।६।।

किन्तु जिस मन्त्र से अन्य देवताओं के लिए हविर्ग्रहण किया जाता है उस मन्त्र से सोम के लिए हविर्ग्रहण न कर भिन्न मन्त्र से हविर्ग्रहण करना चाहिए क्यों कि वह सामान्य देवता नहीं अपितु विशिष्ट देवता है, राजाधिराज एवं सम्राट् है।

सोम देवता है। देवता के साथ छन्द भी रहते हैं। चूँकि सोम, पृथिवी आदि तीनों लोकों में व्याप्त है, अतः पृथिव्यादि तीनोंलोकों के छन्द गायत्री, त्रिष्टुप् व जगती सोम के भी छन्द कहलाते हैं। ये तीनों छन्द सोम की प्रजा हैं। सोम के लिए हविर्ग्रहण करते समय एक ही हविर्ग्रहण करनी चाहिए। गायत्री आदि छन्दों के लिए पृथक् हविर्ग्रहण करने पर वे छन्द सोम राजा के शासन में नहीं रहेंगे जिससे सोम का राजत्व नष्ट हो जाएगा। किन्तु

एक ही हवि का ग्रहण किया जाएगा तो छन्दोरूप प्रजा को भोजन प्राप्त नहीं होगा। अतः छन्दों की तृप्ति हेतु उस एक ही हवि को अधिक मात्रा में ग्रहण करना चाहिए।

राजा से भिन्न राजपुरुष सूत, ग्रामणी व सेनानी इत्यादि राजा के चौतरफ रहते हैं। उन्हे 'साचय' कहा जाता है। तथैव गायत्री आदि को भी सोम का 'साचय' कहा गया है ॥७॥

सोम के लिए हविर्ग्रहण करते समय छन्दों का नाम लेकर छन्दों के लिए पृथक् हविर्ग्रहण करना सर्वथा अनुचित है। जैसे राजा को निमन्त्रित करने पर साथ वाले राजेतर जन भी सम्मिलित रहते हैं, उसी प्रकार सोम के लिए हविर्ग्रहण करने पर उसके साथ छन्द भी सम्मिलित हो जाते हैं। सोम के साथ उन के लिए हविर्ग्रहण स्वतः हो जाता है ॥८॥

यह यजमान निम्नलिखित मन्त्र बोलता हुआ सोम के लिए हविर्ग्रहण करता है—
"अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा, सोमस्यतनूरसि विष्णवे त्वा, अतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा। श्येनायत्वा सोमभूते विष्णवे त्वा अग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वा" ॥इति॥

इस मन्त्र की व्याख्या ९ वीं कण्डिका से १३ वीं कण्डिका तक की गई है। अर्थात् हे व्रीहिरूप हवि ! आप अग्नि के शरीर हैं। हव्य की आहुति बन्द होते ही अग्निछिन्न हो जाता है। अतः हव्य को अग्नि का शरीर कहा है। मन्त्र में विष्णुपद सोम का बोधक है। जैसा कि 'यो वै विष्णुः सोमः सः' यह श्रुति बतला रही है। गायत्री अग्नि का छन्द है। अतः 'अग्नेस्तनूरसि' यह कहता हुआ यजमान सोम के साथ गायत्री को भी परोक्षरूप से आहुति देता है। इसी अभिप्राय से कहा है—"अग्निर्वै गायत्री। तद्गायत्रीमन्वाभजति" ॥९॥

'सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वा' अर्थात् हे हवि ! आप सोम के शरीर है। अतः मैं आपको विष्णु अर्थात् सोम के लिए ग्रहण करता हूँ। "यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणि इन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान। इति" इस श्रुति के अनुसार सोम क्षत्र है। क्षत्र इन्द्र है। मरुत्वान् इन्द्र अन्तरिक्ष के देवता हैं। अन्तरिक्ष के छन्द का नाम त्रिष्टुप् है। अतः अन्तरिक्षलोक के अधिष्ठाता इन्द्र का छन्द भी त्रिष्टुप् ही है। 'सोमस्य तनूरसि' यह कहने से हवि को सोम का शरीर बतलाते हुए सोम के साथ सोमरूप क्षत्र के छन्द त्रिष्टुप् के लिए परोक्षरूप से हविर्ग्रहण हो जाता है। इसी अभिप्राय से कहा है-"क्षत्रं वै सोमः, क्षत्रं त्रिष्टुप् तत् त्रिष्टुभमन्वाभजति" इति ॥१०॥

हे हवि ! आप अतिथि सोम के आतिथ्य हो। अर्थात् आपके द्वारा ही इस अतिथि सोम का अतिथि-सत्कार किया जाता है। मैं विष्णु अर्थात् सोम के लिए आपका ग्रहण करता हूँ। जैसे समागत श्रेष्ठ पुरुष राजा आदि के लिए भोज्य सामग्री में कोई प्रतिनियत भाग ऐसा होता है जो उसके साथ के राजपुरुषों न दिया जा कर राजा को ही दिया जाता है, इसी प्रकार यह हविर्भाग विशेष रूप से सोम के लिए ही प्रतिनियत है, न कि उसके चौतरफ रहने वाले छन्दों के लिए। प्रतिनियत भाग ही 'उद्धार' कहलाता है ॥११॥

श्येनरूप धारण कर सोमाहरण करने वाली गायत्री एवं सोम के लिए मैं हविर्ग्रहण करता हूँ। गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती इन तीनों छन्दों में गायत्री ही श्येन का रूप धारण सोम लाने में समर्थ हो सकी थी। अतः गायत्री को इस पराक्रम के कारण दुबारा हविर्ग्रहण में अन्वाभक्त (सम्मिलित) किया जाता है ॥१२॥

वैदिक भाषा में पशु ही रायस्पोष या सम्पत्ति है। इसीलिए मूल में कहा है कि पशवो वै रायस्पोष, इति। 'पशवो जगती' इस ब्राह्मण श्रुति के अनुसार जगती पशु-रूप है। और मन्त्र में रायस्पोष अर्थात् पशु प्रदान करने वाले सोम के लिए हविर्ग्रहण बतलाया है। अतः साक्षात् जगती के लिए हविग्रहण न करते हुए पशु प्रदान करने वाले सोम के लिए हविर्ग्रहण बतलाया है। किन्तु क्यों कि जगती पशुरूप है, अतः परोक्षरूप से जगती को भी हविर्ग्रहण में सम्मिलित कर लिया गया है ॥१३॥

यजमान 'अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा' 'सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वा' 'अतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा' 'श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे त्वा' 'अग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वा'-इस प्रकार पाँच बार हविर्ग्रहण करता है। कारण यह है कि सोम-यज्ञ संवत्सरसंमित है। पृथिवी के केन्द्र से २१ वें अहर्ग्रहण तक वितत अग्निमण्डल ही संवत्सरमण्डल है। इसी में पारमेष्ठ्य सोम की आहुति होती है। अग्नि में सोमाहुति ही यज्ञ है। अतः यज्ञ संवत्सरसंमित है। संवत्सर में ७२-७२ दिन की, बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त व शिशिर ये पाँच ऋतुएँ होती हैं। अतः पाँच बार हविर्ग्रहण द्वारा पञ्चऋत्वात्मक पञ्चावयव संवत्सर का आत्मसात् हो जाता है। सोम के लिए हविर्ग्रहणमन्त्र में जो 'विष्णवे त्वा, विष्णवे त्वा' कहा गया है उसका यही तात्पर्य्य है कि यज्ञनिष्पादक सोम के लिए जो हविर्ग्रहण किया जाता है वह विष्णु के लिए ही है। क्यों कि 'सोम वै यज्ञो' 'यज्ञो वै विष्णुः'' विष्णुर्वै यज्ञः' 'यो वै विष्णुः' सोमः सः' आदि श्रुतियों के अनुसार सोम विष्णु ही है ॥१४॥

आतिथ्येष्टि में नवकपाल पुरोडाश होता है, क्यों कि आतिथ्येष्टि, यज्ञ की मस्तकस्थानापन्न है। गायत्री छन्द भी-आठ अक्षर अनुवाक् मन्त्र के और नवाँ अक्षर प्रणव अर्थात् ओम् होने से-नवाक्षरा है, अतः नवकपाल पुरोडाश ही आतिथ्येष्टि में होता है। पृथिवीकेन्द से २१ वें अहर्गण तक अग्निमण्डल है तथा इससे ऊपर सोममण्डल है। अग्निमण्डल यज्ञ का पूर्वार्ध है तथा सोममण्डल पश्चिमार्ध है। पूर्वार्ध में अग्नि की सत्ता है। अग्नि का छन्द गायत्री है। अतः गायत्री को यज्ञ का पूर्वार्ध कहा गया है। यज्ञ का गायत्रीरूप पूर्वार्ध नवाक्षर है। पूर्वार्ध शिरोभाग होता है। आतिथ्येष्टि भी यज्ञ का मस्तक है तथा वह भी नवाक्षरा है, अतः उसमें नवकपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है ॥१५॥

आतिथ्येष्टि आदि इष्टियाँ विकृतियाग हैं तथा दर्शपूर्णमासयाग प्रकृतियाग है। "प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या" इस नियम के अनुसार जो कार्य्य प्रकृतिभाग में होते हैं वे सब

विकृतियाग में भी होते हैं। दर्शपूर्णमासरूप प्रकृतियाग में आह्वनीय कुण्ड के तीन ओर पलाश, खदिर, अश्वत्थ आदि किसी भी यज्ञिय वृक्ष की लकड़ी की परिधियाँ हो सकती हैं। उसमें कामचार है। किन्तु यहाँ प्रकृतियाग की अपेक्षा यह विशेषता है कि वे परिधियाँ काश्मर्य (भद्रपर्णी) वृक्ष की ही होनी चाहिए। इसका कारण बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि काश्मर्य वृक्ष अति उष्ण होता है। उष्णता के कारण उसके अवयव श्लथ नहीं होते। सघन होने से उसमें वायु प्रवेश नहीं कर पाता। अतः वायु में रहने वाले नाष्ट्राप्राण जो कि आसुर होने से दैवसम्पति के विघातक हैं, उसमें प्रवेश नहीं कर पाते। काश्मर्य वृक्ष वनस्पतियों में रक्षोघ्न हैं इस रहस्य को दिव्य-दृष्टि महर्षियों ने मालूम कर उसी की लकड़ी की परिधियाँ यहाँ आहवनीय कुण्ड के तीनों तरफ स्थापित कीं ॥१६॥

दर्शपूर्णमासरूप प्रकृतियाग में प्रस्तर कुशा का होता है किन्तु आतिथेष्टि रूप विकृतियाग में अश्व के बाल के समान अतिसूक्ष्म पुच्छरूप में उगने वाले तृण विशेष आश्ववाल का होता है। इसका कारण बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यज्ञ पार्थिव देवताओं से अपक्रमण कर, अश्व बन कर, बहुत दूर चला गया। तब उन्हों ने उस पर आक्रमण कर उसके पुच्छ के बालों को नोच लिया और उस बाल-समष्टि को भूमि पर फेंक दिया। उसी भूमिपतित आश्वपुच्छ के बालों से 'आश्ववाल' नामक औषधियाँ उत्पन्न हुई।

इसका गूढ आशय यह है कि पृथिवी के केन्द्र में स्थित अग्निप्राण (अङ्गिरा) अश्व रूप बन कर पृथिवी से निकल कर २१ वें अहर्गण पर स्थित सूर्य्य तक पहुँच जाता है। किन्तु द्युलोक तक चले जाने पर भी पृथिवी-केन्द्र स्थित प्रजापति की पकड़ में होने से पृथिवी से सर्वथा उच्छिन्न भी नहीं होता। पृथिवी केन्द्र से २१वें अहर्गण तक तथा द्युलोक तक फैले हुए अश्वरूप इस संवत्सराग्नि का मुख्य भाग द्युलोक में तथा पुच्छभाग, प्रजापति से गृहीत होने के कारण पृथिवी में ही रहता है। यही अश्वरूप से भागते हुए यज्ञ के पुच्छ-भाग के बालों को नोच कर पृथिवी पर उसे फेंक देना है। अश्वरूप में परिणत इस संवत्सराग्नि रूप अङ्गिराग्नि से सभी पार्थिव पदार्थ एवं औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। उसी से आश्ववाल नामक औषधि भी उत्पन्न हुई है। इस अश्वरूप अङ्गिराग्नि का मस्तक सूर्य्य तक पहुँचा हुआ है, इसीलिए शतपथ के दशम काण्ड में सूर्य्य को उसका चक्षु बतलाया गया है। चक्षु मस्तकरूप पूर्वार्ध में ही होता है। यही अश्वरूप-यज्ञ की मस्तकस्थानीय आतिथ्येष्टि है। उस अश्वरूप यज्ञ का प्रजापति से गृहीत जो पुच्छभाग है वही यज्ञ का जघनार्ध (पश्चिमार्ध) भाग है। इस प्रकार पूर्वार्ध व पश्चिमार्ध दोनों भागों से गृहीत हो कर सारा यज्ञ पकड़ में आ जाता है। सर्वात्मना यज्ञस्वरूप के ग्रहण के लिए ही इस आतिथ्येष्टिरूप विकृतियाग में आश्ववाल का प्रस्तर होता है, न कि कुशा का ॥१७॥

वेदी पर सर्वप्रथम कुशास्तरण कर उत्तराग्रमुखी दो कुशाएँ उस आस्तरण पर रक्खी जाती हैं। इन दोनों कुशाओं को पूर्वाग्रमुख प्रस्तर पर रखा जाता है। बर्हि और प्रस्तर के

बीच में जो दो कुशाएँ उत्तराग्रमुख करके रखी जाती हैं वे ही 'विधृति' कहलाती हैं। प्रकृतियाग में ये विधृतियाँ कुशा की होती हैं। किन्तु इस आतिथ्येष्टिरूप विकृतियाग में इक्षुदण्ड (साँठे) की होती हैं, क्यों कि कुशा की विधृति बनाने पर अश्ववालनिर्मित प्रस्तर तथा कुशानिर्मित विधृति दोनों सूक्ष्म होने से मिल कर एकरूपा हो जाएँगी और प्रस्तर उठाने के समय विधृति भी साथ उठ जाएगी, तो यज्ञ नष्ट हो जाएगा। अतः प्रस्तर और विधृतियाँ घिलमिल न हो जाएँ इसलिए विधृतियाँ स्थूल इक्षुदण्ड की बनानी चाहिए। तदनन्तर आज्य का उत्पवन प्रकृतियाग की तरह करना चाहिए। किन्तु प्रकृतियज्ञ में जुहू और ध्रुवा दोनों में आज्यस्थाली से चार बार घृत लिया जाता है और उपभृत् में आठ बार लिया जाता है। अनुयाजयाग के लिए चार बार अधिक घृत लिया जाता है। आतिथ्येष्टिरूप विकृतियाग में जुहू, उपभृत् तथा ध्रुवा तीनों में चार बार ही आज्यस्थाली से घृत लिया जाता है क्यों कि आतिथ्येष्टि में अनुयाज-कर्म्म नहीं होता। वह यज्ञ की समाप्ति पर ही होता है। आतिथ्येष्टि पर सोमयाग की समाप्ति नहीं होती है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि "सर्वाण्येव चतुर्गृहीतान्याज्यानि गृह्णाति न ह्यत्रानुयाजा भवन्ति" इति ॥१८॥

इसके पश्चात् अष्टकपाल हवि को प्रस्तर पर रख कर यथावत् सामग्री का संभरण कर, अध्वर्यु अग्निमन्थन करता है। यह प्राकृतिक नियम है कि परमात्मा प्रजा उत्पन्न करने से पूर्व माता के स्तनों में उत्पत्स्यमान (उत्पन्न होने वाली) प्रजा के पालनार्थ दुग्ध उत्पन्न करता है, पश्चात् प्रजा उत्पन्न करता है। प्रकृति से भी अग्निस्वरूप प्रजा को उत्पन्न करता हुआ अध्वर्यु पहले प्रजा के पालनार्थ अष्टकपाल हवि को प्रस्तर पर रखता है, पश्चात् अग्निरूप प्रजा को उत्पन्न करता है। अग्निमन्थन से पूर्व हवि को प्रस्तर पर रखने का यही अभिप्राय है।

आतिथ्येष्टि यज्ञ का मस्तक है और यज्ञ अग्निस्वरूप है, क्यों कि अग्नि और सोम में अग्नि का प्राधान्य है। अतः मन्थन द्वारा अग्नि को उत्पन्न करना ही यज्ञ को उत्पन्न करना है। अतः प्रथम यज्ञस्वरूप अग्नि का मन्थन होता है तदनन्तर यजमस्तकरूप आतिथ्येष्टि होती है। प्राकृतिक प्रजनन में पहले शिशु का मस्तक ही बनता है, तदनन्तर अन्य अवयव। इसी प्रकार इस वैधयज्ञ द्वारा उत्पन्न होने वाले दिव्यात्मा का मस्तक ही प्रथम बनता है और वह अग्नि से बनता है। अतः आतिथ्येष्टि में सर्वप्रथम अग्निमन्थन किया जाता है।

अपि च अग्नि ही सर्वदेवतास्वरूप है। घन, तरल, विरल अवस्थाओं में परिणत अग्नि में ही ३३ आग्नेय देवता हैं। अतः सभी देवताओं के लिए अग्नि में ही आहुति दी जाती है। फलतः अग्नि को मन्थन द्वारा उत्पन्न करना सब देवताओं को उत्पन्न करना है ॥१९॥

इसके बाद अध्वर्यु काष्ठवल्कल (काष्ठ के छोड़ों) को अग्नि-मन्थन करते समय नीचे रखता है। यूपनिर्माण करते समय जो काष्ठवल्कल उतरते हैं उन्हें अधिमन्थन शकल कह

जाता है। ये अग्नि को जल्दी पकड़ते हैं। वह अध्वर्यु 'अग्नेर्जनित्रमसि' अर्थात् हे अधिमन्थन शकल ! आप अग्नि को उत्पन्न करने वाले हैं–यह कहता हुआ नीचे रखे हुए अधिमन्थनशकल को हाथ में उठा लेता है ॥२०॥

'वृषणौ स्थः'–हे दर्भो ! तुम अभिमत फल की वर्षा करने वाले हो। इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ अध्वर्यु दो कोमल दर्भों को नीचे जमीन पर रख देता है। ये दर्भ निदानेन स्त्री से उत्पन्न होने वाले युगलपुत्र हैं। पैदा होने के समय पुत्र कोमल होता है। अतः पुत्रस्थानीय ये दर्भ भी तरुण कोमल रखे जाते हैं ॥२१॥

चन्द्र वंश के प्रतिष्ठापक चन्द्रमा के पौत्र तथा बुध के पुत्र महाराजा पुरूरवा ईरान में प्रतिष्ठानपुर में रहते थे। पूरूरवा ने उर्वशी अप्सरा से गन्धर्व विवाह कर पुत्र आयु को उत्पन्न किया था। उत्तरकुरु क्षेत्र में यज्ञ करने वाले सोम देवता भारतवासी मनुष्यों से यज्ञविद्या को प्रच्छन्न रखते थे। महाराजा पूरूरवा को गन्धर्वों द्वारा यज्ञविद्या का रहस्य मालूम हो गया। पुरूरवा ने सर्वप्रथम अग्निमन्थन का आविष्कार किया। अग्निमन्थन २४ अङ्गुल की दो अरणियों से होता है। इनमें एक अधरारणि होती है और दूसरी उत्तरारणि। जिस प्रकार पुरूरवा ने उर्वशी से आयु को उत्पन्न किया उसी प्रकार दोनों अरणियों से वैध अग्नि को उत्पन्न किया। अतः अध्वर्यु 'उर्वश्यसि' कहता हुआ अधरारणि को नीचे रख देता है। जिसमें आज्य को पिघलाया जाता है उस आज्य-विलापनी का 'आयुरसि' यह कह कर उत्तरारणि से स्पर्श करा कर 'पुरूरवा असि' कहता हुआ उत्तरारणि को अधरारणि के ऊपर रख देता है। अधरारणि तथा उत्तरारणि में क्रमशः उर्वशी तथा पुरूरवा की भावना मान कर मिथुन से अग्नि अर्थात् यज्ञ उत्पन्न हुआ। दोनों अरणियों को रखने के बाद अध्वर्यु होता से कहता है कि मथ्यमान अग्नि के लिए अनुवाक्या मन्त्र बोलें—"अग्नयेमथ्यमानाय अनुब्रूहि" ॥२२॥

वह अध्वर्यु 'गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि' 'त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि' 'जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि' इस मन्त्र को बोलता हुआ अग्निमन्थन करता है। यह मन्त्र ही याज्या मन्त्र है तथा यही मन्त्र अनुवाक्या मन्त्र भी है। अध्वर्यु होता को 'छन्दांसि मथ्यमानायानुब्रूहि' इस प्रकार अनुवाक्या के लिए प्रेरित करता हुआ छन्दों को यज्ञ (अग्नि) के अधीन करता है। जैसे रश्मियाँ सूर्य्य के अधीन हैं वैसे ही छन्द यज्ञ के अधीन हैं।

इसके अनन्तर अध्वर्यु होता को 'जातायानुब्रूहि' यह प्रैष करता है। अध्वर्यु अग्नि को आहवनीय में ले जाने के समय अनुप्रहरण करता हुआ जातव प्रह्रियमाण अग्नि के लिए होता को प्रैष करता है और अनुवचन करो, यह कहता है ॥२३॥

वह अध्वर्यु निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करता हुआ मन्थन द्वारा जात अग्नि को आहवनीय में रख देता है—

"भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ । मा यज्ञं हिंसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः इति" । हे आहवनीय व निर्मन्थ्य (दोनों) अग्नियो! आप हमें अभिमत फल देने के लिए समान मन वाले हो जाइए। आप पाप-रहित हैं। ऐसे आप जो हैं, यज्ञ की व यजमान की हिंसा न करें। आज आपका हमसे परिचय हो गया है। अतः आप हमारे लिए कल्याण-कारी हों ।।२४।।

तदन्तर वह अध्वर्यु निम्न मन्त्र बोलता हुआ स्रुवा में घृत लेकर आहवनीय अग्नि की ओर झुक कर उसमें आज्य की आहुति दे देता है—

'अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रोऽअभिशस्तिपावा ।
स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यं सदमप्रयुच्छन्त्स्वाहा ।।२५।।

इस यज्ञ में अनुयाज-कर्म्म नहीं होता। यह कर्म्म इडाप्राशनान्त ही होता है। आतिथ्य यज्ञ का मस्तक भाग है अतः इसमें अनुयाज करना अयुक्त ही होगा—

"तस्मादिडान्तं भवति-नानुयाजान्यजन्ति" ।।२६।।

[**विज्ञानभाष्य**] शकट द्वारा सोम यजमान के घर आ गया एवं आसन्दी (सिंहासन) पर रख कर उसे यज्ञशाला में विराजमान कर दिया गया। सोम सम्राट् है, राजाधिराज है। अतएव यजमान आज इस आगत सोम के लिए स्वागत-प्रयुक्ता आतिथ्येष्टि करता है, अतिथि-सत्कार करता है। प्रायणीय इष्टि में बतलाया था कि इस सोमयज्ञ का जो आतिथ्य है वह मस्तक-स्थानापन्न है। सोमयज्ञ को पुरुष माना जाता है, जैसा कि "यज्ञपुरुष ब्राह्मण" में बतलाया जाएगा। कल्पना कर लीजिए कि सोमयज्ञ एक पुरुष है। उसकी जो आतिथ्येष्टि है वह मस्तक-स्थानापन्न है एवं प्रायणीयेष्टि और उदयनीयेष्टि-इस यज्ञ पुरुष के दोनों हाथ हैं। प्रारम्भ में प्रायणीय होता है, अन्त में उदयनीय होता है। दोनों के बीच में आतिथ्येष्टि होती है। वास्तव में होना भी ऐसा ही चाहिए। क्यों कि हाथ मस्तक के दोनों ओर होते हैं। मस्तक दोनों हाथों के बीच में रहता है। अतएव पहले प्रायणीयेष्टि होती है, बाद में आतिथ्येष्टि होती है, अनन्तर उदयनीय इष्टि होती है। आतिथ्येष्टि करना, आगत सोम का स्वागत करना है। आतिथ्य यद्यपि सोम के आते ही हो जाना चाहिए था परन्तु चूंकि आतिथ्य मस्तक-स्थानापन्न है एवं मस्तक के पहले हाथ रहता है अतएव आतिथ्येष्टि के पहले प्रायणीय इष्टि करना ही आवश्यक है। अतएव पहले प्रायणीय इष्टि की जाती है। सोम राजा यजमान के घर आ पहुँचे। अब यजमान सोम के स्वागत में प्रयुक्त आतिथ्य-हवि का निर्वाप करता है। अतिथि-सत्कार पहले होना चाहिए, न कि प्रायणीयादि। इसका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ठीक है, पहले आतिथ्य ही होना चाहिए था परन्तु यज्ञपुरुष का मस्तक आतिथ्य को माना जाता है एवं मस्तक के दोनों ओर हाथ रहते हैं अतएव शिरस्थानीय आतिथ्य के दोनों ओर होने वाली प्रायणीय और उदयनीय हवियों में से सबसे पहले प्रायणीय इष्टि होती है बाद में आति-थ्येष्टि होती है तथा अन्त में उदयनीय इष्टि होती है—

"शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं बाहू प्रायणीयोदयनीयौ । अभितो वै शिरो बाहू भवतः । तस्मादभितऽआतिथ्यमेते हविषी भवतः प्रायणीयश्चोदयनीयश्च" ।।१।।

जिस कारण इष्टि का नाम आतिथ्येष्टि हुआ है, वह कारण बतलाते हैं–

"अथ यस्मादातिथ्यं नाम" ।

(तदुच्यते) जो कि खरीदा हुआ यह सोम इस यजमान के घर आता है, वह अतिथि के रूप में आता है । सोम का यजमान के घर आना अतिथि का घर पर आना है । सोम राजा है, राजा ही नहीं सम्राट् है । आज यह यजमान के घर आए हुए हैं । आज यजमान के घर सामान्य अतिथि नहीं हैं, बहुत बड़े, प्रतिष्ठित अतिथि आए हुए हैं—

"अतिथिर्वाऽएष एतस्यागच्छति यत् सोमः क्रीतः" ।

चूं कि अतिथि का सत्कार करना आवश्यक है अतएव इस सोम के लिए यजमान हवि का निर्वाप करता है । अतिथि के लिए यह हवि दिया जाता है । अतएव इसका नाम आतिथ्य–हवि है । तस्मा (तस्मै) एतत् (दीयते इति शेषः) आगत अतिथि का स्वागत अवश्य ही करना चाहिए । इसकी लौकिक मर्यादानुसार पुष्टि करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

यदि राजा अथवा ब्राह्मण किसी के घर जाता है तो उस राजा और ब्राह्मण के लिए जिस प्रकार महोक्ष अर्थात् मोटा–ताजा बैल अथवा मोटा-ताजा बकरा पकाया जाता है , निवेदित किया जाता है, यही मानुष–आतिथ्य है । अर्थात् मनुष्य घर में आए तो उसका इन पदार्थों से आतिथ्य किया जाता है एवं यदि देवता घर में आए तो उनका आतिथ्य हवि से किया जाता हैं । इस प्रकार आगत मनुष्य और देवता का सत्कार करना लोकाचार है । मर्यादा यही कहती है कि यदि आपके घर पर अतिथि आए तो आप सबसे पहले और काम छोड़ कर उसी का स्वागत करें । आज सोम राजा अतिथि बन कर यजमान के घर पधारे हुए हैं अतएव इस सोम के लिए यजमान आतिथ्य–हवि का निर्वाप करता है । **'महोक्षं वा महाजं वा'** से कहीं यह मत समझ लेना कि वास्तव में उनके लिए मांस पकाया जाता है । मांस पकाया नहीं जाता, प्रतिपत्ति मात्र की जाती है । गौ को वेद में अघ्न्या कहा जाता है—

**"माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः ।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट" ।।**

(ऋग्वेद० मं० ८।१०१।१५)

इस प्रकार गोवध का जबर्दस्त प्रतिरोध किया गया है । भला फिर उसे कैसे मार सकते हैं ? ऐसी अवस्था में पकाने की केवल प्रतिपत्ति समझनी चाहिए । गृहपति अतिथि से कहता है–हे अतिथे ! आज आप हमारे घर पधारे हैं, हमारे अहोभाग्य हैं । हमारे घर में सब से श्रेष्ठ वस्तु गौ और अज पशु

है। गौ अघ्न्या है। सर्वाराध्य है, अति पूजनीया है। ऐसी अमूल्य वस्तु भी आपके लिए न्यौछावर है, वह भी आपके लिए तैयार है। बस, "महोक्षं वा पचेत्" का यही तात्पर्य्य है। आदरातिशय दिखलाने के लिए ऐसा कहा जाता है, न कि उसका मांस वास्तव में पकाया जाता है। परन्तु इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि जो अमांस मधुपर्क है उसी में यह प्रतिपत्ति लागू होती है। जो समांस मधुपर्क है वहाँ तो अवश्य मांस पकाया जाता है। अतएव ऐसे अतिथि के लिए—"**गोघ्नोऽतिथिः**" का प्रयोग होता है। अब प्रकृत में हमें सिर्फ कहना यही है कि आगत अतिथि का मधुपर्क से सत्कार करना लौकिक नियम है। आज सोम यजमान के घर आया हुआ है। सोम अतिथि है, अतएव आज यह यजमान इसके लिए आतिथ्य-हवि का निर्वाप करता है। इसीलिए इस इष्टि का नाम आतिथ्येष्टि है—

"यथा राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महाजं वा पचेत् तदह मानुषं (आतिथ्यमिति शेषः) हविर्देवानाम्। एवमस्मा (अस्मै सोमाय) एतदातिथ्यं करोति" ॥२॥

किस समय आतिथ्य-हवि का ग्रहण करना चाहिए-यह बतलाते हैं। सोम छकड़े (शकट) पर से न उतरे इसके पहले ही सोम का अतिक्रमण करके अर्थात् उसे पृष्ठ भाग में करके घर में दौड़ कर हवि ग्रहण करे। तात्पर्य्य यही है कि यजमान को चाहिए कि जिस समय छकड़ा जा कर वहाँ खड़ा हो, उस समय सोम को वहीं छोड़ कर झट घर में (शाला में) जा घुसे और सोम शकट पर से उतारा जाए, उसके पहले ही हवि को हाथ में उठा ले—

"पूर्वोऽतीत्य (पूर्वभागत्य) गृह्णीयात्"।

सोम घर में आए इसके पहले ही हवि तैयार रक्खे, यही तात्पर्य्य है। इसका कारण बतलाते हैं। जिस घर में पूजनीय आगत व्यक्ति का आने के साथ ही घर वाले सत्कार नहीं करते—अग्र-पूजा नहीं करते ऐसी अवस्था में वह आगत अतिथि उन घर वालों पर नाराज हो जाता है। उसके दिल में खयाल होता है कि देखो, हम तो इसके घर आये हैं और इसे हमारा कुछ खयाल ही नहीं है। अतएव गृहपति को चाहिए कि सोम-अतिथि के आते ही यजमान स्वागतार्थ उसके लिए हवि सहित तैयार रहे। आये बाद, घर में प्रविष्ट हुए बाद, स्वागत करना स्वागत नहीं कहलाता। अग्र-पूजा वही कहलाती है कि सोम अभी बाहर ही है और यजमान हवि लिए तैयार खड़ा है। ऐसा करने से अर्थात् घर में सोम के प्रवेश करने से पूर्व ही हवि ग्रहण करने से सोम अग्र-पूजित हो जाता है—

"तदाहुः। पूर्वोऽतीत्य गृह्णीयात् इति यत्र वाऽअर्हन्तम् (पूज्यम्) आगतं (आगतमात्रम्) नापचायन्ति क्रुध्यति वै स (अतिथिः) तत्र तथाह (सोमप्रवेशात् प्रागेव हविर्ग्रहणे सति) अपचितो भवति" ॥ ३ ॥

जिनका यह मत है कि घर में सोम के घुसने से पहले हवि ग्रहण करना चाहिए, वे हवि-ग्रहण का ठीक समय बतलाते हुए कहते हैं कि जिस समय एक बैल का जूड़ा उतर जाए और दूसरे का न उतरे उस समय यजमान हवि ग्रहण करे। दोनों बैलों में से एक बैल खोल दिया गया हो, दूसरे को न खोला हो–उस समय हवि ग्रहण करे—

"तद्वा ऽअन्यतरऽएव विमुक्तः स्यात् । अन्यतरोऽविमुक्तोऽथ गृह्णीयात्" ।

वह शकट एक बैल से मुक्त हो गया है। इससे तो सोम आगत हो जाता है। **"आगताय स्वागतं कुर्यात्"**–यह सिद्धान्त है। अतिथि के आ जाने का निश्चय हो जाय तभी स्वागत की तैयारियाँ होती हैं। एक बैल के खुल जाने से यह निश्चिय हो जाता है कि यह अतिथि वास्तव में आगत हो गया, हमारे घर में आ गया। बस, इस आगत सम्पत्ति के लिए तो एक जूड़ा उतार दिया जाता है एवं दूसरा जूड़ा नहीं उतारा जाता है। इससे वह अग्रपूजित हो जाता है। यदि एक भी जूड़ा न उतरे तब तो आगत का स्वागत नहीं हुआ समझना चाहिए। यदि दोनों उतरे बाद हवि-ग्रहण हुआ तो भी अग्रपूजा नहीं हुई। अतएव दोनों आशंकाओं अथवा आपत्तियों के निवारण के लिए अन्यतर जूड़े के खुल जाने और दूसरे के न खुल जाने के समय ही हवि-ग्रहण करना चाहिए। इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"स यदन्यतरो विमुक्तस्तेनागतो यद्वन्यतरोऽविमुक्तस्तेनापचितः– (अग्रपूजितः)" ॥४॥

परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि नहीं–ऐसा कभी न करे- **"तदु तथा न कुर्यात्"**। दोनों बैल खोल कर सोम को यज्ञशाला में पहुँचा कर ही हवि ग्रहण करे। सोम घर में पहुँचे नहीं, उसके पहले ही हवि ग्रहण करना सर्वथा अनुचित है। एक जूड़ा खोल देने मात्र से आगत सम्पत्ति नहीं हो सकती। पूरा आगमन तभी माना जाता है जब कि दोनों बैल खोल दिये जाएँ और अतिथि घर में आ जाए। प्रकृतिमण्डल में प्राण-देवता जैसा कर रहे हैं उसके अनुसार ही मनुष्य-देवताओं ने किया था एवं जैसा मनुष्य-देवों का चरण अर्थात् आचरण रहा है, वैसा ही हम मनुष्यों में प्रचलित है। **"यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि"** यही हमारा मूल मन्त्र है। मनुष्य जो कुछ करते हैं देवताओं के अनुसार ही करते हैं। देवताओं की, विद्वान मनुष्यों की, मर्यादा है कि जब तक अतिथि घर में न आ जाए तब तक वह अतिथि नहीं है। तब तक उसका स्वागत भी विधेय नहीं है। अतएव जब सवारी से उतर कर वह घर में आ जाए तभी उसका स्वागत करना चाहिए। देव-व्यवस्थापित उसी मर्यादा के अनुसार मानुष-आतिथ्य कर्म्म में, अतिथि जब तक सवारी को नहीं छोड़ दे, घर में प्रविष्ट नहीं हो, तब तक उसके लिए पाद-प्रक्षालनार्थ उसे घर में नहीं लाते एवं तब तक उसकी पूजा भी नही करते हैं। कारण इसका यही है कि जब तक वह सवारी पर से उतर कर घर में नहीं आ जाता, तब तक अनागत ही है। आगत का ही स्वागत होता है, न कि अनागत का। परन्तु जब बैलों को खोल कर वह घर में ले आया जाता है, तो उस समय घर के लोग उस के पैर धोने के लिए उदकाद्याहरण करते हैं और उसकी अग्रपूजा करते हैं। क्यों कि घर में आया हुआ अतिथि वास्तव में आगत हो

जाता है एवं आगत का ही स्वागत करना उचित है। अतएव दोनों बैलों को खोल कर तथा सोम को यज्ञशाला में पहुँचाकर ही यजमान हवि अर्पित करे—

"विमुच्यैव प्रपाद्य गृह्णीयात्। यथा वै देवानां चरणं (आचरणं) तद्वाऽअनुमनुष्याणाम्। तस्मान्मानुषे (आतिथ्यकर्मणि) यावन्न विमुञ्चते नैवास्मै तावदुदकं हरन्ति नापचितिं कुर्वन्ति। तर्हि हि स आगतो भवति। तस्माद्विमुच्यैव प्रपाद्य गृह्णीयात्" ॥ ५ ॥

जिस समय सोम आसन्दी पर विराजमान हो कर यज्ञ-शाला में आ जाए उस समय यजमान को चाहिए कि सन्त्वरमाण हो कर हवि ग्रहण करे। अर्थात् आकुलता दिखलाता हुआ, त्वरमाण होता हुआ हवि ग्रहण करे। ऐसा करने से सोम अग्र-पूजित हो जाता है। बात सच है, यदि अतिथि घर में आए और उस समय जरा उपेक्षा का भाव दिखला दिया जाए तो उससे अतिथि अपना अनादर समझता है। वह खयाल करता है कि देखो, हम तो इसके घर में आये हैं और इसे अपनी परवाह ही नहीं है। अतएव अतिथि के आने पर लापरवाही नहीं दिखानी चाहिए। अपितु फुर्ती से, उत्साह के साथ, हवि ग्रहण करना चाहिए, जिससे अतिथि को मालूम हो जाए कि वाह, यह तो मेरे लिए बड़ा ही व्यग्र हो रहा है, वास्तव में यह मेरा आदर करता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"स वै सन्त्वरमाण इव गृह्णीयात्। तथा हापचितो (अग्रपूजितो) भवति"।

जिस समय यजमान हवि ग्रहण करता है उस समय यजमान के साथ यजमान-पत्नी भी रहती है

"तत् पत्न्यन्वारभते"।

पर्युह्यमाण जो सोम है उसका अन्वारम्भण केवल यजमान ही करता है। अर्थात् सोम को शकट में रख कर उसे घर तक लाना यजमान का ही काम है। इस समय उसकी पत्नी साथ नहीं रहती। परन्तु जब सोम घर में आ जाता है एवं उसके लिए हवि ग्रहण की जाती है तो इसमें यजमान और यजमान-पत्नी दोनों शामिल रहते हैं। इस अन्वारम्भण से ये जायापति दोनों पार्श्वों में अन्वारम्ण कर देते हैं। तात्पर्य्य इसका यही है कि सोम राजा है, राजा की सवारी के साथ सारा सेवक-वर्ग होता है। यजमान और यजमान-पत्नी सेवकवर्ग में शामिल हैं। परन्तु सोम की सवारी के साथ यजमान ही रहता है, यजमान की पत्नी नहीं रहती। ऐसी अवस्था में सेवा-धर्म में आघात पहुँचता है। इसको दूर करने के लिए हवि-निर्वाप कर्म्म में पत्नी भी शामिल हो जाती है। इससे दोनों पार्श्वों का (सोम की सवारी और आतिथ्य-सत्कार का) अन्वारम्भण हो जाता है। पत्नी यजमान का आधा शरीर है। यदि केवल यजमान भी सेवा में पहुँच गया तो समझ लो, पत्नी भी आ गयी। परन्तु एक बार पत्नी को अवश्य ही शामिल होना पड़ेगा। यदि एक कर्म्म में पत्नी शामिल हो जाती है, तो समस्त कर्म्म में केवल यजमान से ही अन्वारम्भण विहित समझ लिया जाता है—

"पर्युह्यमाणं वै यजमानोऽन्वारभते । अथात्र पत्नी । उभयत एवैतन्मिथुनेनान्वारभेते" ।

जिस घर में कोई पूज्य अतिथि आता है, उस घर के सारे मनुष्य उसकी सेवा करने के लिए तत्पर हो जाते हैं । कोई पानी लाता है, कोई आसन बिछाता है, कोई पंखा झलता है— इस प्रकार घर के सारे आदमी अतिथि-सेवा के लिए कुछ-न-कुछ करने लगते हैं । जब घर के सभी लोग सेवा में तत्पर रहते हैं तभी वह अतिथि पूजित होता है । सारे घर के मौज करें और इकल्ला (अकेला) यजमान ही यदि झायँ-झायँ करता रहे तो अतिथि इसमें अपना अनादर समझता है । वह विचारने लगता है कि देखो अपना आना सिवाय इसके और सबको अखरता है । ऐसा न हो—अतिथि जरा सा भी मन मुटाव न लाए॰ अतएव अतिथि के आते ही सारे घर वालों को सेवा में तत्पर हो जाना चाहिए । इसी से अतिथि अपनी प्रतिष्ठा समझता है । अतएव पत्नी को भी हवि-निर्वाप में शामिल होना चाहिए, यही तात्पर्य्य है । पत्नी आ गई तो सब आ गये । बस, इसीलिए हवि-निर्वाप के समय पत्नी का अन्वारम्भण बतलाया गया है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"यत्र वाऽअर्हन् (पूजनीयोऽतिथिः) आगच्छति सर्वगृह्या-इव वै तत्र चेष्टन्ति-तथा हापचितो भवति" ।। ६ ।।

अथवा इसका दूसरा अर्थ समझना चाहिए । यदि कोई पूजनीय अतिथि घर में आता है तो घर में रक्खी कोई भी वस्तु ऐसी नहीं रहती जो अतिथि के लिए न हो । अतिथि के आने पर सारे पदार्थ सर्वगृह्य बन कर रहते हैं । अतिथि यजमान के सारे पदार्थों का उपभोग कर सकता है । इसीलिए तो अघ्न्या गौ तक अतिथि को समर्पित कर दी जाती है ।

देवताओं के लिए हविर्ग्रहण मन्त्र होता है । मन्त्र बोल कर देवताओं के लिए हवि-ग्रहण किया जाता है । सोम भी देवता है, देवता ही नहीं, देवताओं के राजा हैं । अतएव इनके लिए हवि ग्रहण करते समय मन्त्र बोलना पड़ता है । सोम मामूली देवता नहीं हैं । अतएव यजमान को चाहिए कि जिन मन्त्रों से अन्यान्य हवियों का ग्रहण किया जाता है, उनसे इतर अन्य मन्त्रों से ही सोम के लिए हवि ग्रहण करे । और-और देवताओं के हविग्रहण मन्त्र से सोम के लिए हवि का ग्रहण करना सोम को सब देवताओं के समान समझना है । अतएव सोम के लिए हवि-ग्रहण का मन्त्र अन्य ही होना चाहिए । जिन मन्त्रों से अन्य हवियों का ग्रहण किया जाता है, उनसे सर्वथा स्वतन्त्र ऐसे मन्त्र होने चाहिए जिनसे कि केवल सोम के लिए ही हवि ग्रहण किया जाता हो । सामान्य मन्त्रों से हवि ग्रहण करना सोम राजा को उच्छिष्ट खिलाना है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"स वाऽअन्येनैव ततो यजुषा गृह्णीयात् । येनो चान्यानि हवींषि (येन मन्त्रेण अन्यानि हवींषि गृह्यते ततो अन्येन गृह्णीयादिति भावः)" ।

सोम देवता है। देवता के साथ छन्द भी रहता है। छन्द से ही देवता का स्वरूप बनता है। सोम परमेष्ठिमण्डल से आता है एवं गायत्री, त्रिष्टुप् जगती–इनके द्वारा आता है। परमेष्ठी के नीचे सूर्य्य, अन्तरिक्ष और पृथिवी–ये तीन लोक हैं। सूर्य्य (आदित्य) के छन्द का नाम जगती है। अन्तरिक्ष के छन्द का नाम त्रिष्टुप् है। पृथिवी के छन्द का नाम गायत्री है। पृथिवी–लोक के अधिष्ठाता अग्नि हैं, अतएव गायत्री को अग्नि का छन्द भी कहा जाता है। अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता वायु और मरुत्वान् इन्द्र हैं, अतएव त्रिष्टुप् को इन्द्र का छन्द कहा जाता है। द्युलोक के अधिष्ठाता आदित्य हैं, अतएव जगती को आदित्य का छन्द भी कहा गया है। कहना यही है कि सोम सूर्य्य से पृथिवी तक व्याप्त रहता है। तीनों लोकों में व्याप्त रहना–तीनों छन्दों पर व्याप्त रहना है। सोम, बिना छन्दों के नहीं रह सकता। छन्द ही इसकी प्रजा हैं। इस छन्द–प्रजा की अपेक्षा ही से तो सोम राजा कहलाता है। सोम छन्दों का सम्राट् है। यह सम्राट्–रूप तभी स्थिर रह सकता है जब कि हवि–निर्वाप में छन्दों की प्रधानता न रख कर सोम की ही प्रधानता रक्खी जाए। सोम को यदि छन्दों के नाम से अलग-अलग हव्य दिया जाएगा तो छन्द स्वतन्त्र हो जाएँगे। सोम का साम्राज्य नष्ट हो जाएगा। प्रजा जब तक राजा के शासन में–अधिकार में–रहती है, तभी तक राजा का राजत्व है। यदि प्रजा स्वतन्त्र हो जाती है तो राजा का साम्राज्य नष्ट हो जाता है। ऐसा न हो, इसके लिए छन्दों के ऊपर सोम का राज्य बना रहना चाहिए। साम्राज्य बना रहे–इसलिए क्रीयमाण अर्थात् आतिथ्य–इष्टि से प्यायमान सोम को एक ही भाग दिया जाता है। अर्थात् केवल सोम को उद्देश्य करके ही हवि देनी चाहिए। परन्तु इतना अवश्य है कि छन्दों का खयाल रख कर एक ही हवि इतनी मात्रा में दे देनी चाहिए जिससे छन्द भी तृप्त हो जाएँ। छन्दों का नाम न लिया जाए–इसका तात्पर्य्य यह नहीं है कि छन्दों के लिए हवि दी ही न जाए–अतएव छन्दों का खयाल रख कर एक ही बार हवि दी जाए किन्तु पर्य्याप्त मात्रा में दी जाए। अलग-अलग नाम से देना आवश्यक नहीं है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"एकं वाऽएष भागं क्रीयमाणोऽभिक्रीयते। छन्दसामेव राज्याय, छन्दसां साम्राज्याय"।

सोम को देने से सोम के साथ प्रजारूप से रहने वाले छन्दों को भी हवि स्वतः मिल जाएगी। छन्द सोम की प्रजा है। वह सदा सोम के साथ रहती है। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि छन्द इस सोम के चारों ओर खिदमतगार बन कर रहते हैं। 'साचय' अर्दली को कहते हैं। अंगरक्षकों को साचय कहते हैं। ये छन्द सोम के अंगरक्षक हैं। इन्हीं से सोम का स्वरूप बना हुआ है। ये सोम के चारों ओर रहते हैं। जिस प्रकार राजा के चारों ओर राजा से इतर लोग, जो कि राजकृत हैं, ऐसे सूत–ग्रामणी–सेनानी भी रहते हैं, जिनके बिना राजा बाहर नहीं निकलता, तथैव इस सोम के चारों ओर अंगरक्षक छन्द अभिव्याप्त रहते हैं। दीवानी सीगे (विभाग) के अफसर को ग्रामणी कहते थे। फौजदारी सीगे के अफसर को सेनानी कहते थे। जिस समय राजा की सवारी निकलती थी उस समय उसके साथ सेनानी–ग्रामीण–सूत वगैरः सब साथ रहते थे, जिनके बिना राजा कहीं नहीं जाता था। एवमेव सोम राजा ग्रामणी–सेनानी स्वरूप अपने साचय (अंगरक्षक) छन्दों के बिना कहीं नहीं जा सकता। जैसे राजा को सेनानी-ग्रामणी लोग चारों ओर से सदा घेरे रहते हैं तथैव सोम के चारों ओर छन्द सदा व्याप्त रहते हैं—

"तस्य च्छन्दांस्यभितः साचयानि–यथा राज्ञोऽराजानो राजकृतः सूतग्रामण्यः एवमस्य छन्दांस्यभितः साचयानि" ॥७॥

सूत–ग्रामणी लोग राजा नहीं हैं, राजेतर हैं परन्तु राजकृतः हैं—राजा बनाने वाले हैं। यदि ये न हों तो राजा, राजा ही न रहे। प्रजा से ही राजा बनता है। यदि प्रजा ही न हो तो राजा किसका? अतएव सूत–ग्रामणी इत्यादि के लिए अराजानः–राजकृतः–यह कहा गया है।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जब छन्द सूत–ग्रामणी की तरह, सोम राजा के साचय (अंगरक्षक) हैं, प्रजास्थानीय हैं, मातहत हैं, तो "छन्दोभ्यः" कहकर छन्दों के लिए अलग हवि देना सर्वथा अनुचित है। "छन्दोभ्यः" कहकर छन्दों के लिए सोम से अलग हवि सर्वथा अनुचित है—

"न वै तदवकल्पते–यच्छन्दोभ्य"—इति।

अतएव एक ही हवि को ग्रहण करना चाहिए। केवल सोम के लिए हवि को ग्रहण करना चाहिए न कि कि छन्दों के लिए—

"केवलं गृह्णीयात्"।

यदि कोई मनुष्य अपने यहाँ राजा अथवा अन्य किसी श्रेष्ठ व्यक्ति को भोजन करने बुलाता है तो उसके साथ रहने वाले, अराजानः राजकृतः जो सूत–ग्रामणी–सेनानी वगैरः हैं, वे भी अन्वाभक्त हो जाते हैं। राजा के साथ राजा के नौकर–चाकर बिना बुलाये ही, अनिमन्त्रित ही, भोज में शामिल हो जाते हैं। उनके लिए अलग निमन्त्रण नहीं दिया जाता। अतएव यहाँ पर भी यजमान सोम के लिए जो हवि ग्रहण करे उसी में से छन्दों को भी भागी बना दे। सोम के लिए ही हवि ग्रहण करना उचित है। "छन्दोभ्यः" कहकर छन्दों के लिए अलग हवि ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"यत्र वाऽअर्हते (पूज्याय महाराजाय) पचन्ति–तदभितः साचयोऽन्वाभक्ता भवन्ति–अराजानो राजकृतः सूतग्रामण्यः। तस्मात् यत्रैवैतस्यै गृह्णीयात्। तदेव च्छन्दांस्यन्वाभजेत्" ॥८॥

सोम के लिए एक ही हवि ग्रहण क्यों करनी चाहिए जब कि छन्द भी सोम के साथ रहते हैं–इसका कारण बतला दिया गया। अब पद्धति बतलाते हैं—

वह यजमान निम्नलिखित मन्त्र बोलता हुआ सोम के लिए हवि ग्रहण करता है—

"अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा। सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वा। अतिथेरातिथ्यमसि विष्णवेत्वा। श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे त्वा। अग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वा"।

हे व्रीहि ! हे हवि !!, आप अग्नि के शरीर हैं–ऐसे आपको मैं विष्णु के लिए अर्थात् यज्ञ-साधक सोम के लिए ग्रहण करता हूँ। अग्नि का शरीर हव्य ही है। जब तक अग्नि में हव्य की आहुति पड़ती रहती है तभी तक अग्नि प्रज्वलित रहती है। जब तक शरीराग्नि में अन्नाहुति डालते रहेंगे तभी तक शरीर में गर्मी रहेगी। जहाँ आहुति बन्द हुई कि हाथ–पैर ठंडे हुए। अतएव अग्नेस्तनूरसि कहा है। अपि च इसमें एक और भी रहस्य है। सोम के साथ–साथ ही छन्दों को भी हवि देना है। इनको प्रत्यक्ष तो दी नहीं जा सकती अतएव परोक्ष भाव से छन्दों को हवि देने के लिए–**अग्ने स्तनूरसि सोमस्य तनूरसि**–यह कह दिया है।

अग्नि ही तो गायत्री है। अग्नि के छन्द का नाम ही तो गायत्री है, जैसा कि पूर्व में बतलाया गया है। तो बस "**अग्नेस्तनूरसि**"–यह कहता हुआ यजमान सोम के साथ–साथ गायत्री छन्द को भी परोक्षभाव से हवि में शामिल कर देता है।

"अग्निर्वै गायत्री। तद् गायत्रीमन्वाभजति" ॥९॥

हे हवि, आप सोम के शरीर हो–ऐसे आपका विष्णु के लिए अर्थात् सोम के लिए ग्रहण करता हूँ। इन्द्र–वरुण–सोम–रुद्र–पर्ज्जन्य–यम–मृत्यु–ईशान ये क्षत्र वीर्य्य के दाता कहलाते हैं। अतएव—

"यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणि इन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्यु-रीशान इति। तस्मात् क्षत्रात्परं नास्ति"। (बृ० उ० १।४।११)

सोम क्षत्र है। क्षत्र इन्द्र है। इन्द्र अन्तरिक्ष के देवता हैं एवं अन्तरिक्ष के छन्द का ही नाम त्रिष्टुप् है। त्रिष्टुप् अन्तरिक्ष के छन्द का नाम है। अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता इन्द्र हैं। इन्द्र क्षत्र है। अतएव त्रिष्टुप् को क्षत्र कहा जाता है। अपि च सोम अन्तरिक्ष में ही रहता है। जैसा कि "**त्वया तत्त सर्वान्तरिक्षम्**" श्रुति से स्पष्ट है—

सोम भी क्षत्र है। एवं अन्तरिक्ष के छन्द का नाम ही त्रिष्टुप् है–इसलिए भी त्रिष्टुप् को क्षत्र कहा जाता है। हवि से कहते हैं कि तुम सोम के शरीर हो। वास्तव में बात ठीक है। हवि कहते हैं अन्न को। अन्न ही तो सोम का शरीर है। सोम साक्षात् स्व–स्वरूप से लभ्य नहीं है–अपितु मन्त्र द्वारा ही सोम आहुत होता है। साक्षात् सोम को हम नहीं देख सकते। अन्न में, हवि में, घुसा हुआ जो सोम है–वही हमारे उपयोग में आता है। हवि ही सोम का शरीर है। जैसे अग्नि से परोक्षभावेन गायत्री को अन्वाभक्त किया था तथैव–"**सोमस्य**"–इत्यादि से परोक्षभावेन त्रिष्टुप् छन्द को अन्वाभक्त करते हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"क्षत्रं वै सोमः। क्षत्रं त्रिष्टुप्। तत् त्रिष्टुभमन्वाभजति" ॥१०॥

हे हवि, आप अतिथि सोम के आतिथ्य हो। आप ही आतिथ्य के साधनभूत हो। अर्थात् आप ही से (अन्नादि से) अतिथि का सत्कार किया जाता है। ऐसे आपका विष्णु के लिए, अतिथि

सोम के लिए, ग्रहण करता हूँ। और जो मन्त्रभाग हैं उनमें तो छन्द भी शामिल हैं। परन्तु इस हिस्से में छन्द शामिल नहीं है। यह भाग इस सोम का उद्धार है अर्थात् प्रातिस्विक है। जिस प्रकार आगत श्रेष्ठ आतिथि का उद्धार होता है तथैव यह हिस्सा सोम छन्दों से अलग इस सोम के लिए उद्धार है। राजा यदि किसी के घर आता है तो उसके साथ नौकर-चाकर भी आते हैं। उनको भी वही सामग्री परोसी जाती है। परन्तु नजर (भेंट) राजा की ही होती है। बहुमूल्य वस्तु की नजर (भेंट) राजा की ही होती है, नौकरों की नहीं। तो यह जो हिस्सा है, वह सोम की नजर है। इसमें छन्दों का हिस्सा नहीं है। प्रतिनियत भाग को ही 'उद्धार' कहते हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"सोऽस्योद्धारः यथा श्रेष्ठस्योद्धारः। एवमस्यैषः। ऋते छन्दोभ्यः" ॥११॥

श्येनायत्वेति—गायत्री श्येन बन कर चूं कि सोम लाई थी, अतएव गायत्री को सोमभूत कहते हैं। ऐसा जो बिन्दु है अर्थात् सोम है, उसके लिए हवि का ग्रहण करता हूँ। "**अग्नेस्तनूरसि**"—इससे भी गायत्री को अन्वाभक्त किया था एवं-श्येनाय-इत्यादि से दुबारा फिर गायत्री को परोक्षभाव से अन्वाभक्त करते हैं—

"गायत्रीमन्वाभजति"।

परमेष्ठीमण्डल में, गायत्री (पार्थिवाग्नि) ने वाग् बन कर द्युलोक के सोम का अपहरण कर लिया था-अतएव वह श्येनरूपा गायत्री सोमभृत् कहलाती है। बस इसी पराक्रम के कारण इस गायत्री को दुबारा अन्वाभक्त करते हैं। गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती तीनों ही सोम लेने गई थीं। परन्तु सोमापहरण करने में गायत्री ही समर्थ हुई थी, अतएव पराक्रम का पारितोषिक देने के लिए उसे दो बार शामिल किया जाता है। यद्यपि इनाम सभी नौकरों को मिलता है परन्तु जो मर्जीदान नौकर हैं उन्हें अधिक इनाम मिला करता है। यह गायत्री सोम राजा की मर्जीदान (कृपा-पात्र) है। गायत्री ही सोम के साथ रहती है। अतएव इसे डबल (दुगना) इनाम दिया जाता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"सा यद् गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत् तेन सा श्येनः सोमभृत्। तेनैवैनामेतद् वीर्येण द्वितीयमन्वाभजति" ॥१२॥

अग्नये त्वा—हे हवि!, अग्निस्वरूप रायस्पोष के देने वाले जो विष्णु हैं—उनके लिए तुम से ग्रहण करता हूँ। संपत्ति की पुष्टि को रायस्पोष कहते हैं। संपत्ति को ही वैदिक भाषा में पशु कहते हैं। उपकरण-सामग्री का नाम ही पशु है। पशु जगती-स्वरूप है। जगती कहते हैं पृथिवी को। पृथिवी से ही पशु पुष्ट होते हैं। अतएव "जागता वै पशवः" यह कहा जाता है—

"अग्नये त्वा रायस्पोषदे"।

से परोक्षभावेन जगती को शामिल करते हैं। विष्णु अग्नि-स्वरूप है। पृथिवी से २१ अहर्गण तक जाने वाला जो अग्नि है, उसी का नाम पिण्ड है। इसे ही यज्ञ भी कहते हैं। इसमें सोम की आहुति

पड़ती है। तभी यज्ञ का, अर्थात् विष्णु का, अर्थात् अग्नि का, स्वरूप सुरक्षित रहता है। अतएव विष्णु को सोम कहा जाता है। विष्णु वास्तव में सोम है। अग्नि सोम ही तो है। यदि सोम न हो तो अग्नि का पता ही न लगे—

"पशवो वै रायस्पोषः। पशवो जगती। तज्जगतीमन्वाभजति" ॥१३॥

यह यजमान, किसलिए (१) "अग्नेस्तनूरसी" (२) "सामस्य तनूरसि" (३) "अतिथेरातिथ्यमसि" (४) "श्येनादत्वा सोमभृते" (५) "अग्नयेत्वा रायस्पोषदे"—इन पाँचों में से पाँच बार हवि ग्रहण करता है—इसका कारण बतलाते हैं—

"अथ यत्पञ्च कृत्वो गृह्णाति (तस्य कारणमुच्यते—इति शेषः)"।

सोम यज्ञ संवत्सर—संमित है। पृथिवी के केन्द्र से २१ वें अहर्गण तक जो वर्तुलवृत्त है उसे ही संवत्सरमण्डल कहते हैं। यह अग्नि का ही मण्डल है। इसी में सोम की आहुति पड़ने से अग्नीषोमात्मक यज्ञ हुआ करता है। अतएव यज्ञ को संवत्सर—संमित कहा जाता है।

एक संवत्सर में वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त ये पाँच ऋतुएँ होती हैं। बस, अध्वर्यु इन पाँचों से हवि ग्रहण करता हुआ, दृढ़ मनोभावना से पञ्चावयव—उस संवत्सर को पाँच मन्त्र—भागों से आत्मसात् कर लेता है। अतएव पाँच बार हवि ग्रहण करता है—

"संवत्सरसंमितो वै यज्ञः। पञ्च वाऽऋतवः संवत्सरस्य। तं पञ्चभिराप्नोति। तस्मात् पञ्च कृत्वो गृह्णाति"।

यह यजमान पाँचों में—

"विष्णवे त्वा, विष्णवे त्वेति"।

का समावेश करके ही हवि ग्रहण करता है। वह विष्णु के लिए ही हवि ग्रहण करता है। यज्ञ के लिए, अर्थात् यज्ञ—साधक सोम के लिए, हवि ग्रहण कर रहा है और बोल रहा है—"विष्णवेत्वा"। इससे भ्रम में नहीं पड़ जाना चाहिए। क्योंकि यज्ञ और विष्णु दोनों एक ही हैं—

"अथ यद् विष्णवे त्वा विष्णवे त्वेति गृह्णाति। विष्णवे हि गृह्णाति यो यज्ञाय गृह्णाति" ॥१४॥

"नवकपालः पुरोडाशो भवति"।

इस आतिथ्य-इष्टि से नवकपाल पुरोडाश होता है। आतिथ्येष्टि में नवकपाल पुरोडाश क्यों करना चाहिए, इसकी उपपत्ति बतलाते हैं।

यह जो आतिथ्य-कर्म्म है, वह यज्ञ का मस्तक है। प्रायणीय और उदयनीय यज्ञ-पुरुष के दोनों हाथ हैं एवं दोनों के बीच में होने वाला आतिथ्य-यज्ञ मस्तक-स्थानीय है। जैसा कि ब्राह्मण के प्रारम्भ में ही बतला दिया गया है—

"शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यम्"।

गायत्री छन्द नवाक्षर होता है। आठ अक्षर तो वे हैं जो कि अनुवाक्या मन्त्र में बोले जाते हैं, जिनका कि अनुवचन होता है। गायत्री का असली स्वरूप आठ ही अक्षर का है। अतएव **"अष्टाक्षरा वै गायत्री"** कहा जाता है एवं प्रणव अर्थात् ओंकार इस गायत्री छन्द का नवाक्षर हो जाता है। चूँकि गायत्री नवाक्षर है, अतएव नवकपाल ही पुरोडाश किया जाता है—

"नवाक्षरा वै गायत्री अष्टौ तानि यान्यन्वाह। प्रणवो नवमः"।

वादी पूर्वपक्ष कहता है कि-गायत्री से ही क्यों आतिथ्येष्टि की जाती है? उष्णिक, जगती, बृहती आदि छन्दों से क्यों न आतिथ्येटि कर ली जाए?—इसी का समाधान करते हैं।

प्राकृतिक यज्ञ-मण्डल का यह गायत्री छन्द पूर्वार्द्ध है। पश्चिमार्द्ध और पूर्वार्द्ध-इस प्रकार पुरुष-वार-यज्ञ-पुरुष के दो विभाग हैं। इसमें जो गायत्री है वह इस यज्ञ का पूर्वार्द्ध है। पृथिवी से लेकर ३३ तक का जो वाङ्मण्डल है, इसी कला में यज्ञमण्डल है। उसी यज्ञमण्डल में अग्नि और सोम दो विभाग हैं। २१ तक अग्नि है। ३३ तक सोम है। इसमें जो २१ तक जाने वाला अग्नि है वह घन, तरल, विरल अवस्था-भेद से अग्नि, वायु, आदित्य तीन स्वरूपों में परिणत हो रहा है। तीनों में अग्नि पृथिवीलोक का अधिष्ठाता है। इसके छन्द का नाम गायत्री है। वायु अन्तरिक्ष-लोक का अधिष्ठाता है। इसके छन्द का त्रिष्टुप् है। आदित्य द्युलोक के अधिष्ठाता हैं। इनके छन्द का नाम जगती छन्द है। इस प्रकार तीनों के तीन छन्द हैं। तीनों में सबसे पहला गायत्री छन्द है। यही यज्ञ-पुरुष का पूर्वार्द्ध है, अर्थात् मस्तक-भाग है। एवमेव यह जो आतिथ्य है, वह भी उस यज्ञ-पुरुष का पूर्वार्द्ध ही है। मस्तक भाग ही को तो पूर्वार्द्ध कहते हैं। चूंकि मस्तक-स्थानीय यज्ञ-पुरुष के पूर्वार्द्ध के आतिथ्य का यजन करना है, अतएव प्राकृतिक यज्ञ का जो पूर्वार्द्ध-भाग है, अर्थात् गायत्री है, उसी से आतिथ्येष्टि करना युक्त है।

मस्तक में ९ प्राण होते हैं। अतएव अष्टाक्षरा गायत्री में एक प्रणव और बढ़ा कर नवाक्षरा बना दिया जात है।

प्राजापत्य, वायव्य, ऐन्द्र भेदेन प्राण तीन ही प्रकार के हैं। प्रकृति-मण्डल में चूँकि तीन प्राण हैं अतएव अध्यात्म में भी तीन ही प्राण रहते हैं। जो प्राजापत्य प्राण है, वह तो पृथिवी का आग्नेय प्राण है, जो कि पृथिवी के केन्द्र में रहता है। जिसके लिए कि कहा जाता है—

"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा वि जायते"। (अथर्ववेद १०।४।८।१३)

इसी का नाम वैश्वानराग्नि है। यह आलोमभ्यः-आनखाग्रेभ्यः व्याप्त रहता है। शरीर में जहाँ हाथ लगाया जाता है, वहीं गरमी मालूम होती है। वह यही प्राजापत्य प्राण है जिसे कि वैश्वानराग्नि कहेंगे।

दूसरा है वायव्य प्राण। हम जो श्वास-प्रश्वास लेते हैं, जिससे कि प्राजापत्य और ऐन्द्रप्राण की स्थिति रहती है, वही वायव्य प्राण है। इसे ही वामन भगवान् कहते हैं।

तीसरा है ऐन्द्र प्राण। यह विज्ञान, प्रज्ञान स्वरूप में परिणत हो, शिरोगुहा में रहता है। विज्ञान चिदनुगृहीत सौरप्राण का नाम है एवं चिदनुगृहीत महान् का नाम प्रज्ञान है। प्रज्ञान और विज्ञान दोनों परस्पर अनुस्यूत रहते हैं। न विज्ञान, बिना प्रज्ञान के रहता है; न प्रज्ञान, बिना विज्ञान के रहता है। अतएव **"यो वै प्रज्ञा स प्राणः" । या वा प्रज्ञा स प्राणः ।"**—यह कहा जाता है। ये प्रज्ञान और विज्ञान दोनों मस्तक में रहते हैं।

इस प्रकार दो प्राण तो मस्तक में रहते हैं एवं सात प्राण मुख नासिका में रहते हैं। दो कान, दो आँखें, दो नासिका-छिद्र, एक मुख—इन सातों के सात प्राण भी मस्तक ही में रहते हैं। इस प्रकार इन सातों को मिला कर कुल ९ प्राण हो जाते हैं। इन ९ वों में विज्ञान के अधीन प्रज्ञान है। प्रज्ञान के अधीन सातों प्राण हैं अतएव इन सातों को "प्राण" शब्द से व्यवहृत किया जाता है। प्रज्ञान को मुख्य प्राण शब्द से व्यवहृत किया जाता है। सारे प्रपंच से बतलाना यही है कि मस्तक में ९ प्राण रहते हैं। मस्तक पुरुष का पूर्वार्द्ध है। उधर आतिथ्य-यज्ञ मस्तक-स्थानीय ही है एवं गायत्री भी यज्ञ का पूर्वार्द्ध है। चूँकि पूर्वार्द्ध (मस्तक) ९ प्राणों से युक्त होता है। अतएव इस नवधा प्राण-सम्पत्ति के लिए अष्टाक्षरा गायत्री में एक प्रणव और मिला दिया जाता है। नवाक्षरा गायत्री से होने वाली आतिथ्येष्टि में नव-कपाल-पुरोडाश की यही उपपत्ति है। इसी को लक्ष्य में रख कर याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"पूर्वार्धो वै यज्ञस्य गायत्री। पूर्वार्ध एष (आतिथ्य यज्ञः) यज्ञस्य। तस्मान्नवकपालः पुरोडाशो भवति ।।१५।।

"प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" यह सिद्धान्त है। जो-जो काम प्रकृति-यज्ञ में होते हैं वे-वे विकृति यज्ञ में भी करने पड़ते हैं। आतिथ्यादि इष्टियों की प्रकृति दर्शपूर्णमास है। जो--जो काम दर्शपूर्ण-मास में होते हैं वे ही विकृत-यज्ञस्वरूप आतिथ्यादि इष्टियों में भीहोते हैं। प्रकृति-यज्ञ में आहवनीय कुण्ड के तीन ओर लकड़ी की परिधि लगाई जाती है। परिधि क्यों लगाई जाती है? इसकी उपपत्ति दर्शपूर्ण-मास में ही बतला दी गई है। दर्शपूर्णमास में पलाश, खदिर, प्लक्ष, वट, अश्वत्थ, उदुम्बर, कुमुक (सुपारी) वरण, बिल्व, शमीगर्भ, विकङ्कत, काश्मर्य, सरल, साल, देवदारु, चन्दन, इत्यादि जितने भी यज्ञिय वृक्ष हैं उन सब में से चाहे जिसकी परिधियाँ बनाली जाती हैं। यह आतिथ्येष्टि पूर्णमास की विकृति है। अतएव—**"प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या'** के अनुसार इसमें भी परिधि के विषय में कामचार प्राप्त होता है। उसका नियमन करने के लिए कहते हैं –

"कार्ष्मर्यमयाः परिधयः" ।

आतिथ्येष्टि में काश्मर्यमय परिधियाँ ही होती हैं। यही प्रकृति-यज्ञ से इसमें विशेषता है। काष्मर्य ही क्यों होती है ? इसका कारण बतलाते हैं।

याज्ञिक महर्षि विद्वानों ने, जो कि देवतापद वाच्य हैं, यच्चयावत् वनस्पतियों में इस काष्मर्य को ही रक्षोघ्न देखा। राक्षसों का नाम है नाष्ट्रा। वायु में जो आसुरप्राण व्याप्त रहते हैं उन्हीं का नाम नाष्ट्रा है। नाष्ट्रा को ही मस्तक कहते हैं। इनके प्रविष्ट होते ही दिव्यभाव नष्ट हो जाता है। और-और जितने भी यज्ञिय वृक्ष हैं उन सब के अवयव श्लथ रहते हैं। अतएव उनमें वायु को घुसने का मौका मिल जाता है। वायु के घुसते ही उसमें रहने वाले राक्षस भी अर्थात् नाशक प्राण भी घुस जाते हैं। इन सब काष्ठों में एक काष्मर्य अर्थात् भद्रपर्णी ही ऐसा वृक्ष है जिसमें वायु असर नहीं कर सकता। यह वृक्ष अत्यन्त गरम होता है। गर्मी में वायु को घुसने का मौका नहीं मिलता। यह वृक्ष अत्यन्त गरम है, अतएव कहा जाता है—

गम्भारी मधुरा तिक्ता कषाया कटुका गुरुः दीपनी पाचनी मेध्योष्णवीर्या भेदिनी तथा। विपाक मधुरं ग्राहि वातलं रक्तदोषहृत् गम्भारी मूलमत्युष्णं मानुषेषु हितं नतत्। इति

यही वृक्ष श्रीपर्णी, भद्रपर्णी, स्निग्धपर्णी, मधुपर्णी, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। यहाँ सिर्फ इतना ही कहना है कि यह वृक्ष गरम है। आग्नेय में आसुर प्राण नहीं घुस सकता। वैज्ञानिक विद्वानों ने परीक्षा करके निश्चय कर लिया है कि सौर याज्ञिक वृक्षों में यह काष्मर्य वृक्ष रक्षोघ्न है, राक्षसों को मारने वाला है। आसुर प्राण को इसमें घुसने का मौका नहीं मिल सकता—

"देवा ह वाऽएतं वनस्पतिषु राक्षोघ्नं ददृशुर्यत्कार्ष्मर्यम्" ।

यह आतिथ्य-यज्ञ यज्ञ-पुरुष का मस्तक है। आज इस यज्ञ द्वारा मस्तक बनाया जा रहा है। यह बड़ा ही नाजुक काम है। इस बीच में ही राक्षस लोग यज्ञ के इस मस्तक को नष्ट न कर डालें, अतएव रक्षा के लिए रक्षोघ्नस्वरूप काष्मर्य परिधियाँ ही होती हैं—

"शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यम् । नेच्छिरो यज्ञस्य नाष्ट्रा रक्षांसि हिनसन्— इति । तस्मात् कार्ष्मर्यमयाः परिधयो भवन्ति ।।१६।।

प्रकृति-यज्ञ में प्रस्तर कुशा का होता है। वही इस विकृति-यज्ञ में भी प्राप्त था। उसका अवरोध कर, उसमें भी विशेषता बतलाते हैं। यद्यपि आतिथ्येष्टि के विकृति-याग होने के कारण कुशा के प्रस्तर की नियमतः प्राप्ति थी परन्तु इसमें कुशा का प्रस्तर नहीं होता अपितु **"आश्ववाल"** का प्रस्तर होता है। घोड़े के बाल के समान अतिसूक्ष्म पुच्छ-रूप में उगने वाले जो तृण विशेष हैं, उन्हें ही— **"आश्ववाल"** कहते हैं। उसी का प्रस्तर होना चाहिए—

"आश्ववालः प्रस्तरः"।

आश्ववाल प्रस्तर ही क्यों होना चाहिए—इसका कारण बतलाते हैं।

यज्ञ, देवताओं से अपक्रमण कर गया एवं वह अश्व बन कर, देवताओं से बहुत दूर चला गया। अग्नि को ही यज्ञ कहते हैं। यह अग्नि पृथिवी केन्द्र में रहता है एवं पृथिवी के केन्द्र से ऊपर जाता रहता है। इसी के लिए—कहा जाता है—

"इत एत उदारुहन् दिवः पृष्ठान्या रुहन्।
प्र भूर्जयो यथा पथोद्यामङ्गिरसो ययुः"॥ (सामवेद पू० १।१०।२)

यह अंगिरा अग्नि अश्वरूप में परिणत होकर ही पृथिवी से निकलता है। पृथिवी प्रातिस्विकरूपेण सर्वथा काली है। इस पर सूर्य्य का प्रकाश पड़ता है। पृथिवी के आधे भाग पर प्रकाश पड़ता है, आधे पर अन्धकार रहता है। इस पृथिवी के अन्धकार भाग को काट कर सौर प्रकाश बड़ी दूर तक लोका-लोक तक, गया हुआ है। प्रकाश से कटे हुए अन्धकार को ही राहु कहते हैं। जितनी दूर तक सूर्य्य का प्रकाश नहीं जाता है वहाँ से वह प्रतिफलित हो उसी आकार में परिणत हो कर पृथिवी से ऊपर सूर्य्य की ओर चला जाता है। जिस समय आदित्य-रश्मि पृथिवी पर आती है एवं प्रतिफलित होकर-अश्वरूप में परिणत हो कर-ऊपर की ओर जाती है, उस समय पृथिवी का अंगिरा भी उसके साथ चला जाता है। बस, यही यज्ञ-रूप अग्नि का अश्वरूप बन कर पार्थिव देवताओं से अभिक्रमण कर जाना है। वह यज्ञ अश्व बन कर बड़ी दूर तक चला जाता है, पृथिवी को छोड़ कर द्युलोक में चला जाता है। इसी लिए "**द्यामंगिरसो ययुः**" कहा जाता है। बस इसी अश्व से संसार के यच्चयावत् पदार्थों की उत्पत्ति होती है। इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम। सोऽश्वो भूत्वा पराङावर्वत"।

देवता लोग उसकी खोज करने लगे। आखिर देवताओं को मालूम हो गया कि यह यज्ञ अश्व बन कर भाग रहा है। बस झट से देवताओं ने उस पर आक्रमण कर उसकी पूँछ के बालों को नोच लिया। नोच कर उस समष्टि को ही जमीन में गाड़ दिया। बस वही अश्व-पुच्छ के बाल इस औषधिरूप में उत्पन्न हुए जो कि ठीक पुच्छ के आकार के होने के कारण "**आश्ववाल**" नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी अश्व से सब कुछ पैदा होता है। अश्व के पुच्छ भाग से ही पार्थिव औषधियाँ पैदा होती हैं।

अश्व में प्राण अनन्त हैं। वह अग्नि जो कि अश्व-रूप में परिणत हो एकान्ततः उच्छिन्न हो कर जाना चाहता था, उसे पृथिवी के केन्द्र में बैठे हुए भगवान प्रजापति पकड़े रहते हैं।

अश्व के ऊपर का हिस्सा यद्यपि द्यौलोक की ओर (२१ तक) चला जाता है परन्तु इसका पुच्छ भाग प्रजापति की पकड़ मे ही रहता है। यही पुच्छ-भाग अर्थात् अंगिरा-यज्ञ पार्थिव पदार्थों की उत्पत्ति का कारण बनता है। पृथिवी से २१ तक वितत होने वाला जो संवत्सराग्नि है, वही अश्व है। इसी को

संवत्सर–मण्डल कहते हैं। इसी से यच्चयावत् जड़–चेतन की सृष्टि होती है। इसके पैर पृथिवी में हैं। अतएव सूर्य्य को इस अश्व का चक्षु बतलाया जाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"उषा वाऽअश्वस्य मेध्यस्य शिरः। सूर्य्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः। संवत्सर आत्माश्वस्य मेध्यस्य द्यौस्पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यं दिशः पार्श्वेऽअवान्तरदिशः पर्शव"—इत्यादि।

(शत० १०।६।४।१)

इससे सिद्ध हो जाता है कि पृथिवी से निकलने वाला, प्रतिफलित आदित्य के साथ जाने वाला घन–तरल–विरल रूप में परिणत हो कर २१ अहर्गण तक अर्थात् सूर्य्य तक वितत होने वाला जो संवत्सराग्नि है' वही अश्व है। इससे सब कुछ पैदा होता है। चूंकि इससे सूर्य सम्बन्ध से नाना प्राणों का सम्बन्ध हो जाता है अतएव पदार्थ भी नाना प्रकार के ही उत्पन्न होते हैं। इसका जो पृष्ठ–भाग है उसके प्राण से **"आश्ववाल"** औषधि उत्पन्न होती है। प्राकृतिक अश्व के पृष्ठ–प्राण से **"आश्ववाल"** उत्पन्न हुए हैं इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि यह औषधि ठीक अश्व की पूँछ के आकार की है, अतएव मानना पड़ता है कि आश्ववाल में अवश्य ही अश्व का पुच्छ–प्राण है। इस उत्पत्ति के कारण यही पार्थिव प्रजापति देवता है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"तस्य देवा अनुहाय (आक्राम्य) वालानभिपेदुः। तानालुलुपुः। तानालुप्य सार्द्धं सन्यासुः। तत एता ओषधयः समभवन् यदश्ववालाः"।

भारतीय यज्ञ–रहस्य–वेत्ता इस प्राकृतिक सृष्टि–विज्ञान से परिचित थे, वे जानते थे कि यज्ञस्वरूप अश्व के पुच्छ–प्राण से वह आश्ववाल औषधि उत्पन्न हुई है। अतएव यज्ञ–संपत्ति को सर्वात्मना पूरी करने के लिए उन्होंने आतिथ्येष्टि में इसका विधान कर दिया।

यह आतिथ्य–यज्ञ यज्ञ–पुरुष का मस्तक है एवं आश्ववाल उस प्राकृतिक यज्ञ–पुरुष का पृष्ठ–भाग है। आतिथ्य पूर्वार्ध हैं, आश्ववाल पश्चिमार्ध है। बस, सारा यज्ञ हमारी पकड़ में आ जाय, यज्ञ-स्वरूप सर्वात्मना सम्पन्न हो जाय, अतएव आश्ववाल का मस्तक बनाया जाता है। आतिथ्य–यज्ञ बिना कंधों के, पृष्ट–भाग के, आधा है। यदि आश्ववाल का सम्बन्ध कर दिया जाता है तो यज्ञ का स्वरूप पूरा बन जाता है। जो यजमान आतिथ्येष्टि में आश्ववाल का प्रस्तर करता है, वह इस यज्ञ को पृष्ठ और मुख दोनों ओर से गृहीत कर उसे पूरा सम्पन्न करता है, अधूरे यज्ञ को पूरा करता है। बस आश्ववाल–प्रस्तर बनाने की यही उपपत्ति है।

शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यम्। जघनार्धो (पश्चिमार्धो) वालाः। उभयत एवैतद्यज्ञं परिगृह्णाति–यदाश्ववालः प्रस्तरो भवति" ॥१७॥

प्रकृति–यज्ञ में विधृति कुशा की होती है परन्तु यहाँ सांठे (इक्षु, गन्ने) के पत्ते की विधृति होनी चाहिए। वेदी पर सबसे पहले कुशास्तरण किया जाता है। बाद में दो कुशाएँ उत्तराग्र मुख करके उस आस्तर पर रक्खी जाती हैं। इन दोनों पर पूर्वाग्रमुख करके प्रस्तर रक्खा जाता है। आश्ववाल भी सूक्ष्म हैं। ऐसी अवस्था में यदि विधृति भी सूक्ष्म ही (कुशा की ही) रक्खी जाएगी तो विधृति और प्रस्तर दोनों घिलमिल हो जाएँगे। ऐसी अवस्था में, सम्भव है, प्रस्तर उठाते समय विधृति और बर्हि भी साथ चली जाए। यदि प्रस्तर के साथ विधृति और बर्हि चली जाएगी तो यज्ञ ही नष्ट हो जाएगा। ऐसा न हो, बर्हि और प्रस्तर घिलमिल न होने पाएँ, दोनों का विभाग साफ देखने में आए अतएव ऐक्षव्यौ विधृती होती है। वास्तव में बात ठीक हैं। यदि कुशा की ही बर्हि बन जाएगी, कुशा की ही विधृति भी बन जाएगी तो सूक्ष्म आश्ववाल के प्रस्तर को पहचानना कठिन हो जाएगा। इस पहचान के लिए विधृति साँठों के पत्तों की करनी चाहिए—

"ऐक्षव्यौ विधृती। नेद् बर्हिश्च प्रस्तरश्च संलुभ्यातै (तस्मादेक्षव्यौ कर्त्तव्ये–इति भावः)"।

प्रकृति–यज्ञ में जुहू और ध्रुवा इन दोनों में आज्यस्थाली में से चार–चार बार करके घृत लिया जाता है। और उपभृत् में आठ बार करके लिया जाता है। अनुयाज इष्टि में चार अधिक, अनुयाज के लिए लिया जाता है परन्तु इस आतिथ्येष्टि में सारे आज्य, जुहू, उपभृत्, ध्रुवा तीनों में ही चतुर्गृहीत होते हैं। अर्थात् प्रकृतिवत् यहाँ उपभृत में आठ बार घृत नहीं लिया जाता अपितु जुहू–उपभृत्–ध्रुवा–तीनों में ही चार–चार बार घृत लिया जाता है। कारण इसका यही है कि यहाँ अनुयाज कर्म्म नहीं होता अनुयाज यज्ञसमाप्ति पर होता है। अभी सोमयज्ञ समाप्त नहीं हुआ है। अतएव यहाँ अनुयाजस्थानीय उपभृत् में ४ अधिक ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। घृत–ग्रहण से पहले घृत का जो निरीक्षण है उसे उपायन कहते हैं।

घृत में और कुछ तृणादि तो नहीं पड़े हुए हैं इसलिए पहले उसे देख लिया जाता है। इस प्रकार यह अध्वर्यु आज्य को देख कर जुहू–उपभृत–ध्रुवा सारे ही अनुगृहीत आज्य ग्रहण करता है। प्रकृतिवार यहाँ उपभृत में भी आठ बार न ले कर चार बार ही लिया जाता है। कारण इसका यही है कि इस कर्म में **"अनुयाज"** नहीं होता।

"अथोत्पूयाज्यं, सर्वाण्येव चतुर्गृहीतान्याज्यानि गृह्णाति। न ह्यत्रानुयाजा भवन्ति" ॥१८॥

इसके अनन्तर उस नवकपाल पुरोडाशहवि को प्रस्तर पर रख कर यथावत् सामग्री संभृत कर फिर अग्निमन्थन करता है। अग्नि–मन्थन करना प्रजा को उत्पन्न करना है।

प्रकृति में जब परमेश्वर बच्चा उत्पन्न करता है तो पहले माता के स्तनों में उस उत्पत्स्य (जन्म लेने वाले) के लिए दूध उत्पन्न करता है। अन्न पहले उत्पन्न करता है, अन्नाद को बाद में उत्पन्न करता है। प्रकृति

में अन्न (दूध) पहले उत्पन्न होता है अतएव अग्निस्वरूप प्रजा को उत्पन्न करता हुआ यह अध्वर्यु उसकी उत्पत्ति से पूर्व दुग्धान्नस्वरूप हवि को प्रस्तर पर रख देता है। अग्निमन्थन से पहले हवि-आसादन का यही कारण है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"आसाद्य हवींष्यग्निं मन्थति"।

पूर्व की जो और-और इष्टियाँ थीं उनमें अग्निमन्थन नहीं होता अपितु पूर्व के मथित अग्नि से ही काम ले लिया जाता है। ऐसी अवस्था में आतिथ्येष्टि में अग्निमन्थन की क्या आवश्यकता है? क्यों न पूर्व के अग्नि से ही काम ले लिया जाए? इसका समाधान करते हैं —

यह जो आतिथ्य है वह यज्ञ का मस्तक स्थानापन्न है। यज्ञ का मस्तक आतिथ्य है–यह यज्ञ अग्नि-स्वरूप ही है। अग्नि का ही नाम तो यज्ञ है। वास्तव में अग्नि यज्ञस्वरूप है। अग्नि में जब सोमाहुति डाली जाती है तो यज्ञ होता है। यज्ञ का सोमाहुति का, आधार अग्नि है। अतः हम अवश्य ही अग्नि को यज्ञ कहने के लिए तैय्यार हैं। तो अग्नि को जो उत्पन्न करना है, वह यज्ञ को ही तो उत्पन्न करना है। जिस यज्ञपुरुष का मस्तक आतिथ्य को बतलाया जाता है। यह यज्ञ अग्निस्वरूप है।

अतएव आतिथ्य के लिए यज्ञ–मस्तक के लिए यज्ञस्वरूप अग्नि को ही पहले ही उत्पन्न करना चाहिए। यदि अग्नि पैदा नहीं होगा तो आतिथ्यस्वरूप यज्ञमस्तक ही उत्पन्न नहीं होगा। जो ऋत्विक् लोग इस अग्नि का मन्थन करते हैं, वे इस यज्ञ को ही उत्पन्न करते हैं। अग्नि को उत्पन्न करना यज्ञस्वरूप को उत्पन्न करना है—

"शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यम्। जनयन्ति वाऽएनं (यज्ञम्) एतद्यन्मन्थन्ति (अग्निं ऋत्विजः–इति शेषः)"।

पैदा होने वाला प्राणी पहले मस्तक की ओर से ही पैदा होता है। प्राकृतिक प्रजनन में पहले बच्चे का मस्तक बनता है। मस्तक का स्वरूप अग्नि से बनता है। पार्थिवादि भेदेन अग्नि दो प्रकार का है। दिव्याग्नि मस्तक में रहता है। इसे ही सौराग्नि भी कहते हैं। इस आग्नेय–प्राण के बल से ही अध्वर्यु सबसे पहले मस्तक का निर्माण करता है।

मस्तक–प्राण की पुष्टि यही आग्नेय प्राण करता है, चूंकि प्राकृतिक उत्पत्ति क्रम में पैदा होने वाला बच्चा मस्तक की ओर से ही होता है। यह आतिथ्य मस्तक–स्थानापन्न है अतः इसमें अग्नि को उत्पन्न करता हुआ मस्तक की ओर से ही पहले यज्ञपुरुष को उत्पन्न करता है। आतिथ्य-मस्तक अग्निप्राण से उत्पन्न होता है। ऐसी अवस्था में आतिथ्ययज्ञ में जो कि मस्तकस्वरूप है, यदि अग्नि का मन्थन कर उसमें आग्नेय प्राण का आधान न किया जाएगा तो आगे के अवयव ही न बनेंगे। जब मस्तक ही कच्चा रह जाएगा तो ऐसी अवस्था में यज्ञ–पुरुष को उत्पन्न करने के लिए अग्निमन्थन किया जाता है। अथवा इसका अर्थ यह समझना चाहिए कि अग्नि यज्ञ है, आतिथ्य मस्तक है। प्रकृति–प्रजनन में बच्चे का पहले

मस्तक उत्पन्न होता है। पाँव की ओर से तो कोई विरला ही उत्पन्न होता है। अतः आतिथ्य, यज्ञ का मस्तक है। यज्ञ अग्निस्वरूप है तो आतिथ्य में अग्निमन्थन द्वारा अग्नि उत्पन्न करना दिव्यपुरुष को–यज्ञात्मा को–प्रकृतिवत् पहले मस्तक की ओर से ही उत्पन्न करना है। बस, अग्निमन्थन का यही कारण है-

"शीर्षतो वाऽग्रे जायमानो जायते शीर्षत। एवैतदग्रे यज्ञं जनयति (यः अतिथ्येऽग्नि मन्थति)–इति शेषः"।

अपि च अग्नि ही में सारे देवता हैं। वास्तव में अग्नि ही सर्व–देवता–स्वरूप है। अग्नि की घन–तरलादि जो ३३ अवस्थाएँ हैं, उन्हीं को तो ३३ देवता कहते हैं। आग्नेय प्राण का ही नाम देवता है। सर्व देवता अग्निमूलक ही हैं। इसीलिए तो ३३ देवताओं के लिए अग्नि में ही आहुति दे देते हैं।

इन्द्र–वरुण–सोम–वसु–आदित्य जिस किसी को भी आहुति देनी होती है—अग्नि में दे दी जाती हैं। यही अग्नि के सार्वदैवत्य भाव का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह जो आतिथ्य–यज्ञ है, वह यज्ञ-पुरुष मस्तक है। बस, आतिथ्य में अग्नि मन्त्रदाता मस्तक की ओर से ही इस यज्ञ को सारे देवताओं से समृद्ध करता है। अग्नि को उत्पन्न करना सारे देवताओं को उत्पन्न करना है, यही तात्पर्य्य है। एवं ऐसा करने से यजमान का यज्ञ सारे देवताओं से समृद्ध हो जाता है। सारे देवप्राण यजमान के यज्ञ में प्रविष्ट हो जाते हैं। इससे अधिक और क्या समृद्धि हो सकती है? बस, आतिथ्य-इष्टि में अग्निमन्थन की यही उपपत्ति है—

"अग्निर्वै सर्वा देवता। अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति। शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यम्। शीर्षत एवैतद्यज्ञं सर्वाभिर्देवताभिः समर्धयति। तस्मादग्निं मन्थति॥१९॥

काष्ठ के जो छिलके होते हैं जिन्हें कि भाषा में छोडे कहते हैं उन्हीं का वैदिक नाम **"अधि-मन्थनशकल"** है। ये छोडे सामान्य लकड़ी के नहीं होते। अपितु यूप तैयार करते समय जो काष्ठत्वक् उतरते हैं वही अधिमन्थन–शकल कहलाते हैं।

ये शकल (काष्ठ) अग्नि को जरा जल्दी पकड़ लेते हैं। अतएव इनको नीचे रख दिया जाता है उन पर अग्निमन्थन होता है। अग्नि जल्दी प्रज्वलित हो जाता है अतएव इन्हें मन्थन–क्रिया में शामिल कर लिया जाता है। यही तात्पर्य्य है। वह अध्वर्यु

"अग्नेर्जनित्रमसि"।

यह कहता हुआ अधिमन्थन शकल को अपने हाथ में उठाता है। हे अधिमन्थनशकल, आप अग्नि को उत्पन्न करने वाले हैं, आप ही पर अग्नि उत्पन्न होगा, प्रज्वलित होगा–ऐसे आपको में उठा सकूँ यही तात्पर्य्य है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"अत्र ह्यग्निर्जायते । तस्मादाह अग्नेर्जनित्रमसीति" ॥ २०॥

इसके बाद "**वृषणौ स्थ**" बोलता हुआ अध्वर्यु दो डाब के कोमल पत्ते, दो अति मुलायम हरी डाब, जमीन पर रख देता है। वे दोनों समानाकार होने चाहिए।—

"अथ दर्भतरुणके (कोमलौ परस्परसदृशौ दर्भौ) निदधाति"।

हे दर्भतरुणको ! आप अभिमत फल को बरसाने वाले हैं—यज्ञ-फल देने वाले हैं। यही '**वृषणौ स्थ**" का तात्पर्य्य है। दो दर्भतरुणक रखने की क्या आवश्यकता है ? यह बतलाते हैं। लोक में जैसे किसी के दो जोड़ले (जुड़वाँ) पुत्र होते हैं, निदानेन यह बर्हि भी वैसे ही जोड़ले (जुडवाँ पुत्र) हैं। इसीलिए प्रजननशक्त्याधिक्यार्थ दो कुशाएँ रक्खी जाती हैं, यही तात्पर्य है।

पैदा होते समय बच्चा कोमल होता है अतएव यहाँ जातस्थानीय दर्भ कोमल ही ली जाती है--

"तद्यावेवमौ (लोकस्थौ) स्त्रियै (स्त्रियाः) साकञ्जौ (सहोत्पन्नौ। निदानेन) एतावेवैतौ" ॥२१॥

अग्निमन्थन अरणि से किया जाता है। एक अरणि नीचे रहती है, एक उसके ऊपर रहती है। दोनों ही २४–२४ अंगुल की रहती हैं। जो नीचे की अरणि है उसे अधरारणि कहा जाता है। ऊपर की अरणि को उत्तरारणि कहा जाता है।

हम पद्धति बतलाएँ इससे पहले थोड़ा सा इतिहास जान लेना आवश्यक है।

चन्द्रवंश के आदिपुरुष महाराजा पुरूरवा थे। यह चन्द्रमा के पौत्र थे एवं बुध के पुत्र थे। पुरूरवा से उर्वशी अप्सरा में आयु महाराज उत्पन्न हुए थे। यह आयु महाराज प्रतिष्ठानपुर के राजा थे। प्रतिष्ठानपुर ईरान में था। आयु के पुत्र महाराजा रजि हुए। रजि के पुत्र नहुष हुए। नहुष के पुत्र ययाति हुए। ययाति इस ईरान वाले प्रतिष्ठानपुर को छोड़ कर प्रयाग में आ बसे।

"अन्य देशे कृतं पापं तीर्थ देशे प्रमुच्यते ।
तीर्थ देशे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति" ॥ (सूक्ति)

इस प्रकार स्मृतिकार, तीर्थ पर गृहस्थ बसा कर रहना अनुचित बतलाते हैं। अतएव ययाति महाराज ने प्रयास से हट कर अपना निवासस्थान बनाया। चूंकि उनकी ईरानवाली राजधानी का नाम "**प्रतिष्ठानपुर**" था अतएव उन्होंने इसका नाम भी प्रतिष्ठानपुर रख दिया।

इस रहस्य से अपरिचित हो कर ही आज अंग्रेज इतिहासकार इसी को असली प्रतिष्ठानपुर मान बैठे हैं। परन्तु यह उनकी सरासर भूल है। वास्तव में असली प्रतिष्ठानपुर कौन सा है, इसका विस्तृत विवेचन "**अत्रिख्याति**" में देखना चाहिए।

वस्तुतः प्रतिष्ठानपुर सिन्धु से २७ कोस पश्चिम में है। इसी के पास गन्धर्व रहते थे। यह प्रदेश गान्धार नाम से प्रसिद्ध था जिसे आज "**कन्धार**" कहा जाता है। गन्धर्व सोम के रक्षक थे। सोम से ही यज्ञ होता था। गन्धर्व उस यज्ञविद्या से परिचित हो गए थे जिससे भौमदेवता उत्तर कुरु में यज्ञ किया करते थे।

पुरूरवा ने गन्धर्व मर्य्यादानुसार उर्वशी अप्सरा को, जो कि गन्धर्व जाति की थी, अपने साथ रख लिया था और उसके साथ गान्धर्व–विवाह किया था। उसी से आयु महाराज उत्पन्न हुए थे।

देवता लोग यज्ञ–विद्या को भारतवासी मनुष्यों से छुपाते थे। परन्तु पुरूरवा को गन्धर्वों द्वारा यज्ञ–रहस्य मालूम हो गया। उन्होंने–भारतवर्ष में यज्ञ–विद्या का आरम्भ किया। देवता लोग वैध अग्नि को पहचानते थे अतएव उन्हें अग्नि–मन्थन नहीं करना पड़ता था। परन्तु मनुष्य नहीं पहचानते थे, अतएव इस क्षति को पूरा करने के लिए महाराज पुरूरवा ने अग्निमन्थन का आविष्कार किया।

२४ अंगुलि की अरणि बना कर उसके घर्षण से वैध अग्नि को उत्पन्न करने की तरकीब निकाल कर भारतवर्ष में उस देवविद्या का प्रचार किया। अग्निमन्थन–प्रक्रिया का आविष्कार पुरूरवा ने किया था। जैसे उन्होंने उर्वशी में से आयु को उत्पन्न किया था तथैव दोनों अरणियों से अग्नि को उत्पन्न किया था। अतएव उनकी प्रतिष्ठा के लिए आज हम उनका स्मरण करते हैं। अतएव वह अध्वर्यु "**उर्वश्यसि**" यह कहता हुआ अधरारणि को नीचे रख देता है।

"अथाधरारणिं निदधाति–उर्वश्यसीति" ।

जिसमें आज्य तपाया जाता है, पिघलाया जाता है, उस स्थाली को "**आज्यविलापिनी**" कहते हैं। "**आयुरसि**" बोलता हुआ उसका उत्तरारणि से स्पर्श करा–"**पुरूरवा असि**"यह उच्चरित करता हुआ उस उत्तरारणि को भी रख देता है—

"अथोत्तरारण्याज्यविलापनीमुपस्पृशति आयुरसीति । तामभिनिदधाति–पुरूरवा असि–इति" ।

इसी पूर्वोक्त कथन का स्पष्टीकरण करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि उर्वशी नाम की अप्सरा थी। पुरूरवा उसके गन्धर्वसम्बन्धेन पति थे। आयु महाराज ही उनके मिथुन से उत्पन्न हुए थे।

इसी प्रकार उत्तरारणि–अधरारणि को पुरूरवा मान कर इस मिथुन से यजमान का आयुस्वरूप जो यज्ञ है अर्थात् अग्नि है, उसे उत्पन्न करता है।

"उर्वशी वाऽअप्सराः । पुरूरवाः पतिः । अथ यत्तस्मान्मिथुनादजायत-तदायुः । एवमेवैष–एतस्मान्मिथुनाद्यज्ञं जनयति" ।

इसके बाद (अरण्यासादनानन्तर) अध्वर्यु अनुवाक्या बोलने के लिए होता को प्रैष करता है और कहता है—

"अग्नये मथ्यमानायानुब्रूहि" ॥२२॥

वह अध्वर्यु यह मन्त्र बोलता हुआ अग्निमन्थन करता है—

"गायत्रेण त्वा च्छन्दसा मन्थामि, त्रैष्टुभेन त्वा च्छन्दसा मन्थामि, जागतेन त्वा च्छन्दसा मन्थामि"।

प्रत्येक देवता के लिए याज्या और अनुवाक्या दो-दो मन्त्र होते हैं और वे दोनों पृथक्-पृथक् होते हैं। परन्तु इस अग्निमन्थन कर्म्म में यही पूर्वोक्त मन्त्र याज्या है, यही अनुवाक्या है। इसे ही बोल कर होता अनुवाक्या करेगा और इसे ही बोल कर अध्वर्यु याज्या करेगा। छन्दों से ही तो मन्थन किया जाता है और छन्दों को शामिल करके ही "मथ्यमानायानुब्रूहि" कहा जाता है।

अर्थात् अनुवचन मन्त्र भी छन्दयुक्त ही हैं एवं याज्या मन्त्र भी छन्दोयुक्त ही हैं। दोनों के लिए वही मन्त्र है—

"छन्दोभिरेव मन्थति। छन्दांसि मथ्यमानायान्वाह"।

ऐसा कहता हुआ अध्वर्यु तीनों छन्दों को यज्ञ के अधीन करता है-अग्नि के अधीन करता है।

जिस प्रकार आदित्य को रश्मियाँ नहीं छोड़तीं क्यों कि दोनों का औत्पत्तिक सम्बन्ध है, एवमेव अग्नि-स्वरूप यज्ञ का और छन्दों का भी औत्पत्तिक सम्बन्ध ही है। रश्मियाँ जैसे आदित्य के अन्वायत्त हैं तथैव प्राकृतिक गायत्री आदि छन्द, अग्नि के तथा अग्नि, वायु-आदित्यावस्था के अन्वायत्त है, अधीन है। उस औत्पत्तिक सम्बन्ध को बतलाने के लिए उसी से याज्या की जाती है और उसी से अनुवाक्या की जाती है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"छन्दांस्येवैतद्यज्ञमन्वायातयति यथाऽमुमादित्यं रश्मयः (अन्वायत्ता इति शेषः)"।

इसके अनन्तर अध्वर्यु होता को जातायानुब्रूहि इति—यह प्रैष करता है। जब अग्नि उत्पन्न हो जाता है तो उसे आहवनीय में रक्खा जाता है। आहवनीय में प्रह्रियमाण अर्थात् नीयमान जो अग्नि है—उसके लिए अनुप्रहरण करता हुआ अध्वर्यु प्रैष करता है कि हे होतः, तुम जात (उत्पन्न) के अनुप्रहरण के लिए अनुवाक्या मन्त्र बोलो—

"जातायानुब्रूहि-इत्याह। यदा जायते। प्रह्रियमाणाय (निर्मथ्याग्निमाहवनीये नीयमानाय) इत्यनुप्रहरन् (अनुब्रूहि इत्याह-इति शेषः)" ॥२३॥

वह अध्वर्यु निम्नलिखित मन्त्र बोलता हुआ निर्मथ्याग्नि को आहवनीय में रख देता है—

"भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ। मा यज्ञं हिंसिष्टं। मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः"।

हे आहवनीय निर्म्मथ्याग्नि! आप हमारे लिए अभिमत फल देने हेतु समानमनस्क हो जाइए। परस्पर क्लेशरहित बनिए। आप समानस्थानीय हैं। आपका एक ही स्थान है। काष्ठ से मन्थन कर निकाला गया अग्नि यही दिव्याग्नि तो है। अतएव **"समोकसौ"** (समान स्थानौ) कहा है। एवं आप अवरेपस अर्थात् पाप-रहित हो जाएँ। ऐसे जो आप हैं वे इस यज्ञ के यजमान की हिंसा मत करिए।

आज आपका हमसे परस्पर परिचय हो गया है। आप जातप्रज्ञ हो गये हैं। ऐसे आप आज हमारे लिए सुखकर बनिए। इसका भावार्थ बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ये दोनों परस्पर लड़ न मरें—एक दूसरे की हिंसा न कर बैठें—यही प्रार्थना करता है—

"शान्तिमेवाभ्यामेतद् वदति—यथा नाऽन्योऽन्यं हिंस्याताम्" ॥२४॥

जब अग्नि का अनुप्रहरण हो जाता है, तो तदनन्तर वह अध्वर्यु मन्त्र बोलता हुआ स्रुव में घृत ले कर (उपहृत्य) आहवनीयाग्नि की ओर झुक कर उसमें आज्याहुति डालता हुआ—

"अथ स्रुवेणोपहत्याज्यम्, अग्निमभिजुहोति"।

इस मन्त्र का उच्चारण करता है—

"अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रोऽअभिशस्तिपावा।
स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यं सदमप्रयुच्छन्त्स्वाहा"।

आज इस आहवनीय अग्नि में **"निर्मथित"** अग्नि विचर रहा है। यह अग्नि ऋषियों का पुत्र है। ऋषिप्राण-संघात से ही तो अग्नि-पुरुष उत्पन्न होता है।

यह अग्नि निद्रा से बचाने वाला है। ऐसा जो यह अग्नि है, वह हमारे लिए प्रमादरहित हो कर, सदा देवताओं के लिए हव्य-वहन करे। ऐसे अग्नि के लिए यह द्रव्याग्नि आहुत हो। आज अध्वर्यु ने आहुति के लिए ही (देवताओं को हव्य पहुँचाने के लिए ही) इस द्रव्याग्नि को उत्पन्न किया है। अतएव इस प्रकृत मन्त्र को बोल कर आहुति देता है—

"आहुत्यै वाऽएतमजीजनत। तमेतयाहुत्याऽप्रैषीत्। तस्मादेवमभिजुहोति" ॥२५॥

यह कर्म इडा प्राशनान्त होता है। इसमें ऋत्विक् लोग अनुयाजों का यजन नहीं करते हैं। अनुयाज क्यों नहीं करते हैं–इसका कारण बतलाते हैं। यह आतिथ्य यज्ञ-पुरुष का मस्तक भाग है। मस्तक भाग पूर्वार्ध को कहते हैं। आज जो यह आतिथ्य यज्ञ किया जा रहा है उससे यजमान यज्ञ के पूर्वार्ध का ही संस्कार कर रहा है। अनुयाज यज्ञपुरुष का पश्चिम भाग है। बस, जो इस कर्म्म में अनुयाज करेगा वह ऐसा ही होगा, जैसे पाँवों को पकड़ कर माथे से जोड़ दिया जाए। अतः इसमें इडान्त ही कर्म्म होता है, अनुयाज–यजन नहीं होता।

"तस्मादिडान्तं भवति। नानुयाजान्यजन्ति" ॥२६॥

॥ इति आतिथ्येष्टिब्राह्मणं समाप्तम् ॥

॥ इति चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥

—❀—

चतुर्थाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

'तानूनप्त्र ब्राह्मण'

[मूल] आतिथ्येन वै देवा इष्ट्वा । तान्त्समदविन्दत्ते चतुर्धा व्यद्रवन्नन्योऽन्यस्य श्रिया ऽअतिष्ठमाना अग्निर्वसुभिः सोमो रुद्रैर्वरुण आदित्यैरिन्द्रो मरुद्भिर्बृहस्पतिर्विश्वैर्देवैरित्यु हैकऽआहुरेते ह त्वेव ते विश्वे देवा ये ते चतुर्धा व्यद्रवंस्तान्विद्रुतानसुररक्षसान्यनु व्यवेयुः ॥१॥

तेऽविदुः । पापीयांसो वै भवामोऽसुररक्षसानि वै नोऽनुव्यवागुर्द्विषद्भ्यो वै रध्यामो हन्त संजानामहाऽएकस्य श्रियै तिष्ठामहाऽइति तऽइन्द्रस्य श्रियाऽअतिष्ठन्त तस्मादाहुरिन्द्रः सर्वा देवता इन्द्र श्रेष्ठा देवा इति ॥२॥

तस्माद् ह न स्वा ऋतीयेरन् । य एषां परस्तरामिव भवति स एनाननुव्यवैति ते प्रियं द्विषतां कुर्वन्ति द्विषद्भ्यो रध्यन्ति तस्मान्नऽर्तीयेरन्त्स यो हैवं विद्वान्नऽर्तीयतेऽप्रियं द्विषतां करोति न द्विषद्भ्यो रध्यति तस्मान्नऽर्तीयेत ॥३॥

ते होचुः । हन्तेदं तथा करवामहै यथा न इदमाप्रदिवमेवाजर्यमसदिति ॥४॥

ते देवाः । जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धं समवददिरे ते होचुरेतेन नः स नानासदेतेन विष्वङ्यो न एतदतिक्रामादिति कस्योपद्रष्टुरिति तनूनप्तुरेव शाक्वरस्येति यो वाऽअयं पवतऽएष तनूनपाच्छाक्वरः सोऽयं प्रजानामुपद्रष्टा प्रविष्टस्ताविमौ प्राणोदानौ ॥५॥

तस्मादाहुः । मनो देवा मन्युष्यस्याजानन्तीति मनसा संकल्पयति तत्प्राणमपिपद्यते प्राणो वातं वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुषस्य मनः ॥६॥

तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् । मनसा संकल्पयति तद्वातमपि गच्छति । वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मन इति ॥७॥

ते देवाः । जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि साधं, समवददिरे ते होचुरेतेन नः स नानासदेतेन विष्वङ्यो न एतदतिक्रामादिति तद्देवा अप्येतर्हि नातिक्रामन्ति के हि स्युर्यदतिक्रामेयुरनृतं हि वदेयुरेकं ह वै देवा व्रतं चरन्ति सत्यमेव तस्मा-देषां जितमनपजय्यं तस्माद्यश एवं ह वाऽअस्य जितमनपजय्यमेवं यशो भवति य एवं विद्वान्त्सत्यं वदति तदेतत्तानूनप्त्रं निदानेन ॥८॥

ते देवाः । जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि साधं समवददिरेऽथैतऽआज्या-न्येव गृह्णाना जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि साधं समवद्यन्ते तस्मादु ह न सर्वेणेव समभ्यवेयान्नेन्मे जुष्टास्तन्वः प्रियाणि धामानि साधं समभ्यवायानिति येनो ह समभ्यवेयान्नास्मै द्रुह्येदिदं ह्याहुर्न सतानूनप्त्रिणे द्रोग्धव्यमिति ॥९॥

अथातो गृह्णात्येव । आपतये त्वा परिपतये गृह्णामीति यो वाऽअयं पवतऽएष आ च पतति परि च पतत्येतस्माऽउ हि गृह्णाति तस्मादाहापतये त्वा परिपतये गृह्णामीति ॥१०॥

तनूनप्त्रे शाक्वरायेति । यो वाऽअयं पवतऽएष तनूप्ता शाक्वर एतस्माऽउ हि गृह्णाति तस्मादाह तनूनप्त्रे शाक्वरायेति ॥११॥

शक्वनऽओजिष्ठायेति । एष वै शक्वौजिष्ठ एतस्माऽउ हि गृह्णाति तस्मादाह शक्वनऽओजिष्ठायेति ॥१२॥

अथातः समवमृशन्त्येव । एतद्ध देवा भूयः समामिरऽइत्थं नः सोऽमुथा-सद्यो न एतदतिक्रामादिति तथोऽएवैतऽएतत्सममन्तऽइत्थं नः सोऽमुथासद्यो न एतदतिक्रामादिति ॥१३॥

ते समवमृशन्ति । 'अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोज' इत्यनाधृष्टा हि देवा आसन्ननाधृष्याः सहसन्तः समानं वदन्तः समानं दध्राणा देवानामोज इति देवानां वै जुष्टास्तन्वः प्रियाणि धामान्यनभिशस्त्यभिशस्तिपा अनभिशस्तेन्यमिति सर्वां हि देवा अभिशस्ति तीर्णा अञ्जसा सत्यमुपगेषमिति सत्यं वदानि मेदमतिक्रमिष-

मित्येवैतदाह स्विते माऽधा इति स्विते हि तद्देवा आत्मानमदधत यत्सत्यमवदन्य-त्सत्यमकुर्वंस्तस्मादाह स्विते माऽधा इति ।।१४।।

अथ यास्तद्देवाः । जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धं समवददिरे तदि-न्द्रे संन्यदधतैष वाऽइन्द्रो य एष तपति न ह वाऽएषोऽग्रे तताप यथा हैवेदमन्यत्कृ-ष्णमेवं हैवास तेनैवैतद्वीर्येण तपति तस्माद्यदि बहवो दीक्षेरन्गृहपतयऽएव व्रतमभ्यु-त्सिच्य प्रयच्छेयुः स हि तेषामिन्द्रभाजनं भवति यद्यु दक्षिणावता दीक्षेत यज-मानायैव व्रतमभ्युत्सिच्य प्रयच्छेयुरिदं ह्याहुरिन्द्रो यजमान इति ।।१५।।

अथ यास्तद्देवाः जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धं समवददिरे तत्सार्धं संजघ्ने तत्सामाभवत्तस्मादाहुः सत्यं साम देवजं सामेति ।।१६।।

[अनुवाद] सृष्टि के प्रारम्भ में समस्त देवता मिलित रूप से थे। बाद में अग्नि के एक से तीन तथा तीन से ३३ देवताओं में परिणत हो जाने के कारण ये ३३ देवता पाँच थोकों (वर्गों) में बँट गए। इसका कारण सोम का आतिथ्य है। अतिथि बन कर यदि सोम अङ्गिरा अग्नि में आहुत न होता तो अग्नि की घन-तरल-विरल ये अवस्थाएँ न होतीं। जब अवस्था-भेद न होता तो ये देवता ही न होते और देवता न होते तो थोक-बन्दी भी न होती। आतिथ्य-इष्टि के कारण समस्त देवता समत अर्थात् कलह को प्राप्त हो गए एवं चार थोकों (वर्गों) में बँट गए। समस्त देवता मिलित् रूप से थे सोमाहुति के कारण नानारूपों में परिणत हो गए। कारण इसका यह था कि सब के पास जब सोम गया हो तो फिर वे एक-दूसरे की मातहती क्यों स्वीकार करते? अतएव अग्नि-सोम-इन्द्र-वरुण ये चारों देवता वसु-रुद्र-आदित्य-मरुत् इन चारों दलों को ले कर अलग हो गए। बृहस्पति ही इन विश्वेदेवों के अधिष्ठाता हैं। मिलित् रूप से देवता 'विश्वेदेवा' कहलाते हैं। सोमाहुति से जब एक ही अग्नि नाना रूपों में परिणत हो पृथक्-पृथक् थोकों (वर्गों) में विभक्त हो गया तो उसके सन्धि भागों में असुर घुस गए तथा असुरों ने देवताओं पर आक्रमण कर दिया—

"तान् विद्रुतान् असुररक्षसानि अनुव्यवेयुः" ।।१।।

देवता एक-दूसरे की मातहती से बचने के लिए पृथक्-पृथक् थोकों (वर्गों) में बँट गए। देवताओं के पृथक् होते ही उन पर असुरों ने धावा बोल दिया। तब देवता घबराये और विचार करने लगे कि जिस मातहती से बच रहे थे, उसी के चक्कर में आना पड़ रहा है। अलग होते ही वे असुरों के वशीभूत हो गए अतः असुरों से बचने के लिए उन्होंने संघटित होने पर विचार किया और एक स्वर में इन्द्र को अपना अधिपति मान लिया—

"इन्द्रः सर्वादेवता इन्द्र श्रेष्ठा देवा" ॥२॥

देवताओं के पृथक्-पृथक् हो जाने के कारण असुर उन पर आक्रमण करने लगे। असुराक्रमण से देवताओं को शान्ति तभी मिल सकी जब वे इन्द्र के आधिपत्य में पुनः संगठित हो गए। इसका तात्पर्य्य यह है कि संघ में रह कर एक गृहस्वामी की आज्ञा में ही जीवन-यात्रा का निर्वाह करना चाहिए। इसीलिए वेद-"तस्माद् ह न स्वा ऋतीयेरन्" आदि श्रुति-वाक्यों के द्वारा संघ से स्वतन्त्र होने का विरोध कर रहा है। विद्वान् कभी भी संघ को तोड़ कर शत्रुओं को आक्रमण का मौका नहीं देते हैं। अतएव वेद पुरुष की स्पष्ट आज्ञा है कि संघ से स्वतन्त्र होने की चेष्टा न करें—

"यो हैवं विद्वान्नऽर्तीयते। प्रियं द्विषतां करोति। न द्विषद्भ्योरध्यति। तस्मान्नऽर्तीयेत ॥ ३ ॥

इन्द्र को अधिपति बना कर देवताओं ने प्रतिज्ञा कर ली कि वे इन्द्र के आधिपत्य में रहेंगे। किन्तु इस सम्भावना से कि कहीं हम में से कोई इस प्रतिज्ञा को न तोड़ बैठे, ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिससे हमारा यह मैत्र्य संघ अजेय हो जाए। अर्थात् अपना संघ अपनी मैत्री न टूटे। अपना संघ यावज्जीवन अजर्य्य रहता हुआ अविनाशी रहे। सृष्टि को बने हुए लाखों वर्ष हो गए हैं, किन्तु तभी से इन्द्र के आधिपत्य में देवताओं का संगठन आज भी अजर्य्य-अविनाशी ही रहा है।

"इदं तथा करवामहै-यथा नऽ इदं आप्रदिवं एव अर्जयं असत् इति ॥ ४ ॥

संगठन को बनाये रखने के उपाय के रूप में देवताओं ने संकल्प किया कि अपने श्रेष्ठ देय और अपनी सबसे अधिक प्रिय वस्तुओं को एकत्र कर उन्हें किसी की साक्षी में रख दिया जाए तथा जो भी देवता प्रतिज्ञा भंग करे उसे ही संघ से निकाल कर उसकी प्रिय वस्तु को जब्त कर लिया जाए। किन्तु देवताओं को चिन्ता हुई कि साक्षी किसे बनाया जाए ? क्यों कि यह अति कष्टकर्म्म है अतएव देवताओं में से इनका रक्षक बनने को कोई भी तैय्यार नहीं हुआ। अतएव यह तय हुआ कि तनूनपात्-शाक्वर वायु को ही यह अधिकार दे दिया जाएं। क्रन्दसी वायु को ही तनूनपात्शाक्वर वायु भी कहते हैं। यही वायु यच्च-यावत् प्राणिमात्र का जीवन है। 'तनूनपातयति' इस व्युत्पति से इसे तनूनपात् कहा जाता है। "शक्रोनीति" व्युत्पत्ति से सोम को शक्वर कहते हैं। यह वायु परमेष्ठी की वस्तु है अतएव "तत्रभवः" से इस वायु को "शाक्वर" कहते हैं। यही वायु प्रजाओं का साक्षी है। यह अध्यात्म में-अधिदैवत में-सर्वत्र प्रविष्ट है। हम जिसके बल पर श्वास-प्रश्वास लेते हैं-वह यही तनूनपात् है। देवताओं का उपद्रष्टा अर्थात् साक्षी यही तनूनपात् है—

"सोऽयं प्रजानामुपद्रष्टा प्रविष्टस्ताविमौ प्राणोदानौ ॥५॥

मनुष्य मन से जैसा संकल्प करता है, वह संकल्प प्राण पर आता है। संकल्प करते ही प्राण पर धक्का लगता है। प्राण धक्का खा कर जब बाहर निकलने लगता है तो शरीर में विद्यमान वायु पर धक्का लगता है। अर्थात् प्राण-व्यापार का असर वायु पर पड़ता है। वायु से ही मनुष्य की मुखाकृति पर सूक्ष्म भाव-दशाओं अथवा विचार-तरंगों का वितान निर्म्मित हो जाता है। सूक्ष्म तत्ववेत्ता विद्वान् मनुष्य इन्हीं तरंगों के द्वारा मनुष्य के मन की इच्छा अर्थात् संकल्प को जान लेते हैं।

"वातो देवेभ्य आचष्टे–यथा पुरुषस्य मनः" ।।६।।

मन जिस समय संकल्प करता है उसी समय शान्त और स्थिर अन्तः प्राण-वायु क्षुब्ध हो जाता है। क्षुब्ध अन्तः वायु प्राण के धक्के से रोमावलियों द्वारा बाहर निकलता है। बाहर निकल कर यह अन्तः वायु शरीर के चारों ओर वेष्टित बाह्य वायु पर धक्का मारता है। इससे जिस प्रकार की लहर अन्तः वायु की होती है उसी प्रकार की लहर बाह्य वायु में भी उत्पन्न हो जाती है। इन्हीं लहरों (वायु-उर्म्मि-मण्डल) के द्वारा विद्वान्वेत्ता-मनुष्य के मन की बात जान लेते हैं।

"वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मनः" ।।७।।

समस्त देवताओं ने अपने जो प्रिय तनु थे उनको तथा प्रिय स्थानों को एकत्र कर तनूनपात् की साक्षी में रख दिया और कहा कि हममें से जो भी इस प्रतिज्ञा का उल्लंघन करेगा, उसे संगठन से अलग कर दिया जाएगा। साथ ही वह अपने प्रिय स्वरूप एवं प्रिय स्थान से वञ्चित कर दिया जाएगा। इसी प्रतिज्ञा के कारण देवता सत्यव्रती अर्थात् सत्य पर दृढ़ रह कर कभी भी सत्य-पथ का अतिक्रमण नहीं करते हैं। यदि प्रतिज्ञा का अतिक्रमण करेंगे तो क्या वे मूल स्वरूप में रह पाएँगे? कदापि नहीं। प्रतिज्ञा तोड़ते हुए वे मिथ्या बोलेंगे–सत्यमार्ग से च्युत होंगे तो यही उनके नाश का कारण होगा। इस सत्य विज्ञान–सत्यबल–को जान कर जो मनुष्य सत्य बोलता है उसकी जित (अर्थात् सम्पत्ति) अनपजय्य रहती है अर्थात् उसका कभी नाश नहीं होता है। वह मनुष्य देवताओं की तरह यशस्वी हो जाता है। देवताओं ने तनूनपात् वायु को साक्षी बना कर तानूनप्त्र अर्थात् शपथ कर्म्म किया था। वायु को तो यजमान पकड़ नहीं सकता है अतएव वायु के स्थान पर निदानेन घृत रख कर–उसका स्पर्श कर, उस घृत की साक्षी में तानूनप्त्र कर्म्म करता है—

"तदेतत् तानूनप्त्रं निदानेन ।।८।।

प्राण-देवताओं ने अपने जुष्ट शरीरों और प्रिय पदार्थों को एकत्र कर तनूनप्ता की साक्षी में शपथ ली। एवमेव इस यज्ञ में देवतास्वरूप ऋत्विक् आज्य ग्रहण कर जुष्टतनू एवं प्रिय पदार्थों को एक साथ एकत्र कर तनूनपात् स्वरूप घृत की साक्षी में शपथ ग्रहण करते हैं। किन्तु शपथ लेना आत्मा को निर्बल करना है। जब बड़ा भारी काम आ पड़े

तभी शपथ लेनी चाहिए। सोमयाग ऐसा ही काम है। बात-बात में शपथ नहीं लेनी चाहिए। शपथ भंग होने से जो प्रिय जुष्टतनू और प्रिय धाम है वह देवता से अलग हो जाते हैं। उत्तम पक्ष तो यह है कि शपथ-व्यवहार किया ही न जाए। यदि बहुत ही आवश्यकता आ पड़े तो जिसके साथ शपथ कर ले उससे कभी भी द्रोह न करे, अर्थात् कभी न तोड़े। कहने का तात्पर्य्य यह है कि जो स-तानूनप्त्र है, उसके प्रति कभी भी द्रोह न करे। जिनसे तानूनप्त्र व्यवहार (शपथ-व्यवहार) हो जाए ऐसे स-तानूनप्त्रों से कभी द्रोह नहीं करना चाहिए—

"इदं ह्याहुः न सतानूनप्त्रिणे द्रोग्धव्यमिति" ॥९॥

घृत ही कालान्तर में वायु बनता है और वायु अग्नि है अग्नि से ही घृत बनता है अतएव "तेजो वै घृतम्" कहा जाता है। घृत से बनने वाला वायु ऋत्विजों में आने वाले प्राण-स्रोत में ही मिल जाता है। यह वायु आपति और परिपति भेदेन दो प्रकार का है। मन को प्रेरित करने वाला परिपति और प्राण को प्रेरित करने वाला आपति वायु कहलाता है। ऋत्विज यदि शपथ तोड़ देते हैं तो यह वायु यजमान का सर्वनाश कर डालता है। आपति और परिपति के लिए ऋत्विज घृत ग्रहण करते हैं—

"तस्मादाह-आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि" इति ॥१०॥

तानूनप्त्र के अनन्तर स्थाल्याज्य तानूनप्त्र करने के लिए स्थाली में से स्रुवा द्वारा "तनूनप्त्रे शाक्वराय" यह मन्त्र बोल कर घृत ग्रहण करते हैं। यह जो बहने वाला तनूनप्त शाक्वर नामक वायु है, इसी के लिए घृत ग्रहण किया जाता है। अध्यात्म में प्रविष्ट यही वायु परिपति और आपति कहलाता है एवं आधिदैवस्थ वायु तनूनप्ता शाक्वर कहलाता है। अतएव दोनों को ग्रहण करने लिए भिन्न-भिन्न नामों से आज्य ग्रहण करते है–

"तनूनप्त्रे शाक्वरायेति" ॥११॥

यह वायु शक्वा है। अतिबलशाली है। अप्रतिहतगति है। अतएव इसे 'शक्वा' कहा गया है। यह वायु अत्यन्त ओजिष्ठ है अतएव इसे 'ओजिष्ठाय' कह कर इसके लिए आज्य ग्रहण किया जाता है—

"शक्वनऽओजिष्ठायेति" ॥१२॥

ऋत्विक् लोग पुनः घृत का स्पर्श करते हैं। इसका कारण यह है कि देवता आतिथ्येष्ट्यन्तर पृथक् हो गए थे। तदन्तर पुनः तानूनप्त्र कर एकत्र हुए। अर्थात् पुनः तानूनप्त्र (शपथग्रहण-कर्म्म) किया। इसी के अनुसरण में ऋत्विक् भी पुनः घृत का स्पर्श करके शपथ लेते हैं—

"यो न एतदतिक्रामादिति" ॥१३॥

हे आज्य ! आप अनाधर्षणीय हैं-इसीलिए तो आपको अनाधृष्ट-आक्रमणरहित कहते हैं। यदि आप धर्षणीय होते तो फिर अनाधृष्ट कैसे हो सकते थे ? एक ही बात बोलते हुए एवं एक इरादा रखते हुए ही देवता अनाधर्षणीय हुए थे। 'सहसन्त:' के अनुसार सदा साथ रहें-सभी कार्य्य मिल कर-एक साथ करें। समान बोलें यही "समानं वदन्त:" का तात्पर्य्य है। एक का इरादा सबका इरादा हो-सबका इरादा एक हो-यही "समानं दधाराणा" का तात्पर्य्य है। इन नियमों का पालन कर देवता अनाधर्षणीय हो गए। हे आज्या ! आप देवताओं के ओज हैं, प्यारे शरीर हैं, प्रिय स्थान हैं। हे आज्य ! आप अनभिशस्ति हैं-निन्दा-रहित हैं। हे आज्य ! मैं सीधे एवं सत्य मार्ग को प्राप्त होऊँ ऐसा आशीर्वाद दीजिए। मैं सत्य बोलूँगा-मिल कर रहूँगा-यह मेरी प्रतिज्ञा है जिसका मैं कभी अतिक्रमण न करूँ ऐसी कृपा कीजिए। मुझे अच्छे मार्ग और अच्छी दशा में रखिए। सत्य पर चलना-सत्य बोलना-आत्मा को प्रतिष्ठित रखना है। मिथ्या बोलना आत्मा को गिराना है। जिस प्रकार देवताओं ने सत्य बोल कर पुनः आत्म-स्वरूप को धारण किया है उसी प्रकार मैं (ऋत्विक्) भी आत्मा को श्रेष्ठ रख सकूँ—

"स्विते माऽधा इति" ॥१४॥

देवताओं ने तनूनपात् वायु की साक्षी में अपने जुष्टतनू और प्रिय धामों को एकत्र कर इन्द्र की सन्नधि में रख दिया अर्थात् इन्द्र को समस्त देवताओं ने अपना अधिपति मान लिया। पृथिवी के अधिष्ठाता अग्नि हैं। अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता अग्नि हैं। अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता सोम हैं तथा द्यौ के अधिष्ठाता इन्द्र हैं। इन्द्र से पार्थिव इन्द्र न समझा जाए। जब तक चारों देवताओं का सम्बन्ध सूर्य्य से नहीं हुआ था तब तक सूर्य्य सर्वथा काला था। अग्नि के सम्बन्ध से ताप, इन्द्र के सम्बन्ध से प्रकाश, वायु के सम्बन्ध से चमाचम (चमक, कान्ति) तथा वरुण के सम्बन्ध से किरणें (अर्थात् गौ) का निर्म्माण हो जाता है। जब बहुत से यजमान दीक्षा लें तब जो गृहपति (मुख्य यजमान) है उसके लिए आज्य छिड़क देते हैं। प्रधान यजमान ही ऋत्विक् देवताओं का इन्द्र है। समस्त देवता इन्द्र के अधीन हुए थे-अतएव सभी ऋत्विज इन्द्र-स्वरूप गृहपति को घृत सौंपते हुए आपका आधिपत्य स्वीकार करते हैं, क्यों कि यजमान इन्द्र स्थानीय है—

"इद्रं ह्याहुः-इन्द्रो यजमान इति" ॥१५॥

तनूनप्त्र के सत्य से तथा उसकी साक्षी से सारे देवता सम हुए-अतएव इस साम को "सत्यसोम" शब्द से व्यवहृत करते हैं। यह साम चारों देवताओं के मेल से-एकीभाव से-बनता है-अतएव इसे "देवजम्" साम कहते हैं—

"तस्मादाहुः सत्यं साम, देवजं सामेति" ॥१६॥

[विज्ञान भाष्य] शकट द्वारा सोम बड़ी धूम-धाम के साथ यज्ञशाला में आ गया। इस आगत सोम के आतिथ्य के लिए यजमान ने आतिथ्येष्टि सम्पन्न कर दी। आतिथ्येष्टि से आगत सोम का

स्वागत कर दियागया। इसके अनन्तर तानूनप्त्र इष्टि की जाती है। प्रकृतिमण्डल के प्राणदेवता आतिथ्यइष्टि के अनन्तर तानूनप्त्र इष्टि किया करते हैं। उन्हीं के अनुसार भौम स्वर्ग निवासी देवता भी इष्टि किया करते थे। हम देवताओं की प्रजा हैं। हम ने यज्ञ-विद्या उन्हीं महर्षियों से सीखी है–जो कि स्वर्ग में जाया करते थे। भुवन-स्वर्गवासी देवता चूंकि प्राण-यज्ञवत् आतिथ्यानन्तर तानूनप्त्रेष्टि किया करते थे अतएव **"यद्वै देवा अकुर्वंस्तत्–करवाणि"** के अनुसार आज यह यजमान भी आतिथ्येष्टि के अनन्तर तानूनप्त्रेष्टि करता है।

वैदिक आख्यान–आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक तीनों अर्थों में समान रूप से लागू होते हैं–यह बात हम कई बार कह चुके हैं। आगे बतलायी जाने वाली जो आख्यायिका है--उस पर भी ये तीनों अभिप्राय लागू हैं। इन तीनों में से सर्वप्रथम हम आख्यायिका का आधिदैविक रहस्य बतलाते हैं—

सारा ब्रह्माण्ड–भूः, भुवः, महः, जनत्, तपः, सत्यम्–इन सात लोकों में विभक्त है। परम प्रजापति की ये सात व्याहृतियाँ हैं। अर्थात् प्रजापति ही उक्त सातों स्वरूपों में परिणत होकर सात नाम धारण कर लेता है। इन सातों लोकों की–**रोदसी, क्रन्दसी, संयती** यह त्रैलोक्य–व्यवस्था होती है। पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ इन तीनों की समष्टि को ही त्रिलोकी कहते हैं। सारे ब्रह्माण्ड में-तीन पृथिवियाँ हैं–तीन अन्तरिक्ष हैं–एवं तीन ही द्यौ हैं–अतएव त्रिलोकी भी तीन हो जाती हैं। इन तीनों त्रिलोकियों के–रोदसी-क्रन्दसी-संयती ये नाम बताये गये हैं। हम जिसे पृथिवी कहते हैं–जिस पर हम रहते हैं–वही पहला **"पृथिवी-लोक"** है एवं आकाश में बृहतीछन्द पर स्थिर रूप से तपने वाले सूर्य्य के लोक को **"द्यु-लोक"** कहते हैं। द्युलोक का अर्थ है—**"स्वर्ग-लोक"** अर्थात् सूर्य्यलोक को ही स्वर्ग–लोक कहते हैं–अतएव ब्राह्मण श्रुति कहती है—

"एषा। गतिरेषा प्रतिष्ठा य एष तपति। तस्य ये रश्मयस्ते सुकृतः। अथ यत् परं भाः प्रजापतिर्वा स स्वर्गो वा लोकः"। (शत० १।६।३।१०)

सूर्य्य और पृथिवी के बीच में जो खाली स्थान है–वही **"अन्तरिक्ष-लोक"** कहलाता है। बस यही पहली त्रिलोकी है। पृथिवी–**भूर्लोक** है, अन्तरिक्ष–'**भुवर्लोक**' है तथा द्यौ–'**स्वर्लोक**' है। इस पहली त्रिलोकी को **"रोदसी"** त्रिलोकी कहते हैं। पृथिवी नाम है–प्रतिष्ठा का। जिस पर प्राणी प्रतिष्ठित रहते हैं–उसी का नाम पृथिवी है। हम जिस पर बैठे हैं वही पृथिवी नहीं हैं। पृथिवी एक नहीं–अनन्त हैं–करोड़ों हैं। प्रत्येक नक्षत्र–चूँकि भिन्न-भिन्न प्राणों को अपने ऊपर प्रतिष्ठित रखता है–अतएव वह पृथिवी शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है। इस प्रकार पृथिवियाँ अनन्त हैं–तथापि इनके अतिस्थूल विभाग तीन ही मान लिए जाते हैं। इनमें से पहला विभाग बतला दिया गया है। अब चलिए दूसरे विभाग की ओर जिसे हमने द्युलोक बतलाया था, उसे पृथिवी समझिए। क्योंकि द्युलोकाधिष्ठाता **"सूर्य्य"** में सारे देवता प्रतिष्ठित रहते हैं। हमारी प्रतिष्ठा जैसे पृथिवी है। तथैव देवताओं का प्रतिष्ठाता सूर्य्य है। पृथिवी हयारी अवरा प्रतिष्ठा है–सूर्य्य पर-प्रतिष्ठा है। आत्मा सूर्य्य से बनता है–

अतएव वहीं तक आत्मा की गति है। सूर्य्य से ऊपर यदि आत्मा चला जाएगा–तो वह मुक्त हो जाएगा। आत्मा की अन्तिम प्रतिष्ठा यही सूर्य्य है। इसीलिए कहा जाता है—

"तदेवमिमांल्लोकान्त्समारुह्याथैतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति"।

(शत० १।६।३।१०)

सारे प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि–रोदसी का जो द्युलोक है–वही पृथिवी है–एवं सूर्य्य से ऊपर जो परमेष्ठि-मण्डल है–जिसे कि जनत्-लोक भी कहते हैं–इस पृथिवी का स्वर्ग है। परमेष्ठी और सूर्य्य के बीच का जो स्थान है–वही अन्तरिक्ष-लोक है। बस यही दूसरी क्रन्दसी नाम की त्रिलोकी है। क्रन्दसी के अन्तरिक्ष को महर्लोक कहते हैं। परमेष्ठी को जनत्लोक कहते हैं। आपोमय-मण्डल का नाम परमेष्ठि-मण्डल है। पानी से ही मैथुनी सृष्टि होती है। मैथुनी सृष्टि का प्रवर्त्तक पानी ही है। यह पानी ही प्रजनन-धर्म्मा है–अतएव इसके लोक को जनतलोक कहते हैं। परमेष्ठिलोक-पितरों और असुरों की प्रतिष्ठा है, अतएव पूर्वपरिभाषानुसार परमेष्ठी-अर्थात् क्रन्दसी त्रिलोकी का द्युलोक–पृथिवी बन जाता है। एवं परमेष्ठी से ऊपर जो स्वयम्भू-मण्डल है–वह क्रन्दसी का द्युलोक बन जाता है। इन दोनों के मध्य का स्थान अन्तरिक्ष कहलाने लगता है। यही तीसरी—**"संयती त्रिलोकी"** है। इसके अन्तरिक्ष का नाम **"तपोलोक"** है और इसके द्यु का नाम सत्यलोक है। तीनों त्रिलोकियों के हिसाब से–यद्यपि ९ (नौ) लोक होने चाहिए थे, परन्तु रोदसी का द्यौ ही क्रन्दसी का पृथिवी बन जाता है–एवं क्रन्दसी का द्यौ, संयती का पृथिवी बन जाता है। अतएव त्रैलोक्य त्रिलोकी में ७ (सात) ही लोक रह जाते हैं। वैदिक परिभाषानुसार पृथिवी को माता कहा जाता है एवं द्यौ को पिता कहा जाता है। है भी बात ऐसी ही। सौर रस जब पृथिवी माता के गर्भ में प्रविष्ट होता है–तभी अस्मदादि प्राणिवर्ग की उत्पत्ति होती है। इसीलिए **"नूनं जनाः-सूर्य्येण प्रसूताः"** कहा जाता है। इसीलिए हम पृथिवी को माता और द्युलोक को पिता कहने के लिए तय्यार हैं। इसी अभिप्राय से वेदभगवान् कहते हैं—

"द्यौष्पितः पृथिवी मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळता नः।
विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्त"॥

(ऋग्वेद मं० ६।५१।५)

चूंकि तीन ही पृथिवियाँ हैं और तीन ही द्यौ हैं—अतएव श्रुति कहती है—

"तिस्रो मातृस्त्रीन्पितृन्बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्"॥

(ऋग्वेद मं० १।१६४।१०)

इन सातों लोकों में से–भूः-भुवः-स्वः-महः-जनत्-तपः ये ६ हों लोक सत्यलोक (स्वयम्भू) की परिक्रमा लगाया करते हैं। अतएव इन छहों को "रज" कहा जाता है। इन छहों लोकों को अपने निय-

न्त्रण में करते हुए सत्य-स्वरूप "स्वयम्भू" भगवान् अटलरूप से स्थिर हैं। वही सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं। इसी स्वयम्भू का नाम प्रजापति है। इतर छहों लोक इसके पेट में कूदा करते हैं। इसी ईश्वर का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" ॥
(श्वे० उ० ३।९)

छहों रज—इसी सत्य-स्थिर प्रजापति के आधार पर रहते हैं—अतएव कहा गया है—

"अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्" ॥
(ऋग्वेद मं० १।१६४।६)

सारे प्रपंच से बतलाना हमें यही है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड—सात लोकों में विभक्त है। इन सातों में—पृथिवी-सूर्य्य-परमेष्ठी-स्वयम्भू ये चार मण्डल हैं। रोदसी का जो अन्तरिक्ष है, उसमें जो सोम का पिण्ड है उसका नाम "चन्द्रमा" है। इस प्रकार अश्वत्थ वृक्ष की-एक प्राजापत्य बल्शा-पञ्चपुण्डीरा अर्थात् पाँच पोर की हो जाती है। अश्वत्थ वृक्ष की एक टहनी में—**स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी** ये पाँच पोर हैं। बस, "**अस्ति**" कहने लायक संसार में जो कुछ है, वे यही पाँच हैं ❀

इन पाँचों मण्डलों में भिन्न-भिन्न प्राण रहते हैं। स्वयम्भू में रहने वाले तत्त्व का नाम "**प्राण**" है। गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्द रहित जो एक मौलिक तत्त्व है—उसी का नाम "**प्राण**" है। मैथुनी सृष्टि के अर्थात् पारमेष्ठिनी-सृष्टि के पहले इस "**प्राणतत्त्व**" के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं था। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"असद्वाऽइदमग्रऽआसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदिति ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्। तदाहुः के तऽऋषय इति प्राणा वाऽऋषयस्ते यत्पुरास्मात् सर्वं स्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषंस्तस्मादृषयः" । (शत० ६।१।१।१)

प्राण में प्राण नहीं रहता—अतएव इसको "**असत्**" शब्देन व्यवहृत किया गया है। यह असत्—प्राणतत्त्व—उस अव्यय मन (श्वोवसीयस मन) पर प्रतिष्ठित रहता है। प्राण की प्रतिष्ठा "**अव्ययमन**" ही है। इस मन-प्राण समष्टि को ही—आत्मा कहते हैं। इस आत्मा की अर्थात् स्वयम्भू की परमेष्ठी आदि प्रजाएँ हैं—अतएव स्वयम्भू को प्रजापति कहा जाता है। इस प्रजापति से—इस ऋषि-प्राण से सर्व-प्रथम पानी ही उत्पन्न होता है। विजातीय अनन्त ऋषि प्राणों के घर्षण से पानी उत्पन्न हो जाता है। इस मैथुनी सृष्टि में पहली सृष्टि यही पानी ही है। अतएव कहा जाता है—

❀ इन पाँचों पोरों का विस्तृत विवेचन पं० मोतीलाल जी शास्त्री के "गीता—आचार्य्य रहस्य" के अन्तर्गत "**परमेष्ठी कृष्ण रहस्य**" नामक निबन्ध में देखना चाहिए।

"सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्" ।। (मनुस्मृति १।८)

इसके अनन्तर सूर्य्य उत्पन्न होता है–तदनन्तर पृथिवी उत्पन्न होती है; तदनन्तर चन्द्रमा उत्पन्न होता है। यह जो पारमेष्ठ्य पानी है उसे वायु रूप समझना चाहिए। एवं चन्द्रमा को **"आपोलोक"** समझना चाहिए। इसीलिए श्रुति कहती है—

"चन्द्रमा अप्स्वंतरा सुपर्णो धावते दिवि" । (ऋग्वेद मं० १।१०५।१)

इसी सृष्टिक्रम को बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः ।। आकाशाद्वायुः।। वायोरग्निः ।। अग्नेरापः ।। अद्भ्यः पृथिवी" ।। (तै० उ० २।१)

पारमेष्ठ्य पानी के घर्षण से अग्नि अर्थात् सूर्य्य उत्पन्न होता है। सूर्य्य के रश्मि-घर्षण से फिर पानी उत्पन्न होता है–उससे पृथिवी बनती है। परमेष्ठी के–ऋषि प्राण से उत्पन्न जो वायु प्राण है, उसे ही **"पितृ-प्राण"** कहते हैं। यह वायु सोमात्मक है। इस सौम्य वायु–प्राण का नाम ही पितर है। पितर प्राणों के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होता है। इसी अग्नि-प्राण को देवता कहते हैं। इससे सिद्ध हो जाता है–कि ऋषि-प्राण से पितर-प्राण उत्पन्न हुए हैं–एवं पितृप्राण से देवता उत्पन्न हुए हैं। इन देवताओं से ही अर्थात् सूर्य्य से ही–समस्त चर-अचर का निर्म्माण होता है। इसी अभिप्राय से भगवान् मनु कहते हैं—

"ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः ।
देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः" ।। (मनुस्मृति ३।२०१)

इन पाँचों मण्डलों में तीन-तीन मनोता रहते हैं। मनोता उसे कहते हैं–जिसमें कि–इन मण्डलों के मन ओत-प्रोत रहते हैं। जिनके आधार पर इन मण्डलों की केन्द्र शक्ति अवलम्बित रहती हैं–उसी को **"मनोता"** कहते हैं। यदि ये मनोता–इन मण्डलों में से निकाल लिए जाएं तो इन मण्डलों का स्वरूप ही नष्ट हो जाए। स्वयम्भू मण्डल के जो मनोता हैं, उन्हें–**वेद, सूत्र** और **नियति** कहते हैं। **"वेदाः-सत्यम्," "सूत्रं-सत्यम्," "नियतिः-सत्यम्"** ये तीन मनोता स्वयम्भू-मण्डल के हैं। इन्हीं के आधार पर स्वयम्भू की स्थिति है। यदि ये तीनों सत्य स्वयम्भू में से निकाल दिये जाएं तो स्वयम्भू का वस्तु रूप से स्वरूप ही नष्ट हो जाए। स्वयम्भू के बाद है–परमेष्ठि-मण्डल। इसके **'भृगु'-'अङ्गिरा'-'अत्रि'** ये तीन मनोता हैं। भृगु को सोम तथा अङ्गिरा को अग्नि कहा जाता है। भृगु और अङ्गिरा–घन-तरल-विरल अवस्था भेद से तीन स्वरूप धारण कर लेते हैं। भृगु की, अर्थात् सोम की, जो घनावस्था है, उसका नाम **पानी** है। इसी आप्य प्राण को ही असुर कहते हैं। सोम की जो विरलावस्था है–उसका नाम **सोम** है। इस सौम्य–प्राण को ही पितर कहते हैं। असुर आप्य हैं–पितर सौम्य हैं। तीसरी तरलावस्था

का नाम वायु है। क्योंकि इस वायु में पानी मिला रहता है अतएव इसे **साम्ब-वायु** कहते हैं। यह साम्बवायु ही संसार का कल्याण करता है—अतएव इसे 'साम्बसदाशिव' कहते हैं। एवमेव अग्नि की जो घनावस्था है—उसका नाम **अग्नि** ही है। अग्नि की तरलावस्था का नाम **वायु** है। यह आग्नेय **वायु** है। यह शरीर को फाड़ देता है—अतएव इसे **रुद्र** कहते हैं। **भृगु वायु** को **शिव** कहते हैं। अङ्गिरा वायु को **रुद्र** कहते हैं। इस अग्नि की जो विरलावस्था है उसे ही **आदित्य** कहते हैं। '**आपः-वायु-सोम**' तीनों भृगु हैं। '**अग्नि-वायु-आदित्य**' तीनों अङ्गिरा हैं। आग्नेय-प्राण का नाम देवता है। आप्य-प्राण का नाम असुर है। दोनों में परस्पर घोर वैर (विरोध) है। अङ्गिरा-देवताओं के अधिष्ठाता हैं। भृगु-असुरों के अधिष्ठाता हैं। परमेष्ठि मण्डल में अङ्गिरा से एक बृहस्पति उत्पन्न होते हैं। सूर्य्य से अर्थात् इन्द्र से ऊपर पहले **आङ्गिरस बृहस्पति** ही का नम्बर है। अतएव कहा जाता है—

"बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः"।

इस बृहस्पति के ऊपर आप्य-प्राण हैं। इनका अधिष्ठाता—भृगु है। देवताओं के '**अधिष्ठाता-संचालक-गुरु**' बृहस्पति हैं। आप्य-प्राणों के अर्थात् असुरों के गुरु भृगु हैं। परमेष्ठि-मण्डल के तीसरे मनोता अत्रि हैं। भृगु और अङ्गिरा दोनों तीन-तीन हैं जबकि अत्रि तीन नही हैं। अतः इन्हें अत्रि कहा जाता है। वाक् का नाम ही अत्रि है। पारदर्शकता का प्रतिबन्धक जो प्राण है—उसी का नाम **अत्रि-प्राण** है। इसका विस्तृत विवेचन गुरु (मधुसूदन ओझा जी) प्रणीत **"अत्रिख्याति"** नामक पुस्तक में देखना चाहिए। परमेष्ठी के अनन्तर **सूर्य्य** है। इसके—**ज्योति-गौ-आयु** ये तीन **मनोता** हैं। 'ज्योति' ३३ हैं। गौ हजार हैं। 'आयु' ३६ हजार हैं। सूर्य्य के अनन्तर चन्द्रमा है। इसके **रेतः-श्रद्धा-यश** ये तीन मनोता हैं। चन्द्रमा के अनन्तर पृथिवी है। इसके—**वाग्-गौ-द्यौ** ये तीन मनोता हैं। इस विषय के विस्तृत विवेचन हेतु तो पृथक से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही अभिप्रेत है—अतएव इसके-विवेचन के लिए यहां पर्य्याप्त अवकाश नहीं है। इतना समझ लेना ही पर्य्याप्त होगा कि स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी ये पाँच मण्डल हैं। इनके तीन-तीन मनोता प्रत्येक के हिसाब से कुल १५ मनोता हैं। बस यही ब्राह्मी स्थिति है। इनको जान लेने पर मनुष्य विदित—वेदितव्य कहलाने लगता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति।
यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति" ॥

(छा० उ० २।२१।३-४)

आग्नेय प्राण का नाम देवता है। आप्य प्राण का नाम असुर है यह बात पूर्व में कह दी गयी है। परमेष्ठी के मनोता जो भृगु और अङ्गिरा हैं, वे क्रमशः नीचे उतरते हुए-पृथिवी तक फैले हुए हैं। इनमें सबसे पहले—क्रमशः आप-वायु-सोम हैं। बाद में—क्रमशः आदित्य-वायु-अग्नि है। अग्नि पृथिवी लोक की वस्तु बन गया—वायु अन्तरिक्ष की वस्तु बन गया—आदित्य द्युलोक की वस्तु बन गया। इस प्रकार हमारे पृथिवी—लोक से लेकर—सूर्य्य तक अग्नि-वायु-आदित्यात्मक अङ्गिरा व्याप्त है। परमेष्ठी के अन्त

तक आप-वायु-सोमात्मक भृगु व्याप्त है। इस प्रकार-यह परमेष्ठी ही सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो रहा है। परमेष्ठी ऋत् पदार्थ है। यही सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। अतएव श्रुति कहती है—

"ऋतमेव परमेष्ठि। ऋतं नात्येति किञ्चन।
ऋते समुद्र आहितः। ऋते भूमिरियं श्रिता"॥ (तै० ब्रा० १।५।५।१)

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में-भृगु और अङ्गिरा ही व्याप्त हो रहे हैं—अतएव कहा गया है—

"आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयं।
सर्वमापोमयं भूतं सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम्"॥ (गो० ब्रा० पू० १।३९)

अङ्गिरा का जो अग्निभाग है, अर्थात् घनावस्था है वह पृथिवी की वस्तु बन जाती है। अङ्गिरा भी जो कि परमेष्ठी का मनोता है, पृथिवी की वस्तु बन जाता है। पृथिवी में प्रतिष्ठित हो कर यही अङ्गिरा-घन-तरल-विरल अवस्थाओं में परिणत होकर तथा पृथिवी से निकल कर अनवरत-द्युलोक की ओर जाया करता है। इसी अभिप्राय से वेद पुरुष कहता है—

"इत एत उदारुहन्दिवः पृष्ठान्या रुहन्।
प्र भूर्जयो यथा पथोद्यामङ्गिरसो ययुः"॥ (सामवेद १।१०।२)

इस अङ्गिरा की जो घनावस्था है-वही अग्नि कहलाने लगती है। यह अग्नि पृथिवी के त्रिवृत्-स्तोम तक रहता है। अग्नि की जो तरलावस्था है वह पञ्चदश स्तोम तक रहती है-इसी का नाम वायु है। अग्नि की विरलावस्था एक विंश स्तोम तक वितत रहती है-इसी का नाम **आदित्य** है त्रिवृत् स्तोम तक पृथिवी-लोक है। इसके अधिष्ठाता अग्नि हैं। पञ्चदश स्तोम तक अन्तरिक्ष-लोक है। इसके अधिष्ठाता वायु हैं। एकविंश स्तोम तक द्यु-लोक है। इसके अधिष्ठाता द्वादशादित्य समष्टिरूप भगवान् सूर्य्य हैं। अतएव कहा गया है—

"अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्य्यो द्युस्थानाः"।
(निरुक्त ७।५।२ वेङ्क०सं.)

जिस प्रकार एक ही अङ्गिरा-अवस्था विशेष के कारण अग्नि-वायु-आदित्य इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है-एवमेव-अग्नि-वायु-आदित्य तीनों ही अवान्तर अवस्थाओं के कारण ८-११-१२ अवस्थाओं में परिणत हो जाते हैं। अग्नि आठ अवस्थाओं में परिणत होकर आठ स्वरूप धारण कर लेता है। यही आठ अवस्थाएं आठ वसु कहलाने लगती हैं। वायु ग्यारह स्वरूपों में परिणत हो जाता है-यही ग्यारह रुद्र कह लाते हैं। ये ग्यारहों रुद्र वायु स्वरूप हैं। ये सभी रुद्र आग्नेय हैं, रुक्ष है, विदारक है, पीड़ा पहुँचाने वाले हैं-अतएव ये-रुद्र शब्द से व्यवहृत होते हैं। एक ही आदित्य १२ स्वरूपों में

परिणत हो जाता है। धाता-भग-पूषा-विवस्वान्-सविता-इन्द्र इत्यादि इन ग्रादित्यों के नाम हैं। इस प्रकार के एक ही देवता के तीन देवता हो जाते हैं-तथा तीन के ३१ हो जाते हैं। दो देवता सन्धि-स्थान में रहते हैं। इन सन्धिस्थानीय प्राण-देवताओं को **'ग्रश्विनी कुमार'** कहते हैं।

तीनों देवताग्रों के थोक (वर्ग या समूह) अलग-ग्रलग हैं। परन्तु इन तीनों को परस्पर ग्रश्विनी कुमार मिलाते हैं-तीनों का संधान करते हैं-ग्रतएव इनको देवताओं का चिकित्सक कहा जाता है। इस प्रकार कुल ३३ देवता हो जाते हैं। आठ वसुओं में पहले वसु का नाम **'ग्रग्नि'** एवं १२ ग्रादित्यों में ग्रन्त के आदित्य का नाम **'विष्णु'** है। ३३ देवताग्रों के ग्रादि में अग्नि हैं तथा ग्रन्त में विष्णु हैं। ग्रत-एव कहा जाता है—

"ग्रग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा ग्रन्यादेवताः"।

(ऐ० ब्रा० १।१)

पृथिवी से प्रारम्भ कर २१ तक अर्थात् सूर्य्य तक ही ये ३३ देवता ग्रभिव्याप्त रहते हैं। सूर्य्य से ऊपर परमेष्ठिमण्डल है--वहीं पर सोम रहता है। वह सोम प्रतिक्षण इन ३३ देवताग्रों में आहुत होता रहता है। ग्रग्नि में सोमाहुति होने का नाम ही यज्ञ है। इस यज्ञ से ही देवताओं की स्थिति-स्वरूप सुर-क्षित रहता है-अतएव इन ३३ देवताग्रों को **'यज्ञिय'** देवता कहा जाता है-पृथिवी के ३३ ग्रहर्गण पर जा कर स्तौम्य देवताओं की व्याप्ति समाप्त हो जाती है। किन्तु यज्ञिय देवताओं की व्याप्ति २१ ग्रहर्गण पर ही समाप्त होने लगती है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च। मनोर्देवा यज्ञियासः"।

(ऋग्वेद मं० ८।३०।२)

इन ३३ देवताग्रों में पारमेष्ठ्य सोम आहुत होता रहता है। ये प्राणदेवता सोम-यज्ञ करते रहते हैं। सोम राजा-सदा देवताग्रों के-ग्रतिथि बना करते हैं। एवं प्राण देवता-इनके लिए सदा ही-ग्रातिथ्येष्टि किया करते हैं। यहाँ पर वरुण-सोम ग्रौर इन्द्र का स्वरूप ग्रौर समझ लेना चाहिए। पृथिवी का अधि-ष्ठाता है ग्रग्नि है। यही वसुग्रों का भी ग्रधिष्ठाता है। सोम रुद्रों के ग्रधिष्ठाता हैं। सोम ग्रन्तरिक्ष की वस्तु हैं। इसीलिए **"त्वमातनो सर्वान्तरिक्षम्"** यह कहा जाता है। यह सोम-दिक् ग्रौर भास्वर भेदेन दो प्रकार का है। जो भास्वर सोम है-उसे चन्द्रमा कहते हैं-एवं दिक् सोम को वरुण कहते हैं। भास्वर सोम जिसे कि चन्द्रमा भी कहते हैं-हमारी इसी त्रिलोकी के ग्रन्तरिक्ष में रहता है। भास्वर सोम पृथिवी-लोक ग्रौर सूर्य्य-लोक के बीच की वस्तु है। पारमेष्ठ्य सोम-जिसे कि दिक्-सोम भी कहा जाता है-सूर्य्य से ऊपर की वस्तु है। इसी का नाम **वरुण** है। सूर्य्याग्नि में पारमेष्ठ्य सोम ग्राहुत होता रहता है। यहाँ केवल-सोम सजात्येन कह दिया गया है। सोमत्वेन सोम एक है-ग्रतएव ऐसा कह दिया गया है। वस्तुतः देवताग्रों में भास्वर सोम अर्थात् चन्द्रसोम ही ग्राहुत होता रहता है। यहाँ सोम से दिक् सोम का ही अभिप्राय है। अतएव कहा जाता है—

"एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः" । (शत० १।६।४।५)

अन्तरिक्ष में वायु रहता है । इसी की ग्यारह अवस्थाओं के नाम ग्यारह रुद्र हैं । इसी अन्तरिक्ष में सोम (चन्द्रमा) रहता है । द्युलोक के अधिष्ठाता आदित्य हैं–एवं इनके ऊपर ही वरुण रहते हैं । वरुण दिक् सोम का नाम है । वरुण ही द्वादश प्राणसमष्टि स्वरूप सूर्य्य का अधिष्ठाता है । वरुण ने सूर्य्य को–आदित्यों को–चारों ओर से घेर कर उन्हें प्रतिष्ठित कर रक्खा है । यदि वरुण चाहे तो एक क्षण में आदित्यों को नेस्तनाबूद कर सकता है । आदित्य द्युलोक में प्रतिष्ठित हैं–ये वरुण की अर्थात् दिक् सोम की महिमा हैं । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"प्र सम्राजे बृहदर्चा गभीरं ब्रह्म प्रियं वरुणाय श्रुताय ।
वि यो जघान शमितेव चर्मोपस्तिरे पृथिवीं सूर्याय" ।।

(ऋग्वेद मं० ५।८५।१)

जिस प्रकार शमिता अर्थात् चर्म्म खींचने वाला चर्म्म को उतार कर बिछा देता है–वैसे ही वरुण ने सूर्य्य को प्रतिष्ठित रखने के लिए चर्म्म बिछा रक्खा है । यही श्रुति का तात्पर्य्य है—

"वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्त्रियासु ।
हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्वग्निं दिवि सूर्यमदधात्सोममद्रौ" ।।

(ऋग्वेद मं० ५।८५।२)

इस श्रुति से स्पष्ट ही–वरुण का माहात्म्य सिद्ध हो जाता है । "दिवि सूर्य्यमदधात्" से सिद्ध हो जाता है कि द्युलोक में सूर्य्य को प्रतिष्ठित रखने वाला यही वरुण है । यही पारमेष्ठ्य दिक्–सोम है । यद्यपि इस दिक्–सोम का मूल परमेष्ठी है–तथापि यह सर्वत्र व्याप्त है । इसीलिए तो वरुण को सम्राट् बतलाया जाता है ❀ इस सारे प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि–अग्नि ही वसुओं के अधिष्ठाता हैं । वायु और सोम दोनों ही रुद्रों के अधिष्ठाता हैं । यहाँ पर सोम से भास्वर-सोम ही अभिप्रेत है । वरुण आदित्यों के अधिष्ठाता हैं एवं इन्द्र–मरुत्-आदित्य-रुद्र तीनों के अधिष्ठाता हैं । मरुत् और रुद्र के अधिष्ठाता इन्द्र को **मरुत्वान् इन्द्र** कहते हैं । आदित्याधिष्ठाता इन्द्र का नाम–मघवाइन्द्र है । इस प्रकार आदित्य इन्द्र और वरुण दोनों के अधिकार में हैं । सारे देवता चार थोकों (वर्गों) में बँटे हुए हैं । इन सारे देवताओं के जो एक अधिष्ठाता हैं–वे **बृहस्पति** हैं । इसलिए **"ब्रह्म वै बृहस्पतिः"** (शत० ३।१।४।-१५) कहा जाता है । देवता सूर्य्य के नीचे हैं एवं अङ्गिरा बृहस्पति सूर्य्य से ऊपर हैं—अतएव कह सकते हैं कि बृहस्पति–इन सारे देवताओं के अधिष्ठाता हैं । इन सारे देवताओं की समष्टि को ही **विश्वेदेवाः** कहते हैं । विश्वेदेवा कोई अलग जाति नहीं है—अतएव **"एते वै विश्वे देवाः यत् सर्वे देवाः"** (गो०-

---

❀ सोम का–वरुण का विस्तृत विवेचन शतपथ द्वितीय काण्ड के पुनराधान ब्राह्मण में देखना चाहिए ।

ब्रा० उ० १।२०) यह कहा जाता है। इस प्रकार सारे देवता—**अग्नि-सोम-वरुण-इन्द्र और बृहस्पति** इन पाँच थोकों (वर्गों) में बँटे हुए हैं। वसु—अग्नि के मातहत हैं। रुद्र—सोम के मातहत हैं। आदित्य—वरुण के मातहत हैं। मरुत्—इन्द्र के मातहत हैं। वायु में एक हिस्सा इन्द्र का रहता है। इन्द्र एक प्रकार की विद्युत् का नाम है। इसीलिए—**"तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो व्यद्युतदा"** (केन० ४।४) यह कहा जाता है। १४ प्रकार के इन्द्रों में से एक इन्द्र का नाम विद्युत् है। यही इस वायु में रहता है। अतएव—**"इन्द्रतुरीयो ग्रहो गृह्यते"** (ऐ० ब्रा० ६।१) यह कहा जाता है।

एक ही देवता चार भागों में विभक्त हो गए—इसका एकमात्र कारण—सोम का आतिथ्य ही समझना चाहिए। यदि सोम इन देवताओं में अर्थात् अग्नि में आहुत न होता तो—इन देवताओं के विभाग कभी न होते। ये सारे विभाग अग्नि के हैं। अग्नि तो अग्नि है ही, वसु भी अग्नि ही है, वायु भी अग्नि ही है, आन्तरिक्ष्य सोम भी अग्नि ही है, आदित्य भी अग्नि ही है, एवं वरुण भी अग्नि ही है, जिसके लिए श्रुति कहती है—

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदंत्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" ।।

(ऋग्वेद मं० १।१६४।४६)

अपिच इसीलिए राजसूय का निरूपण करती हुई ब्राह्मण श्रुति कहती है—

"स य एष आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति। सोऽग्नेरेको भागोऽथ यद्वारुणो यवमयश्चरुर्भवति यो वै वरुणः सोऽग्निः सोऽग्नेर्द्वितीयो भागः। (शत० ५।२।४।१३)

इस प्रकार श्रुति ही वरुण को अग्नि बतला रही है। इस प्रपञ्च से कहना हमें यही है कि, वरुण चूंकि अग्नि है—अतएव यह देवताओं में शामिल है। आग्नेय प्राण का नाम ही देवता है। सृष्टि के प्रारम्भ में ये सारे देवता एकरूप थे। सारे देवता मिलितरूप से थे। बाद में एक ही अग्नि (देवता) एक से तीन हो गये तथा तीन से ३३ देवता हो गये। ३३ के भी पाँच थोक (वर्ग) बन गये। इस थोकबन्दी का एकमात्र कारण—सोम का आतिथ्य है। अतिथि बन कर—यदि सोम इस अङ्गिरा में आहुत न होता तो कभी भी—अग्नि की घन-तरल-विरल ये अवस्थाएँ न होतीं। जब अवस्था—भेद ही न होता तो ये देवता ही न होते। देवता न होते तो थोकबन्दी किस की होती? अतएव इस विभाग का एकमात्र कारण—**आतिथ्येष्टि** ही मानना पड़ता है। जब सोम अग्नि में आहुत होता है तो—अग्नि प्रज्वलित हो जाता है। इसी सोमाहुति के कारण अग्नि के घनतरलादि अवस्था-भेद हो जाते हैं। इन अवस्था विशेषों के ही अग्नि-वायु-रुद्र आदि नाम पड़ जाते हैं। इसी विज्ञान को—अलङ्कार रूप में परिणत कर—भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—आतिथ्यइष्टि यजन के फलस्वरूप देवता विभक्त हो गए। आतिथ्य-इष्टि के अनन्तर—जो देवता मिलित रूप से—एकरूपेण विद्यमान थे, वे अलग-अलग थोकों (वर्गों) में

बँट गए। क्यों बँट गये, क्यों देवता विभक्त हो गये—इसका कारण बतलाते हुए कहते हैं—आतिथ्यइष्टि के अनुसार वे देवता समत् अर्थात् कलह को प्राप्त हो गए। समत् कहते हैं—झगड़े को—अहमहमिका को। इष्टि के अनन्तर देवताओं में अहमहमिका चल पड़ी। अग्नि कहते थे—मैं बड़ा हूँ, वायु कहते—मैं बड़ा हूँ—मैं क्यों तुम्हारी मातहती स्वीकार करूँ? इन्द्र कहते थे—मैं क्यों तुम्हारी मातहती स्वीकार करूँ? इस प्रकार सारे देवता एक–दूसरे के आधिपत्य को स्वीकार नहीं करते हुए—चार भागों में विभक्त हो गए। एक–दूसरे के अनुचर बनने में इन्होंने अपनी अप्रतिष्ठा समझी। अतएव सारे देवता चार थोकों (वर्गों) में बँट गए। तात्पर्य्य इसका यही है कि—सोमाहुति के कारण सारे देवता—जो कि एक रूप में थे—नानारूपों में परिणत हो गए। सबके पास सोम आया था। भला, फिर—कौन एक–दूसरे की मातहती स्वीकार करे? अतएव अपनी–अपनी पार्टियों को साथ लेकर देवता लोग परस्पर के आधिपत्य को सहने में असमर्थ हो, चार थोकों में विभक्त हो गए।

"आतिथ्येन वै देवा इष्ट्वा (व्यद्रवन्–विभक्ता अभूवन्–किमर्थं तदुच्यते) तान् (देवान्) समत् (अहमहमिका–कलहो वा) अविन्दत्। ते चतुर्धा व्यद्रवन् अन्योऽन्यस्य श्रियाऽप्रतिष्ठमानाः (आधिपत्यम् असहमानाः)।

किस थोक का अधिपति कौन बना, यह बतलाते हैं—

अग्निदेवता वसुओं को साथ ले कर अलग हो गए। वास्तव में बात ठीक है क्योंकि अग्नि ही तो वसुओं के अधिष्ठाता हैं। वसुओं का निवास पृथिवी है। पृथिवी अग्नि–स्थानी है–अतएव सुतरां वसुओं पर अग्नि का आधिपत्य सिद्ध हो जाता है—

"अग्निर्वसुभिः" (सहव्यद्रवत्)।

सोम रुद्रों के साथ अलग हो गए। सोम अन्तरिक्ष की वस्तु है। रुद्र अन्तरिक्ष में रहते हैं। इसी विज्ञान को बतलाने के अभिप्राय से कहा गया है—

"सोमो रुद्रैः" (सहव्यद्रवत्)।

वरुण आदित्यों के साथ अलग हो गए—

"वरुण आदित्यैः" (सहव्यद्रवत्)।

इन्द्र मरुतों को साथ ले कर अलग हो गए—

"इन्द्रो मरुद्भिः" (सहव्यद्रवत्)।

इस प्रकार अग्नि-सोम वरुण-इन्द्र ये चारों प्रधान देवता वसु-रुद्र-आदित्य-मरुत इन चारों दलों को ले कर अलग–अलग हो गए। हमने पूर्व में बतलाया था कि सूर्य्य के ऊपर बृहस्पति हैं। बृहस्पति ही समस्त देवताओं के अधिष्ठाता हैं। बृहस्पति ही इन विश्वेदेवों को ले कर अलग हो गए—यह मत

अन्य ऋषियों का है। उनका अभिप्राय यही है कि-अग्नि सोमादि समस्त देवताओं के अधिष्ठाता क्योंकि बृहस्पति हैं-अतएव ऐसी अवस्था में यह थोक पूर्व में बतलाये गये चारों थोकों से अलग मानना चाहिए। याज्ञवल्क्य इसी मत का निदर्शन कराते हुए कहते हैं-

"बृहस्पतिर्विश्वैर्देवैः—इत्यु हैकऽआहुः"।

याज्ञवल्क्य कहते हैं—थोक पाँच अवश्य ही हो सकते हैं—परन्तु जातियाँ (वर्ग) कुल चार ही रहेंगी। बृहस्पति-थोक कोई नई जाति नहीं हैं—अपितु इसमें पूर्ववर्णित चारों वर्ग शामिल हैं। एवमेव-बृहस्पति का जो थोक (वर्ग) है-जिसे कि विश्वेदेवा बतलाया जाता है वे यही चारों हैं। चार वर्गों में विभक्त देवता ही मिलित रूप से विश्वेदेवा कहलाने लगते हैं। इसी का उपपादन करते हुए कहा गया है—

"एते ह त्वेव ते विश्वे देवाः—ये ते चतुर्धा व्यद्रवन्"।

तमोमय आप्य प्राण का नाम असुर है—एवं आग्नेय प्राण का नाम देवता है। यह बात पूर्व के प्रकरणों में बतला दी गयी है। अग्नि जब तक घन रूप से अर्थात् मिलित रूप से रहता है तब-तक उसमें अंधकार का अर्थात् तमोमय-प्राणस्वरूप असुरों का प्रवेश नहीं हो पाता। परन्तु जब अग्नि विशकलित हो जाता है-एवं भाव में परिणत होकर विच्छिन्न हो जाता है, तब उसके सन्धि भागों में असुर भर जाते अर्थात् व्याप्त हो जाते हैं। असुर मात्रा में बहुत अधिक हैं। पृथिवी से सूर्य्य १३ हजार गुना अधिक बड़ा है। सूर्य्य की अपेक्षा से जैसे पृथिवी की सत्ता है वैसे ही परमेष्ठि-मण्डल की अपेक्षा से सूर्य्य की सत्ता है। अतएव पौराणिक लोग सूर्य्य को परमेष्ठी की अपेक्षा से ही बुद्बुद् बतलाया करते थे। परमेष्ठि-मण्डल बहुत बड़ा है। इसी में असुर रहते हैं। तमोमय आप्य प्राण का नाम ही तो असुर है। देवता सूर्य्य में रहते हैं। अग्नि का नाम ही देवता है अतएव देवताओं को प्रजापति की कनिष्ठ सन्तान एवं असुरों को ज्येष्ठ सन्तान बतलाया जाता है। प्रकृत में कहना यही है कि-असुर अर्थात् तमोमय प्राण मात्रा में अधिक हैं-अतएव जरा भी मौका मिलते ही ये देवताओं में घुस पड़ते हैं। यदि सूर्य्य का प्रकाश चारों ओर अविच्छिन्न रूप से-एक रूप से-पड़ता रहता है तो उसमें अन्धकार नहीं घुस पाता। परन्तु मकानके-वृक्ष के-अथवा अन्य किसी के आवरण से-यदि प्रकाश में विच्छेद हो जाता है तो उसी समय वहाँ अन्धकार घुस पड़ता है। अन्धकार, प्रकाश का विरोधी पदार्थ है-अतएव उसे शत्रु कहा जाता है। प्रकाश का अन्धकार के साथ जो विरोध भाव है—देवासुर संग्राम में वही शत्रुता कहलाता है। सोमाहुति से-जब एक ही अग्नि नाना रूपों-अवस्थाओं में परिणत हो अलग-अलग थोकों (वर्गों) में विभक्त हो जाता है तो उसके उन सन्धि भागों में असुर अर्थात् तमोमय प्राण घुस पड़ते हैं। इसी विज्ञान को बतलाते हुए कहते हैं-जब देवता अहमहमिका के झमेले में पड़ कर अलग-अलग हो गए-तो उनको अलग-अलग थोकों में बँटा देख कर—"अपने शत्रु देवताओं को परास्त करने का यही अच्छा मौका है"-यह सोच कर असुर लोग उनमें प्रविष्ट हो गए। जब तक देवता एक थे तब तक तो असुर लोग उनसे डरते थे। परन्तु आपस की फूट के कारण जब देवता अलग हो गए तो असुरों ने अवसर

पाकर उन पर धावा बोल दिया। अर्थात् अग्नि के विशकलित होते ही उसके सन्धि-भागों में तमोमय असुर घुस गए।

"तान् विद्रुतान् (परस्परं विश्लिष्टान्) असुररक्षसानि अनुव्यवेयुः (अन्तः प्रविष्टा बभूवुः)" ॥१॥

इस प्रकार तमोमय प्राण अग्नि में घुस तो पड़ता है-परन्तु रोदसी त्रिलोकी में उसका अधिकार नहीं जम पाता। रोदसी में तो आग्नेय प्राण की ही प्रधानता रहती है। आप्य प्राण आते हैं और अपना अधिकार जमाना चाहते हैं-परन्तु इन्द्र इन सारे असुरों को मार-मार कर रोदसी से बाहर क्रन्दसी में निकालता रहता है। द्वादशादित्य-प्राण समष्टि का नाम ही सूर्य्य है। अग्नि-मर्त्य-अमृत भेदेन दो प्रकार का होता है। मर्त्य अग्नि पिण्ड में रहता है-एवं अमृताग्नि पिण्ड से बाहर बड़ी दूर तक व्याप्त रहता है।

सूर्य्य भी अग्निमय है। इसके मर्त्याग्नि-रूप को सूर्य्य कहते हैं-जो कि पिण्डरूप से आकाश में स्थित रहता है। यह सूर्य्यपिण्ड-अणुमात्र भी अपने स्थान से नहीं हटता। इसके केन्द्र से बद्ध चारों ओर तक वितत होने वाला जो अमृताग्नि है-उसे ही इन्द्र कहते हैं। जहाँ तक सूर्य्य का प्रकाशमण्डल रहता है-वहाँ तक इन्द्र की सत्ता रहती है। सूर्य्य के सोलर सिस्टम् के पेट में रोदसी त्रिलोकी है। सूर्य्य के पेट में है इसका अर्थ यही है-कि इन्द्र के पेट में है। क्योंकि चारों ओर इन्द्र ही फैला रहता है, यह इन्द्र ही सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, एक बिन्दु भी इससे खाली नहीं है, अतएव **"नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन"** (ऋग्वेद मं० ९।६९।६) यह कहा जाता है।

सूर्य्य के सोलर सिस्टम के चारों ओर परमेष्ठिमण्डल का पानी भरा हुआ है। चारों ओर आपोमय-तमस्वरूप असुरों ने सूर्य्य को अर्थात् देवताओं को घेर रक्खा है। परन्तु सूर्य्य अपनी प्रखर किरणों से-अनवरत उस पानी को धक्का देकर बाहर फेंक रहा है। इस इन्द्र के धक्के के कारण ही असुर, देवताओं पर अपना राज्य नहीं जमा सकते। यदि इन्द्र का व्यापार एक क्षण के लिए भी बन्द हो जाए तो उस समय सारे देवता अर्थात् अग्नि बुझ जाएँ। सर्वत्र असुरों का ही राज्य हो जाय। परन्तु-इन्द्र के प्रभाव के सामने सारे असुर दब जाते हैं। अतएव मानना पड़ता है कि इन समस्त देवताओं के अधिष्ठाता इन्द्र ही हैं। सारे देवता इन्द्र को अपना राजा मानते हैं। अलग-अलग थोकों (वर्गों) में अग्नि-सोमादि सभी देवता स्वतन्त्र शासन करते हुए भी इन्द्र का आधिपत्य अवश्य ही मानते हैं। यदि ये इन्द्र का आधिपत्य न मानें तो इनका पता ही न लगे। यही कारण है कि इन्द्र के लिए-**"इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता"** (शत० २।३।४।३८) कहा जाता है।

इसी विज्ञान को कथारूप में परिणत कर, साथ ही में इतिहास का ध्यान रखते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं-अग्नि आदि देवता-जब अलग-अलग थोकों (वर्गों) में परिणत हो गए तो-उन्हें कमजोर देख असुर उनमें घुस पड़े। यह देखकर देवता घबराए। उन्होंने कहा कि लो, हम तो अलग इसलिए हुए थे कि आपस में एक-दूसरे से दबे नहीं, एक-दूसरे की मातहती न करनी पड़े परन्तु यहाँ तो

उलटी आफत आ गई। हम तो इन असुरों के आक्रमण से दिन पर दिन क्षीण होते जा रहे हैं। जिस मातहती से बचने के लिए अलग हुए थे आज हमें उसी मातहती के चक्कर में आना पड़ रहा है। अलग होते ही असुर और राक्षस हमारे में घुस पड़े हैं। आज हम शत्रुओं से रौंदे जा रहे हैं। अलग न होते तो कम से कम शत्रु की तो मातहती स्वीकार नहीं करनी पड़ती। अलग होने के कारण हम शत्रुओं के वशीभूत हो गए। इस प्रकार असुराक्रमणों से दुःखी होकर देवताओं ने मिलकर कहा कि हे देवताओं! आओ, आज हम इस पर विचार करें। सब मिल कर सलाह करें कि किस उपाय से इस शत्रु को अपने से अलग करें। अन्त में निर्णय यही हुआ कि जब तक हम एक थे–हमारा संघ था–मेल था, तब–तक असुर अपने से घबराते थे। जहां हम अलग हुए कि, इन्होने हमारे ऊपर आक्रमण कर दिया—अतएव इस आक्रमण से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि हम सभी किसी एक के आधिपत्य में रहें। जब–तक अलग-अलग खिचड़ी पकती रहेगी–तब तक खैर नहीं है। यह विचार कर समस्त देवता इन्द्र के आधिपत्य में आ गए। सबने एक स्वर से इन्द्र को अपना अधिपति मान लिया। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि चूंकि देवताओं ने इन्द्र को अपना स्वामी मान लिया—**"इन्द्रः सर्वा देवता, इन्द्रश्रेष्ठा देवाः"** (शत०-३।४।२।२) यह प्रसिद्धि चल पड़ी।

"तेऽविदुः। पापीयांसो वै भवामोऽसुररक्षसानि वै नोऽनुव्यवागुः (अनुगताः) द्विषद्भ्यो वै रध्यामः (वशंप्राप्ताः)। हन्त संजानामहाऽएकस्य श्रियै (आधिपत्यस्य) तिष्ठामहाऽइति। तऽइन्द्रस्य श्रियाऽअतिष्ठन्त। तस्मादाहुरिन्द्रः सर्वादेवता इन्द्रश्रेष्ठा देवा इति" ।।२।।

शासन का काम इन्द्र का है। ब्रह्म-क्षत्रविड् वीर्य्यों में सबसे श्रेष्ठ क्षत्रवीर्य्य ही माना जाता है–अतएव कहा जाता है—

"तस्मात् क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद्ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये"।
(बृ० उ० १।४।११)

इन्द्र द्युलोक के अधिष्ठाता हैं, अतएव कहा जाता है—

"यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी"। (शत० १४।६।४।२१)

इन्द्र से अधिक शक्तिशाली देवताओं में अन्य नहीं है। इन्द्र ही यज्ञप्रवर्त्तक हैं। इन्द्र ही बलवानो में बलवान हैं। इसी के बल पर समस्त देवता नाचा करते हैं। अतएव **"या च का च बलकृतिरिन्द्र कर्म्म एव तत्"** यह कहा जाता है। यज्ञ ही देवताओं का जीवन है। यज्ञ का प्रवर्त्तक इन्द्र ही है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"यज्ञ इन्द्रमवर्धयत्। यद्भूमिं व्यवर्तयत्। चक्राण ओपशं दिवि"।
(ऋग्वेद मं० ८।१४।५)

अतएव इन्द्र को सारे देवताओं का अधिपति बतलाया गया है।

देवता अलग होकर संघ शक्ति को तोड़ कर थोकों (वर्गों) में बँट गए। इस का फल उन्हें यह मिला कि उन पर असुर आक्रमण करने लगे। अन्त में देवताओं को शान्ति तभी मिल पाई–जब वे वापस संगठित हो गए। अतएव श्रुति उपदेश देती है—उन्हें चाहिए कि वे अलगाव को न पनपने दें, कभी अलग होने की इच्छा न करें। संघ में शक्ति रहती है। स्वतन्त्रता की धुन में आ कर संघ को तोड़ डालना अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारना है। अतएव कभी भी संघ को नहीं तोड़ना चाहिए। सदा मिलजुल कर, एक को गृहस्वामी मान कर ही जीवन–यात्रा का निर्वाह करना चाहिए—

"तस्मादु ह न स्वा (ज्ञातयः परस्परं) ऋतीयेरन्। (वैमत्येन विश्लेषं न कुर्य्युः)"।

जो मनुष्य मूर्खतावश संघ–शक्ति तोड़ कर अलग हो जाते हैं—उनके दूर रहने वाले शत्रु भी उनकी शक्ति क्षीण होते देख कर उनमें घुस पड़ते हैं। शत्रु तो मौका देखा करते हैं कि, कब इनमें फूट हो और कब अपनी दाल गले। फूट का परिणाम यह होता है कि–अन्त में ये शत्रुओं के द्वारा रौंदे जाते हैं। अतएव जिसे अपने कल्याण की वांछा हो उसे चाहिए कि वह कभी भी संघ से पृथक् न हो। संघ में शक्ति है। कौटुम्बिक जीवन ही सच्चा जीवन है। पाश्चात्य देशों में–इस व्यवस्था के अभाव में अशान्ति व्याप्त है। पिता–पुत्र से स्वतन्त्र है, पुत्र–पिता से स्वतन्त्र है। पिता–पुत्र को कोई वस्तु देता है तो पुत्र थैंक्यू (धन्यवाद) कहता है। पुत्र–पिता को कोई वस्तु देता है तो पिता पुत्र से थैंक्यू कहता है। कैसा वीभत्स दृश्य है ? नव–शिक्षा दीक्षित कितने ही भारतीय भी आज इस वातावरण में घुस रहे हैं। आवेश में आ कर भारतीय कौटुम्बिक व्यवस्थाओं को पोपलीला बतला कर इनका उपहास कर रहे हैं। परन्तु उन्हें सोचना चाहिए कि इसमें सिवाय अशान्ति के और कुछ भी लाभ नहीं है। वेद भारत का हृदय है। भारतीयों का विश्वास है कि–वेद साक्षात् परमेश्वर की वाणी है। वह स्पष्ट शब्दों में **"तस्मादु ह नःस्वाऋतीयेरन्"** इन श्रुति वाक्यों द्वारा संघ से स्वतन्त्र होने का विरोध कर रहा है, किन्तु उसी के पुत्र इसे पोप–लीलादि बतला रहे हैं। यदि ऐसा ही करते रहे तो क्या होगा–इसका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"य (शत्रुः) एषां (विश्लिष्टानाम्) परस्तरामिव (पृथक्तरमिव) भवति स एनाननुव्यवैति। (अपिच) ते (विश्लिष्टाः) प्रियं द्विषतां कुर्वन्ति (शत्रुणांयथा प्रियं हितं स्यात्तथा कुर्वन्ति)। द्विषद्भ्यो रध्यन्ति (वशं प्राकुर्वन्ति) तस्मान्नऽर्तीयेरन्"।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जो मनुष्य, जो विद्वान, इस रहस्य को जान कर संगठन की शक्ति को नहीं तोड़ता वह शत्रुओं के लिए अप्रिय है। क्योंकि वह मनुष्य उनको आक्रमण करने का मौका नहीं देता है। ऐसे सावधान–संगठित मनुष्य कभी भी शत्रु के वश में नहीं आते हैं। अतएव वेदपुरुष की आज्ञा यही है कि असंगठित मत बनो–संघ को तोड़ कर स्वतन्त्र होने की चेष्टा मत करो—

"स यो हैवं विद्वान्नऽर्तीयते अप्रियं द्विषतां करोति न द्विषद्भ्यो रध्यति तस्मान्नऽर्तीयेत" ।।३।।

अब, तानूनप्त्रेष्टि क्या है—इसके प्राकृतिक विज्ञान का तात्त्विक रहस्य बतला रहे हैं। अब तानूनप्त्र का स्वरूप बतलाने के लिए भूमिका स्थापित करते हैं। इन्द्र को अधिष्ठाता बना कर देवताओं ने असुरों को निकाल कर प्रतिज्ञा की कि हम सब इन्द्र के आधिपत्य में रहेंगे एवं कभी संगठन–शक्ति नहीं तोड़ेंगे। यह प्रतिज्ञा तो कर ली परन्तु सम्भव है–आगे जा कर हम में से कोई इस प्रतिज्ञा को तोड़ बैठे–अतएव हमें ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिससे मरते दम तक अपना संघ अजेय हो जाए। जब तक प्राण रहें तब तक अपना संघ–अपना मैत्र्य–न छूटे। अपना संघ यावज्जीवन अजर्य्य रहे, कभी जीर्ण न हो, कोई ऐसा उपाय करना चाहिए।

मन के आधार पर प्राण रहता है। प्राण ही का नाम स्वयम्भू–मण्डल है। उसी से–आगे की सारी सृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं। हम ऐसा करें–ऐसा करें, यह व्यापार उसी प्रजापति की प्रेरणा से हुआ करता है। सृष्टि को बने हुए लाखों वर्ष हो गए–परन्तु अभी तक इन देवताओं का संघ टूटा नहीं है। देवता आज भी उसी प्रतिज्ञा पर दृढ़ हैं। क्या मजाल, असुर रोदसी त्रिलोकी में व्याप्त हो जाएँ। प्राण देवताओं ने इन्द्र ही को अपना अधिपति मान रक्खा है। इन सब का मूल–वही प्रजापति है। उसी की इच्छा से सब–कुछ हो रहा है। सृष्टि के प्रारम्भ में उसने ऐसा ही चाहा था। देवताओं का चाहना–उसी प्रजापति का चाहना है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर कहते हैं—

"ते होचुः–हन्तेदं (मैत्र्यं–संघटनम्) तथा करवामहै–यथा न (अस्माकम्)इदम् (सुसंघटनं) आप्रदिवम् एव(यावज्जीवनमेव) अजर्यं (अविनाश्यम्) असत् (भवेत)" इति ।।४।।

यह विचार कर देवताओं ने अपना सबसे अधिक प्रिय जो शरीर है, उसे और जो अत्यन्त प्यारी वस्तुएँ हैं–जिनसे वियोग हो जाने पर दुःख होता है, उन्हें एकत्र रख दिया। देह एवं प्रिय वस्तु को "प्रियाणि" और "जुष्टा" इसीलिए कहा है कि–जो मामूली वस्तु होती है यदि वह छिन भी जाए तो ज्यादा दुःख नहीं होता–परन्तु बहुमूल्य और अतिप्रिय वस्तु का बिछोह हो जाता है तो बहुत कष्ट होता है।

इस प्रकार सब वस्तुओं को एक स्थान पर रख कर देवताओं ने कहा कि–जो देवता अपनी प्रतिज्ञा का अतिक्रमण करेगा, इन्द्र के आधिपत्य की प्रतिज्ञा कर बाद में मुकर जाएगा वह देवता–संघ से बहिष्कृत माना जाएगा। इतना ही नहीं अपितु वह–उस प्रिय वस्तु से भी वञ्चित कर दिया जाएगा। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"ते देवाः–जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धं (सहैव) समवददिरे (विभज्यस्थापितवन्तः)–(एवं कृत्वा) ते होचुः–एतेन नः (अस्माकंमध्ये)–

सनाना (पृथक्) असत् । एतेन (प्रियेणधाम्ना)-(अभिः) । विष्वङ् (विशीर्णो) यो न एतत् । (एतेन प्रतिज्ञां-संघटनं वा) अतिक्रामात् (अतिक्रामेत्)" इति ।

इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा को अजर्य्य बनाने के लिए देवताओं ने अपनी-अपनी बहुमूल्य प्राण-वस्तुओं को अलग कर तय कर लिया कि जो प्रतिज्ञा भंग करेगा, उसे मण्डली से खारिज कर दिया जाएगा एवं उसकी बहुमूल्य वस्तु भी जप्त कर ली जाएगी । परन्तु अब चिन्ता इस बात की हुई कि ये वस्तुएँ रक्खें किस के पास ? अपने में से तो इसका रक्षक कोई बन ही नहीं सकता है, क्यों कि अपने लिए तो यह कष्ट-कर्म्म ही है । ऐसी अवस्था में-किस की साक्षी में अपने इन प्रिय पदार्थों को रक्खें ? किसे यह अधिकार दिया जाए ??

"कस्योपद्रष्टुः" (कस्य पुरस्तादिदं भवेत् इति तात्पर्य्यम्) ।

आखिर यह तय हुआ कि तानूनप्त्र्य शाक्वर है—उसकी निगरानी में अपने प्रिय पदार्थ रक्खें जाएँ । वे ही इस कार्य के लिए उपयुक्त हैं । उन्हें इस बात का अधिकार दे दिया जाए कि जो जरा भी गड़बड़ करे उसकी वस्तु जप्त कर उसे तत्काल मण्डली से निकाल दिया जाए ।

"तनूनप्तुरेव शाक्वरस्य-(उपद्रष्टुरिति शेषः)" इति ।

रोदसी-क्रन्दसी-संयती ये तीन त्रिलोकियाँ बतलायी गयी हैं । तीनों में से क्रन्दसी के वायु को "तनूनपात्-शाक्वर वायु" कहते हैं । पारमेष्ठ्य वायु चूंकि आपोमय है-अतएव उसे **"साम्ब सदाशिव"** कहा जाता है । संसार में जीवन का मूल आधार यही शिववायु है । जिस क्षण भी शिववायु निकल जाता है उसी क्षण आत्मा उत्क्रान्त हो जाता है । इसी साम्बसदाशिव पारमेष्ठ्यवायु की सत्ता से ही श्वास-प्रश्वास की स्थिति रहती है । इस वायु का मूल स्थान यद्यपि परमेष्ठी है-तथापि यह व्याप्त सर्वत्र है । श्रावण के महिने में-यह साम्बसदाशिव वायु पृथिवी पर अधिक मात्रा में आता है । अतएव एक महिने तक इसी साम्बसदाशिव की उपासना की जाती है । प्रतिष्ठा-स्थापक यही साम्बसदाशिव है । इस प्रकार क्रन्दसी का यह वायु ही यच्चयावत् प्राणिमात्र का जीवन है । परन्तु रोदसी त्रिलोकी का वायु ठीक इसके विरुद्ध व्यवहार वाला है । रोदसी वायु के प्रविष्ट होते ही शरीर-यष्टि गिर जाती है । मनुष्य इसके आक्रमण से बीमार हो जाता है, या फिर मर भी सकता है । इसे **"रुद्र"** **किंवा 'यम'** कहा जाता है । ग्रीष्म ऋतु में जो प्रचण्ड **'लू'** चलती है-वह साक्षात् रुद्र भगवान् है । जिस पर भी इनका हाथ पड़ जाता है, वह संसार से विदा होता ही दीखता है ।

क्रन्दसी वायु शरीर की रक्षा करती है । शरीर को गिरने नहीं देती है-अतएव **"तनून् पालयति"** इस व्युत्पत्ति से इसे तनूनपात् कहा जाता है । शक्तिशाली को शाक्वर कहते हैं । शक्ति सोम ही में अधिक रहती है । अग्नि तो विशकलनधर्म्मा है । दृढ़ता सोम ही से आती है । चन्द्रमा सोम-पिण्ड है । इसी से क्षमता आती है । अतएव इसके परिभ्रमण-वृत्त को 'दक्ष' कहा जाता है । सोम परमेष्ठा की

वस्तु है। वहाँ पर रहने वाला सोम अतिबलिष्ठ है। अतएव "**शक्नोति**" व्युत्पत्ति से उस सोम को शाक्वर कहते हैं। यह वायु (क्रन्दसी वायु) परमेष्ठी की वस्तु है। तनूनपात् रहता सर्वत्र है–परन्तु मूल स्थान इसका परमेष्ठी है अतएव "तत्रभवः" से इस वायु को– शाक्वर कहा जाता है।

अपिच इसे शाक्वर कहने का एक कारण और भी है। पृथिवी का जो रथन्तर साम है—उसमें अग्नि और सोम दो पदार्थ रहते हैं। पृथिवी ही में नहीं–संसार के यच्चयावत् पदार्थों में ये दो पदार्थ रहते हैं। सोम-**दिक्** और **भास्वर** भेद से दो प्रकार का है। इस प्रकार–दो सोम (दिक्-भास्वर) और एक अग्नि–ये तीन पदार्थ हो जाते हैं। इन तीनों में से अग्नि के साम को **रथन्तरसाम** कहते हैं। इसको रथन्तर पृष्ठ भी कहा जाता है। भास्वर सोम के पृष्ठ को **वैराज पृष्ठ** कहा जाता है। दिक् सोम के पृष्ठ को **शाक्वर पृष्ठ** कहा जाता है–यह तनूनपात् वायु इसी शाक्वर पृष्ठ की वस्तु है। इसीलिए इसे भी शाक्वर कहते हैं। इस पारमेष्ठ्य वायु में सारे देवताओं के प्रिय पदार्थ रक्खे रहते हैं। देवताओं की अर्थात् आग्नेय प्राणों की सर्वाधिक प्रिय वस्तु सोम ही है। यदि अग्नि में सोम न आए तो देवताओं का सर्वनाश हो जाए। अग्नि की स्थिति तभी तक है, जब तक कि उसमें सोमाहुति होती रहे। जब तक अग्नि में सोम आता रहता है तभी तक शरीर की स्थिति है। सोम पारमेष्ठ्य है। उसका अधिष्ठाता यही तनूनपात् वायु है। वायु के धक्के से ही–सोम अग्नि में आहुत होता है। यह तो हुआ आधिदैविक अर्थ; अब लेते हैं अध्यात्म की बात। अध्यात्म में समस्त दैवता मौजूद हैं। शरीर को जहाँ से भी छूते हैं वहीं से गरम लगता है। यही अग्नि है। मस्तिष्क में विज्ञान–प्रदाता इन्द्र रहता है। सोम अन्न के रूप में आहुत होता रहता है। हम जो वाक् बोलते हैं–वही अग्नि है। चक्षु–ज्योति ही सूर्य्य है। अतएव "**अग्निवाग् भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः**"—(ऐत० उ० २।४) यह कहा जाता है। इन सारे देवताओं की स्थिति–तनूनपात् के आधार पर रहती है। वायु–संचालन से ही अस्थिमांसादि का निर्म्माण होता है। यदि शरीरस्थ देवता प्रतिज्ञा तोड़ें तो उसी समय वायु–उन्हें नष्ट कर दे। प्रज्ञापराध हुआ नहीं कि प्रकृति ने काम बिगाड़ा नहीं। यही प्रजाओं का साक्षी है। यह अध्यात्म में, अधिदैवत में, सर्वत्र प्रविष्ट है। अध्यात्म में तनूनपात् कौन सा है–यह देखने के लिए प्राणापान पर ध्यान देते हैं। हम जो श्वास-प्रश्वास ले रहे हैं, वही तनूनपात् है। जब तक श्वास आता रहता है, तभी तक शरीर का स्वरूप स्थित है। जिस क्षण भी श्वास नहीं आएगा उसी समय प्राण-पखेरू उड़ जाएँगे। अधिदैवत में इसके स्वरूप को देखने के लिए बहते हुए वायु पर ध्यान दें। जिस शीतलवायु के संचरण और स्पर्श मात्र से तबियत हरी हो जाती है वही तनूनपात् है। देवताओं का उपद्रष्टा अर्थात् साक्षी यही है। इसी प्राकृतिक विज्ञान को बतलाते हुए कहते हैं—

"कस्योपद्रष्टुरिति। तनूनप्तुरेव शाक्वरस्येति। यो वाऽअयं पवते-एष तनूनपाच्छाक्वरः। सोऽयं प्रजानामुपद्रष्टा प्रविष्टस्ताविमौ प्राणोदानौ ॥५॥

यह वायु प्रजाओं का साक्षी बन कर शरीर में अन्तःप्रविष्ट हो रहा है। वायु ही शरीरस्थ देवताओं का एवं अधिदैवत देवताओं का साक्षी है। शरीर में जो भी कुछ काम अच्छा या बुरा होता

है—वायु उसी समय उन विद्वान् देवताओं को खबर कर देता है। तनूनपात् वायु से आँख छुपा कर शरीरस्थ–प्राण–देवता कोई भी काम नहीं कर सकते हैं। देवता-वैज्ञानिक-महर्षि-आदि इसी वायु के माध्यम से मनुष्य के मन की बात पहचान जाते हैं। मनुष्य मन से जैसा संकल्प करता है–वह संकल्प-प्राण पर आता है। संकल्प करते ही प्राण पर धक्का लगता है। प्राण धक्का खा कर जब बाहर निकलने लगता है तो रास्ते में विद्यमान वायु पर पड़ता है। वायु से इसका प्रभाव वातावरण पर पड़ता है। इस आधार पर मनुष्य के मन में जो भी इच्छा या संकल्प होता है, विद्वान् लोग वातावरण के द्वारा उसे पहचान लेते हैं। मन वायु पर धक्का मारता है। वह वायु को प्रेरित करता है। वायु से ही मनुष्य की मुखाकृति पर सूक्ष्म भाव–दशाओं अथवा विचार-तरंगों का वितान निर्म्मित हो जाता है। बात सच है, मामूली बातें तो आकृति से सामान्य मनुष्य की भी पहचान में आ जाती हैं। इस समम अमुक मनुष्य दुःखी है, या सुखी है, यह आकृति-विन्यास से बतलाया जा सकता है। परन्तु जो वैज्ञानिक (सूक्ष्म तत्त्व–वेत्ता) मनुष्य होते हैं, जिन्हें इस वायु–विज्ञान का ज्ञान है, वे वायु की सूक्ष्म तरंगों से ही व्यक्ति की इच्छाएँ जान लेते हैं।

तात्पर्य्य कहने का यही है कि मन जिस समय संकल्प करता है, तब शान्त और स्थिर प्राण–वायु क्षुब्ध हो विकृत हो जाता है। विकृत होकर अन्तः वायु प्राण के धक्के से रोमावलियों द्वारा जब बाहर निकलता है–तो शरीर के चारों ओर वेष्टित जो बाह्य वायु है, उस पर धक्का मारता है। जैसी लहर अन्तः वायु की होती है, वैसी ही लहर बाह्य वायु में भी पैदा हो जाती है। इन्हीं लहरों (वायु–उर्म्मिमण्डल) के द्वारा ही मनुष्य के मन की स्थिति को जाना जा सकता है। इसी अभिप्राय से—"**प्रत्ययस्य परिचित्ति–ज्ञानम्**" (यो० ३।२६) कहा जाता है। इस अन्तर्य्यामी विज्ञान का उपहासकर्ता आधुनिक पाश्चात्य जगत् क्या स्वयं उपहासास्पद नहीं बनता ? निष्कर्षतः हम इस वायु को–उपद्रष्टा (साक्षी) कहने के लिए तय्यार हैं।

"तस्मादाहुः–मनो देवा मनुष्यस्याजानन्तीति। मनसा संकल्पयति–तत् प्राणमपिपद्यते, प्राणो वातम्–वातो देवेभ्य आचष्टे–यथा पुरुषस्य मनः" ॥६॥

इसी अभिप्राय से वेद महर्षि कहते हैं—

"मनसा संकल्पयति तद् वातमपि गच्छति।
वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मनः" ॥७॥

तनूनपात शाक्वर वायु की साक्षी में देवताओं ने अपने प्रिय स्वरूपों को एकत्र किया। यह तानूनप्त्र वायु वास्तव में देवताओं के प्रिय पदार्थों का साक्षी है। यही उपद्रष्टा बन कर शरीर में अर्थात् अध्यात्म में एवं अधिदैवत में–प्रविष्ट हो रहा है। अध्यात्म में यह वायु प्राणोदान स्वरूप से है, तो अधिदैवत में–प्रवहमान स्वरूप से सञ्चरित है। शरीरस्थ देवता जो कुछ कर रहे हैं–वायु उसकी निगरानी रखता है। इसी से देवतागण–मनुष्यों के मन का हाल जान पाते हैं। इस तानूनप्त्र के विषय में एक विशेष बात और बतलानी है–अतएव पुनः पूर्वोक्त कथन का अनुवाक् करते हैं—

उन देवताओं ने–अपने जो प्रियतनु थे उनको तथा प्रिय स्थानों को एक साथ एक कर, तनूनपात् की साक्षी में–अपने से अलग कर, रख दिया और कहा कि, हम में से जो भी इस सत्यप्रतिज्ञा का उल्लंघन करेगा, उसे हमारी मण्डली से पृथक् कर दिया जाएगा एवं वह अपने उस प्रिय स्वरूप से तथा प्रिय स्थान से भी हाथ धो बैठेगा—

"ते देवा जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि साद्धं समवददिरे। ते होचुः एतेन नः स नानाऽसद्, एतेन विष्वङ् (असत्) यो न एतदतिक्रामात् (अतिक्रामेत्)" इति।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि देवताओं ने सृष्टि के प्रारम्भ में तनूनपात् को साक्षी बना कर जो तानूनप्त्र किया था अर्थात् शपथ ली थी कि यदि हम अपनी प्रतिज्ञा से च्युत हो जाएँ तो हमारी प्यारी से प्यारी वस्तु नष्ट हो जाए–उस अपनी शपथ का वे कभी भी उल्लंघन नहीं करते हैं। इसीलिए अग्नि, सोम, इन्द्र, वरुण चारों देवता मिल कर तनूनपात् की साक्षी से एकीभूत हो कर उसी इन्द्र (सूर्य्य) के आधिपत्य में विद्यमान हैं।

जहाँ अग्नि रहता है—वहीं पर सोम, इन्द्र और वरुण अवश्य रहते हैं। एक के बिना दूसरा हर्गिज नहीं रह सकता है। संसार के यच्चयावत् पदार्थ अग्नि-सोमात्मक हैं–यह बात हमने कई बार कह दी है। अग्नि जहाँ रहता है–वहीं पिण्ड बनता है। पिण्ड बनाना नित्याग्नि का काम है। अग्नि जहाँ पिण्ड रूप में परिणत हुआ कि बाकी के तीनों देवता भी उसमें सम्मिलित हो जाते हैं। अग्नि—घन-तरल-विरल भेद से अग्नि–वायु–आदित्य स्वरूपों में परिणत हो जाता है। वायु अन्तरिक्ष–स्थानीय है–अतएव इसे सोम भी कह दिया जाता है। इसी प्रकार आदित्य से–इन्द्र अभिप्रेत है। दूसरा जो सोम है, वही चौथा आपोलोक कहलाता है। इसी का नाम वरुण है। यह वरुण भी अग्नि ही है। इस प्रकार-अग्नि-सोम-इन्द्र-वरुण चारों देवता–उस पारमेष्ठ्य वायु की साक्षी में सदा साथ रह कर सूर्य्य के आधिपत्य में रहते हैं। आज भी वे अपनी प्रतिज्ञा पर सत्यव्रती हैं, दृढ हैं। कभी वे उस सत्य-पथ का अतिक्रमण नहीं करते हैं। इसीलिए **"सत्यसंहिता वै देवाः"** (ऐ० ब्रा० १।६) यह कहा जाता है—

"तद्देवा अप्येतर्हि नातिक्रामन्ति"।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यदि देवता लोग शपथ का अतिक्रमण कर देंगे तो फिर वे कहाँ रहेंगे? शपथ तोड़ने पर, सत्य से च्युत हो जाने पर, उनकी सत्ता ही कहाँ रहेगी? अपनी प्रतिज्ञा तोड़ते ही वे झूँठ बोलेंगे। सत्य–भाव से उनका आत्मा गिर जाएगा। रेलगाड़ी जब तक अपनी नियत लाइन पर चलती रहती है—तभी तक उसके स्वरूप की रक्षा होती है। यदि वह लाइन को छोड़ देती है–तो चकनाचूर हो जाती है। उसका अंगभंग हो जाता है। ठीक यही बात यहाँ है। सत्य पर चलूँगा–कभी प्रतिज्ञा से विमुख नहीं होऊँगा, यदि प्रतिज्ञा से विमुख हो जाऊँ तो मेरी प्यारी से प्यारी वस्तु–अर्थात् आत्मा मुझ से अलग हो जाए–मेरा सर्वनाश हो जाए–इस प्रकार तनूनपात् वायु की साक्षी में शपथ

ले कर यदि देवता बिमुख हो जाएँगे तो यह वायु इनके स्वरूप को छिन्न-भिन्न कर डालेगी। उसी समय इनका आत्मा-उस वाक्-सामर्थ्य से नष्ट हो जाएगा। जब तक ये सत्य पर रहते हैं-तभी तक इनकी आत्मा में बल रहता है अतएव पतनाभिमुख वायु को सन्धि नहीं मिलती। परन्तु-"अरे तोड़ो प्रतिज्ञा को"-यह खयाल होते ही-सन्धि हो जाती है। अर्थात् अवकाश मिल जाता है। इसलिए तनूनपात् वायु सन्धिस्थान में घुस कर सर्वनाश कर डालता है। शपथ तोड़ना-मिथ्या बोलना-अपनी लीक से हटना है एवं ऐसा करना अपने ही सर्वनाश को निमन्त्रण देना है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"के हि स्युर्यदतिक्रामेयुः"।

यदि प्रतिज्ञा का अतिक्रमण करेंगे तो क्या वे रहेंगे ?-कदापि नहीं। प्रतिज्ञा तोड़ने से देवता क्यों नष्ट हो जाएँगे-इसकी उपपत्ति बतलाते हुए कहते हैं—

"अनृतं हि वदेयुः"।

प्रतिज्ञा तोड़ते हुए वे मिथ्या बोलेंगे-सत्य मार्ग से च्युत होंगे-तो यही उनके नाश का कारण होगा परन्तु प्राण-देवता पतन के इस कारण को भली प्रकार से जानते हैं-अतएव देवता एकमात्र सत्यव्रत का ही आचरण करते हैं। वे जानते हैं-कि यदि हम सत्य से विमुख हो जाएँगे तो हमारी सत्ता ही नहीं रहेगी। अतएव अन्य प्रपञ्चों में न पड़ कर वे एकमात्र सत्यव्रत के पालन में ही तत्पर रहते हैं। यही कारण है कि देवताओं का असुरों से जीता हुआ जो द्रव्य है-सम्पत्ति है-वह अनपजय्य है। देवताओं की सम्पत्ति सर्वथा अजेय है। किसी की भी इतनी मजाल नहीं है कि वह देवताओं और उनकी सम्पत्ति पर नजर उठा कर देख सके। आग्नेय प्राण के सामने तमोमय प्राण की क्या ताकत है ? आग्नेय प्राण में सत्य की ही महिमा है। अग्नि में ताप है-प्रकाश नहीं। प्रकाश इन्द्र का धर्म्म है। प्रकाश ही असुरों का विरोधी है--अतएव जब तक सारे देवता मिल कर-अपने सत्य पर दृढ़ रहेंगे तभी तक खैर (कुशल) है। अपि च इसी सत्य बल के कारण ही देवता आज यशस्वी हो रहे हैं। रोदसी त्रिलोकी में सर्वत्र-इन्हीं की तूती बोल रही है—

"एकं ह वै देवा व्रतं चरन्ति-सत्यमेव। तस्मादेषां जितमनपजय्यम्, तस्माद्यशः"।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, इस सत्य-विज्ञान अथच सत्य-बल को जान कर जो मनुष्य सत्य बोलता है—उसका जो जित है-अर्थात् सम्पत्ति है वह सर्वथा अनपजय्य रहती है। सत्यवादी की सम्पत्ति का कभी नाश नहीं होता। सत्यवादी मनुष्य देवताओं की तरह यशस्वी हो जाता है—

"एष वै जातो जायते सर्वाभ्य एताभ्यो देवताभ्यः"। (ऐ० ब्रा० ११।२)

यही हमारे विज्ञान का सिद्धान्त है। अधिदैवत--मण्डल में जो प्राण-देवता हैं-वे ही हमारे में-हैं अर्थात् अध्यात्म में हैं-एवं वे ही अधिभूत में है। इसीलिए यह कहा जाता है।

"यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह:" । (कठो० २।१।१०)

प्रकृतिमण्डल में अग्नि–वायु (सोम)–इन्द्र–वरुण ये चार देवता हैं। ये ही चारों देवता हमारे शरीर में भी रहते हैं। इन्हीं देवताओं से हमारे शरीर का निर्म्माण होता है। इन्द्र को आदित्य कहते हैं। यह आदित्य प्राण–रूप में परिणत होकर हमारे शरीर में आता है। अग्नि–अपान रूप से परिणत हो कर आता है। वायु व्यान स्वरूप में परिणत होकर आता है। शरीर में जो खून है वही वरुण है। शरीर में जो पानी का हिस्सा है–वह भी वरुण है। इस प्रकार प्राण–अपान–व्यान–असृक् रूप से परिणत हो कर चारों देवता अध्यात्म में व्याप्त रहते हैं। इन चारों में से जो अग्नि है–उसका नाम **वैश्वानर** है। यही **भूतात्मा** कहलाता है। सोम के–प्राण के–मेल से उसी को **प्रज्ञानात्मा** कहने लगते हैं। यह **प्रज्ञा-नात्मा**–अर्थात् चारों देवता–शिरोगुहा में रहने वाले विज्ञान के, अर्थात् सूर्य्य के, अधीन रहते हैं। परन्तु ध्यान रहे कि वायु की, अर्थात् व्यान की साक्षी में, चारों एक सूत्र में बद्ध हो कर रहते हैं। यदि व्यान का सहारा देवता न लेंगे तो उसी समय नष्ट हो जाएँगे। सारे देवताओं में वायु ही प्रधान है। जब तक श्वास आता रहता है तभी तक चेतना अर्थात् इन्द्र रहता है। तभी तक गर्मी अर्थात् अग्नि रहता है। हृदय से ऊपर प्राण है–वह इन्द्र है। हृदय से नीचे अपान है–यही अग्नि है–पृथिवी–लोक है। सारे देवता मध्यस्थ व्यान के आधार पर अवलम्बित हैं। अतएव श्रुति कहती है—

"न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ" ।। (कठो० उ० २।२।५)

"मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते" । (कठो० उ० २।२।३)

ये चारों देवता विज्ञान के आधार पर रहते हैं। विज्ञान शिरोगुहा में रहता है। यह विज्ञान सूर्य्यस्थानापन्न है। **धियो यो नः प्रचोदयात्** से मानना पड़ता है कि विज्ञान सूर्य्य की वस्तु है। जिसमें जितना अधिक सौर प्राण होगा–वह उतना ही अधिक बुद्धिमान होगा। इस विज्ञान के आश्रित–प्रज्ञान अर्थात् सारे देवता रहते हैं। इसी विज्ञान को **'क्षेत्रज्ञ'** कहा जाता है। यही कारयिता है अतएव यह कहा जाता है—

"योऽस्मात्मनः (प्रज्ञानात्मनः) कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते" ।

इस प्रकार जो स्थिति प्रकृति में है वही अध्यात्म में है। फर्क इतना है कि अध्यात्म में प्रायः प्रज्ञान उल्वण रहता है तथा विज्ञान अनुल्वण रहता है। अधिदैवत में विज्ञान उल्वण रहता है–तथा प्रज्ञान दबा रहता है। इसका कारण यही है कि हम पृथिवी पर उत्पन्न होते हैं—अतएव सौर–प्राण (विज्ञान) की अपेक्षा पार्थिव–प्राण (प्रज्ञान) हमारे में अधिक मात्रा में आता है। पृथिवी में असुर अर्थात् तमोमय प्राण रहते हैं—अतएव पार्थिव प्राण के साथ ये असुर भी हमारे अन्दर घुस पड़ते हैं—इसीलिए प्रज्ञान उल्वण हो जाता है। यदि हम कभी बुरा काम करना चाहते हैं तो हमारे भीतर कोई

बोलता है–देखो। ऐसा मत करो–इसमें तुम्हारा पतन है। यह कहने वाला विज्ञान है। एवं जो करूँ–करूँ कहने वाला है–वही प्रज्ञान है। चूंकि यह प्रबल रहता है—अतएव मनुष्य पतन की ओर झुक जाता है। बस जहाँ प्रज्ञान ने अर्थात् देवताओं ने विज्ञान का अर्थात् सूर्य्य का आधिपत्य छोड़ा–वहीं सर्वनाश हुआ। प्रज्ञापराध से ही–मनुष्य का सर्वनाश होता है। परन्तु यह बात प्रकृति में नहीं हो पाती। प्राकृतिक देवताओं में सौर प्राण उल्वण रहता है—अतएव पार्थिव प्राण (असुर) वहाँ पर अधिकार नहीं जमा सकते अतः देवता कभी भी सत्य से च्युत नहीं होते। इसीलिए कहा जाता है—

"सत्य संहिता वै देवाः अनृत संहिता मनुष्याः"। (ऐ० ब्रा० १।६)

यह विज्ञान विद्यादि साधनों के द्वारा बढ़ाया जा सकता है। अतएव विद्वान् को चाहिए कि सात्त्विक पदार्थों द्वारा–विद्या द्वारा–विज्ञान को सदा सम्पन्न रक्खें, सदा सत्य बोलते रहें, दैवी सम्पत्ति से युक्त रहें, आसुरी सम्पत्तियों से सदा परहेज करते रहें। यदि इस प्रकार नियम–पूर्वक चलते रहें और सत्य पर दृढ़ रहें तो आपको त्रिलोकी में किसी भी प्रकार का भय नहीं रहेगा। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"एवं ह वाऽअस्य जितमनपजय्यम्, एवं यशो भवति–य एवं विद्वान्त्सत्यं वदति"।

देवताओं ने आतिथ्येष्टि के अनन्तर–तनूनपात् को साक्षी बना कर तानूनप्त्र अर्थात् शपथ–कर्म्म किया था। **"यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि"** यह हमारा सिद्धान्त है। अतएव यजमान निदानेन घृत का स्पर्श करके तानूनप्त्र करता है। वायु की साक्षी में तानूनप्त्र किया जाता है। वायु का नाम चूंकि तनूनपात् है अतएव इसकी साक्षी में किया गया कर्म्म 'तानूनप्त्र' कहलाया। वायु को तो यजमान पकड़ नहीं सकता–अतएव वायु के स्थान पर घृत रख कर इससे तानूनप्त्र करता है। निदानेन यह घृत तानूनप्त्र कर्म्म का (शपथ–कर्म्म का) साधक है। एवज (पर्य्याय या प्रतीक) को निदान कहते हैं। कमल को पृथिवी समझिए यह जो संकेत है–उसी का नाम वैदिक परिभाषा में निदान है। इसी प्रकार घृत को निदानेन तानूनप्त्र कर्म्म का साधक अथवा अनुकल्प समझना चाहिए। वायु ही तो घृत बनता है एवं घृत ही तो तनूनपात है। घृत से अस्थि आदि का संश्लेषण रहता है, यदि संश्लेषण न हो तो **आदमी** अभी (तुरन्त) मर जाए। अतएव हम अवश्य ही घृत को तनूनपात् कह सकते हैं—

"तदेतत् तानूनप्त्रं निदानेन" ।।८।।

इसी निदान का स्वरूप बतलाते हैं—

प्राण–देवताओं ने अपने जुष्ट शरीरों और प्रिय पदार्थों को एकत्र कर, तनूनप्ता के सुपुर्द कर, उनकी साक्षी में शपथ ली थी। एवमेव इस यज्ञ में देवता–स्वरूप ये ऋत्विक लोग–आज्य ग्रहण करते हुए–उसके साथ अपने जो जुष्टतनू हैं—एवं प्रिय पदार्थ हैं–उनको एक साथ मिला कर रख देते हैं। तनूनपात–स्वरूप घृत को हाथ में ले कर–उसकी साक्षी में ऋत्विक् प्रतिज्ञा करते हैं—हे आज्य! अर्थात

हे तनूनपात् ! हम आपके सामने शपथ लेते हैं कि हम कभी भी अलग नहीं होंगे । हम सब ऐकमत्य से यज्ञ करेंगे, यज्ञ को निर्विघ्न पूर्ण करेंगे । यदि ऐसा न करें तो आपके पास हमारी जो प्यारी से प्यारी वस्तु है—आत्मा है–वह हमें न मिले । अर्थात् यदि हम इस प्रतिज्ञा को तोड़ें तो हमारा सर्वनाश हो जाए । यदि ऐसी प्रतिज्ञा न की जाएगी तो यज्ञ सम्पूर्ण न होगा । सोमयज्ञ बड़ा भारी काम है । यदि इसमें वैमत्य हो जाएगा–मन–प्राण–वाक् व्यापार एक लीक पर न रहेंगे–तो यज्ञ का विध्वंस हो जाएगा। अतएव यहाँ अवश्य ही शपथ ग्रहण करनी चाहिए—

"ते देवा जुष्टास्तनूः, प्रियाणि धामानि, सार्धं समवददिरे । (एवमेव) अथैत (ऋत्विगः) आज्यान्येव गृह्णाना जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धं समवद्यन्ते–(घृतेन तानूनप्त्रं–शपथकर्म्म कर्त्तव्यमिति भावः)" ।

शपथ ले कर यदि उसके विरुद्ध कार्य्य किया जाता है—तो इससे मनुष्य का आत्मा नष्ट हो जाता है । जिसके साक्ष्य में वह शपथ लेता है, वही साक्षी उसमें अन्तःप्रविष्ट होकर उसका सर्वनाश कर डालता है । अतएव यदि बात सच्ची भी हो–तब भी शपथ नहीं लेनी चाहिए । क्यों कि हम मनुष्य हैं—सम्भव है, हमारे से भूल हो जाए । ऐसी अवस्था में यदि शपथ टूट जाएगी तो वह मिथ्या भाव आत्मा का सर्वनाश कर डालेगा । अतएव जरा–जरा सी बात में शपथ लेने का निषेध करते हुए धर्म्मशास्त्रकार कहते हैं—

"सत्येनापि शपेद्यस्तु देवता गुरु संन्निधौ ।
तस्यवैवस्वतो राजा धर्म्मस्यार्धं निकृन्तति" ।। (धर्म्म शास्त्र)

अतएव जरा–जरा सी बात पर–"आपकी शपथ, तुम्हारी कसम, ठाकुरजी की सौगन्ध"—इस प्रकार शपथ लेना सर्वथा बुरा है । इससे आत्मा निर्बल हो जाता है । कोई बड़ा–भारी काम आ पड़े तभी शपथ लेनी चाहिए । सोमयज्ञ ऐसा ही काम है—अतएव यहाँ शपथ लिए बिना काम नहीं चल सकता है । परन्तु सब के साथ चाहे जब शपथ–व्यवहार नहीं करना चाहिए । अतएव याज्ञवल्क्य कहते हैं—"मनुष्य को चाहिए कि वह सब के साथ बात–बात में शपथ–व्यवहार न करे" । शपथ–भंग होने से जो प्रिय जुष्टतनू और प्रिय धाम है वह उससे अलग हो जाता है । अतएव इसको ध्यान में रखते हुए बात–बात में शपथ न लें—

"तस्मादु ह न सर्वेणेव समभ्यवेयात् । नेन्मे जुष्टास्तन्वः प्रियाणि धामानि सार्धं समभ्यवायान्–(अतः–न समभ्यवेयाम्)"–इति ।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, उत्तम पक्ष तो यही है कि–शपथ–व्यवहार किया ही न जाए और यदि बहुत ही आवश्यकता आ पड़े तो जिसके साथ शपथ कर लें उससे कभी द्रोह न करें । या तो शपथ लें ही

नहीं, यदि कर लें तो फिर चाहे प्राण ही निकल जाएँ कभी उसे न तोड़ें। आज से तुम हमारे शपथ पूर्वक मित्र हो गए–जिसे यह कह दिया जाए उसे मरते दम तक मित्र ही समझना चाहिए। चाहे वह आपको मार ही डाले, तथापि उससे अपनी ओर से द्रोह न करें।

"येनो ह समभ्यवेयात्—नास्मै द्रुह्येत्"।

लौकिक परिभाषानुसार कहा जाता है—"जो स–तानूनप्त्र है, उनके प्रति कभी द्रोह नहीं करना चाहिए। सतानूनप्त्रियों से अर्थात् जिनसे तानूनप्त्र व्यवहार हो जाए–अर्थात् शपथ–व्यवहार हो गया है–ऐसे शपथ–व्यवहारयुक्त मनुष्यों से (सतानूनप्त्रों से) कभी द्रोह नहीं करना चाहिए—

"इदं ह्याहुः न सतानूनप्त्रिणे द्रोग्धव्यमिति" ॥९॥

देवताओं ने तानूनप्त्र कर्म्म किया था–अर्थात् तनूनपात्–(वायु) की साक्षी में मिलित रूप से रहने की शपथ ली थी–एवमेव तनूनपात् में घृत हाथ में ले कर ऋत्विक् लोग भी संभूय यज्ञ करवाने की प्रतिज्ञा लेते हैं। क्यों तानूनप्त्र करना चाहिए इसकी उपपत्ति बतला दी गई है। अब पद्धति बतलाते हैं—

"अथातो गृह्णात्येव"।

देवता त्रिसत्य हैं—अतएव तीन बार बोल कर, तीन मन्त्रों से आज्य ग्रहण कर, तानूनप्त्र किया जाता है। स्थाली और ध्रुवा इन दोनों में घृत रहता है। इसमें पहले "आपतयेत्वा" इत्यादि मन्त्र से ध्रुवा में से स्रुवा द्वारा सारा घृत लेकर उससे तानूनप्त्र किया जाता है। चूँकि यह ध्रुवाज्य से किया जाता है, अतएव इस तानूनप्त्र को "ध्रुवाज्यतानूनप्त्र" कहते हैं। बाद में उत्तर के दोनों मन्त्रों से–स्थाली में से घृत लिया जाता है–अतएव उसे "स्थाल्याज्य तानूनप्त्र" कहते हैं। यद्यपि 'गृह्णाति' में एक वचन है—तथापि **"अथैतऽआज्यान्येव–गृह्णाना"** में बहुवचन दिया गया है–अतएव सभी ऋत्विजों को आज्य ग्रहण करना चाहिए। ऋत्विज पहले **"आपतये त्वा परिपतयेत्वा गृह्णामि"** इस मन्त्र से ध्रुवाज्य का ग्रहण करता है। हे आज्य ! "आपति" के लिए और "परिपति" के लिए मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। आपति प्राणवायु का नाम है। परिपति मनोवायु का नाम है।

मन में अनेक प्रकार की इच्छाएँ हुआ करती हैं। कभी लड्डू खाने की इच्छा होती है, कभी बाग–बगीचों में घूमने की इच्छा होती है। कभी नाटक देखने की इच्छा होती है। प्रश्न होता है कि मन में ये इच्छाएँ किसने पैदा कीं ? मन को इच्छा की ओर किसने प्रेरित किया ? जो इस मन को विभिन्न इच्छाओं की ओर प्रेरित करता है वह **"तनूनप्ता वायु"** है। यही मन को प्रेरित करता है। मन विकासी है। जैसे दारु (देवदारु) के कुज्जे (कोरक) में से चारों ओर फूल झड़ते हैं–वैसे ही–मन चारों ओर विकसित होकर इच्छा स्वरूप में परिणत होता है। मन सर्वतो दिक् है। इसकी कोई नियत दिशा नहीं है। जो वायु मन को परितः (सर्वत्र) अर्थात् चारों ओर सर्वतो दिक् में विकसित करता है–

उसी का नाम "**परिपति–वायु**" है। प्राण को प्रेरित करने वाला जो वायु है–उसी का नाम **आपति** है। प्राण एक तरफ उन्मुख हो कर ही अपना व्यापार करता है। प्राण–व्यापार सर्वतोदिक् नहीं होता है। तनूनप्ता वायु–परिपति एवं आपति दो स्वरूपों में बँट जाता है। यह वायु जब मन को प्रेरित करता है तब इसका नाम परिपति हो जाता है एवं प्राण को प्रेरित करते समय यह वायु आपति कहलाने लगता है। यही वायु परिपतति तो यही आपतति है इस घृत का इसी वायु के लिए ग्रहण किया जाता है। घृत वास्तव में वायु बनता है। जिस घृत को ऋत्विज लोग ग्रहण करते हैं—वह घृत अन्त में वायु बनता है। घृत अन्तरिक्ष की वस्तु है—तो पूर्वोक्त वायु भी अन्तरिक्ष की वस्तु है। दधि–घृत–मधु–अमृत ये चार ही पदार्थ हैं। दधि पृथिवी की वस्तु है। घृत अन्तरिक्ष की वस्तु है। मधु द्युलोक की वस्तु है। अमृत आपोलोक की वस्तु है। अग्नि–वायु–इन्द्र–वरुण ये चार ही देवता हैं। इन चारों के चार ही लोक हैं। चारों लोकों में चार ही पदार्थ हैं। अतएव श्रुति कहती है—

"तमभ्यनक्ति। दध्ना मधुना घृतेन दधि हैवास्य लोकस्यरूपं घृतमन्तरिक्षस्य मध्वमुष्य"—इति। (शत० ७।५।१।३)

प्रत्येक मनुष्य का प्राण–स्रोत भिन्न–भिन्न है * हमारे में जो प्राण अधिदैवत मण्डल से आते हैं—उनके स्रोत भिन्न–भिन्न हैं। जो घृत है वह कालान्तर में वायु बन जाता है। वायु अग्नि है। इसी से घृत बनता है—अतएव "**तेजो वै घृतम्**" कहा जाता है। इस घृत से बनने वाला वायु–ऋत्विजों में आने वाले प्राण–स्रोत में ही जा मिलता है। यदि ऋत्विज लोग शपथ तोड़ देते हैं–तो घृत से बना हुआ वायु–यजमान का सर्वनाश कर डालता है। चूँकि वायु–आपति–परिपति भेदेन दो प्रकार का है–इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि"।

---

* इस वक्तव्य की सम्यक् अवधारणा के लिए यह कहना समीचीन होगा कि अखिल सृष्टि का मूल तत्त्व तो एक ही है—'एको ब्रह्म द्वितीयोऽनास्ति' 'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति' इत्यादि श्रुति-वाक्यों से उसी परमसत्य का निर्देश है। तथापि एक से अनेक होने की प्रक्रिया में ही प्राणियों के नाना नाम–रूप–कर्म्म–स्वभावादि दृष्टिगत होते हैं। इसी क्रम में यह उप–स्थापन भी सन्दर्भप्राप्त है कि सारे मनुष्यों के प्राण–स्रोत भिन्न–भिन्न हैं। महानात्मा ही इस नानात्व का नियामक है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति का विकास भी उसी से है। भूत–प्रधान आकृति भाव के सम्बन्ध से तथा भूतों का जनक होने से इसी महानात्मा को भूतात्मा भी कहा गया है। कर्म्मात्मा के अहंभाव की प्रतिष्ठा भी वह महानात्मा ही है। आकृति–प्रकृति–अहंकृति का नियामक भी वही है। आकृति भूतमयी है, प्रकृति प्राणमयी है एवं अहंकृति मनोमयी है। आकृति–प्रकृति–अहंकृति के वैषम्य एवं वैविध्य के स्वरूप–निर्धारण में भूत, प्राण एवं मन तत्त्वों की ही विशद भूमिका है। महानात्मा ही इनका नियामक है तथा शुभाशुभ कर्म्मों की योनि भी वह महानात्मा ही है। एतत्सम्बन्धी विशद् विवेचन के लिए स्व० पं० मोतीलाल जी शास्त्री द्वारा रचित ईशोपनिषद् विज्ञान भाष्य एवं श्राद्ध–विज्ञान, प्रथम खंड, में महानात्मा प्रकरण द्रष्टव्य है।

याज्ञवल्क्य कहते हैं–यह जो वायु बह रहा है यही आपतति तथा यही परिपतति अर्थात् यही मन को प्रेरित करता है और–यही प्राण को प्रेरित करता है। इसी वायु के लिए ऋत्विज घृत ग्रहण करते हैं—

"यो वाऽअयं पवते–एष आ च पताति परि च पतति। एतस्माऽउ हि गृह्णाति। तस्मादाह–आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि"—इति ॥१०॥

इसके अनन्तर स्थाल्याज्य तानूनप्त्र करने के लिए–स्थाली में से स्रुवा द्वारा **"तानूनप्त्रे शाक्वराय"** कह कर घृत ग्रहण करते हैं। यह जो बह रहा है वह तनूनप्ता शाक्वर नाम का वायु है, इसी के लिए चूँकि घृत ग्रहण किया जाता है–अतएव कहा जाता है—

"तनूनप्त्रे शाक्वरायेति" ॥११॥

अध्यात्मा में प्रविष्ट जो वायु है वह परिपति और आपति कहलाता है—अधिदैस्थ वायु तनूनप्ता शाक्वर कहलाता है। अध्यात्म–अधिदेवता दोनों को ग्रहण करने के लिए–भिन्न–भिन्न नामों से आज्य ग्रहण करते हैं ॥११॥

तीसरी बार स्थाल्याज्य के लिए **"शक्वनऽओजिष्ठाय"** यह मन्त्र बोलते हुए आज्य ग्रहण करते हैं। यह वायु शक्वा है। अति बलशाली है। अप्रतिहतगति है—अतएव शक्वा कहा है। यह वायु अत्यन्त ओजिष्ठ है। शरीर–बल के अभिप्राय से इसे **शक्वा**' कहा गया है। मनोबल के अभिप्राय से **"ओजिष्ठाय"** कहा गया है। मन–प्राण दोनों इसी के आधार पर अवलम्बित है–अतएव कहा गया है—

गृह्णाति तस्मादाह शक्वनऽओजिष्ठाय" इति। ॥१२॥

इस प्रकार जब एक ऋत्विक् पूर्वोक्त मन्त्र बोलता हुआ घृत उठाता है तो तदनन्तर अन्य सारे ऋत्विक् उस घृत का स्पर्श करते हैं—

"अथातः समवमृशन्त्येव"।

क्यों दुबारा स्पर्श करें–इसका कारण बतलाते हैं। प्राण–देवता पहले एक थे–बाद में आतिथ्येष्ट्यनन्तर अलग–अलग हो गए थे। तदनन्तर पुनः वे इस तानूनप्त्र द्वारा एकत्र हुए थे। एकत्र होते समय उन्होंने यह कहते हुए तानूनप्त्र किया था अर्थात् शपथ ली थी कि–अपनी मण्डली के मध्य में जो देवता है–समृद्धशाली है, वह अगर देवताओं की मण्डली से विरुद्ध हो जाएगा तो वह देवत्व खो देगा। जो प्रतिज्ञा का अर्थात् संघशक्ति का अतिक्रमण करेगा वह अपना देवत्व खो देगा। चूँकि देवताओं ने पुनः यह कह कर दृढ़ प्रतिज्ञा की थी, अतएव ये ऋत्विक् भी दुबारा घृत का स्पर्श करते हुए–"जो ऐसा है वह वैसा हो जाएगा, प्रतिज्ञा तोड़ने वाला पूर्व–प्रतिष्ठित स्वरूप को खो बैठेगा" यह कह कर संगत होते हैं। दुबारा घृत को स्पर्श करने का यही कारण है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"एतद्ध देवा भूयः समामिरे–इत्थं नः सोऽमुथासद्–यो न एतदतिक्रामादिति। तथो एवैत एतत्सममन्ते–इत्थं नः सोऽमुथासत्–यो न एतदतिक्रामादिति" ॥१३॥

दुबारा घृत का स्पर्श क्यों करना चाहिए इसका कारण बतला दिया गया है। अब पद्धति बतलाते हैं। ऋत्विक् लोग निम्न मन्त्र से गृहीत घृत का स्पर्श करते हैं—

"अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोजोऽनभिशस्त्यभिशस्तिपा।
अनभिशस्तेन्यम् अञ्जसा सत्यमुपगेषंस्विते माऽधाः" ॥ (वा० सं० ५।५)

हे आज्य ! आप अनाधृष्य हों। अर्थात् आपका धर्षण कोई भी नहीं कर सके। आप्य प्राण का नाम असुर है। वास्तव में–घृत में पानी का कुछ भी वश नहीं चलता है। आप अनाधर्षणीय हैं। इसीलिए तो आपको—अनाधृष्ट–आक्रमणरहित—कहते हैं–

"यतः अनाधृष्यं–(अधर्षणीयम्) अतः—अनाधृष्टमसि"।

हे आज्य ! आप देवताओं के अर्थात् अग्नि के ओज हैं। यदि अग्नि मन्द होने लगे तो उसमें घृत की आहुति देने से वह पुनः पहले की तरह ही बलवान् हो प्रबल वेग से प्रज्वलित हो जाता है। मन्त्र के इसी भाग का अर्थ करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—जब तक देवता एक थे–मिलितरूप थे–तब तक अनाधृष्ट थे। परन्तु जब वे अलग–अलग थोकों (वर्गों) में बँट गए तो उनकी शक्ति क्षीण हो गई। वे असुरों से दबने लगे। ऐसे समय में घृत की अर्थात् तनूनप्ता वायु की साक्षी से ही पुनः अनाधृष्ट हो पाए। अतएव आज्य को अनाधृष्ट कहते हैं। देवता लोग इसी से अनाधर्षणीय होते हुए अपने आपको अनाधृष्ट कहने में समर्थ हुए थे। अतएव तत्साधनत्वात् यह आज्य भी अनाधृष्ट और अधर्षणीय कहलाने लग गया। किस प्रकार देवता अधर्षणीय हो गए–यह बतलाते हैं—

तनूनप्ता के सामने मिलित रूप से रहने की प्रतिज्ञा कर–सदा साथ रहते हुए–एक बात बोलते हुए एवं एक इरादा करते हुए ही देवता अनाधर्षणीय हुए थे। इससे याज्ञवल्क्य शिक्षा देते हैं कि यदि आपको परस्पर मेल रखना है–शत्रु का नाश करना है–तो निम्नलिखित नियमों का पालन करें। सदा साथ रहें। सभी कार्य्य मिल कर एक साथ करें। कभी एक दूसरे से अलग न हों। यही सह सन्तः का तात्पर्य्य है। समान ही बोलें। सबके इरादे एक हों। यह जो कहता है वह मैं ही कहता हूँ—सबके ऐसे ही भाव रहें। यही "समानं वदन्तः" का तात्पर्य्य है। सब की धारणा समान हो। अर्थात् चाहे कोई कार्य्य जायज हो या बेजा हो–उसे करने में एक के साथ सब रहें, एक का इरादा सबका इरादा हो–यही "समानं दधानाः" का तात्पर्य्य है। यदि हम अपने आप को विजयी बनाना चाहते हैं तो हमें पूर्वोक्त नियमों का पालन करना पड़ेगा। जिस दिन हम इनका पालन करने में समर्थ हो जाएँगे उसी दिन से हमारी संगठनशक्ति इतनी प्रबल हो जाएगी कि शत्रु हमारा बाल भी बाँका न कर सकेगा। इस प्रकार देवता इन नियमों का पालन करते हुए–अनाधृष्ट–अधर्षणीय हुए थे।

"अनाधृष्टा हि देवाऽआसन्, अनाधृष्याः, सहसन्तः, समानं बदन्तः, समानं दध्राणा" ।

उक्त श्रुति में यही भाव संकेतित है कि तानूनप्ता वायु को साक्षी बना कर देवता पूर्वोक्त नियमों का पालन कर अनाधर्षणीय हो गए। एवमेव हम आप का स्पर्श कर–आपको अपना साक्षी बना प्रार्थना करते हैं कि आप हमें ऐसी बुद्धि दीजिए–जिससे कि, हम इस प्रतिज्ञा को पूरी करते हुए–अनाधर्षणीय बनें।

अपि च हे आज्य ! आप देवताओं के ओज हैं। इसका तात्पर्य्यार्थ बतलाते हुए कहते हैं कि आज्य देवताओं के प्रिय शरीर हैं—इष्ट स्थान हैं। आज्य से आग्नेय प्राण प्रबल हो जाता है। भाव इसका यही है कि–हम आपका स्पर्श कर प्रतिज्ञा करते हैं कि यदि हम अपनी प्रतिज्ञा से च्युत हो जाएँ तो हमारी प्यारी से प्यारी वस्तु को आप नष्ट कर दें। शपथ की दृढ़ता के लिए हमारा आत्मा ही आपके सुपुर्द है।

"देवानामोज इति। देवानां वै जुष्टास्तन्वः प्रियाणि धामानि" ।

हे आज्य ! आप अनभिशस्ति (निन्दा रहित) हैं। आपकी निन्दा कौन कर सकता है ? आपका तो सम्पूर्ण संसार आदर करता है। यही नहीं, अपितु आप निन्दा से बचाने वाले भी हैं। जो आपके सामने सत्य प्रतिज्ञा कर–सत्य पर अटल रहता है, वह पहले यदि निन्दनीय रहा है तो भी उसकी सारी निन्दा दूर हो जाती है। जैसे अत्याचार करने वाला यदि हरिभजन (भक्ति) में लीन हो जाता है तो उसके सारे पाप कट जाते हैं–एवमेव आज्य की शरण लिए बाद सारे पाप कट जाते हैं। आज्य से शरीर में बल आ जाता है। जो मनुष्य बलिष्ठ होता है—जिसमें आत्मगौरव होता है–वह बुरे काम नहीं करता। निर्बल मनुष्य पाप किया करता है। घृत से समस्त दोष हट जाते हैं। अतएव–**"अभिशस्तिपा"** कहा गया है। सारे देवता–इसी के आधार पर निन्दा को पार कर गए थे—

"सर्वा हि देवा अभिशस्ति तीर्णाः" ।

हे आज्य ! मैं अपनी मूल वृत्ति से सत्य को प्राप्त होऊँ, यह अशीर्वाद दीजिए—

"अञ्जसा सत्यमुपगेषम्" ।

तात्पर्य्य इसका यही है कि मैं छल–कपट से शपथ नहीं ले रहा हूँ। हृदय से सत्य को स्वीकार कर रहा हूँ। हे आज्य ! मैं सत्य बोलूँगा। मिल कर रहूँगा। यह मेरी प्रतिज्ञा है। मैं कभी इसका अतिक्रमण न करूँ ऐसी कृपा कीजिए—

"सत्यं वदानि–मेदमतिक्रमिषम् इत्येवैतदाह" ।

हे आज्य ! आप मुझे अच्छे मार्ग में–अच्छी स्थिति में रखिए—

"स्विते माऽधाः इति"

मेरी प्रतिज्ञा पूरी हो जाए। मैं कभी सत्य से डिग न जाऊँ–यही आशीर्वाद दीजिए। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, जिन देवताओं ने तनूनपात् को साक्षी बना कर सत्य–भाषण किया था, सत्याचरण किया था वे इसी आज्य–महिमा से आत्म–स्वरूप को अक्षुण्ण रखने में समर्थ हुए थे। अर्थात् इसी सत्य से देवताओं की प्रतिष्ठा रह पाई थी एवं आज भी रहती है। सत्य पर चलना, सत्य बोलना, आत्मा को प्रतिष्ठित रखना है। मिथ्या बोलना–आत्मा को गिराना है। जिस प्रकार देवताओं ने सत्य बोल कर आत्मा को धारण किया था, उसी प्रकार मैं (ऋत्विक्) भी सत्य–पालन की प्रतिज्ञा पूरी कर आत्मा को श्रेष्ठ स्थिति में रख सकूँ, इसी अभिप्राय से ऋत्विक् कहता है—

"स्विते माऽधा इति" ।।१४।।

पूर्व में बतला दिया है कि, अग्नि–सोम–इन्द्र–वरुण इन चारों देवताओं ने विचार कर तनूनपात् वायु की साक्षी में अपने जुष्टतनू और प्रिय धामों को एक साथ इकठ्ठा कर इन्द्र की सन्निधि में रख दिया अर्थात् इन्द्र को शेष तीनों देवताओं ने अपना अधिपति मान लिया—

"अथ यास्तद्देवाः जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धं समवदादिरे-तदिन्द्रे संन्यदधत" ।

उक्त ब्राह्मण के प्रारम्भ में हमने बतलाया था कि रोदसी–क्रन्दसी–संयती भेदेन त्रिलोकी तीन प्रकार की होती है। ये तीनों त्रिलोकियाँ त्रैलोक्य–त्रिलोकी नाम से व्यवहृत होती हैं। इन्हीं तीनों त्रिलोकियों में अन्य भी कई त्रिलोकियाँ–मानी जाती हैं। कुल आठ प्रकार की त्रिलोकियाँ मानी जाती हैं। ये त्रिलोकियाँ–स्तौम्यत्रिलोकी, उदूढत्रिलोकी, भौमत्रिलोकी, शरीरत्रिलोकी, त्रैलोक्य त्रिलोकी इत्यादि नामों से व्यवहृत होती हैं। इन सबमें से–प्रकृत में हमें स्तौम्य त्रिलोकी और उदूढ त्रिलोकी के विषय में ही कहना है। जिसे हम पृथिवी समझ रहे हैं–वह तो पृथिवीलोक है। आकाश में जो सूर्य्य तप रहा है—वह द्युलोक है एवं इस पृथिवी और सूर्य्य के बीच का जो स्थान है–वह अन्तरिक्षलोक कहलाता है—इसी त्रिलोकी का नाम "उदूढ त्रिलोकी" है। इस प्रकार रोदसी त्रिलोकी ही उदूढ-त्रिलोकी कहलाती है।

त्रिलोकी से पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ अभिप्रेत हैं। पृथिवी के अधिष्ठाता अग्नि हैं। अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता सोम हैं। द्यौ के अधिष्ठाता–इन्द्र हैं। अतएव कहा जाता है—

"यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी वायुर्दिशां" ।

(शत० १४।६।४।२१)

इस प्रकार तीन लोक माने जाते हैं। कितने ही वैज्ञानिक सोमसम्बन्धेन एक चौथा आपोलोक और मानते हैं, जिसके लिए "अस्ति वै चतुर्थो-देवलोक आपः' (कौ. १८/२) यह कहा जाता है। यही वरुण देवता हैं। इस प्रकार एक त्रिलोकी में अग्नि–सोम–इन्द्र–वरुण–ये चार देवता हैं।

संसार के यच्चयावत् पदार्थ-सूर्य्य-चन्द्रमा-नक्षत्र-पर्वत-मनुष्य-औषधि-वनस्पति आदि समस्त जड-चेतन प्रपञ्च अग्नीषोमात्मक है। जिन वस्तुओं को हम आँखों से देखते हैं–वे सब अग्निसोमात्मक हैं। अतएव "**अग्नीषोमात्मकं जगत्**" यह कहा जाता है। यह अग्नि चित्य–चितेनिधेय भेदेन दो प्रकार का है। चित्याग्नि को मर्त्याग्नि कहते हैं—चितेनिधेय को अमृताग्नि कहते हैं। पिण्ड चित्याग्नि से बनता है। किन्तु पिण्ड का कभी न कभी नाश अवश्य ही होता है–अतएव इसे मर्त्यपिण्ड कहा जाता है। एवं जो अमृताग्नि है उसका नाश नहीं होता है। अमृताग्नि घन–तरल–विरल भेद से अग्नि-वायु–इन्द्र स्वरूपों में परिणत हो जाती है। इन्द्र को आदित्य कह सकते हैं। इस प्रकार से अग्नि और सोम में से केवल अग्नि ही, अग्नि–वायु–आदित्य बन जाता है। अन्तरिक्षस्थ होने के कारण ही वायु को सोम कह दिया गया है। अग्नि की आठ अवस्था विशेषों को ही आठ वसु कहते हैं। वायु की ग्यारह अवस्था विशेषों को ही ग्यारह रुद्र कहते हैं। आदित्य की १२ अवस्था विशेषों को ही १२ आदित्य कहते हैं। इन आदित्यों में इन्द्र ही प्रधान है। वसुओं में अग्नि तथा रुद्रों में सोम प्रधान है। इस प्रकार एक ही अग्नि के तीन अवस्था–भेद, अग्नि–सोम–इन्द्र स्वरूप से–तीन देवता कहलाने लगते हैं। यह तो हुआ अग्नि का विभाग। अब सोम–विभाग को देखिए। अग्नि के ऊपर रहने वाले सोम-मण्डल का नाम **आपोलोक** है। यह चौथा लोक कहलाता है। इस प्रकार अग्नीषोमात्मक पदार्थ के पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ–आपोलोक भेदेन चार लोक हैं। प्रत्येक पिण्ड में ये चारों लोक एवं इनके अधिष्ठाता अग्नि-सोम-इन्द्र-वरुण-ये चारों देवता रहते हैं। इन्द्र द्युलोक की वस्तु है। वह सबमें कैसे रह सकता है, इसी संशय का समाधान करती हुई श्रुति कहती है—"**एकैको वै जनतायामिन्द्रः**"।

सम्पूर्ण कथन से मानना पड़ता है कि अग्नि-सोम-इन्द्र-वरुण ये चारों देवता पृथिवी-सूर्य्य-चन्द्रमा आदि पिण्डों में ही नहीं अपितु पिण्ड मात्र में व्याप्त हैं। प्रकृत में केवल पृथिवी और सूर्य्य से ही सम्बन्ध है। सूर्य्य के **मरीचि** (पानी) से पृथिवी उत्पन्न होती है अतएव सूर्य्य प्रधान है। पृथिवी बाद में उत्पन्न होने के कारण अपेक्षाकृत गौण है। अतएव पहले सूर्य्य के सम्बन्ध में ही कहा जाता है। परन्तु इतना और समझ लेना चाहिए कि सारे ब्रह्माण्ड में—**पृथिवी–जल–तेज–वायु-आकाश**—ये पाँच महाभूत हैं। इन पञ्चभूतों में सबसे पहले आकाश है—इसे ही **स्वयम्भूमण्डल** कहते हैं। बाद में वायु है—इसे ही परमेष्ठिमण्डल कहते हैं। यहाँ पर जो कुछ है या आता है वह सब वायुमय हो जाता है। इसके बाद तेज है–इसी तेज का नाम **सूर्य्यलोक** है। यहाँ पर समस्त पदार्थ ज्योतिर्मय रहते हैं। इसके बाद पानी है—इसी का नाम **चन्द्रमण्डल** है—अतएव–"चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णोधावते दिवि" (यजुः ३३।९०) यह कहा जाता है। पाँचवाँ महाभूत पृथिवी है। इस सारे प्रपञ्च से कहना यही है कि सूर्य्य से ऊपर सर्वत्र वायु ही व्याप्त है। वायु के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यहाँ के देवता भी वायुमय ही हैं एवं जो भी इसमें आते हैं वे सभी वायुमय हो जाते हैं।

सूर्य्य में अग्नि-सोम-इन्द्र-वरुण ये चारों देवता हैं। सूर्य्य के प्रकाश–मण्डल की व्याप्ति जहाँ तक रहती है, ये चारों देवता वहाँ तक व्याप्त रहते हैं। सूर्य्य की रश्मियाँ जिस प्रकार पृथिवी की ओर आती रहती हैं उसी प्रकार सूर्य्य से ऊपर परमेष्ठि-मण्डल की ओर भी जाती हैं। इन्हीं रश्मियों के साथ

अग्नि-सोम-इन्द्र-वरुण ये चारों देवता जहाँ हमारी ओर आते हैं, वहीं परमेष्ठिलोक की ओर भी जाते हैं। चूंकि परमेष्ठिमण्डल वायुमय है अतः यहाँ जा कर ये चारों देवता वायुमय हो जाते हैं अर्थात् ये चारों देवता अपने प्रिय स्वरूपों को–प्रिय स्थानों को–तनूनपात (पारमेष्ठ्य वायु) को अर्पित कर देते हैं। यही चारों देवताओं द्वारा वायु में–अपने शरीर को अर्पण कर देने का वैज्ञानिक रहस्य है। प्रकृत में केवल पृथिवी ही अभिप्रेत होने से इस विषय का विस्तृत विवेचन सम्भव नहीं है।

सूर्य्य के नीचे की ओर आने वाले अग्नि-सोम-इन्द्र-वरुण ये चारों प्रवर्ग्य❀ हो कर पृथिवी की वस्तु बन जाते हैं। इसी प्रकार पारमेष्ठ्य वायु भी प्रवर्ग्य बन कर पृथिवी की वस्तु बन जाता है। इसी सम्पूर्ण त्रिलोकी को ही स्तौम्य त्रिलोकी कहते हैं। अग्नि-सोम-इन्द्र-वरुण इन चारों देवताओं के कारण पृथिवी में ही चारों लोकों (स्तौम्य त्रिलोकी) की व्याप्ति मान ली जाती है। अग्निलोक को पृथिवीलोक, सोमलोक को अन्तरिक्ष, इन्द्रलोक को द्युलोक एवं वरुणलोक को आपोलोक कहते हैं। जिस प्रकार सूर्य्य से ऊपर परमेष्ठी का वायु है उसी प्रकार पृथिवी के ऊपर-अन्तिम स्थान पर भी वायु का स्तर है। इसी वायु-स्तर का नाम शाक्वर-साम है। जैसे सूर्य्य अग्न षोमात्मक है, उसी प्रकार पृथिवी भी अग्नीषोमात्मक है। पृथिवी का अग्नि पृथिवी के २१ वें अहर्गण तक वितत होकर अग्नि-सोम-इन्द्र इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। इसी २१ वें अहर्गण पर भगवान् सूर्य्य प्रतिष्ठित रहते हैं।

पृथिवी में जो सोम है-वह दिक्–भास्वर भेदेन दो प्रकार का है। भास्वर सोम पृथिवी के सत्ताईसवें अहर्गण तक रहता है। दिक् सोम पृथिवी के ३३ अहर्गण तक वितत रहता है। इस प्रकार २१ अहर्गण तक तो अग्नि–सोम व इन्द्र वितत रहते हैं तथा ३३ अहर्गण तक वरुण वितत रहते हैं। ३३ अहर्गण तक वितत रहने वाला सोम वायुमय है और यही पारमेष्ठ्य **तनूनपात् वायु** है। तनूनपात् वायु ही परमेष्ठी से, प्रवर्ग्य रूप से, आ कर पृथिवी की प्रातिस्विक वस्तु बन रहा है। पृथिवी अग्निमय है। अग्नि का स्वभाव है—विशकलित कर देना–फाड़ देना। यदि पृथिवी का अन्तिम स्तर वायुमय न होता तो पृथिवीपिण्ड खण्ड–खण्ड हो जाता। परन्तु इस वायु ने पृथिवी के शरीर को एककालावच्छेदेन चारों ओर से संवरण कर रोक रक्खा है —अतएव पृथिवी के शरीर को संवरण करने वाले वायु को "**तनूनपात्–शाक्वर**" कहते हैं। **यही वराह भगवान् हैं।**

पृथिवी के साम (परिधि) का नाम **रथन्तर साम** है। रथन्तरसाम, अग्नि और दो सोमों–(दिक्–भास्वर सोम) के कारण तीन नामों से व्यवहृत होता है। पृथिवी का अग्नि जहाँ तक जाता है, उस साम (परिधि) का नाम "**रथन्तरसाम**" है। २१ वें अहर्गण पर सूर्य्य है। अग्नि इक्कीस के भी ऊपर तक चला जाता है–अतएव अग्नि के साम को रथन्तरसाम कहते हैं। सूर्य्य के रथ के **तरण** (संचरण) के कारण ही यह रथन्तर साम कहलाया है।—इसके बाद २७ अहर्गण तक भास्वर साम है। इसका नाम

❀ पिण्ड का केन्द्रस्थ अव्यय भाग, जिससे कि पिण्ड का मूल स्वरूप अविकृत भाव से प्रतिष्ठित रहता है ब्रह्मौदन कहलाता है। इस ब्रह्मौदन का जो भाग पृथक् हो जाता है, उसी को वैदिक भाषा में उच्छिष्ट या प्रवर्ग्य कहते हैं।

"वैरूप साम" है। पृथिवी से ऊपर की ओर आने वाले देवता यहाँ तक सर्वथा अलग-अलग ही रहते हैं अर्थात् २७ अहर्गण तक इनका स्वरूप सर्वथा विभिन्न रहता है। यहाँ तक ये अपने पृथक्-पृथक् प्रातिस्विक् स्वरूप में ही रहते हैं अतएव इस साम को वैरूप साम कहते हैं। इसके बाद है शाक्वर पृष्ठ। पृथिवी के अन्तिम छन्द का नाम **"शक्वरी छन्द"** है। इसीलिए कहा जाता है—

"यत्र वै वाचः प्रजातानि छन्दांसि सप्तपदा वै तेषां पराध्यां शक्वरी"।

(शत० ३।३।१।१)

यह साम चूँकि यहाँ (३३ अहर्गण) पर समाप्त होता है—अतएव इसे **शाक्वर साम** कहते हैं। यहाँ पर वही तनूनपात् वायु रहता है। यह साम वायुमय है। पूर्वोक्त कथन के अनुसार यहाँ पर आ कर सब वायुमय हो जाते हैं अतएव पृथिवी के अग्नि-सोम-इन्द्र-वरुण ये चारों देवता यहाँ आ कर विरूप भाव छोड़ कर समभाव में परिणत हो जाते हैं। इससे पूर्व ये चारों देवता अलग-अलग थोकों में बँटे हुए थे, किन्तु यहाँ वायु की साक्षी में आ कर चारों-एकमेव हो जाते हैं। शाक्वर तनूनपात् के पहले चारों विरूप रहते थे। इसी विज्ञान को समझाने के लिए-इसके पूर्व के साम का नाम विरूप (वैरूप) रक्खा जाता है। विरूप रहेंगे-तभी तो आगे चल कर सरूप रहेंगे। यहाँ जो इन्द्र तनूनपात् वायु में आ कर वायुमय हो गया है वह पार्थिव इन्द्र है, उसका सौर इन्द्र से कोई सम्बन्ध नहीं है।

पूर्व में बतलाया गया था कि-वायु को साक्षी कर देवता अपने प्रिय धामों को एकत्र कर इन्द्र को अर्थात् सूर्य्य को अपना अधिपति मान लेते हैं। इसका तात्पर्य्य यही है कि शाक्वर साम सहित पृथिवी सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती रहती है। सूर्य्य इसका भोग करता रहता है। सूर्य्य ही पृथिवी का अधिष्ठाता है। पृथिवी के शाक्वर साम में मज्जित जो वायुमय चारों देवता हैं—सूर्य्य से इनका भोग होता है। ३६० दिनों में सूर्य्य पूरे मण्डल का भोग कर लेता है। वायु की साक्षी में अपने प्रिय तनू देकर चारों देवताओं ने इन्द्र को अपना अधिष्ठाता मान लिया, इस का यही वैज्ञानिक रहस्य है। इसी को लक्ष्य में रख कर भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"अथ यास्तद्देवा जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धं समवददिरे-तदिन्द्रे संन्यदधत"।

इन्द्र से पार्थिव इन्द्र न समझ लिया जाए-इसी भ्रम को दूर करने के लिए कहा गया है—

"एष वाऽइन्द्रो-य एष तपति"।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जब तक इन चारों देवताओं का सम्बन्ध सूर्य्य से नहीं हुआ था तब तक सूर्य्य सर्वथा काला था। इन चारों के सम्बन्ध से ही सूर्य्य में **ताप-चमचमाहट-गति** और **प्रकाश** हुआ। ताप और प्रकाश, बिना घर्षण के उत्पन्न नहीं होता है और जब सूर्य्य निपट अकेला था तो घर्षण किससे होता? पृथिवी से जब चारों देवता ऊपर की ओर जाते हैं तो सौर प्राण का इनसे घर्षण हो जाता है। परिणामस्वरूप प्रकाश उत्पन्न हो जाता है। जब चारों देवताओं के साथ सूर्य्य का भोग होता है तो परि-

णाम स्वरूप सूर्य्य में तापादि चारों धर्म्म उत्पन्न हो जाते हैं। अग्नि के सम्बन्ध से सूर्य्य में ताप उत्पन्न हो जाता है। इन्द्र के सम्बन्ध से प्रकाश उत्पन्न हो जाता है। वायु के सम्बन्ध से चमचमाहट (चमक) उत्पन्न हो जाती है एवं वरुण के सम्बन्ध से किरणें अर्थात् गौ का निर्म्माण हो जाता है। सूर्य्य में चारों ही भावों का प्रत्यक्ष दर्शन होता रहता है। देवताओं के घर्षण से ही सूर्य्य में उजाला मालूम हो रहा है, अन्यथा सूर्य्य तो प्रातिस्विक रूपेण सर्वथा काला है। इसी अभिप्राय से कहा गया है—

"न ह वाऽएषोऽग्रे तताप—यथा हैवेदमन्यत्कृष्णमेवं हैवास। तेनैवैतद्वीर्येण तपति"।

इससे बतलाना यह है कि—यदि "**सत्रयाग**" ❀ हो, अर्थात् बहुत से यजमान दीक्षा लें तो उन सब में जो **गृहपति** हो, * उसी के लिए आज्य को छिड़क देना चाहिए। अर्थात् जिस आज्य का स्पर्श ऋत्विजों ने किया है उसे प्रधान यजमान पर छिड़क कर उसे ही दे देना चाहिए। प्रधान यजमान ही ऋत्विक देवताओं का इन्द्र है। सारे देवता इन्द्र के अधीन हुए थे। अतएव ये सभी ऋत्विज् उस इन्द्र-स्वरूप गृहपति को घृत सौंपते हुए उसका आधिपत्य स्वीकार करते हैं। यदि सत्रयाग न हो एवं दक्षिण यज्ञ ही हो, अर्थात् ज्योतिष्टोम ही हो तो, उसमें जो यजमान हो उसे ही घृत दे देना चाहिए। इसमें कोई विवाद नहीं है क्योंकि यजमान इन्द्र-स्थानीय है—"**इन्द्रोवैयजमानः**" (शत० ४।५।४।८) यह श्रुति प्रसिद्ध है—

"तस्माद्यदि बहवो दीक्षेरन्—गृहपतय एव व्रतमभ्युत्सिच्य प्रयच्छेयुः। स हि तेषामिन्द्रभाजनं भवति। यद्यु दक्षिणावता दीक्षेतयजमानायैव व्रतमभ्युत्सिच्य प्रयेच्छेयुः। इदं ह्याहुः—इन्द्रो यजमान इति" ।।१५।।

शाक्वर को साम क्यों कहते हैं इसका कारण बतलाते हैं। सारे देवताओं ने अपने प्रिय धामों को एक कर एक साथ सबको मिला लिया। विरूपता हटा कर सभी देवता शाक्वर वायु में मिल कर एक हो गए। सब सम हो गए अतएव उसको (वायु को) साम कहने लगे। तनूनप्त्र के सत्य से—साक्षी से—सारे देवता सम हुए हैं। वायु में जा कर—वायु की साक्षी पूर्वक—सत्य से सभी देवता सम हुए हैं—अतएव इस साम को "**सत्यसाम**" शब्द से व्यवहृत करते हैं। सारे देवताओं की समष्टि हो जाती है। यह साम चारों देवताओं की समष्टि से—मेल से—एकीभाव से—बनता है अतएव इसे "**देवजम्**" साम भी कहते हैं—

"तस्मादाहुः—सत्यं साम देवजं सामेति ।।१६।।

।। इति तानूनप्त्रब्राह्मणं समाप्तम् ।।

।। इति चतुर्थोध्याये द्वितीयं ब्राह्मणं समाप्तम् ।।

—❀—

❀ जिसमें १७ यजमान दीक्षा लेते हैं—वह "**सत्रयाग**" कहलाता है।

* गृहपति—मुख्य यजमान का नाम है, अन्य यजमान इसके तानुका होते हैं।

चतुर्थाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

'अवान्तरदीक्षा ब्राह्मण'

आतिथ्येन वै देवा इष्ट्वा । तान्त्समदविन्दत्ते तानूनप्त्रैः समशाम्यंस्तऽ-एतस्य प्रायश्चित्तिमैच्छन्यदन्योऽन्यं पापमवदन्नाह पुरावभृथात्पुनर्दीक्षामवाकल्पयं-स्तऽएतामवान्तरां दीक्षामपश्यन् ।।१।।

तेऽग्निनैव त्वचं विपल्याङ्ङ्यन्त । तपो वाऽअग्निस्तपो दीक्षा तदवा-न्तरां दीक्षामुपायंस्तद्यदवान्तरां दीक्षामुपायंस्तस्मादवान्तरदीक्षा सन्तरामङ्गु-लीराञ्चन्त सन्तरां मेखलां पर्यस्तामेवैनामेतत्सतीं पर्यास्यन्त तथोऽएवैष एतद्य-दतः प्राचीनमव्रत्यं वा करोत्यव्रत्यं वा वदति तस्यैवैतत्प्रायश्चित्तिं कुरुते ।।२।।

सोऽग्निनैव त्वचं विपल्यङ्ङ्यते । तपो वाऽअग्निस्तपो दीक्षा तदवान्तरां दीक्षामुपैति सन्तरामङ्गुलीरचते सन्तरां मेखलां पर्यस्तामेवैनामेतत्सतीं पर्यस्यते प्रजामु हैव तद्देवा उपायन् ।।३।।

तेऽग्निनैव त्वचं विपल्याङ्ङ्यन्त । अग्निर्वै मिथुनस्य कर्ता प्रजनयिता तत्प्रजामुपायन्त्सन्तरामङ्गुलीराञ्चन्त सन्तरां मेखलां तत्प्रजामात्मन्नकुर्वत तथोऽ-एवैषऽएतत्प्रजामेवोपैति ।।४।।

सोऽग्निनैव त्वचं विपल्यङ्ङ्यते । अग्निर्वै मिथुनस्य कर्ता प्रजनयिता तत्प्रजामुपैति सन्तरामङ्गुलीरचते सन्तरां मेखलां तत्प्रजामात्मन्कुरुते ।।५।।

देवानामु ह स्म दीक्षितानाम् । यः समिद्धारो वा स्वाध्यायं वा विसृज्यते तं ह स्मेतरस्यैवेतरं रूपेणेतरस्येतरमसुररक्षसानि जिघांसन्ति ते ह पापं वदन्त उपसमेयुरिति वै मां त्वमचिकीर्षीरिति माजिघांसीरित्यग्निर्हैव तथा नान्यमुवा-दाऽग्नि तथा नान्यः ।।६।।

ते होचुः । अपीत्थं त्वामग्नेऽवादिषूः३इति नैवाहमन्यं न मामन्य इति ।।७।।

तेऽविदुः । अयं वै नो विरक्षस्तमोऽस्यैव रूपमसाम तेन रक्षांस्यतिमोक्ष्यामहे तेन स्वर्गं लोकं समश्नुविष्यामहऽइति तेऽग्नेरेव रूपमभवंस्तेन रक्षांस्यत्यमुच्यन्त तेन स्वर्गं लोकं समाश्नुवत तथोऽएवैष एतदग्नेरेव रूपं भवति तेन रक्षांस्यतिमुच्यते तेन स्वर्गं लोकं समश्नुते स वै समिधमेवाभ्यादधदवान्तरदीक्षामुपैति ॥८॥

स समिधमभ्यादधाति । अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा इत्यग्निर्हि देवानां व्रतपतिस्तस्मादाहाग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा इति या तव तनूरियं सा मयि यो मम तनूरेषा सा त्वयि । सह नौ व्रतपते व्रतानीति तदग्निना त्वचं विपल्यङ्ङ्यतेऽनु मे दीक्षां दीक्षापतिर्मन्यतामनु तपस्तपस्पतिरिति तदवान्तरां दीक्षामुपैति सन्तरामङ्गुलीरचते सन्तरां मेखलां पर्यस्तामेवैनामेतत्सतीं पर्य्यस्यते ॥९॥

अथैनमतो मदन्तीभिरुपचरन्ति । तपो वाऽअग्निस्तपो मदन्त्यस्तस्मादेनं मदन्तीभिरुपचरन्ति ॥१०॥

अथ मदन्तीरुपस्पृश्य । राजानमाप्याययन्ति तद्यन्मदन्तीरुपस्पृश्य राजानमाप्याययन्ति वज्रो वाऽआज्यं रेतः सोमो नेद्वज्रेणाज्येन रेतः सोमं हिनसामेति तस्मान्मदन्तीरुपस्पृश्य राजानमाप्याययन्ति ॥११॥

तदाहुः यस्माऽएतदाप्यायनं क्रियतऽआतिथ्यं सोमाय तमेवाग्रऽआप्याययेयुरथावान्तरदीक्षामथ तानूनप्त्राणीति तदु तथा न कुर्याद्यज्ञस्य वाऽएवं कर्मात्र वाऽएनान्त्समदविन्दत्ते संशममेव पूर्वमुपायन्नथावान्तरदीक्षामथाप्यायनम् ॥१२॥

तद्यदाप्याययन्ति । देवो वै सोमो दिवि हि सोमो वृत्रो वै सोम आसीत्तस्यैतच्छरीरं यद्गिरयो यदश्मानस्तदेषोऽशाना नामौषधिर्जायतऽइति ह स्माह श्वेतकेतुरौद्दालकिस्तामेतदाहृत्याभिषुण्वन्ति तां दीक्षोपसद्भिस्तानूनप्त्रैराप्यायनेन सोमं कुर्वन्तीति तथो ऽएवैनामेष एतद्दीक्षोपसद्भिस्तानूनप्त्रैराप्याययेन सोमं करोति ॥१३॥

मधु सारघमिति वाआहुः । यज्ञो ह वै मधुसारघमथैतऽएव सरघो मधुकृतो यदृत्विजस्तद्यथा मधु मधुकृत आप्याययेयुरेवमेवैतद्यज्ञमाप्याययन्ति ॥१४॥

यज्ञेन वै देवाः । इमां जितिं जिग्युर्यैषामियं जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यं स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम ॥१५॥

तद्वाऽऋषीणामनुश्रुतमास । ते यज्ञं समभरन्यथायं यज्ञः सम्भृत एवं वाऽएष यज्ञं सम्भरति यो दीक्षते वाग्वै यज्ञस्तद्यदेवात्र यज्ञस्य निर्धीतं यद्विदुग्धं तदेवैतत्पुनराप्याययति ॥१६॥

ते वै षड्भूत्वाप्याययन्ति । षड्वा ऋतव ऽऋतव एवैतद्भूत्वाप्याययन्ति ॥१७॥

तऽआप्याययन्ति । अंशुरंशुष्टे देव सोमाप्यायतामिति तदस्याशुंमंशुमेवाप्याययन्तीन्द्रायैकधनविदऽइतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्रायेत्येकधनविदऽइति शतं-शतं ह स्म वाऽएष देवान्प्रत्येकैक एवांशुरेकधनानाप्यायते दश-दश वा तुभ्यमिन्द्रः प्यायतामा त्वमिन्द्राय प्यायस्वेतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता सा यैव यज्ञस्य देवता तामेवैतदाप्याययत्या त्वमिन्द्राय प्यायस्वेति तदेतस्मिन्नाप्यायनं दधात्याप्याययास्मान्त्सखीन्त्सन्या मेधयेति स यत्सनोति तत्तदाह यत्सन्येत्यथ यदनुब्रूते तदु तदाह यन्मेधयेति स्वस्ति ते देव सोम सुत्यामशीयेत्येका वाऽएतेषामाशीर्भवत्यृत्विजां च यजमानस्य च यज्ञस्योदृचं गच्छेमेति यज्ञस्योदृचं गच्छानीत्येवैतदाह ॥१८॥

अथ प्रस्तरे निह्नुवते । उत्तरतउपचारो वै यज्ञोऽथैतद्दक्षिणेवान्वित्याप्याययन्त्यग्निर्वै यज्ञस्तद्यज्ञं पृष्ठतः कुर्वन्ति तन्मिथ्याकुर्वन्ति देवेभ्य आवृश्चयन्ते यज्ञो वै प्रस्तरस्तद्यज्ञं पुनरारभन्ते तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिस्तथो हैषामेतन्न मिथ्याकृतं भवति न देवेभ्य आवृश्च्यन्ते तस्मात्प्रस्तरे निह्नुवते ॥१९॥

तदाहुः । अक्ते निह्नुवीरा३ नक्ता३इत्यनक्ते हैव निह्नुवीरन्न नुप्रहरणं ह्यवाक्तस्य ॥२०॥

ते निह्नुवते । एष्टा रायः प्रेषे भगायऽऋतमृतवादिभ्य इति सत्यं सत्यवादिभ्य इत्येवैतदाह नमो द्यावापृथिवीभ्यामिति तदाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां निह्नुवते ययोरिदं सर्वमधि ॥२१॥

अथाह समुल्लुप्य प्रस्तरम् । अग्नीन्मदन्त्यापा३इति मदन्तीत्यग्नीदाह ताभिरेहीत्युपर्युपर्यग्निमतिहरति स यन्नानुप्रहरत्येतेन ह्यत ऊर्ध्वान्यहानि प्रचरिष्यन्भवत्यथ यदुपर्युपर्यग्निमतिहरति तदेवास्यानुप्रहृतभाजनं भवति तमग्नीधे प्रयच्छति तमग्नीन्निदधाति ॥२२॥

[**अनुवाद**] आतिथ्येष्टि के अनन्तर पहले तानूनप्त्रेष्टि होनी चाहिए अथवा अवान्तर दीक्षेष्टि होनी चाहिए—इसमें कामचार है । किसी नई उपस्थापना की भूमिका बाँधने के लिए बात कुछ बतलानी होती है किन्तु उस बात को स्थापित करने के लिए कुछ इतर भूमिका भी बाँधनी पड़ जाती है । एक वाक्य के अनन्तर उससे सम्बन्ध-योजक जो अगला वाक्य बोला जाता है, उसका पूर्ववर्ती वाक्य से सम्बन्ध ही "संगति" कहलाता है । संगति कुल छह प्रकार की होती है—(१) सप्रसंग (२) उपोद्घात (३) हेतुता (४) अवसर (५) निर्वाहैक्य तथा (६) कार्यैक्य । इन छहों संगतियों की मर्यादा के बाहर श्रुतियाँ कभी नहीं जातीं । इसे न समझने के कारण ही विद्वन्मन्य वेद में पुनरुक्ति-दोष का आक्षेप लगाते हैं जो बौद्धिक प्रलाप मात्र है । यज्ञान्त में जो स्नान होता है उसे "अवभृथ स्नान" कहते हैं । दीक्षित देवता को प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि अवभृथ स्नान पर्य्यन्त मैं दीक्षित व्रतों (नियमों) का उल्लंघन नहीं करूँगा—"अवभृथ पर्य्यन्त सत्यमेव वदिष्यामि" । किन्तु देवताओं ने इस प्रतिज्ञा को भंग कर डाला । प्रतिज्ञा लेना स्वयं में ही दोष है, उसे भंग करना तो दोष की पुनरावृत्ति है । इन दोनों दोषों के प्रयिश्चित के लिए देवताओं को पुनः दीक्षा लेनी पड़ती है । इसीलिए इसे "अवान्तर दीक्षा" कहते हैं । प्राण-देवताओं ने नानूनप्त्र के साक्ष्य में प्रायश्चित्त के लिए अवान्तर दीक्षा ली थी—"त एतामवान्तरां दीक्षामपश्यन्" ॥१॥

भौम देवताओं ने अवान्तर दीक्षा में अग्नि से अपनी त्वचा को चारों ओर से वेष्टित कर लिया अर्थात् वे अग्निमय बन गये ।

अग्नि तापयुक्त होने से तप-स्वरूप ही है तथा तप ही दीक्षा है अतः अग्निमय हो कर देवता तप में दीक्षित हो गये । इस दीक्षा में देवताओं ने अंगुलीन्यञ्चन किया अर्थात् दोनों हाथों की अंगुलियों को एक दम मोड़ लिया तथा मेखला का बन्धन भी किया अर्थात् शिथिल हुई मेखला को पुनः जोर से कस कर बाँध लिया । मेखला को कस कर बाँध लेना कर्म में सन्नद्ध होना है । देवताओं का अनुकरण करते हुए यजमान को भी अपने ज्ञात-अज्ञात मिथ्या-

भाषण एवं मिथ्या-कर्म आदि व्रत-भंगों के प्रायश्चित्त के लिए अवश्य ही अवान्तर दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए—"यदतः प्राचीनमव्रत्यं वा करोति, अव्रत्यं वा वदति। तस्यैवैतत्प्रायश्चित्तिं कुरुते ।।२।।

अग्नि और दीक्षा समानधर्म्मा हैं अतः अग्नि का आत्मसात् करना अवान्तर दीक्षा को अंगीकार करना है। प्रायश्चित्त से दोषाक्रान्त आत्मा पुनः स्वच्छ हो कर नया जन्म धारण कर लेता है। सन्तों और सन्यासियों के जीवन-चरित्र ऐसे ही नये जन्म के निदर्शन हैं। देवताओं के ही अनुकरण पर यजमान ने भी अवान्तर दीक्षा ग्रहण कर तानूनप्त्रादि विधि से दोषों से छुटकारा पा कर प्रजा को अर्थात् नये जन्म को प्राप्त किया—

"प्रजामु हैव तद् वा उपायन्" ।।३।।

अग्नि ही मिथुन का—दाम्पत्य-सम्बन्ध का—कर्ता है और यही प्रजनयिता है। रस-असृक्-मेद्य-मज्जा-मांस-शुक्र आदि सप्त धातुएँ अग्नि के चयन (चिनाव) से ही बनती हैं। सोम अर्थात् शुक्र तो स्त्री है और अग्नि अर्थात् असृक् पुरुष है। स्त्री के रुधिर में काम रहता है। स्त्री के रुधिर का निर्माण मंगलग्रह से होता है। मकर राशि में मंगल उच्च होता है।

इसीलिए स्त्री के काम को "मकरध्वज" कहते हैं। पुरुष का वीर्य्य शुक्र ग्रह से बनता है। शुक्र मीन में उच्च होता है अतः पुरुष के काम को "मीनध्वज" कहते हैं। शुक्र-शोणित सम्बन्ध का नाम ही मिथुन-भाव है, जिस का कर्ता अग्नि ही है। अग्नि में सोमाहुति से ही सृष्टि होती है। अतएव अग्नि को "प्रजनयिता" कह सकते हैं। देवताओं ने ऐसे प्रजनयिता अग्नि को आत्मसात् कर अपना नया जन्म धारण किया था—"तत् प्रजामुपायन्"। देवताओं की भाँति ही यजमान भी अवान्तर दीक्षा ग्रहण करता हुआ दिव्यभाव-रूपी नये जन्म को प्राप्त होता है—तथो एवैष (यजमानः) एतत् प्रजामेवोपैति ।।४।।

अग्नि को आत्मसात् करके तप करना दिव्यात्मा को ही आत्मसात् करना है। यह दिव्य-भाव ही यजमान को स्वर्ग में ले जाएगा। यजमान का अपनी मेखला (मूँज के कटि-बन्ध) को कसना तथा मुट्ठी बाँधना क्रमशः कार्य हेतु सन्नद्ध होना एवं संकल्प और कर्म को वशीकृत (मुट्ठी में) कर लेने का सूचक है—"सन्तरामङ्गुलीरचते, सन्तरां मेखलाम् (पर्य्यस्यते)। तत् प्रजामात्मन् कुरुते ।।५।।

सोम-यज्ञ में ये चार ऋत्विक् प्रधान होते हैं—(१)-होता (२)-अध्वर्यु (३)-उद्गाता (४)-ब्रह्मा। तीन-तीन ऋत्विक् इनके नायब (उपकर्म्मी) होते हैं। इस प्रकार कुल सौलह ऋत्विक् होते हैं जिनमें १७ वें यजमान को मिला कर कुल १७ ऋत्विक् हो जाते हैं—"यजमान सप्तदशा ऋत्विजो भवति"।

"क" शब्द से व्यवहृत होने वाला प्रजापति "अनिरुक्त" प्रजापति कहलाता है। "प्रजापतिश्चरति गर्भे (महानारा० उ० १।१) तथा "ईश्वरः सर्वभूतानां" (महानारा० उ० १७।५) ये दोनों श्रुतियाँ क्रमशः अनिरुक्त और निरुक्त प्रजापति का स्वरूप बतला रही हैं। अनिरुक्त प्रजापति ही पदार्थ पर आक्रान्त हो कर "निरुक्त (सर्व अथच विशिष्ट, महिमामण्डल युक्त) प्रजापति कहलाने लगता है। इन दोनों का मध्यवर्ती, "उद्गीथ प्रजापति" कहलाता है। ३३ अहर्गण की केन्द्रीभूत शक्ति का नाम ही उद्गीथ प्रजापति है जो १७वें अहर्गण पर स्थित होने से "सप्त दश प्रजापति नाम से भी प्रसिद्ध है। यद्यपि अग्नि की गति २१ अहर्गण तक है तथापि उसकी प्रातिस्विक स्थिति १७ वें अहर्गण तक ही है। इस सप्तदशस्थ आहवनीय अग्नि में यदि सोम आहुत न हो तो नीचे के १६ हों अहर्गण तत्काल ही नष्ट हो जाएँ। यह १७ वाँ प्रजापति ही यज्ञ में यजमान स्थानीय है। इसी से सब ऋत्विजों का ऋत्वित्व रहता है। सभी ऋत्विजों के पृथक्-पृथक् कर्म नियत हैं। जो ऋत्विक् अग्नि में समिधाधान करता है उसे "समिद्-हरति"–इस व्युत्पत्ति से "समिद्धार" कहते हैं। जो ऋत्विक् मन्त्र बोलता है उसे "प्रवचनकार" कहते है। असुर इनमें घुस कर इन्हें एक दूसरे के रूप से मारना चाहते है। समिद्धार आदि ऋत्विजों में गाली-गलौज (अपशब्दों का प्रयोग) होना ही असुर-प्राणों का प्रविष्ट होना है। असुर आक्रमण ऋत्विजों में ही होता है। आहवनीय अग्नि में असुरों की दाल नहीं गलती अतः न तो अग्नि ने किसी को और न अग्नि को ही किसी ने अपशब्द कहे—"अग्निर्हैव तथा नान्यमुवादाग्निं तथा नान्यः ।।६।।

जब ऋत्विजों ने आहवनीयाग्नि से प्रश्न किया कि हे अग्निं ! क्या आप से भी असुरों ने कुछ कहा है? तो अग्नि का उत्तर था कि न मैंने किसी से कुछ कहा और न किसी ने मुझसे कुछ कहा। तात्पर्य्य यही है कि अग्नि और तम दोनों नितान्त विरोधी पदार्थ हैं इसीलिए आहवनीय अग्नि में असुरों का कदापि प्रवेश नहीं होता—

"त्वामग्नेऽवादिषूः (असदाः) । नैवाहमन्यं न मामन्य इति ।।७।।

ऋत्विजों में अग्नि सर्वथा विरक्षस्तम (सुरक्षित, अक्षुण्ण) है। इसमें असुर प्रविष्ट नहीं हो सकते। पृथिवी से जो अग्नि निकलती है वह आहवनीय है। इसकी १७ विभक्तियाँ हैं। इन १७ अग्नियों में से जो आहवनीय अग्नि है उसके अतिरिक्त अन्य १६ अग्नियाँ भी १७ वें अहर्गणस्थ प्राजापत्य से बद्ध रहने के कारण विरक्षा ही हैं तथापि उनमें प्राजापत्य से निम्न स्थिति के कारण असुर प्राणों का प्रवेश हो जाता है। फिर भी प्राजापत्य से बद्ध रहने के कारण असुर आक्रमण मात्र ही कर पाते हैं, इसका बिगाड़ कुछ नहीं सकते।

चयनयज्ञ एवं सोमयागादि से ही १७ वें अहर्गणस्थ सप्तदशस्वर्ग की प्राप्ति होती है– "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामोयजेत"। आहवनीयवत् १६ ऋत्वजाग्नियों की सत्ता पृथिवी से उच्छिन्न न होने पर भी उनका उक्त स्वर्ग से-अमृतलोक से—सम्बन्ध बना रहता है—"स्वर्ग

समाश्नुक्ते"। इन ऋत्विजों ने भी तप से अग्निरूप हो कर असुरों का संहार कर, स्वर्ग को प्राप्त कर लिया-"तेन स्वर्गलोकं समाश्नुवते"। यजमान भी प्राकृतिक देवताओं की भाँति अग्नि को आत्मसात् कर, अग्निमय हो कर, इसी आहवनीय दिव्याग्नि के बल पर स्वर्ग का भोग करता है। अवान्तर-दीक्षा के कर्म्मों में समिधाधान ही सबसे प्रमुख कर्म्म है उसी से असुर-भाव का नाश होता है अतः उसी से अवान्तर दीक्षा का सम्पन्न होना मान लिया जाता है—"स वै समिधमेवाध्यादधदवान्तरदीक्षामुपैति" ॥८॥

वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-मन ये पाँचों देवता हैं। इन पाँचों में आहवनीय अग्नि ही प्राण तत्त्व है। इस आहवनीयाग्नि (प्राणाग्नि) में ही असुर नहीं घुस पाते, अन्य सभी अग्नियों में तो असुर-प्राण का प्रवेश हो जाता है। वाक् में असुर और दैव, दोनों भाव रहते हैं। इसीलिए आहवनीयाग्नि में समिधा आहुत करते हुए तथा अग्नि को देवताओं के व्रतपति रूप से सम्बोधित करते हुए अध्वर्यु अग्नि से आत्मसात् होने एवं दीक्षा-व्रत के पालन का सामर्थ्य प्रदान करने की प्रार्थना करता है। अवान्तर दीक्षा लेते हुए यजमान, ऐसे ही संकल्प से प्रेरित हो, अंगुलीन्यञ्चन करता हुआ, पहले से ही लिपटी मेखला को और भी कस कर बाँध लेता है—

"सन्तरामङ्गुलीरचते, सन्तरां मेखलां पर्यस्तामेवैनमेतत्सतीं पर्यस्यते" ॥९॥

अवान्तर दीक्षा के अनन्तर ऋत्विक् गरम पानी (मदन्ती) से सोम का उपचार (सोमवल्ली का प्रक्षालन) करता है। गरम से इसलिए कि अग्नि तप-स्वरूप, तप-धर्म्मा है, उधर मदन्ती भी गरम होने से तप-स्वरूप ही है एवं स्वयं यजमान भी दीक्षानन्तर तपोमूर्ति हो गया है अतः उष्णजल से सोम का उपचार ही विहित है। मदन्ती से उपचार होने पर ही सोम का तपोबल क्षीण नहीं होता, बल्कि उसमें वृद्धि ही होती है—

"तस्मादेनं मदन्तीभिरुपचरन्ति" ॥१०॥

"राजावाजोग्रहो हविः" भेदेन सोम के चार प्रकारों में से वल्ली-सोम "राजासोम" है। गरम पानी के स्पर्श से ही इसका आप्यायन (तुष्टि-पुष्टि कर्म्म) किया जाता है क्योंकि आज्य (घृत) वज्र स्वरूप है और सोम रेतस्-रूप है। सोम की आहुति से ही नया दिव्यात्मा उत्पन्न होता है। यदि रेतस् सोम से आज्य-स्वरूप वज्र का सम्बन्ध हो जाए तो सोम की प्रजनन-शक्ति ही मारी जाए। तानूनप्त्र कर्म्म करते समय हाथ में घृत लेने से उत्पन्न आज्य-विद्युत् के प्रभाव को हटाना भी मदन्ती (गरम पानी) से सोम का आप्यायन करने पर ही संभव है। अग्नि मिथुन-भाव कर्ता एवं प्रजनयिता है। दिव्यात्मा की सृष्टि के लिए दाम्पत्य सम्बन्धों में शीतलता बाधक है क्यों कि दाम्पत्य-सम्बन्ध अग्नि पर ही निर्भर है। इसीलिए उष्ण (न कि शीतल) जल से सोम का आप्यायन ही विहित है। इससे दाम्पत्य-सम्बन्ध भी शिथिल या शीतल नहीं होते तथा आज्य की हिंसक शक्ति का भी दमन हो जाता है—
"तस्मान्मदन्तीरुपस्पृश्य राजानमाप्याययन्ति" ॥११॥

अवान्तर दीक्षा तथा आतिथ्य–कर्म्म भी सोम का आप्यायन ही है क्यों कि इन से भी सोम की पुष्टि होती है तथा वह तपोमय हो जाता है। अतः कई महर्षियों की दृष्टि में क्रमशः आतिथ्येष्टि, अवान्तर दीक्षा तथा तानूनप्त्र कर्म्म किए जाने अभीष्ट हैं। किन्तु याज्ञवल्क्य का कहना है कि देवताओं में अवभृत् (सोमभृत) स्नान से पहले ही कलह हो गया था अतः उस दोष की शान्ति के लिए पहले तानूनप्त्र कर्म्म ही करना चाहिए और उसके पश्चात् ही अवान्तर दीक्षा सम्पन्न की जानी चाहिए—"पूर्वमुपायन् (कलहोपशमनरूपतानूनप्त्रं पूर्वं कृतवन्तः इतिभावः) अथावान्तर दीक्षाम् अथाप्यायनम्" ॥१२॥

"दिविसोम आसीत्" एवं "देवो वै सोमः" प्रमाण से सिद्ध है कि सोम भी देवता है। इन्द्र ने "विश्वरूप" नामक असुर का घात कर डाला था जिस पर उसके पिता "त्वष्टा" ने क्रुद्ध हो इन्द्र को मारने के लिए यज्ञ किया, जिससे "वृत्र" नामक महाबली असुर उत्पन्न हुआ। द्रोणकलश के सोम से वृत्र का निर्म्माण होने से वृत्र सोममय है–"वृत्रो वै सोम आसीत्"। इन्द्र अर्थात् सूर्य्य ने सोम में घुसे हुए आप्यप्राण–स्वरूप तमोमय असुर (वृत्र) को खण्ड-खण्ड कर विनष्ट कर डाला। अर्थात् सूर्य्य में आते हुए परमेष्ठीमण्डल के सोम को सूर्य्य-रश्मियाँ (वज्र) चूर-चूर कर डालती हैं–यही तात्पर्य्य है। यह विभक्त सोम ही पत्थर बनता है– "सोममद्रौ"। ध्रुव सोम से ही त्रिककुदादि पर्वत बने हैं। वृत्र–प्राण मिश्रित सोम ही 'अशाना' वल्लरी नामक औषधि बन कर उत्पन्न होता है। उद्दालक महर्षि के पुत्र श्वेतकेतु ने परीक्षण से ज्ञात किया कि वृत्र–वध में इन्द्र द्वारा प्रयुक्त त्रिककुद गिरि ही अशाना नामक औषधि–लता काउत्पत्ति–स्थल है। सोम वल्लरी के त्वक् आदि असुर भाग को कूट कर रस–भाग युक्त मूल सोम का निष्कर्षण करते समय, कूटने से सोम भी आहत हुआ। उस घात (क्षति) को मिटाने के लिए ही मदन्ती (गरम पानी) से सोम का उपचार कर उसका आप्यायन किया जाता है—"एतद्दीक्षोपसद्भिस्तानूनप्त्रैराप्यायनेन सोमं करोति" ॥१३॥

सोम के आप्यायन का एक और भी कारण है। लोक में पदार्थों का रस, रूप आदि वर्णित करने के लिए उन्हें अन्य नामों (संज्ञाओं) से सादृश्यत्वेन व्यक्त किया जाता है, जैसे आम को मिश्री की डली कहना। इसी विधि से यज्ञ को "मधु सारघ" कहा जाता है। मधुर रस मात्र (युक्त प्रत्येक पदार्थ) ही मधु है। सारघ (मधुमक्खियों द्वारा निर्गत मधु) ही ऐसा मधु है जिसमें एक से अधिक पदार्थों (विभिन्न पुष्पों–कलियों) का एकत्र सञ्चित रस निहित है। "सरन् सघ्नन्ति" व्युत्पत्ति से ही इसे "सारघ" कहा जाता है। प्राकृतिक प्राण–देवताओं के यज्ञ में भी तीनों लोकों का रस सम्मिलित रहता है। प्रत्येक पिण्ड में भी स्तौम्य त्रिलोकी पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-आपः–ये चार लोक अवस्थित रहते हैं। सूर्य्य, पृथिवी, चन्द्रमादि यच्च-यावत् पिण्डों में ये चारों लोक रहते हैं। प्रत्येक पिण्ड का हृदयस्थ आत्म–प्रजापति भी अपने पिण्ड–यज्ञ में शामिल रहता है। इन चारों लोकों के रसों को प्राण-ऋत्विक् एकत्र कर उससे यज्ञ–मधु तैय्यार करता है। पूर्ववर्ती प्रकरणों में परिगणित ३३ देवता ही तीनों लोकों के

मधु को चूस कर पिण्ड में समाहित करते हैं। इसीलिए इन तेतीस प्राण–देवताओं को सारघ (मधुमक्षिकाएँ) तथा यज्ञ को "मधु–सारघ" कहा गया है। तथैव मानुष–यज्ञ में भी ऋत्विक् ब्राह्मण ही सारघ हैं, जो नाना पदार्थों (यज्ञ-सामग्री) से रस का निकर्षण कर यज्ञ का सम्भरण करते हैं—"तद्यथा मधु मधुकृत आप्याययेयुः एवमेवैतद्यज्ञमाप्याययन्ति" ॥१४॥

सोम–यज्ञ की महिमा के कारण ही तेतीसों देवताओं ने अपराजेयत्व प्राप्त कर तीनों लोकों में सर्वत्र अपना अधिकार स्थापित कर रखा है। सोम की आहुति न हो तो प्राण-स्वरूप ये देवता उसी पल उच्छिन्न हो जाएँ। मनुष्यों से यज्ञ-रहस्य को गोपन रखने के लिए प्राण–देवता मधुमक्षिकाओं की भाँति ही यज्ञ के सार-भाग (मधु) का अवशोष (विदोहन) कर उसे यूप (योपन-साधनत्वात् यूप)–रूपी सूर्य्य की ओट में छुपा कर अन्तर्हित हो गए। पारमेष्ठ्य सोम ही यज्ञ का सार-भाग (मधु) है, जो हम जैसे सामान्य मनुष्यों की दृष्टि से ओझल है। योपन-साधनत्वात् ही सूर्य्य को " यूप" कहा जाता है—"विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्। अथ यदनेनायोपयन्। तस्माद्यूपो नाम ॥१५॥

ब्रह्म और क्षत्र—ब्रह्म की ये दो विभूतियाँ हैं। इनमें से प्रत्येक चार भागों में विभक्त हैं। क्षत्र के चार विभाग हैं–राजा, सम्राट्–स्वराट्–विराट्। इन चारों विभागों में से प्रत्येक के पुनः दो-दो उप-विभाग हैं। स्वराट् के भी दो उप-विभाग हैं —इन्द्र एवं महेन्द्र। इन्द्र ने वृत्र को मार कर ही महेन्द्र की उपाधि प्राप्त की थी—"इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा महेन्द्रोऽभवत्"। क्षत्र–वीर्य्य की भाँति ही ब्रह्म-वीर्य्य भी–ब्राह्मण–विप्र–ऋषि–देवता—इन चार भागों में विभक्त है। इस "ब्रह्मचतुष्पदी" में देवता तो सिद्धावस्था में हैं, ऋषियों ने ही यज्ञ-विद्या का आविष्कार किया था। ऋषि-प्रणीत पद्धति के अनुसार ही यजमान भी यज्ञ करता है। त्रिलोकी में व्याप्त इन्द्रवाक् पर ही अग्नीषोमात्मक यज्ञ प्रतिष्ठित रहता है। इसीलिए "वाक्" को यज्ञ कहा जाता है—"वाग् वै यज्ञः"। इन्द्र, सोम को चूस लेता है। संभव है, हमारे यज्ञ के सारभाग (सोम) को भी इन्द्र-प्राण ने चूस लिया हो, उसी की क्षति-पूर्ति करने के लिए सोम का आप्यायन किया जाता है—

"तदेवैतत्पुनराप्याययति" ॥१६॥

सोमाप्यायन के लिए छह ऋत्विक् ही क्यों होने चाहिए इसका कारण यह है कि पृथिवी के केन्द्र से लगाकर २१ अहर्गण तक वितत अग्नि के मण्डल (संवत्सरमण्डल) में छह ऋतुएँ होने से संवत्सराग्नि छह अवयवों में विभक्त हैं। ये छहों ऋतुएँ पारमेष्ठ्य सोम को आप्यायित करती रहती हैं। अतः प्रकृति-यज्ञानुसार मानुषयज्ञ में भी षड्-ऋतुओं के स्थानापन्न छह ऋत्विक् ही सोमाप्यायन करते हैं–"ऋतवएवैतद्भूत्वा आप्याययन्ति" ॥१७॥

"अंशुरंशुष्टे देव सोमाप्यायताम्"—इस मंत्र से ऋत्विक् सोम का आप्यायन करते हैं। सोम-वल्ली के प्रादेशमात्र टुकड़े किए जाते हैं क्यों कि प्राण भी प्रादेशमित ही माने गये

हैं। ये टुकड़े ही "अंशु" हैं। मंत्र-वाक् का स्फुरण सोम से ही होता है। मंत्रों में पूर्वापर-क्रम जिस मेधा से निर्णीत होता है, वह मेधा भी सोम-प्रदत्त है। इसीलिए सोम के लिए "मेधया' कहा गया है। सोम के अनुग्रह से ही "सुत्या" सम्पन्न होती है। ऋत्विक् और यजमान, दोनों की यही कामना रहती है कि वे यज्ञ की सकुशल समाप्ति निर्विघ्न रूप से कर सकें—"ऋत्विजां च यजमानस्य च यज्ञस्योदृचं गच्छेम" ॥१८॥

सोम के आप्यायन के अनन्तर यजमान दोनों हाथ जोड़े हुए, वेदी पर रखे "प्रस्तर" (कुशामुष्टि) का स्पर्श कर "अथ प्रस्तरे निह्नवते" मंत्र से अपने अपराध के लिए क्षमा-याचना करता है। पार्थिव देवता गार्हपत्याग्नि से यजमान का शरीर एवं सौर-देवता आहवनीयाग्नि से उसका आत्मा बना हैं। आप्यायन-कर्म्म में होता-अध्वर्यु-उद्गाता-यजमान के अपने-अपने स्थान (आसन) नियत हैं। यज्ञ में अग्नि दक्षिण से उत्तर (नीचे से ऊपर) की ओर जाता है तथा इसके विपरीत सोम उत्तर से दक्षिण (ऊपर से नीचे) की ओर आता है। सोम का अपना स्थान दक्षिण में है अतः ऋत्विकों को सोम का आप्यायन करने के लिए दक्षिण में आना पड़ता है। ऐसा करते हुए उन्हें गार्हपत्याग्नि की ओर पीठ करनी होती है, उसे पृष्ठभाग में रखना होता है। इसलिए वे अनचाहे ही सही, किन्तु अकृत (मिथ्या) कर्म्म के दोषी हो जाते हैं। फलतः ऋत्विजों की आत्मा से गार्हपत्याग्नि स्वरूप पार्थिव देवता वियुक्त हो जाते हैं। हवि का आधार होने से यज्ञ-स्वरूप "प्रस्तर" (कुशामुष्टि) का स्पर्श कर, यज्ञ का पुनः आरम्भण करने से ही ऋत्विज उस दोष से मुक्त होते हैं—"तस्मात् प्रस्तरेनिह्नुवते" ॥१६॥

वेदी पर रखे हुए कुशा-प्रस्तर के दो भाग कर उनमें से एक को घी से चुपड़ देना (घृताक्त कर देना) चाहिए और दूसरे को अनक्त (कोरा, बिना चुपड़ा) ही रहने देना चाहिए। अनक्त प्रस्तर-भाग से निह्नुव कर्म्म तथा घृताक्त प्रस्तर-भाग से अनुप्रहरण करना ही विहित है ॥२०॥

अनक्त प्रस्तर पर दोनों हाथ रख कर ऋत्विक् "ते निह्नुवते····" मंत्र से दोष-मार्जन हेतु क्षमा-याचना करता है एवं इन्द्र-संज्ञक अन्तरंग सम्पत्ति (भुक्त अन्नादि) तथा भग (ऐश्वर्य)-संज्ञक बहिरंग सम्पत्ति (हाथी-घोड़े, वस्त्र, भवन, अलंकरणादि) का साधन-भूत धन प्रदान करने के लिए अग्निदेवता से प्रार्थना करता है। अप-वायु-यज्ञ (सोम)–धन-सत्य —ये पाँच ही "ऋत" पदार्थ हैं। "सत्य" स्वयं ऋत नहीं है अपितु "अनृत" के अभाव-रूप ही वह सत्य है। ऋत्विक् अग्नि से प्रार्थना करते हैं कि हे अग्ने ! हम ऋतवादियों को ऋत प्रदान कीजिए अर्थात् हमें सदा सत्य-पथ पर आरूढ़ रखिए। क्यों कि अग्नि–सोम–सूर्य्य–चन्द्र आदि सृष्टि के यच्चयावत् पिण्ड–पदार्थ तथा समस्त यज्ञादि भी द्यावा–पृथिवी के उदर में ही स्थित हैं, अतएव अग्नि से अज्ञात दोष के मार्जन, ऐश्वर्य–सम्पत्ति प्रदान करने एवं ऋत में प्रतिष्ठित रखने की प्रार्थना की जाती है ॥२१॥

इसके बाद अध्वर्यु अग्नीत् से प्रश्न करता है—क्या पानी गरम हो गया ? अग्नि का उत्तर है—"मदन्ती" अर्थात् पानी गरम हो गया है । तब अध्वर्यु गरम पानी लाने के लिए कह कर प्रस्तर को आहवनीयाग्नि पर बिखेर देता है । इसी कर्म्म को "अनुप्रहरण" कहा जाता है । कुछ प्रस्तर-अंश बचा भी लिया जाता है, जिसे अध्वर्यु दूसरे दिन काम में लेने हेतु सुरक्षित रखने के लिए अग्नीध्र को सौंप देता है-"तमग्नीन्निदधाति" ॥२२॥

[विज्ञान भाष्य] आतिथ्येष्टि के अनन्तर कौन-सी इष्टि पहले होनी चाहिए इस में विभिन्न मत हैं । कुछ याज्ञिकों का मत है कि पहले तानूनप्त्रेष्टि होनी चाहिए और कुछ का मत है कि पहले अवान्तर दीक्षेष्टि करनी चाहिए । दोनों मतों में कामाचार है । इसी बात को बतलाने के लिए-तानूनप्त्र ब्राह्मण के प्रारम्भ में **"आतिथ्येन वै देवा इष्ट्वा"** कह दिया गया है एवं अवान्तर दीक्षा के प्रारम्भ में भी-**आतिथ्येन वै देवा इष्ट्वा"** यह कह दिया गया है । जब नई बात बतलाई जाती है तो-उसके लिए पहले भूमिका बाँधनी पड़ती है । बात कुछ बतलानी होती है और उस बात को जमाने के लिए भूमिका कुछ और ही बाँधनी पड़ सकती है । एक वाक्य के अनन्तर उससे सम्बन्ध जोड़ने के लिए उससे भिन्न जो दूसरा वाक्य बोला जाता है-उस वाक्य का जो सम्बन्ध पहले वाक्य से होता है-उसी का नाम संगति है । यह सम्बन्ध चूँकि विश्व के कार्य्य-कारणों में ६ ही प्रकार का है-अतएव संगति कुल ६ ही कहलाती हैं । ये छहों संगतियाँ निम्नलिखित नामों से प्रसिद्ध हैं—

"सप्रसङ्ग(१), उपोद्घातो(२), हेतुता(३)वसर(४)स्तथा ।
निर्वाहै(५)क्य, कार्य्यै(६)क्ये, षोढा संगतिरिष्यते"-इति ॥

[१] **"एक सम्बन्धिज्ञानं परसम्बन्धीज्ञानस्य स्मारकं भवति"** यह नियम है । हम यदि किसी विषय का प्रतिपादन करते हैं-तो उससे सम्बन्ध रखने वाले अन्य विषय भी उस समय स्मृति में आ जाते हैं । हम किसी स्मारक को देख कर वापस लौटते हैं तो मित्र आदि पूछ लिया करते हैं कि-आपने क्या देखा ? हम वर्णन करने लगते हैं-"रास्ते में एक पालतू बिल्ली अपने स्वामी के कभी सर पर चढ़ती तो कभी हाथ-मुँह आदि नोचती थी-इस पर भी स्वामी शान्त भाव से बैठा था । यह दृश्य यद्यपि स्मारक देखने से सम्बन्ध नहीं रखता है । गए तो थे स्मारक देखने किन्तु प्रसङ्ग से वह दृश्य भी दीख जाता है । स्मारक के दृश्य का वर्णन करते समय उस बिल्ली वाले दृश्य को जोड़ने के लिए यह बात भी कहनी पड़ती है । बात करते समय जो "यद्यपि यह बात प्रधान विषय से सम्बन्ध नहीं रखती है-तथापि प्रसङ्गागत होने के कारण (अर्थात्-इससे उसके स्मरण हो जाने के कारण) यह भी कह देता हूँ"-यह कह कर उस अन्य विषय का प्रतिपादन किया जाता है एवं तद्विषयक जो पूर्व-वाक्य संगति है-उसे **"सप्रसंगसंगति"** कहते हैं ।

[२] प्रधान विषय के स्थापन के लिए जो पूर्व-भूमिका जमाई जाती है–उसी का नाम उपोद्घात है। उदाहरणार्थ इन्द्र और वृत्रासुर की लड़ाई को लें। प्रधान विषय लड़ाई बतलाना है। परन्तु इसका पूरा रहस्य तब तक मालूम नहीं हो सकता, जब तक कि–इन्द्र क्या है और वृत्र क्या है यह न बतला दिया जाए। इन्द्र तथा वृत्र के स्वरूप को बिना समझे–तद्विषयक युद्ध–चर्चा अधूरी ही रहेगी। अतएव इन्द्र-वृत्र युद्ध के प्रधान विषय के लिए पहले इन्द्र–वृत्र–मूल का स्वरूप बतलाना पड़ता है। इसी को "**उपोद्घात संगति**" कहते हैं।

[३] तीसरी संगति है–"हेतुता"। किसी विषय का प्रतिपादन करने पर उसका कारण बतलाना पड़ता है। कारण यद्यपि अप्रधान है–तथापि जब तक कारण न समझ लिया जाय तब तक विषय–सिद्धार्थ कहे गए वाक्य की संगति नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ हम कहते हैं कि–"आज हम मित्र के यहाँ भोजन करने गए। बड़ी धूम–धाम थी, खूब रंग छाया हुआ था। नाना प्रकार के पकवान थे–बड़ा ही आनन्द आया। इस पर सामने वाला प्रश्न करता है कि, आपके मित्र के यहाँ आयोजन क्या था? जब तक दावत का कारण नहीं बतला दिया जाता है, तब तक प्रधान विषय की सिद्धि नहीं हो पाती। जिस संगति से प्रधान विषय की सिद्धि हो जाती है–वह "**हेतुता संगति**" कहलाती है।

[४] चौथी है "अवसर संगति"। नियमित क्रम–युक्त जो वाग्–व्यवहार है, उसे ही अवसर-संगति कहते हैं। चार उपदेशक भाषण देंगे। इसमें पहले अमुक उपदेशक भाषण देंगे–बाद में अमुक देंगे इत्यादि जो अवसर–प्राप्त क्रम–व्यवस्था है–उसे ही "**अवसर संगति**" कहते हैं।

[५] पाँचवीं है "निर्वाहैक्य संगति"। अपनी बात को सिद्ध करने के लिए तत् तत्समान ही अन्य बात का उल्लेख करना एवं उसके द्वारा अपने कथन की पुष्टि करना निर्वाहैक्य संगति कहलाती है। हम अपने सबूत पेश कर जज के सामने यह सिद्ध करना चाहते हैं कि हमारी आपत्तियाँ विचार योग्य हैं एवं इसी समय यदि हम किसी अन्य कोर्ट के ऐसे फैसले का प्रतिपादन कर देते हैं तो हमारा मत प्रबल हो जाएगा। इसी का नाम "निर्वाहैक्य संगति" है। आजकल इस संगति को बहुतायत से काम में लिया जाता है। अपनी कार्य्य–सिद्धि के लिए—वाहक जो कार्य्य है उसे नजीर–स्वरूप बतला कर अपने वाक्य की सिद्धि करना –"**निर्वाहैक्य संगति**" कहलाती है।

[६] छटी है "कार्य्यैक्य संगति"। आपने यह कार्य्य वैसा ही किया है जैसा कि रामलाल ने किया था। आपके कार्य्य के स्वरूप को बतलाने के लिए रामलाल के कार्य्य के स्वरूप को बतला कर जो सम–कार्य्य–स्वरूप सिद्ध करना है–उसे ही "**कार्य्यैक्य संगति**" कहते हैं।

इस प्रकार संसार के यच्चयावत् वाग्–व्यवहारों में कुल छः ही प्रकार की संगतियाँ हैं। छहों में से यदि एक भी नहीं है तो मर्य्यादा का अतिक्रमण है। यदि छहों में से बाहर निकल गई तो वह "उन्मत्त प्रलाप" मात्र है। कुछ दार्शनिकों का कहना है कि–वेद में पुनरुक्तियाँ बहुत अधिक मात्रा में हैं। एक ही बात को ५०–५० बार कहा जाता है। जिसमें इस प्रकार पुनरुक्तियाँ हों वह वेद क्यों कर

प्रमाण माना जा सकता है ? इस आरोप के प्रत्युत्तर में कहना यही है कि–यदि पूर्वोक्त छहों संगतियों के अतिरिक्त अन्य पुनरुक्ति हो तो वेद पर लगाया गया आरोप अवश्य ही सत्य है, परन्तु इन छः संगतियों के अतिरिक्त जब सातवाँ वाक्य–विन्यास है ही नहीं तो फिर इस प्रकार के आक्षेपों का क्या आधार रह जाता है ? सम्भव है कि–"आतिथ्येन वै इष्ट्वा" पर इसी प्रकार का आक्षेप लगाया जाए, परन्तु यह आक्षेप न हो कर तथ्यों का अपलाप ही होगा। देवताओं ने अवान्तर दीक्षा ली थी–यह बतलाना है। इसकी सिद्धि के लिए हेतुता–संगति करना आवश्यक है। पुनः दीक्षा क्यों ली थी–जब कि वे प्रारम्भ में ही दीक्षा ले चुके थे–इस प्रकार अवान्तर दीक्षा की हेतुता बतलाने के लिए पहले उसका कारण बतलाना आवश्यक है। ऐसी अवस्था में पुनरुक्ति दोष नहीं लगाया जा सकता। कहना इस प्रपञ्च से यही है कि वेद में कहीं भी पुनरुक्ति नहीं है।

वेद में एक ही बात को बार–बार दोहराने का तात्पर्य्य पुनरुक्ति दोष कदापि नहीं है। पूर्वोक्त छहों संगतियों की मर्य्यादा के बाहर श्रुतियाँ कभी नहीं जाती हैं–अतएव वेद में पुनरुक्तियों का आक्षेप करना सर्वथा बौद्धिक प्रलाप करना है। पुनरुक्ति दोष के विषय में फैली भ्रांति को दूर करने के उद्देश्य से ही, अप्रासङ्गिक होते हुए भी इस विषय का स्पष्टीकरण कर दिया गया है। अब प्रकृत ग्रंथ का अनुसरण करते हैं।

देवताओं ने तानूनप्त्रों से अर्थात् तनूनपात् वायु को साक्षी बना कर–उसकी साक्षी में–इन्द्र के आधिपत्य में–संघ रूप से रहने की जो सत्य प्रतिज्ञाएँ की थीं–उन प्रतिज्ञाओं के उल्लेख से पुनर्दीक्षा विषयक जिज्ञासा को शान्त कर दिया। किसे शान्त कर दिया इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—"**तान् समदबिन्दत्**" देवता आतिथ्येष्टि कर परस्पर की अहमहमिका से–एक दूसरे के आधिपत्य में रहना नापसन्द करते हुए पृथक् हो गए–और आपस में कलह करने लगे। परस्पर के कलह के कारण देवताओं में असुर आ घुसे। देवताओं का संगठन टूटने से असुरों ने उनके ऊपर आक्रमण कर दिया। इससे देवता घबराए और उन्होंने अपनी इस मूर्खता पर पश्चात्ताप किया। कार्य्य के बिगड़ने के अनन्तर ताप होता है अतएव इसे "**पश्चात् ताप्**" कहते हैं। आखिर उन्होंने तनूनपात् को साक्षी बना कर शपथ ली कि—"आज से हम परस्पर के कलह को शान्त करते हुए प्रतिज्ञा करते हैं—कि कभी अलग नहीं होंगे, हमेशा इन्द्र के आधिपत्य में रहेंगे। इस प्रकार जो अहमहमिका—जो समत् (कलह) देवताओं में उत्पन्न हो गया था–उसको उन्होंते तानूनपात् वायु की साक्षी में शपथ ले कर सत्य–प्रतिज्ञा ग्रहण कर, शान्त किया, जैसा कि तानूनप्त्र ब्राह्मण में बतला दिया गया है—

"आतिथ्येन वै देवा इष्ट्वा तान् समदविन्दत् । ते तानूनप्त्रैः समशाम्यन्" ।

यज्ञान्त में जो स्नान होता है उस का नाम "**अवभृथ**" स्नान है। दीक्षित देवता को प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि जब तक–यज्ञ समाप्त नहीं हो जाएगा तब तक अर्थात् अवभृथ स्नान पर्य्यन्त मैं कभी भी दीक्षित व्रतों का उल्लंघन नहीं करूँगा। सत्य ही बोलूँगा, कभी परस्पर झगड़ा नहीं करूँगा, चाहे

जिससे चाहे जो नहीं बोलूँगा, सर्वथा मर्य्यादा में रहूँगा। यदि दीक्षित देवता अवभृथ स्नान के पहले ही इन नियमों में से किसी भी एक नियम को भंग कर दे तो यज्ञ का धारा–बल टूट जाता है। उसी समय यज्ञ में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है।

प्राण–देवता आग्नेय हैं। यह बात कई बार बतला दी गयी है। प्राण–देवता पृथिवी से सूर्य्य तक व्याप्त रहते हैं। पृथिवी के केन्द्र से सूर्य्य तक जो पार्थिव अग्नि है—सूर्य्य का जो सोलर सिस्टम है—वही संवत्सर–मण्डल कहलाता है। इस संवत्सराग्नि का सूर्य्य के साथ सर्वात्मना–३६० दिन भोग होता है। सारे पार्थिव संवत्सर–मण्डल का भोग ३६० दिन में होता है। इसी का नाम संवत्सर–यज्ञ है। संवत्सर–मण्डल के अन्त में परमेष्ठि–मण्डल है। सूर्य्य के ऊपर चारों ओर पानी ही पानी भरा रहता है। संवत्सर में रहने वाले सारे प्राण–देवता यज्ञान्त में संवत्सर–मण्डल से ऊपर व्याप्त पारमेष्ठ्य पानी में "अवभृथ" स्नान करते हैं। इन प्राण–देवताओं ने–सृष्टि के प्रारम्भ में जब कि यज्ञ प्रारम्भ ही हुआ था-इस स्नान से पहले ही कलह कर अपने दीक्षा–व्रत को तोड़ डाला था। अलग हो कर उन्होंने जो मिथ्या आचरण किया उसी से उनका व्रत भंग हो गया। इस कलह को शान्त करने के लिए उन्होंने परस्पर प्रतिज्ञा करते हुए "तानूनप्त्रकर्म्म" किया कि "यदि आइन्दा हम ऐसा करें तो हमारा सर्वनाश हो जाए। इस प्रकार परस्पर सौगन्ध खा कर इन्होंने पापमय व्यवहार किया। शपथ कर्म्म–तानूनप्त्र कर्म्म–सर्वथा निन्दित है। सौंगध खाना आत्मा को गिराना है। चूँकि देवताओं ने परस्पर शपथ ली थी–अतएव कह सकते हैं कि उन्होंने पाप-व्यवहार किया। परन्तु क्या करते ? । सुलह का और कोई उपाय था भी नहीं-अतएव बाध्य होकर उन्हें शपथ लेनी पड़ी। इस प्रकार पहले परस्पर कलह कर संघ को तोड़ना और बाद में शपथ द्वारा झगड़े को शान्त करना दोनों ही व्रत–भंग करने के प्रधान कारण हैं। कलह पहला दोष–शपथ दूसरा दोष। दोनों ही दोष 'अवभृथ' स्नान के पूर्व ही हो जाते हैं—अतएव दीक्षा जो कि अवभृथान्त तक रहती है, पहले ही भंग हो जाती है। उस टूटी हुई दीक्षा का पुनः संधान करने के लिए-प्रायश्चित्त स्वरूप पुनः दीक्षा ली जाती है। यह दीक्षा पूर्व की दीक्षा के रहते हुए ली जाती है अतएव इसका नाम "अवान्तर दीक्षा" रक्खा गया है। प्रकृति–मण्डल के देवताओं ने तानूनप्त्र कर्म्म के प्रायश्चित्त–विधान के रूप में इस अवान्तर दीक्षा–कर्म्म को देखा और सम्पन्न किया। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—"देवताओं ने जो संधान तोड़ते हुए व्रत भंग किया और परस्पर शपथ–ग्रहण का पाप किया ये दो ही दीक्षा–व्रत भंग करने के कारण थे।—अतएव दीक्षा–व्रत विधान तक इन दोनों दोषों को नष्ट कर–दीक्षा संधान के लिए उन्होंने प्रायश्चित्त करने की इच्छा की—

"त एतस्या प्रायश्चित्तिमैच्छन्–यदन्योऽन्यं पापमवदन्"।

स्वीकृत दीक्षा का यदि अवभृथ स्नान पर्य्यन्त पालन कर लिया जाय तो प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं है। क्यों कि उसी दीक्षा से कार्य्य चल जाता है। यदि अवभृथ स्नानान्त की जाने वाली दीक्षा को अवभृथ स्नान से पूर्व ही भंग कर दिया जाता है—या दीक्षा का पालन यथोचित रूपेण नहीं किया जाता है तब उस अवस्था में प्रायश्चित्त अवश्य ही करना पड़ता है। देवताओं ने भी अवभृथ स्नान पर्य्यन्त प्रभावशील दीक्षा का पालन नहीं किया तथा बीच में ही पाप–कर्म्म कर बैठे–अतएव उन्हें प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता आ पड़ी—

"नाह पुराऽवभृथात् पुनर्दीक्षामवाकल्पयन् (अतः प्रायश्चित्तिमैच्छ-दिति भावः)"।

उन प्राण देवताओं ने प्रायश्चित-स्वरूप इस अवान्तर दीक्षा को उपाय के रूप में सार्थक देखा। उन्होंने निश्चय किया कि अवान्तर दीक्षा से हमारा मिथ्याभाव-पापकर्म नष्ट हो जाएगा। इस प्रकार प्राण-देवताओं ने तानूनप्त्रानन्तर-इस अवान्तर दीक्षा को ग्रहण किया। **"अवभृथ पर्य्यन्त सत्यमेव वदिष्यामि"** (श्रौत सूत्र, का०) इस नियम को देवताओं ने भंग कर डाला। अतः तत्साधनार्थं बीच में पुनः दीक्षा करनी पड़ी-अतएव इस का नाम **"अवान्तर दीक्षा"** पड़ा। इस नाम का दूसरा निर्वचन यह है कि प्रारम्भ में जो दीक्षा ली गई थी वह तो अवभृथ स्नानान्त पर्य्यन्त चलती है अतः उसी नियम के अन्तर्गत पुनः दीक्षा ली जाती है। क्योंकि यह दीक्षान्तर्गतदीक्षा—है-अतएव इसे "अवान्तरदीक्षा" कहते हैं। प्राणदेवताओं ने तानूनप्त्र के साक्ष्य में प्रायश्चित्त के लिए-अवान्तर दीक्षा ली थी-यही तात्पर्य्य है—

"त एतामवान्तरां दीक्षामपश्यन्" ॥१॥

प्राण-देवताओं का हमारे यज्ञ से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। हमने यज्ञ-विद्या भुवन स्वर्गवासी देवताओं से सीखी थी-अतएव वे जो कुछ करते थे, वही हम करते थे। भौम देवता जो कुछ भी करते थे-प्राणदेवताओं के अनुसार ही करते थे। प्राण-यज्ञ की परीक्षा कर ठीक उसी के अनुकरण पर भौम देवताओं ने यज्ञ-विद्या का आविष्कार किया। भौम देवताओं ने-प्राणदेवताओं में होने वाली अवान्तर दीक्षा का अवलोकन कर उसी दीक्षा का समावेश सोमयज्ञ में किया था।

भौम देवताओं ने किस प्रकार अवान्तर दीक्षा ली-और उन्होंने अवान्तर दीक्षा में क्या किया-यही बतलाते हैं। भौम देवताओं ने अग्नि से-अपनी त्वचा को चारों ओर से वेष्टित कर लिया। अग्नि को ही त्वचा बना कर वे सर्वथा अग्निमय बन गए। "विपल्याङ्गयन्त" का अर्थ है—**"विपर्य्याङ्गयन्त"-विशिष्य परि-(पर्रि) परितः-(अवेष्टयन्)"** "वि"-पद से सूचित किया जाता है कि अग्नि को शरीर में वेष्टित करने का एक विशेष वैज्ञानिक नियम है। इसी नियम के अनुसार अग्नि को त्वचा के चारों ओर वेष्टित किया जाता है। अग्नि को शरीर के चारों ओर वेष्टित करने का अर्थ अग्नि में बैठ कर शरीर को जला देना कदापि नहीं है। इस प्रकार का वेष्टन यहाँ न समझा जाए-इसीलिए "वि" कह दिया गया है। अग्नि को वेष्टित करने की खास विधि से **अग्नि आत्मसात् हो जाता है** और चारों ओर इस प्रकार से वेष्टित होता है कि इससे शरीर पर बिलकुल भी आँच नहीं आती है। इसी विधि-से देवताओं ने अपने शरीरों को अग्नि से आत्मसात् (वेष्टित) कर लिया अर्थात् वे अग्निमय बन गए—

"तेऽग्निनैव त्वचं विपल्याङ्गयन्त"।

अग्नि से त्वचा को क्यों वेष्टित किया जाता है, इसका कारण बतलाते हैं। अग्नि तप-स्वरूप है। दीक्षा भी तप-स्वरूप है। ताप का नाम अग्नि है-अतएव इसे **'तप'** कहते हैं। दीक्षा में भी ताप

(संताप) होता है । जो मनुष्य नियम में रहते हैं—उनका जीवन कष्टमय ही रहता है । वहाँ नहीं जा सकते–यह नहीं बोल सकते–इनसे नहीं बोल सकते–इस समय सो नहीं सकते । इस प्रकार के नियम-बन्धनों का नाम ही दीक्षा है । इन्हीं बन्धनों के कारण आत्मा की स्वतन्त्रता नियंत्रण में आ जाती है—अतएव आत्मा अकुलाता है । इस अकुलाहट के कारण आत्मा में संताप पैदा होता है । चार घण्टे नित्य-बन्धन में रहने वाले पाठशालीय नियमों में दीक्षित विद्यार्थी से इस संताप का स्वरूप सम्यक्तया ज्ञात हो सकता है । कहना यही है कि दीक्षा नाम है नियम में रहने का और नियम से **"संताप"** होता है—अतएव हम दीक्षा को **"ताप"** कहने के लिए तय्यार हैं । ताप अग्नि का स्वरूप है । इसका प्रत्यक्ष उदाहरण यही है कि जिस समय हम भूखे होते हैं—उपवास कर लेते हैं—उस दिन हमारे शरीर का वैश्वानर अग्नि प्रबलवेग से उद्दीप्त हो जाता है—होठ सूख जाते हैं—शरीर थर–थर काँपने लगता है । यह होठ सूखना–देह का काँपना आदि अग्नि के कारण ही होता है क्योंकि ये सब अग्नि के ही धर्म्म हैं । अतएव अग्नि ताप होने से तप–स्वरूप ही है—

"तपो वा अग्निः, तपो दीक्षा" ।

ताप ही को तप कहते हैं । दीक्षा भी तपस्वरूप है । तप अग्नि है—अतएव अग्नि को चारों ओर वेष्टित करना ही अवान्तर दीक्षा लेना है । दीक्षा का घट–पटादिवत् कोई स्वरूप तो है नहीं–जिसे धारण कर लिया जाए । तप ही दीक्षा का स्वरूप है—तप अग्नि का धर्म्म है—अतएव निदानेन अग्नि का वेष्टन करना पड़ता है । इसी कारण भौमदेवता भी अग्नि से त्वचा को वेष्टित करते हुए अवान्तर दीक्षा को प्राप्त हो गए । आत्मा में अग्निधारण करना ही अवान्तर दीक्षा है । अग्नि को वेष्टित करना ही अवान्तर दीक्षा को धारण करना है, क्योंकि अग्नि तप–स्वरूप है और तप ही का नाम दीक्षा है—

"तदवान्तरां दीक्षामुपायन्" ।

अवभृथ स्नान पर्य्यन्त चलने वाली पूर्व दीक्षा के बीच में भंग हो जाने के कारण ही देवताओं ने प्रायश्चित्त स्वरूप इस दीक्षा को लिया था–अतएव इसका नाम "अवान्तर दीक्षा" हो गया । दीक्षान्तर्गता दीक्षा का नाम ही—अवान्तर दीक्षा है—

"तद् यदवान्तरां दीक्षामुपायन्-तस्मादवान्तरदीक्षा" ।

समिधा को अग्नि में डाल कर अग्नि को तो आत्मसात् किया ही–परन्तु देवताओं ने इस दीक्षा में अंगुलीन्यञ्चन किया और मेखला का बन्धन भी धारण किया । देवताओं ने अपनी अंगुलियों को बहुत ही ज्यादा संश्लिष्ट किया । दोनों की अंगुलियों को एकदम मोड़ लिया । दीक्षणीयेष्टि के पूर्व मेखला-धारण की जाती है । उस समय उसका बन्धन कुछ ढीला रहता है । सर्वप्रथम चारों ओर बँधी हुई जो ढीली–ढाली मेखला है—उसे वापस जोर से कस लिया । इस प्रकार भौम देवताओं ने अवान्तर दीक्षा ली ।

यदि किसी मनुष्य से किसी प्रकार का पाप–कर्म्म हो गया है तो वह एकदम अपने हाथों को परस्पर मसलने लगता है। इसका तात्पर्य्य यह है कि–यदि वास्तव में हमें अपने पाप-कर्म्मों का पश्चात्ताप होता है तो हम अपने हाथों को स्वतः ही मसलने लग जाते हैं। सम्पूर्ण–शरीर–मारे दुःख के–मारे पश्चात्ताप के–अग्निमय बन जाता है। हाथ मलना ही पश्चात्ताप का साक्षात् स्वरूप है। अवान्तर दीक्षा–पश्चात्ताप–स्वरूपा ही है। प्रकृति में पश्चात्ताप का स्वरूप हाथ मलना है—शरीर का अग्निमय बनना है-- अतएव अवान्तर दीक्षा में अंगुलियों को बड़े जोर से मोड़ा जाता है–अग्नि को आत्मसात् किया जाता है। इसी कारण ढीली मेखला को जोर से कस कर वास्तविक पश्चात्ताप का अभिनय किया जाता है। प्राण देवता अग्निमय हैं। वे सदा तप करते रहते हैं। सूर्य्य हिरण्यपाणि कहलाता है। उसकी रश्मियाँ ही–उसकी अंगुलियाँ हैं। अंगुलियाँ ही परस्पर संश्लिष्ट रहती हैं। यही प्राण–देवताओं का अंगुलीन्यञ्चन है। देवता रात–दिन तपस्या किया करते हैं। तभी तो उनका संवत्सर–यज्ञ सम्पूर्ण होता है। इसी की प्रतिकृति–स्वरूप–भौमदेवताओं ने अवान्तर दीक्षा की थी। उन्होंने मन्त्र द्वारा समिधा को अग्नि में डाल कर अग्नि में आत्मसात् किया था तथा अग्नि को आत्मसात् करके ही तानूनप्त्र दोष को मिटाया था। जैसा कि अग्नि में सोने को तपा कर उसे निर्दुष्ट कर दिया जाता है तथैव देवताओं ने पश्चात्ताप-स्वरूप अंगुलिन्यञ्चन किया था और मेखला कसी थी। पश्चात्ताप से पाप की निवृत्ति हो जाती है। अतएव पश्चात्ताप–स्वरूप इस अवान्तर दीक्षा से–भौमदेवताओं का पाप सर्वथा नष्ट हो गया। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"सन्तरामङ्गुलीराञ्चन्त–(अंगुलीरतिशयेन संश्लिष्टा अकुर्वन्)—सन्तरां मेखलां पर्यस्तामेवैनामेतत्सतीं पर्यास्यन्त (पूर्वां शिथिलबद्धां परितः क्षिप्तामेव पुनः संलग्नां–दृढ़बन्धनयुक्तामकुर्वन्)"।

"यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि"—यह हमारा सिद्धान्त है—इसी सिद्धान्त के अनुसार कलह न रहने पर भी यह यजमान अवान्तर दीक्षा ग्रहण करता है। अपिच हमसे कलह भी हो जाता है। यजमान आखिर मनुष्य है। मनुष्य से त्रुटि अवश्य हो जाती है। कई भूलें तो ऐसी हो जाती हैं कि जिनका पता भी नहीं रहता। अवान्तर दीक्षा से–यजमान अवभृथ स्नानान्तर से पूर्व जो कुछ–अप्रत्यय (नियम-विरुद्ध) करता है—एवं बोलता है—उसी का अर्थात् मिथ्या–भाषण और मिथ्या–कर्म्म का प्रायश्चित्त करता है। अतएव प्रायश्चित्त के लिए अवश्य ही अवान्तर दीक्षा करनी चाहिए–यही तात्पर्य्य है—

"तथो एवैष एतद्–यदतः प्राचीनमव्रत्यं वा करोति, अव्रत्यं वा वदति। तस्यैवैतत्प्रायश्चित्तिं कुरुते" ॥२॥

देवताओं ने अवान्तर दीक्षा में मन्त्र द्वारा अग्नि में समिधाधान कर अग्नि से ही अपनी त्वचा को परिवेष्टित किया था। तथैव यजमान भी इस अवान्तर दीक्षा में समिधाधान करता हुआ अग्नि से

ही त्वचा को परिवेष्टित करता है। अग्नि को आत्मसात् कर मिथ्याप्रयुक्त दोषों को जलाता है। अग्नि तप-स्वरूप है एवं दीक्षा भी तप-स्वरूप है—जैसा कि पूर्व में बतला दिया गया है। इस प्रकार अग्नि को आत्मसात् करता हुआ यजमान अवान्तर दीक्षा को ही प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य्य यह है कि अग्नि और दीक्षा समानधर्म्मा हैं—ऐसी अवस्था में अग्नि को आत्मसात् करना अवान्तर दीक्षा को अङ्गीकार करना है—

"सोऽग्निनैव त्वचं विपल्यङ्ङ्यते (विपर्य्यङ्ङ्यते)। तपो वा अग्निः, तपो दीक्षा। तदवान्तरां दीक्षामुपैति"।

भौमदेवतावत् यजमान अंगुलियों को बड़े जोर से मोड़ता है और पहले बँधी हुई ढीली मेखला को कस कर बाँधता है। यही तो पश्चात्ताप का वास्तविक स्वरूप है—

"सन्तरामङ्गुलीरचते, सन्तरां मेखलां पर्यस्तामेवैनामेतत्सतीं पर्य्यस्यते"।

एक विशेष बात और बतलाने के अभिप्राय से-फिर उसी बात को दोहराते हैं—देवता अग्नि को आत्मसात् कर अवान्तर दीक्षा से प्रजा को प्राप्त हो गए। अवान्तर दीक्षा से देवताओं ने नया जन्म ले लिया। वास्तव में बात सच है कि जब तक मनुष्य दोषाक्रान्त रहता है तब तक उसका आत्मा असुर भावाक्रान्त रहता है। यदि मनुष्य कोई धोखा कर लेता है तो उसका आत्मा पतित हो जाता है—निर्बल हो जाता है। यदि दैवयोग से उसको अपने कर्म्मों का पश्चात्ताप हो जाता है—एवं पश्चात्ताप से वह अपने पापों को धो डालता है तो उसका नया जन्म हो जाता है। उसके असुर भाव नष्ट हो जाते हैं तथा दिव्य भाव नए तौर पर जन्म ले लेते हैं। इस कारण दोषाक्रान्त आत्मा पुनः स्वच्छ हो जाता है। इसीलिए संन्यासी की जाति पूछते हुए—"आपका पूर्व जन्म कौन सा था?"-यह कहा जाता है। इसका कारण यही है कि सन्यासी का जो आत्मा गृहस्थाश्रम में था उसका कहीं पता नहीं है क्यों कि सन्यासी का आत्मा बिलकुल उससे भिन्न है। महात्मा तुलसीदासजी, महात्मा सूरदासजी, महात्मा कबीरजी, महात्मा दादूजी, ये सब नये जन्म के निदर्शन हैं। तुलदीदास जी और सूरदासजी का आत्मा जैसा ज्ञानोदय के पूर्व था-वह बाद में बिलकुल बदल गया। ज्ञानोदय के अनन्तर अब वे तुलसीदास जी-सूरदास जी थे। यह उनका नया जन्म था। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि-देवताओं ने अवान्तर दीक्षा से-तानूनप्त्रादि विधि से दोषों से छुटकारा पा कर-प्रजा को अर्थात् नये जन्म को प्राप्त किया। देवताओं ने नया जन्म धारण किया। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"प्रजामु हैव तद्देवा उपायन्" ॥३॥

प्रजा को अर्थात्-नये जन्म को उन्होंने वास्तव में प्राप्त किया था। देवताओं ने अग्नि से ही त्वचा को वेष्टित किया था-वही उनके नये जन्म का कारण है। अग्नि से ही नया जन्म होता है। मिथुनभाव का कर्त्ता अग्नि ही है। फिर भला इसका सम्बन्ध होने पर नया जन्म क्यों न हो? चूँकि देवताओं ने इसे आत्मसात् किया था-अतएव उन्हें नया जन्म लेना पड़ा। अग्नि समस्त दोषों को नेस्तनाबूद कर आत्मा का नया जन्म कर देता है।

"तेऽग्निनैव त्वयं विपल्याङ्गयन्त । अग्निर्वै मिथुनस्य कर्ता प्रजनयिता" ।

अग्नि ही मिथुन का–दाम्पत्य सम्बन्ध का कर्ता है—और यही प्रजनयिता है । यह अग्नि दो प्रकार से मिथुन का कर्त्ता है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः" ।। (ऋग्वेद मं० १०।८५।४०)

इसका तात्पर्य्य यही है कि जब लड़की पैदा होती है तो दो वर्ष तक उसमें सौम्य प्राण उल्वण रहता है । दो से चार वर्ष पर्य्यन्त गन्धर्वप्राण का भोग होता है एवं चार वर्ष के बाद अग्नि का भोग होता है । ❀ पुरुष के साथ स्त्री के दाम्पत्य सम्बन्ध का साधक यही अग्नि तत्त्व है । क्यों कि दाम्पत्य को ही मिथुन कहते हैं–अतएव **"अग्निर्वै मिथुनस्य कर्ता"** कहा है । पुरुष को स्त्री अग्नि द्वारा अग्नि की साक्षी में मिलती है । दाम्पत्य अग्नि से होता है–अतएव अग्नि को मिथुनस्यकर्ता (दाम्पत्य विधायक) कहते हैं । यह पहला दाम्पत्य–सम्बन्ध है । शुक्र–शोणित का सम्बन्ध दूसरा दाम्पत्य–सम्बन्ध है अर्थात् दाम्पत्यभाव स्थापित होने के बाद ही स्त्री–पुरुष के बीच शुक्र–शोणित का सम्बन्ध होना चाहिए । दाम्पत्य–सम्बन्ध का साधक और निर्वाहक भी अग्नि ही है । रस–असृक्–मेद्य–मज्जा–मांस–शुक्रादि सातों धातुएँ अग्नि के चिनाव (चयन) से बनती हैं । इन सातों धातुओं में–शुक्र और शोणित भी सम्मिलित हैं । इनके सम्बन्ध को ही दाम्पत्य–सम्बन्ध कहते हैं ।

सोम अर्थात् शुक्र तो स्त्री है और अग्नि अर्थात् असृक् पुरुष है । रूधिर अग्नि है, लाल है । स्त्री के रुधिर में काम रहता है । इस लाल रुधिर (अग्नि) का निर्म्माण मंगलग्रह से होता है । मंगल का उच्च स्थान मकर है । मकर राशि में मंगल उच्च होता है, चूँकि यही स्त्री के रुधिर में रहता है–अतएव स्त्री के काम को 'मकरध्वज' कहते हैं । पुरुष का वीर्य्य शुक्र ग्रह से बनता है । शुक्र–मीन में उच्च होता है–अतएव पुरुष के काम को "मीनध्वज" कहते हैं । पुरुष के काम में स्त्री बैठी हुई है–अतएव वह सदा स्त्री को चाहा करता है–एवं स्त्री के काम में पुरुष बैठा हुआ है–अतएव स्त्री सदा पुरुष को चाहा करती है । प्रकृत में हमें इतना ही कहना है कि शुक्र–शोणित के सम्बन्ध का नाम ही मिथुन भाव है । इसका कर्ता अग्नि ही है ।

अग्नि मिथुनकर्ता ही नहीं है अपितु प्रजनयिता–अर्थात् पैदा करने वाला भी है । यदि अग्नि न हो तो कोई भी वस्तु पैदा ही न हो । अग्नि में सोमाहुति से ही सृष्टि होती है । शरीर की गरमी ही तो सन्तान उत्पन्न करती है । जो निर्बल मनुष्य हैं–अर्थात् जिनके शरीर में गरमी नहीं है–वे सन्तान पैदा करने में सर्वथा असमर्थ हैं । सूर्य्य अग्निमय है–इसी से तो–यच्चयावत् चर-अचर की उत्पत्ति होती

❀ इस अग्नि के क्रमशः परिपक्व एवं पुष्ट होने का प्रमाण स्त्री के ऋतुचक्र का प्रारम्भ होना है । वार्धक्य की प्रारम्भिक अवस्था में अग्नि की क्षीणता स्त्री के ऋतुचक्र की समाप्ति है ।

है । इसीलिए "नूनंजनाः सूर्य्येण प्रसूता" यह कहा जाता है–ग्रतएव ग्रग्नि को ग्रवश्य ही "प्रजनयिता" कह सकते हैं। यही मिथुन का कर्त्ता है–यही प्रजनयिता है–इसी ग्रभिप्राय से कहते हैं– **"ग्रग्निर्वै मिथुनस्य कर्त्ता प्रजनयिता"** । देवताओं ने ऐसे प्रजनयिता ग्रग्नि को आत्मसात् कर प्रजा को उत्पन्न किया ग्रर्थात् ग्रपना नया जन्म धारण किया । ग्रग्नि को ग्रात्मसात् करना ही प्रजोत्पत्ति करना है—

"तत् प्रजामुपायन्" ।

केवल अग्नि को ग्रात्मसात् करने से ही काम नहीं चलता है । तदनुकूल प्राण-व्यापार भी करना पड़ता है। शरीर–बल तब तक बेकार है जब तक उसे काम में न लाया जाए–ग्रतएव देवताग्रों ने पहले ग्रग्नि को ग्रात्मसात् कर बलाधान किया । बाद में तदनुकूल प्राण–व्यापार स्वरूप ग्रँगुलियों को सिकोड़ा (मोड़ा) ग्रौर ढीली मेखला को कस कर बाँधा–अर्थात् काम में मुस्तैद हो गए । प्राणपण से काम में जुट गए । इसी तप के प्रभाव से देवताग्रों ने उस प्रजा को ग्रात्मा में धारण किया । ग्रर्थात् परिश्रम से जब पाप धुल गए तब उससे जो नया दिव्य ग्रात्मा (दिव्य भाव) उत्पन्न हुग्रा–उसे उन्होंने ग्रात्मसात् कर लिया । ग्रवान्तर दीक्षा से देवता तपे, स्वर्ण के माफिक स्वच्छ हो गए–यही तात्पर्य्य है । चूंकि देवता अवान्तर दीक्षा से प्रजा को ग्रर्थात् दिव्यभाव को प्राप्त हो गए थे तथैव यजमान ग्रवान्तर दीक्षा ग्रहण करता हुग्रा दिव्यभाव को प्राप्त होता है ।

"सन्तरामङ्गुलीराञ्चन्त, सन्तरां मेखलाम् (पर्य्यास्यन्त) । तत् प्रजामात्मन्नकुर्वत (देवाः) । तथो एवैष (यजमानः) एतत् प्रजामेवोपैति" ।।४।।

ग्रवान्तर दीक्षा में भौमस्वर्गवासी देवताओं ने जो कार्य्य किये थे–वही कार्य्य यह यजमान करता है । इसी ग्रभिप्राय से कहते हैं–यजमान ग्रग्नि में समिधाधान करता हुग्रा त्वचा को अग्नि से परिवेष्टित करता है, ग्रर्थात् आत्मा को ग्रग्निमय बनाता हे । अग्नि ही मिथुनकर्त्ता और प्रजनयिता है । इसे ग्रात्मसात् करता हुग्रा यजमान प्रजा को–ग्रपने दिव्य भाव को–उत्पन्न करता है एवं तदर्थ तपस्वरूप ग्रँगुलीन्यञ्चन करता है ग्रौर मेखला को कसता है । कमरवंध (कमर पर बाँधने का मौञ्जीबन्ध) कस कर कार्य्य में जुट जाता है–यही मेखला-बन्धन का तात्पर्य्य है । यजमान इससे नया दिव्यात्मा (दिव्य भाव) पैदा करेगा । यही दिव्यभाव यजमान को स्वर्ग में ले जाएगा । इस प्रकार–अग्नि को आत्मसात् करके तप करना मानो प्रजा को ही अर्थात् दिव्यात्मा को ही ग्रात्मसात् करना है । यदि मनुष्य किसी काम पर मुस्तैद हो जाता है तो उसके लिए कहा जाता है कि–" इसने तो काम को मुट्ठी में कर लिया । इसी प्रकार यजमान मुट्ठी बाँधता है–इससे यह दिखलाता है कि मैंने काम को मुठ्ठी में कर लिया है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"सोऽग्निनैव त्वचं विपल्यङ्ङ्यते । ग्रग्निर्वै मिथुनस्य कर्त्ता प्रजनयिता । तत् प्रजामुपैति । सन्तरामङ्गुलीरचते, सन्तरां मेखलाम् (पर्य्यस्यते) । तत् प्रजामात्मन् कुरुते" ।।५।।

सोम यज्ञ में कुल १६ ऋत्विक् होते हैं। उन सोलहों में-चार प्रधान होते हैं। उनके १-होता, २-अध्वर्यु, ३-उद्गाता, ४-ब्रह्मा ये नाम हैं। तीन-तीन ऋत्विक् इनके नायब होते हैं। इस प्रकार कुल १६ ऋत्विक् होते हैं। इन सोलहों का क्रम निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाता है—

१	होता	अध्वर्युः	उद्गाता	ब्रह्मा	इति प्रथमा	(१)	४)
२	प्रशास्ता	प्रतिप्रस्थाता	प्रस्तोता	ब्राह्मणाच्छंसी	इति अर्धिनः	(॥)	२)
३	अच्छावाकः	नेष्टा	प्रतिहर्त्ता	अग्नीध्रः	इति तृतीयिनः	(।-।)	१।-।)
४	ग्रावस्तोता	उन्नेता	सुब्रह्मण्यः	पोता	इति पादिनः	(।)	१)
१६	ऋग्वेदिनः	यजुर्वेदिनः	सामवेदिनः	त्रिवेदिनः	ऋत्विजः	दक्षिण प्रत्येकस्य	दक्षिणत्वं चतुष्टयस्य

इस प्रकार सोलह ऋत्विक् होते हैं एवं १७वाँ यजमान होता है। अतएव १७ ऋत्विक् मान लिए जाते हैं-अतएव **"यजमान सप्तदशा ऋत्विजो भवति"** -यह कहा जाता है। प्राणदेवता यज्ञ में यही १६ ऋत्विक् हैं। इसीलिए तो वैधयज्ञ में १६ ऋत्विक् होते हैं एवं १७वाँ प्रजापति होता है। प्रजापति अनिरुक्त-निरुक्त और उद्गीथ भेदेन तीन प्रकार के होते हैं। केन्द्र में रहने वाला जो प्रजापति है-वह **"अनिरुक्त प्रजापति"** कहलाता है। इसे "क" शब्द से व्यवहृत करते हैं। **"कस्मै देवाय हविषा विधेम"** (श्वे० उ० ४।१३) इस मन्त्र में इसी अनिरुक्त प्रजापति का आशय ग्रहण करते हैं। **"कस्त्वा युनक्ति"** (शत० १।१।१।१३) में जो "क" है उससे भी अनिरुक्त प्रजापति अभिप्रेत है। **"प्रजापतिश्चरति गर्भे"** (महानारा० उ० १।१) तथा **"ईश्वर सर्व भूतानां"** (महानारा० उ० १७।५) ये दोनों श्रुतियाँ क्रमशः अनिरुक्त और निरुक्त प्रजापति का स्वरूप बतला रही हैं। निरुक्त पूर्वोक्त क्रमानुसार दूसरा प्रजापति है। अनिरुक्त प्रजापति पदार्थ पर आक्रान्त हो **"निरुक्त"** (सर्व अथच विशिष्ट) **"प्रजापति"** कहलाने लगता है। सर्व प्रजापति महिमा विशिष्ट का नाम है। महिमा ३३ अहर्गण तक रहती है। अतएव इस सर्व प्रजापति के लिए **"प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशः"** ❀ (शत० ४।५।७।२) कहा जाता है। केन्द्रस्थ कारणात्मक

❀ प्राणगर्भित वाक् स्तर **'वाक् साहस्री'** नाम से प्रसिद्ध है। इन सहस्र वाक् तत्त्वों में से ३०-३० वाक्-राशि का एक-एक अहर्गण होता है। इस संख्या क्रम से ९९० वाग्-रश्मियों के ३३ अहर्गण हो जाते हैं। १० वाक् शेष रह जाती हैं। यही उच्छिष्ट भाग चौंतीसवाँ सर्वप्राजापत्य अहर्गण हैं। (शत० ४।५।७।१-२)।

अनिरुक्त प्रजापति एवं महिमामण्डलयुक्त काय्यात्मक निरुक्त प्रजापति का मध्यवर्ती प्रजापति **"उद्गीथ प्रजापति"** कहलाता है (शत० ६।५।३।७)।

महिमामण्डल को वषट्कार-मण्डल कहते हैं। वषट्-कार मण्डल में ३३ अहर्गण होते हैं। ३३ अहर्गण की केन्द्रीभूत शक्ति का ही नाम उद्गीथ प्रजापति है। पिण्ड के केन्द्र से प्रारम्भ कर बाहर तक ३३ अहर्गण होते हैं। इन ३३ अहर्गणों के मण्डल का नाम ही विभूति-मण्डल अथवा महिमामण्डल है। इनकी ही **"पुनः पदम्"** (कौ० २३।६) संज्ञा है। जिस प्रकार अन्तर्मण्डलीय पिण्ड का एक निश्चित केन्द्र होता है, एवमेव ३३ अहर्गणात्मक बहिर्मण्डल का भी एक स्वतन्त्र केन्द्र होता है। यह केन्द्र सत्रहवाँ अहर्गण माना गया है। अन्तर्मण्डलस्थ पिण्ड के केन्द्र का नाम अनिरुक्त प्रजापति एवं त्रयस्त्रिंश अहर्गणात्मक बहिर्मण्डल के १७ वें अहर्गण पर स्थित केन्द्र का प्रजापति **"सप्तदश प्रजापति" "उद्गीथ प्रजापति"** इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है।

ये ३३ विभाग पृथिवी से निकलने वाली वाक् के होते हैं–अतएव इसे वाङ्मण्डल कहते हैं। संसार के यच्चयावत् पदार्थ अग्नीषोमात्मक हैं। पृथिवी का अग्नि १७ वें अहर्गण तक जाता है। इसके बाद सोम है। यही सोम १७ वें अहर्गणस्थ अग्नि में आहुत होता रहता है–अतएव इसे "आहवनीयाग्नि" कहते हैं। यद्यपि अग्नि रहता है १७ अहर्गण तक ही–परन्तु सोम के भक्षण से भभक कर यह अग्नि २१ अहर्गण तक चला जाता है–अतएव अग्नि को २१ तक ही मान लिया जाता है। वस्तुतः अग्नि की अपनी प्रातिस्विक स्थिति १७ तक ही है। इस १७ वें अग्नि के बल से ही नीचे की १६ कलाओं (अहर्गणों) की स्थिति रहती है। सप्तदशस्थ आहवनीयाग्नि में यदि सोम आहुत न हो तो उसी समय नीचे के १६ हों अहर्गण नष्ट हो जाएँ। इन सोलहों का अधिष्ठाता १७वाँ अहर्गणस्थ–आहवनीय ही है–अतएव इस १७वें को प्रजापति कहा जाता है। यही १६ ऋत्विक् हैं और १७वाँ यही प्रजापति है। यह प्रजापति ही यज्ञ का यजमान–स्थानीय है। इसी से ऋत्विजों का ऋत्विक्त्व रहता है। यदि यहाँ पर (यज्ञ में) यजमान न हो तो ऋत्विजों का ऋत्विक्त्व नहीं रहेगा। प्रकृति के सोम-याग में १६ अहर्गण १६ ऋत्विजों के रूप में होते हैं तथा १७वाँ प्रजापति–यजमान-स्वरूप होता है–अतएव मनुष्य कृत सोम-याग में भी १६ ऋत्विज होते हैं एवं १७वाँ यजमान प्रजापति–स्वरूप होता है। इसीलिए श्रुति कहती है—

"तस्माऽएतस्मै सप्तदशाय प्रजापतये। एतत्सप्तदशमन्नं समस्कुर्वन्य एष सौम्योऽध्वरोऽथ या अस्य ताः षोडश कला एते ते षोडशर्त्विजस्तस्मान्न सप्तदशमृत्विजं कुर्वीत नेदतिरेचयानि"—इति। (शत० १०।४।१।१९)

प्रकृति में जो १६ ऋत्विज हैं—उनके पृथक्-पृथक् काम हैं। उन्हीं के अनुसार यहाँ मानुष्य सोम–याग में भी ऋत्विजों के काम नियत किए जाते हैं। प्रकृति में पूर्वोक्त १६ ऋत्विजों में से जो ऋत्विक् अग्नि में समिधाधान करता है— उसे "समिद्–हरति"–इस व्युत्पत्ति से–**"समिद्धार"** कहते हैं। जो ऋत्विक् मन्त्र बोलता है—उसे प्रवचनकार कहते हैं। यहाँ भी एक समिद्धार होता है तो एक

प्रवचनकार होता है। जब देवता यज्ञ करते हैं उस समय–उन दीक्षित–अर्थात् नियमसूत्र में बद्ध–देवताओं के मध्य में जो समिद्धार और प्रवचनकार नाम के ऋत्विज हैं उन्हें असुर (राक्षस) इतर को इतर के रूप से अर्थात् समिद्धार को प्रवचनकर्त्ता के रूप से और प्रवचनकर्त्ता को समिद्धार के रूप से मारना चाहते हैं। एक ही व्यापक असुर उन दोनों ऋत्विजों में घुस जाता है। एक ही असुर–प्रवचनकार बनकर समिद्धार पर आक्रमण करता है,—उन्हें मारना चाहता है। आहवनीयाग्नि से नीचे ऋत्विक् रहते हैं—यह बात पूर्व में बतला दी गयी है। आहवनीय अग्नि अति प्रज्वलित रहता है—अतएव तमोमय असुर उसमें नहीं घुस सकते। किन्तु इनको नीचे के ऋत्विजों में घुसने का–आक्रमण करने का–मौका मिल जाता है। आहवनीय से नीचे के ऋत्विक् (अर्थात् अग्नि) जरा विशकलित रहते हैं—मन्द रहते है—अतएव असुरों को उनमें प्रविष्ट होने का मौका मिल जाता है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर कहते हैं—

"देवानामु ह स्म दीक्षितानां यः समिद्धारो वा, स्वाध्यायं वा–विसृज्यते-(अर्थात्–प्रवचनकारः) । तं ह स्म (प्रवचनकारं–समिद्धारं च) इतरस्यैवेतरं रूपेण–(समिदाहर्तृ रूपेण प्रवचन कर्त्तारम्) इतरस्येतरं–(प्रवचन कर्तृ रूपेण समिदाहर्त्तारम्) असुर रक्षसानि जिघांसन्ति–(हन्तुमिच्छान्ति)"।

प्रकृति के ऋत्विजों में–जो कि आहवनीय (१६ वें अहर्गण) से नीचे हैं—असुर भावों को घुसने का मौका मिल जाता है, यही तात्पर्य्य है। प्रकृति में जो असुर घुस जाते हैं—उनका सामान्यतः प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है परन्तु अस्मदादि मनुष्यों में जो असुर घुस जाते हैं उनका प्रत्यक्ष अपेक्षाकृत अधिक सरलता से ज्ञेय है। हमारे में असुर भावों को पहचानने के लिए–प्राण–ऋत्विजों को लक्ष्य बना कर–उन पर घटित करते हुए–भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—"जब समिद्धार में और प्रवचनकार दोनों में, इन दोनों के रूप से असुर घुस पड़े तो वे अपशब्दों का प्रयोग करते हुए परस्पर झगड़ने लगे। समिद्धार प्रवचनकर्त्ता से कहने लगा–"तुमने मेरे काम को बिगाड़ना चाहा–यही नहीं, तुमने तो मुझे मारने तक का विचार कर लिया। इसी प्रकार प्रवचनकर्त्ता–समिद्धार से इसी प्रकार कहते हुए आरोप लगाता है—"तुमने मेरा काम बिगाड़ दिया और मुझे मारना चाहा। इस प्रकार वे दोनों (ऋत्विक्) परस्पर गाली–गलौज करने लगे। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि पारस्परिक कलह–गाली–गलौज–का कारण असुर भाव ही है।

जिस वाक् (क्रुधा वाक्) से दूर खड़े व्यक्ति भी काँप जाएँ वह वाक् राक्षसी वाक् कहलाती है। बुरी वाणी मुनष्य स्वयं नहीं बोलता, मनुष्य में आविष्ट असुरप्राण बोलता है। एवमेव जो शान्तिपूर्वक रहते हैं, जिनकी वाणी में मिठास है, समझ लीजिए उनमें देवता आविष्ट हो रहे हैं। समिद्धारादि ऋत्विक् तो प्राण–रूप हैं, उनमें गाली-गलौज का होना ही असुर-प्राणों का प्रविष्ट होना है। यहाँ केवल असुर-भाव के स्वरूप को समझाने के उद्देश्य से ही पूर्वोक्त प्रतिपत्ति को घटित कर बतला दिया है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"ते ह पापं वदन्त उपसमेयुः–इति वै मां त्वमचिकीर्षीः इति । मा जिघांसीरिति" ।

पूर्वोक्त कथनानुसार असुराक्रमण–ऋत्विजों में होता है । आहवनीय अग्नि में असुरों की दाल नहीं गलती । क्यों कि आहवनीय अग्नि अति प्रज्वलित रहता है, अतएव तमोमय प्राण (असुर) इसमें नहीं घुस पाते हैं । जहाँ तक अग्नि तत्त्व है वहाँ तक तमोमय प्राण रहता ही नहीं अर्थात् जिस प्रकार ऋत्विजों में असुरों के घुसने के कारण परस्पर गाली–गलौज हो गयी थी, उस प्रकार की स्थिति अग्नि के साथ नहीं हुई । क्यों कि अग्नि में असुर–प्राण प्रवेश नहीं कर पाये अतएव न अग्नि ने किसी को गाली दी और न अग्नि को किसी ने गाली दी—

"अग्निर्हैव तथा नान्यमुवाद–अग्निं तथा नान्यः" ।।६।।

जिन ऋत्विजों (आहवनीयाग्नि से नीचे रहने वाली १६ अग्नि–कलाओं) में असुर घुस गए थे, उन्होंने इस अवस्थान में आहवनीय अग्नि से पूछा–हे अग्नि ! क्या आपके साथ भी असुरों ने इसी प्रकार का व्यवहार किया ? आप में (अग्नि में) आसुर भाव प्रविष्ट हो सकते हैं या नहीं ? तमोमय प्राण का असर होता है या नहीं ?? यही भगवान् याज्ञवल्क्य का प्रश्न है । इसका वे स्वयं उत्तर देते हुए कहते हैं कि–अग्नि से पूछा गया कि तुम से असुरों ने क्या कहा ? तो अग्नि ने उत्तर दिया कि–न तो मैंने किसी से कुछ कहा और न किसी ने मुझ से कुछ कहा । अग्नि और तम दोनों विरोधी पदार्थ हैं—यही तात्पर्य्य है—

"ते होचुः–अपीत्थं (अनेन प्रकारेण) त्वामग्नेऽवादिषुः (असुराः) । नैवाहमन्यं न मामन्य"–इति ।।७।।

इससे–ऋत्विजों ने पहचान लिया कि हम सब में अग्नि सर्वथा विरक्षस्तम (सुरक्षित, अक्षुण्ण) है । असुर कभी भी इसमें प्रविष्ट नहीं हो सकते हैं । पृथिवी से निकलने वाला जो अग्नि है वह आहवनीय है । इसकी १७ विभक्तियाँ हैं । ये १७ विभक्तियाँ–स्वयं आहवनीय हैं । इनमें चूँकि–सोम आहुत होता रहता है—अतएव यह सबकी अपेक्षा अधिक प्रज्वलित रहता है । इन १७ अग्नियों में से आहवनीय अग्नि के अतिरिक्त अन्य १६ अग्नियाँ भी यद्यपि विरक्ष ही हैं तथापि उनमें असुर प्राण का प्रवेश हो जाता है । परन्तु आहवनीय अग्नि में आसुरभाव कभी भी प्रविष्ट नहीं हो पाते हैं—यही इस सारे प्रकरण का तात्पर्य्य है ।

आहवनीय से नीचे की १६ हों अग्नियाँ भी १७ वें अहर्गणस्थ प्राजापत्य विरक्षस्तम (आहवनीय) अग्नि से बद्ध रहती हैं—अतएव–असुर–उन पर आक्रमण मात्र ही कर पाते हैं, किन्तु बिगाड़ कुछ भी नहीं सकते । यदि आहवनीय से इनका सम्बन्ध न होता तो अवश्य आसुर प्राण इनमें अपना आधिपत्य जमा लेते । किन्तु आहवनीय अग्नि के कारण इन्हें मौका नहीं मिल पाता है । १७ वें स्थान (अहर्गण)

को ही स्वर्ग कहा जाता है। चयनयज्ञ के अतिरिक्त जो सोमयाग आदि हैं उनसे यही स्वर्ग मिलता है। **"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्"**। १७ वें अहर्गण में जो स्वर्ग है, वह सप्तदशस्वर्ग है। इससे नीचे रहने वाला अग्नि भी इस स्वर्ग से ही सम्बद्ध रहता है। आहवनीय अग्नि स्वर्ग्याग्नि है। चूँकि ऋत्विजाग्नि (सोलहों अग्नियाँ) इस आहवनीय से बद्ध रहती हैं—अतएव इन का भी उस स्वर्ग से–अमृतलोक से–सम्बन्ध हो जाता है। आहवनीयवत् इनकी भी सत्ता पृथिवी से उच्छिन्न नहीं हो पाती है—यही **"स्वर्गं समश्नुवते"** का तात्पर्य्य है। इसी प्राकृतिक विज्ञान को लक्ष्य में रख कर कहते हैं—

"ते (ऋत्विजः-प्राणाग्नयः) अविदुः-अयं वै (आहवनीयाग्निः) नो (आत्माकं मध्ये) विरक्षस्तमः। अस्यैव रूपमसाम"।

हम लोग (ऋत्विज) इसी के (आहवनीय अग्नि के) रूप को प्राप्त हो जाएँ अर्थात् अग्नि ही बन जाएँ। जिससे कि हम भी विरक्षस्तम हो जाएँ।

"तेन रक्षांस्यतिमोक्ष्यामहे-तेन स्वर्गं लोकं समश्नुविष्यामहे"।

इस अग्नि द्वारा हम लोग असुरों को नष्ट कर स्वर्ग में चले जाएँगे। यह सोच कर वे (ऋत्विज) अग्निरूप हो गये। हो क्या गये, वे अग्नि रूप थे ही। केवल इस विज्ञान को बतलाने के लिए "हो गये" यह कह दिया जाता है। चूँकि वे अग्नि रूप हो गए—अतएव उन आग्नेय ऋत्विजों ने स्वर्ग को प्राप्त कर लिया।

"तेऽग्नेरेव रूपमभवन्, तेन रक्षांस्यत्यमुच्यन्त। तेन स्वर्गं लोकं समाश्नुवत"।

जिस प्रकार प्राकृतिक देवताओं–ऋत्विग् जनों–ने अग्निरूप बन कर विरक्षस्तम हो कर स्वर्गलोक में अपना आधिपत्य जमा लिया, ठीक उसी प्रकार अवान्तर दीक्षा लेता हुआ यह यजमान अग्नि को आत्मसात् कर अग्निमय बन जाता है। ऐसा करने से वह यजमान आसुरभाव से सर्वथा मुक्त हो जाता है एवं इसी (आहवनीयाग्नि–दिव्याग्नि) से स्वर्ग का भोग करता है—

"तथोऽएवैष एतदग्नेरेव रूपं भवति, तेन रक्षांस्यतिमुच्यते, तेन-स्वर्गं लोकं समश्नुते"।

अवान्तर दीक्षा से आत्मा में आने वाला असुरभाव नष्ट हो जाता है। यही अवान्तर दीक्षा का रहस्य है। यद्यपि मेखलाकरण, अजिनधारण, अंगुलीन्यञ्चनादि सारे काम अवान्तर दीक्षा में ही शामिल हैं, सब कर्म्मों की समष्टि का नाम ही अवान्तर दीक्षा है–तथापि इन सब कर्म्मों में समिधाधान करके अग्नि को आत्मसात् करना ही मुख्य काम है–अतएव–यजमान अग्नि में समिधाधान करता हुआ ही अवान्तर दीक्षा को प्राप्त होता है, यह कहा जा चुका है। प्रधान्यात् केवल समिधाधान से ही अवान्तर

दीक्षा की समाप्ति मान ली जाती है। समिधाधानेन–आग्नेय प्राण को आत्मसात् कर-अध्यात्म और आहवनीय में आने वाले–आसुरभाव को रोका जाता है—

"स वै समिधमेवाभ्यादधदवान्तरदीक्षामुपैति" ॥८॥

अवान्तर दीक्षा क्यों होती है, इसका कारण बतला दिया गया है। अब पद्धति बतलाते हैं। पद्धति बतलाने के पूर्व यह कह देना आवश्यक है कि अन्य अग्नियों में तो असुरप्राण घुस जाते हैं–परन्तु शिरस्थानीय श्वास–स्वरूप प्राणाग्नि में असुर नहीं घुस सकते हैं। यह आधिदैवत चरित्र–अध्यात्म में भी लागू समझना चाहिए। आँख–नाक–कान–मुँह ये सभी देवता हैं और देवता अग्निमय हैं अतएव— **'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः''** (ऐ० उ० २।४) इत्यादि कहा जाता है। वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्र-मन ये पाँचों देवता हैं। प्राँचों में जो प्राण-तत्त्व है वह आहवनीय अग्नि ही है। इस प्राण (आहवनीयाग्नि) में ही असुर घुस नहीं पाते हैं।

गाली देना आसुरभाव है। मीठा बोलना दैवभाव है। इस प्रकार वाक् में असुर और दैव दोनों भाव है। बुरा-अच्छा सुनना भी क्रमशः आसुर और दैव भाव हैं। डरावनी आँखों और प्यार भरी आँखों से देखना इत्यादि भी आसुर और दैवभावयुक्त हैं। इस प्रकार समस्त देवताओं में (प्राणाग्नि को छोड़ कर) असुर हैं। अध्वर्यु समिधा को आहवनीय अग्नि में डालता हुआ यह मन्त्र बोलता है—

"अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपाः या तव तनूरियं सा मयि यो मम तनूरेषा सा त्वयि।
सह नौ व्रतपते व्रतानि अनु मे दीक्षां दीक्षापतिर्मन्यताम् अनुतपस्तपस्पतिः" ॥

(वा० सं. ५।६)

हे अग्नि ! आप व्रतपा हैं। देवताओं के व्रतपति हैं। देवता जो भी व्रत करते हैं उसे आप ही पालते हैं। देवताओं का प्राण आहवनीय ही है, क्यों कि आग्नेय प्राण का नाम ही तो देवता है। अतएव अग्नि को देवताओं का व्रतपति कह सकते हैं। हे व्रतपा अग्ने ! आपके व्रतपति रहने पर मैं व्रत का पालयिता बन जाऊँ–ऐसी कृपा कीजिए अर्थात् मैं इस दीक्षा-व्रत का पालन करने में समर्थ बन सकूँ यही तात्पर्य्य है। आज मैं आपको (अग्नि को) आत्मसात् कर–आपकी साक्षी में (त्वयि सति) व्रतपा बन गया हूँ। अग्नि देवताओं के व्रतपति हैं–अतएव कहा गया है—

"अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा"–इति।

हे अग्ने ! आपके तेजोमय शरीर की तरह ही मेरा शरीर बन जाए अर्थात् मैं आपकी तरह ही तेजस्वी बन जाऊँ। मेरा शरीर आपका बन जाए। हे व्रतपते ! आपके और हमारे व्रत साथ रहें। आप करें वही मैं करूँ और मैं करूँ वही आप करें। वास्तव में बात सच है–जिस अग्नि को हमने आत्मसात् किया है वह हमसे पृथक् नहीं हैं। उसका और हमारा तो सर्वथा अभेद है। "सह नौः" इत्यादि का तात्पर्य्य बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं –"आपका जो शरीर है–वह मेरा है"–यह कहता हुआ यजमान अग्नि से अपनी त्वचा को परिवेष्टित करता है, अग्नि को आत्मसात् करता है। हे अग्नि! मेरी

दीक्षा के साथ आप भी दीक्षा लें और मेरे तप के साथ तप करें। आपका और मेरा अद्वैत हो जाए–अतएव कहा जाता है—

"या तव तनूरियं–सा मयि। यो मम तनूरेषा सा त्वयि। सह नौ व्रत–पते ? व्रतानि–इति। तद् अग्निना त्वचं विपल्यङ्गयते। अनु मे दीक्षां दीक्षा-पतिर्मन्यताम्। अनुतपस्तपस्पतिः"।

इस मन्त्रोच्चार के साथ समिधा को अग्नि में डालता हुआ यजमान अवान्तर दीक्षा लेता है। तदनन्तर अंगुलीन्यञ्चन करता है और पहले से ही चारों ओर लिपटी मेखलाओं को कस कर बाँधता है—

"तदवान्तरां दीक्षामुपैति। सन्तरामङ्गुलीरचते, सन्तरां मेखलां पर्यस्ता-मेवैनामेतत्सतीं पर्यस्यते ॥९॥

अवान्तर दीक्षा होने के बाद उसके आगे का कर्म्म बतलाते हुए कहते हैं कि–अवान्तर दीक्षा के अनन्तर ऋत्विक् गरमपानी से (मदन्तीभिः) सोम का उपचार करते हैं अर्थात् गरमपानी से सोमवल्ली को साफ करते हैं—

"अथैनं (सोमम्) अतो–(अस्मात् कालात्) मदन्तीभिरुपचरन्ति"।

गरम पानी से ही सोम का उपचार करने की क्या आवश्यकता ? ठण्डे पानी से ही क्यों न सोम का उपचार कर लिया जाए–इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—

यह अग्नि तप–स्वरूप है, ताप–धर्म्मा है–एवमेव मदन्ती है। तथैव गरम पानी है, वह भी तप–स्वरूप ही है। अतएव सोम को गरम पानी से साफ करते हैं अर्थात् गरम पानी से स्पर्श कर सोम का उपचार करते हैं। तात्पर्य्य कहने का यही है कि अवान्तर दीक्षा करने के बाद यजमान अग्निमय बन गया–अतएव वह तपोमूर्ति हो गया। इस स्थिति में यजमान को चाहिए कि जो कुछ भी करे तप–स्वरूप बन कर ही करे। सोम का उपचार करे तो तप ही से करे। ऐसा करने से इसके (सोम के) तप की वृद्धि हो जाती है। गरम पानी तप–स्वरूप है–अतएव इसके द्वारा सोम का उपचार करने से–सोम का तपोबल बढ़ता है–अतएव सोमराजा का मदन्ती (गरम पानी) से उपचार किया जाता है। गरम पानी से उपचार करने की यह पहली उपपत्ति है—

"तपो वा अग्निः, तपो मदन्त्यः। तस्मादेनं मदन्तीभिरुपचरन्ति" ॥१०॥

मदन्ती से सोम राजा को स्पर्श करने के अनन्तर उसे आप्यायित करते हैं, अर्थात् तुष्ट–पुष्ट करते हैं। गरम पानी के सिकताव से जैसे शान्ति और पुष्टि होती है–तथैव गरम पानी के स्पर्श से अध्वर्यु सोम राजा को आप्यायित करता है। "राजा वाजो ग्रहो हविः"–भेदेन सोम चार प्रकार का

होता है। चारों में जो वल्ली सोम है वह "राजा" कहलाता है। प्रकृत प्रकरण में चूं कि वल्ली सोम का ही उपचार चल रहा है अतएव यहाँ पर सोम को "राजा" विशेषण से व्यवहृत कर दिया गया है—

"अथ मदन्तीरुपस्पृश्य राजानमाप्याययन्ति"।

जिस कारण गरम पानी का स्पर्श करा कर सोम राजा को आप्यायित करते हैं-वह कारण बतलाते हैं—

"तद् यन्मदन्तीरुपस्पृश्य राजानमाप्याययन्ति"।

आज्य वज्र-स्वरूप है। घृत वास्तव में वज्र है। इन्द्र-विद्युत् का नाम ही वज्र है। अग्नि को जब पानी से अर्थात् वरुण से मार दिया जाता है तब घृत का जन्म होता है। इन्द्र जब वरुण से मार दिया जाता है तो तैल का जन्म होता है। अग्नि में जो इन्द्र-विद्युत् रहती है, वह वज्रस्वरूपा है-अतएव अग्नि-स्वरूप आज्य को अवश्य वज्र कह सकते हैं। सोम रेतस् (वीर्य्य) है। इसी सोम की आहुति से नया दिव्यात्मा पैदा किया जाता है। यदि इससे (सोम से) आज्य-स्वरूप वज्र का सम्बन्ध हो जाए तो सोम की प्रजनन शक्ति मारी जाएगी। हम कहीं आज्य-स्वरूप वज्र से-वीर्य्य-स्वरूप सोम की उस शक्ति को नष्ट न कर डालें-जिससे कि दिव्यात्मा पैदा होता है-अतएव मदन्ती पानी से सोम राजा का आप्यायन करते हैं।

अवान्तर दीक्षा के पहले तानूनप्त्र करते हुए हाथ में घृत ले कर उसका स्पर्श किया था अतएव इसके कारण जो आज्य की विद्युत् हाथ में मौजूद रहती है उस विद्युत् को हटाने के लिए मदन्ती पानी से राजा (सोम) का आप्यायन होता है। परन्तु ध्यान रहे कि पानी गरम होना चाहिए क्यों कि अग्नि मिथुनभावकर्त्ता एवं प्रजनयिता है—**"अग्निः प्रजननम्"** (गो० पू० २।१५) हमें सोम से दिव्यात्मा पैदा करना है और पैदा होना दाम्पत्य-सम्बन्ध पर निर्भर है तथा दाम्पत्य-सम्बन्ध अग्नि पर निर्भर है-अतएव गरम पानी से आप्यायन किया जाता है। इससे दाम्पत्य-सम्बन्ध भी हो जाता है और आज्य की हिंस्र शक्ति भी दब जाती है तथा सम्यक्तया आप्यायन भी हो जाता है-अतएव मदन्ती से उपचार करते हैं-इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"वज्रो वा आज्यम्, रेतः सोमः। नेद्वज्रेणाज्येन रेतः सोमं हिनसामेति। तस्मान्मदन्तीरुपस्पृश्य, राजानमाप्याययन्ति" ॥११॥

कितने ही याज्ञिक महर्षि कहते हैं-जिस सोम के लिए आतिथ्य-स्वरूप आप्यायन किया जाता है-उसे ही पहले आप्यायनादि से सत्कृत करना चाहिए। तात्पर्य्य यही है कि सोम का आतिथ्य करना भी सोम को आप्यायित करना है एवं अवान्तर दीक्षा करना भी सोम को आप्यायित करना है। अवान्तर और आतिथ्य दोनों से सोम की पुष्टि ही होती है, अर्थात् वह तपोमय हो जाता है-अतएव उचित यही है कि पहले आतिथ्य-इष्टि की जाए। आतिथ्य-इष्टि करते ही-आगत सोम के आप्यायन के लिए अवान्तर दीक्षा की जाए तथा इसके बाद तानूनप्त्र किया जाए।

हमारे यहाँ यदि कोई अतिथि आए तो अन्य सभी कार्य्य छोड़ कर सर्वप्रथम अतिथि का आप्यायन करना चाहिए। आगत अतिथि का उपचार (आप्यायन) करने की जगह अन्य कार्य्यों में ही प्रवृत्त रह जाना सर्वथा अनुचित है। अतएव आतिथ्यानन्तर मर्य्यादानुसार आप्यायन-स्वरूपा अवान्तर दीक्षा करनी चाहिए। बाद में तानूनप्त्र करना चाहिए–यह प्राचीनों का मत है। इसी को बतलाने के लिए उक्त ब्राह्मण के प्रारम्भ (प्रथम कण्डिका) में "आतिथ्येन वै देवाः" यह कह दिया गया है। प्राचीन याज्ञिक आतिथ्य के अनन्तर अवान्तर–इष्टि को मान्य करते हैं–"आतिथ्येन वै"। इसी मत का उल्लेख करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"यस्माऽएतदाप्यायनं क्रियते–आतिथ्यं सोमाय–तमेवाग्रऽआप्याययेयुः- (आगत सोमस्य–अन्य कर्म्मभ्य–प्राक्–मर्य्यादानुसारमाप्यायनमावश्यकम्) अथावान्तरदीक्षाम्–अथ तानूनप्त्राणीति"।

इस मत का खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि "नहीं, ऐसा कभी नहीं करना चाहिए"—

"तदु तथा न कुर्याद्"।

याज्ञवल्क्य कहते हैं–"प्राचीनों ने जो क्रम–संनिवेश बतलाया है वह यज्ञ का है अर्थात् यदि यज्ञ में अवभृथ स्नान पर्य्यन्त किसी भी प्रकार का व्यवधान नहीं आता तो पहले अवान्तर दीक्षा ही की जाती। परन्तु देवताओं में अवभृथ (सोमभृत) स्नान से पूर्व ही कलह हो गया था–अतएव आप्यायन के पूर्व उन्होंने इस कलह की शान्ति–स्वरूप "तानूनप्त्र कर्म्म" किया था। तदनन्तर आप्यायन–स्वरूप अवान्तर दीक्षा ली थी। बात वास्तव में सच है–यदि कर्म्म करते समय किसी भी प्रकार का व्यवधान या दोष आ जाए तो सर्वप्रथम उसे शान्त करना चाहिए। पहले उसका प्रायश्चित्त करना चाहिए–उसके बाद आगे का कर्म्म करना चाहिए। अतएव पहले तानूनप्त्र करना चाहिए; उसके बाद अवान्तर दीक्षा करनी चाहिए—

"यज्ञस्य वा एवं (क्रम विशिष्टं) कर्म। अत्र वा एनान्त्समदविन्दत्। ते संशममेव पूर्वमुपायन् (शमवे पूर्वं समुयायन्–कलहो पशमनरूप तानूनप्त्रं पूर्वं कृत वन्तः इति भावः) अथावान्तरदीक्षाम्–अथाप्यायनम्" ॥१२॥

जिस कारण से सोम का आप्यायन करते हैं—वह बतलाते हैं—

"तद् यदाप्याययन्ति" (तदुच्यते)।

जिस प्रकार अग्नि देवता है–तथैव सोम भी देवता है। सोम देवता है इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि सोम द्युलोक में रहता है और द्युलोक में सिवाय देवताओं के कोई नहीं रह सकता। यह स्थान

चूंकि देवताओं का है–अतएव इसे 'द्युलोक" कहते हैं। "दिवि सोम आसीत्" (तै० ब्रा० १।१।३।१०) से सिद्ध होता है कि सोम द्युलोक की वस्तु है अतएव हम इसे देवता कहने के लिए तैय्यार हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"देवो वै सोमः–दिवि हि सोमः"-(आसीत्–असौ वै सोमो देवः–इति भावः) ।

वृत्र नाम का जो असुर है–वह सोम–स्वरूप था अर्थात् उसका शरीर सोम से बना था। त्वष्टा नाम का बड़ा जबर्दस्त असुर था। उस असुर के पुत्र का नाम विश्वरूप था। उसके तीन मस्तक थे, छह आँखें थीं–वह विश्वरूप नाम से प्रसिद्ध हुआ। जैसा कि श्रुति कहती है—

"त्वष्टुर्ह वै पुत्रः। त्रिशीर्षा षडक्ष आस तस्य त्रीण्येव मुखान्यासुस्तद्य देवं रूप आस तस्माद्विश्वरूपो नाम"। (शत० ५।५।४।२)

इन्द्र ने इस विश्वरूप नामक राक्षस को मार डाला। यह देख कर-त्वष्टा को बहुत क्रोध आया। उसने इन्द्र को मारने के लिए यज्ञ किया। यज्ञ में एक द्रोणकलश होता है। उसमें सोम भरा गया। त्वष्टा ने विचार किया कि इस सारे सोम से मैं ऐसा पुत्र उत्पन्न करूँगा जो इन्द्र को एक क्षण में मार डालेगा। इसकी सूचना इन्द्र को मिल गई। वे अति सूक्ष्म रूप धारण कर उस द्रोणकलश में घुस कर सारा सोम पी गए। किन्तु उसमें थोड़ा सोम फिर भी शेष रह गया। जब त्वष्टा को यह मालूम हुआ तो वह क्रुद्ध हो कर बोला–हे इन्द्र ! तुम मेरे हाथ से बच कर निकल नहीं सकते हो। यह कह कर उसने बचे हुए सोम की "इन्द्र शत्रुर्वर्धस्व" कह कर आहुति देना प्रारम्भ कर दिया। इस यज्ञ से वृत्र नाम का महाबलवान् असुर उत्पन्न हुआ। इस प्रकार इस सारे प्रपञ्च से कहना यही है कि द्रोणकलश के सोम से "वृत्र" बना है। वृत्र का शरीर सोममय है❀–अतएव कहा गया है—

"वृत्रो वै सोम आसीत्"।

वृत्र को इन्द्र ने खण्ड-खण्ड करके अन्त में मार डाला—

"इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार"। (शत० १।२।४।१)

पूर्व कपाल और पश्चिम कपाल इन दोनों को मिलाने से घट-रूप खगोल का स्वरूप बन जाता है। यह खगोल वास्तव में घटाकार (मटके की तरह का) ही है। इसी का नाम द्रोणकलश है। इसमें अर्थात् व्यापक आकाश में–सर्वत्र सोम भरा रहता है। यह सोम निज स्वरूप से सर्वथा काला है।

❀ इस विषय का विस्तृत विवेचन पं. मोतीलाल शास्त्रीजी द्वारा प्रणीत 'शतपथ ब्राह्मण हिन्दी विज्ञान भाष्य' के प्रथम काण्ड में देखना चाहिए।

यह सर्वत्र व्याप्त हो सब को ढक लेता है—अतएव—"**सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रः**" (शत० १।१।३।४) के अनुसार इस सोम को वृत्र नाम से व्यवहृत किया जाता है। सोम असुर नहीं है। आप्य प्राण का नाम असुर है। आप्य-प्राण असुर को इसी सोम में रहने का मौका मिलता है। क्यों कि अग्नि में आप्य-प्राण नहीं घुस सकता, केवल सोम ही में इसकी दाल गलती है। परन्तु इन्द्र अर्थात् सूर्य्य—सोम में घुसे हुए आप्यप्राण-स्वरूप तमोमय असुर का खण्ड-खण्ड कर डालता है अर्थात् परमेष्ठि-मण्डल के सोम को जो सूर्य्य में आ जाता है, सूर्य्य—रश्मियाँ धक्का दे कर खण्ड-खण्ड में परिणत कर देती हैं। वही विभक्त सोम पत्थर बनता है। इसीलिए तो "**सोममद्रौ**" कहा जाता है। बड़े-बड़े जितने भी पर्वत हैं वे वृत्र का शरीर हैं। पत्थर आदि भी ध्रुव सोम से बनते हैं। "ध्रुव-धर्त्र-धरुण-धर्म्म"—इन चार जातियों के सोमों में जो ध्रुव सोम है—वही पत्थर बनता है। यह सोम भी खण्डशः नाना रूपों में परिणत हो जाता है। जैसे त्रिककुद पर्वत है वह भी इसी ध्रुव सोम से बना है—इसीलिए कहा गया है—

"यत्र वाऽइन्द्रो वृत्रमहंस्तस्य यदक्ष्यासीत्तं गिरिं त्रिककुदमकरोत्"।
(शत० ३।१।३।१२)

यही सोम "**अशाना**" नाम की औषधि बन कर उत्पन्न होता है। सोमवल्ली का प्रातिस्विक नाम "**अशाना**" ही है। वृत्रप्राण मिश्रित जो सोम है वही अशाना नाम की वेलड़ी (लता) बनता है। इसे ही सोमवल्ली या सोमलता कहते हैं। उद्दालक महर्षि के पुत्र महर्षि श्वेतकेतु अपनी "ब्रह्मपर्षद" में परीक्षा कर यह मानते हैं कि इन्द्र ने जिसके द्वारा वृत्र को खण्ड-खण्ड कर दिया था वही त्रिककुद गिरि अश्मा-अशाना नाम की औषधि का उत्पत्ति-स्थल है। उस वृत्रखण्ड-मिश्रित सोम से ही यह गिरि पैदा हुआ है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"तस्यैतच्छरीरम् यद्गिरयो, यदश्मानः। तदेषोऽशाना नामौषधिर्जायते इति ह स्माह श्वेतकेतुरौद्दालकिः"।

यज्ञ में आगत सोमवल्ली को कूटते हैं। इसी को "अभिषव" कहते हैं। सोमवल्ली में त्वचा इत्यादि भाग असुर—भाग है और रस—भाग साक्षात् सोम देवता है। इस रस—भाग के अर्थात् सोम के मूल स्वरूप के निष्कर्षण के लिए उसके असुर—भाग को मार-कूट कर नष्ट किया जाता है। इसके बाद दीक्षा से—तानूनप्त्र से—उपसत् से—आप्यायन इत्यादि कर्म्मों से—वल्ली से सोम निष्पन्न करते हैं। वास्तव में प्राण-देवता ऐसा ही करते हैं। जो सोम सूर्य्य में आता (आहुत होता) है—उसके साथ असुर (आप्यप्राण) भी आना चाहते हैं। परन्तु इन्द्र अपनी प्रबल रश्मियों के द्वारा धक्का दे कर आप्यप्राण को बाहर की ओर फेंक देता है और सोम को छाँट कर अपने में ले लेता है। वही सोमवल्ली बनता है। भौमस्वर्गनिवासी देवताओं ने इसे कूट कर दीक्षा-तपादि से शुद्ध रूप से निकाला। जिस समय असुर को कूटा जाता है तो उस घात का असर सोम पर भी होता है। अवान्तर दीक्षादि से उस कृश सोम को अलग कर—उस घात को मिटाने के लिए—उसे आप्यायित करने के लिए—उसका मदन्ती (गरम) पानी से उपचार करते हैं। भौम देवताओं ने ऐसा करके वल्ली में से—अभिषव द्वारा असली सोम को निकाला था तथैव यजमान भी इसी प्रकार असली सोम को निकाल कर उसका आप्यायन करता है—

"तामेतदाहृत्याभिषुण्वन्ति । तां दीक्षोपसद्भिः, तानूनप्त्रैः, आप्यायनेन सोमं कुर्वन्तीति । तथोऽएवैनामेष एतद्दीक्षोपसद्भिस्तानूनप्त्रैराप्यायनेन सोमं करोति" ॥१३॥

अवान्तर दीक्षाके अनन्तर सोम का आप्यायन किया जाता है । सोम का आप्यायन क्यों किया जाता है, इसका विवरण पूर्व में बतला दिया गया है । सोम वृत्र का शरीर था । वृत्र सोम में घुसा हुआ था । वल्ली को कूट कर जब उसमें से सोम निकाला जाता है तो अभिषवजनित आघात से सोम पर भी आघात होता है । इस आघात से सोम में निर्बलता आ जाती है । उसी निर्बलता को दूर करने के लिए सोम का आप्यायन किया जाता है । आप्यायन का अन्य कारण और बतलाते हैं—

प्राचीन समय में "यह मधु सारघ है"—इस प्रकार कहा करते थे । कितने ही पदार्थ लोक में ऐसे हैं जिनको असली नाम न लेकर अन्य नामों से व्यवहृत करते हैं । उन पदार्थों की उत्कृष्टता बतलाने के लिए ही उन्हें अन्य नामों से व्यवहृत किया जाता है । उदाहरणार्थ यदि आम बहुत ही मिष्ट (मीठा) है तो उसे आम न कह कर "मिश्री की डली है", "कलाकंद है" इत्यादि नामों से व्यवहृत करते हैं । यहाँ पर मिश्री की डली—यह सम्बोधन आम के लिए है । उसके माधुर्य्यातिशय का द्योतन करने के लिए ही उसे (आम को) मिश्री कह दिया जाता है । ठीक इसी प्रकार प्राचीन समय में "मधु सारघ है" यह कहा जाता था ।

"मधु सारघमिति वा आहुः" ।

"मिश्री की डली है" में आम के लिए मिश्री कहा जाता है, उसी प्रकार—याज्ञवल्क्य कहते हैं— "मधु सारघ में जो मधु सारघ है वह यही यज्ञ है अर्थात् यज्ञ ही मधु सारघ है" । इसका तात्पर्य्य यह है कि लोक में "मधु सारघ है—मधु सारघ है" कहते हैं वह इसी यज्ञ के लिए कहते हैं । खजूर—सांठा (गन्ना)—पुष्प, मधु—इत्यादि जितने भी मधुर रस हैं उन सबको '**मधु**' शब्द से व्यवहृत किया जाता है । मधुर रस का नाम ही मधु है । इन मधु रसों में से मधुमक्षिका से सञ्चित जो पुष्परस—मधु है, उसका नाम "**सारघ मधु**" है । "**सरघा**"—मधुमक्षिका का वैदिक नाम है । प्रत्येक पुष्प में से उसके रस को निचोड़ कर (चूँसकर) मधुमक्षिकाएँ अपने में संचित करती हैं—अतएव "सरन् सन्ध्नन्ति" इस व्युत्पत्ति से इसे "सरघा" कहा जाता है । इससे सञ्चित जो मधु है वही "सारघ मधु" कहलाता है । खजूर—साँठा (गन्ना) आदि में जो मधु होता है वह तो उनका अपना ही अर्थात् एक पदार्थ का ही रस होता है । खजूर में खजूर का ही मधु होता है, साँठे में साँठे का ही रस होता है, अर्थात् इनमें अन्य पदार्थों के रस का मिश्रण नहीं होता । किन्तु सारघ मधु में कितने ही अन्य रस मिले रहते हैं, क्यों कि अनेकों पुष्पों के रसों से ही सारघ मधु बनता है । मधुमक्षियाँ अनेकों पुष्पों से रस को एकत्र करती हैं एवं इनके (रसों के) एकत्र करने के साथ ही उनकी (मधुमक्षिकाओं की) जिह्वा की लाला (लार) भी उन रसों में मिल जाती है । इस प्रकार इस मधु में कई पुष्पों का रस रहता है और इसमें मक्षिकाओं का अपना हिस्सा भी मिश्रित हो जाता है । अन्य मधुओं की अपेक्षा सारघमधु में यही विशेषता है ।

प्राकृतिक प्राण-देवताओं का यज्ञ भी ठीक इसी प्रकार का है। प्राण-देवताओं के यज्ञ में तीनों लोकों का रस शामिल रहता है। और जिस यजमान की ओर से यज्ञ होता है–उसका आत्मा भी इस यज्ञ में शामिल रहता है। आत्म-सम्बन्ध से ही तो वह यज्ञ उसका कहलाने लगता है। प्रत्येक पिण्ड में भी–स्तौम्य त्रिलोकी विभाग की भाँति ही पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-आपः ये चार लोक रहते हैं। इन चारों की समष्टि से ही यज्ञ होता है। सूर्य्य में भी ये चारों लोक हैं। पृथिवी में भी ये चारों लोक हैं। चन्द्रमा में भी ये चारों लोक रहते हैं। यच्चयावत पिण्डों में ये सभी चारों लोक मौजूद रहते हैं। प्रत्येक पिण्ड का हृदयस्थ आत्मा-प्रजापति अपने यज्ञ में शामिल रहता है। सूर्य्य का आत्मा अपने यज्ञ में शामिल रहता है। पार्थिव आत्मा अपने यज्ञ में शामिल रहता है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि समस्त पिण्डों के अपने-अपने प्रातिस्विक यज्ञ भिन्न-भिन्न रूपेण ही रहते हैं और उनमें से प्रत्येक यज्ञ में सम्बद्ध पिण्ड का आत्मा बद्ध रहता है। प्रत्येक यज्ञ चारों लोकों के रसों से सम्पन्न होता है।

स्तौम्य त्रिलोकी के अन्तर्गत जो **पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-आप** ये चार लोक हैं, उनके रसों को **प्राण ऋत्विक्** एकत्र कर उससे यज्ञ-मधु तय्यार करते हैं। चूंकि यज्ञ बिलकुल "सारघ मधु" के समान ही है–उसी प्रकार उत्पन्न होता है–अतएव इसे (यज्ञ को) मधु न कह कर "सारघ मधु" कहा गया है। त्रैलोक्य में ८ वसु–११रुद्र-१२आदित्य-२अश्विनी कुमार-ये ३३ देवता रहते हैं। यज्ञ-मधु को तीनों लोकों में से चूस कर निकालने वाले यही प्राण-देवता हैं। अतएव ये प्राण–देवता मधु–सारघ (मधुमक्षिकाएँ) हैं। इसीलिए इनके द्वारा सञ्चित हुए यज्ञ को अवश्य ही "मधु सारघ" कह सकते हैं। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"मधु सारघमिति वा आहुः। यज्ञोह वै मधु सारघम्"।

जिस प्रकार प्रकृति-यज्ञ में प्राण-देवता-'मधु सारघ' हैं–एवमेव वैध–यज्ञ में (मानुष यज्ञ में) ब्राह्मण ऋत्विक् ही सारघ हैं। ये ऋत्विक् ही नाना पदार्थों में से रस निकाल कर यज्ञ का संभरण करते हैं। यज्ञ को यही निष्पन्न करते हैं—

"अथैत एव सरघो मधुकृतो यदृत्विजः"।

जिस प्रकार मधुमक्षिका मधु एकत्र कर अपने छत्ते के कोष्ठकों को भर देती है–आप्यायित कर देती है–एवमेव ये प्राण-देवता और मनुष्य-देवता यज्ञ-रस को एकत्र कर यज्ञकोष्ठ को भर देते हैं। प्राण-देवता (ऋत्विक्) चारों लोकों के रसों को एकत्र कर उसे महिमामण्डल-स्वरूप कोष्ठ में भर लेते हैं—

"तद्यथा मधु मधुकृत आप्याययेयुः–एवमेवैतद्यज्ञमाप्याययन्ति" ।।१४।।

ऋत्विक् किस प्रकार सोम का आप्यामन करते हैं? सोम में क्या कमी हो गई है? इसका समाधान करते हैं–रोदसी त्रिलोकी में प्राण-देवता अपराजेय हैं। यह अपराजेयता उन्हें (देवताओं को)

सोम यज्ञ से ही प्राप्त हुई है। सोम-यज्ञ की महिमा के कारण ही–सूर्य्य-चन्द्र-अग्नि-वायु आदि ३३ देवताओं ने सर्वत्र अपना आधिपत्य जमा रक्खा है। इसका कारण सोम ही है। क्यों कि यदि सूर्य्य के ऊपर रहने वाला पारमेष्ठ्य सोम इन आग्नेय देवताओं में न आए तो अग्नीषोमात्मक यज्ञ बन्द हो जाए एवं उसी क्षण प्राण-स्वरूप आग्नेय ३३ देवता उच्छिन्न हो जाएँ—

"यज्ञेन वै देवाः इमां जितिं जिग्युः–यैषामियं जितिः"।

इस प्रकार सोमयज्ञ के द्वारा समस्त रोदसी त्रिलोकी पर अपना प्रभुत्व जमा कर देवताओं ने यज्ञ के प्रतिष्ठा-तत्त्व की रक्षा के लिए विचार किया कि "ऐसा क्या उपाय किया जाए कि यह यज्ञ-रहस्य मनुष्यों के लिए अनभ्यारोह्य हो जाए। अर्थात् कोई इस प्रकार का उपाय करना चाहिए कि जिससे इस लोक-साधन-भूत यज्ञ-रहस्य को सामान्य मनुष्य न समझ सकें—

"ते होचुः-कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यं स्यादिति"।

आखिरकार देवताओं को यज्ञ-रहस्य बनाये रखने का मार्ग मिल गया। जैसे मधुमक्षिकाएँ अपने ऊपर आक्रमण होता देख कर पुष्पों के चूसे गए रस को साथ ले कर उड़ जाती हैं ठीक उसी प्रकार देवता भी यज्ञ के सार-भाग का अवशोष कर, अर्थात् यज्ञ का दोहन कर, यूप (सूर्य्य) की ओट में छुपा कर अन्तर्हित हो गए। चूंकि सूर्य्य से ही उन्होंने यज्ञ को छुपाया था, अतः योपन-साधनत्वात् इस सूर्य्य को **"यूप"** कहने लग गए। सूर्य्य में सारे देवता रहते हैं। सूर्य्य में निरन्तर सोम आता रहता है। देवताओं की विजय का एकमात्र कारण यही निरन्तर आने वाला सोम अर्थात् सोम-यज्ञ है। यदि यह सोमयज्ञ (सोमाहुति) सूर्य्य में न हो तो उसमें रहने वाले रोदसी त्रिलोकी के समस्त आग्नेय प्राण-देवता उसी समय अपने मूल-स्वरूप से उच्छिन्न हो जाएँ।

पारमेष्ठ्य सोम से ही यज्ञ होता है–अतएव यही यज्ञ का "सार-भाग" है। हमको सूर्य्य-पिण्ड के दर्शन तो होते हैं किन्तु सूर्य्य में आहुत होने वाले पारमेष्ठ्य सोम के दर्शन हम नहीं कर पाते हैं। यज्ञ का यह सार-भाग हमारी दृष्टि से सर्वथा ओझल है। देवताओं द्वारा अवशोष किए हुए इस सार-भाग को हमारी दृष्टि से छुपाने का साधन सूर्य्य ही है। सूर्य्य की प्रखरता के कारण हमारी दृष्टि उसकी ओर ठहर ही नहीं सकती अतएव साधारण मनुष्य आहुत सोम को देख नहीं पाते हैं। चूँकि सूर्य्य ही हम से यज्ञ के सार-भाग को छुपाता है अतएव इसे **"यूप"** कहते हैं। यह आख्यान अध्यात्म-अधिभूत-आधिदैवत तीनों अर्थों में लागू है ❀

"ते यज्ञस्य रसं धीत्वा–यथा मधु मधुकृतो निर्द्धयेयुः–विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्। अथ यदनेनायोपयन्। तस्माद्यूपो नाम" ॥१५॥

❀ इन तीनों का विस्तृत विवेचन पूर्व के "दीक्षितव्रत" ब्राह्मण में कर दिया गया है।

यज्ञ के इस सार-भाग को सामान्य मनुष्य नहीं पहचान सकते। परन्तु वैज्ञानिक महर्षियों ने इस यज्ञ-रहस्य को पहचान कर जिस प्रकार प्राण-देवताओं का यज्ञ हो रहा है उसी प्रकार यहाँ यज्ञ का संभरण किया। अर्थात् प्राण-देवताओं के यज्ञ के आधार पर ही भारतीय महर्षियों-वैज्ञानिकों ने यज्ञ-विद्या का आविष्कार किया।

ब्रह्म और क्षत्र में ब्रह्म की दो विभूतियाँ हैं। **"चतुष्टयं वा इदं सर्वम्"** (कौ २।१) के अनुसार ये दोनों ही चार-चार भागों में विभक्त हैं। **राजा-सम्राट्-स्वराट्-विराट्**" ये चार क्षत्र के विभाग हैं। ये चारों विभाग ही दो-दो प्रकार के हैं। भोज और महाभोज ये दोनों विभाग राजा के हैं-इनमें "भोज" राजा तथा महाभोज महाराजा कहलाता है। जिसके अधिकार में सौ ग्राम होते हैं वे "भोज" कहलाते हैं। तथा सौ भोजों (प्रत्येक के पास सौ-सौ ग्राम हों) पर जिनका अधिकार हो वे महाभोज अर्थात् "महाराजा" कहलाते हैं। जिनके अधिकार में अनेकों महाराजा हों वह "सम्राट्" कहलाता है। सम्राट् भी "चक्रवर्ती" और "सार्वभौम" भेदेन दो प्रकार के होते हैं। जिसके पास १४ रत्न हैं वह "चक्रवर्ती" कहलाता है एवं जिसका पृथिवी-मण्डल में दबदबा हो वह "सार्वभौम" कहलाता है। कई सम्राट् जिसके अधीन हों वह "स्वराट्' कहलाता है। सम्राट् बादशाह को कहते हैं। सार्वभौम शहनशाह को कहते हैं। वर्तमान में सम्राट् तक ही क्षत्र की समाप्ति है। अर्थात् कोई भी सार्वभौम है ही नहीं। अस्तु-जो स्वराट् है वह "इन्द्र" और "महेन्द्र" भेदेन दो प्रकार का है। **अ-सपत्न** राज्य-भोक्ता महेन्द्र **है-सपत्न** राज्य-भोक्ता इन्द्र है। जब तक असुरेन्द्र जीवित रहा तब तक देवेन्द्र-इन्द्र ही कहलाए-परन्तु जब उन्होंने असुरेन्द्र को मार डाला, तो वे महेन्द्र हो गए-अतएव "इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा महेन्द्रोऽभवत्" (शत० १।६।४-२१) यह कहा जाता है। चौथा दर्जा है विराट् का। इसके "ब्रह्मा" और "विष्णु" ये दो भेद हैं। इन्द्र तक सात प्रकृतियाँ हैं-फौजें हैं-सब-कुछ है। इसके बाद अर्थात् विराट् श्रेणी में कुछ नहीं है। ब्रह्मा और विष्णु दोनों ही लँगोटिया (गहरे मित्र) हैं। इनकी कोई सम्पत्ति नहीं है एवं सारी सम्पत्ति इन्हीं की है। इस सारे प्रपञ्च से कहने का तात्पर्य्य यही है कि क्षत्र वीर्य्य-राजा-सम्राट्-स्वराट्-विराट्-इन चार सीगों (विभागों) में विभक्त है।

ब्रह्मवीर्य्य—ब्राह्मण-विप्र-ऋषि-देवता इन चार भागों में विभक्त है। संस्कारावाच्छिन्न षट्कर्म्मा जो ब्राह्मण है वह "ब्राह्मण" कहलाता है। विद्यातपोयुक्त ब्राह्मण "विप्र" कहलाता है। अष्टसिद्धि-नवतुष्टि प्राप्त एवं साक्षात्कृतधर्म्मा ब्राह्मण-"**ऋषि**" कहलाते हैं। जो पृथिवी के आकर्षण से छूट कर अमा में देवता बन जाते हैं-जिनके लिए—**"दिवं पृथिव्या अध्यासहाम"** यह कहा जाता है, वह "**देवता**" है। ऋषि भी तिरोहित हो सकते हैं—परन्तु "**यावदधिकारमवस्थितिरधिकारिकारणम्**" के अनुसार उन्हें पृथिवी की पकड़ में रहना पड़ता है जब कि देवता पृथिवी की पकड़ में नहीं रहते। यही "**ब्रह्म चतुष्पदी**" है। इन चारों में, देवता सिद्धावस्था में हैं—अतएव उनके विषय में हमें कुछ नहीं कहना है। बाकी रहे ऋषि। यही (ऋषि) यज्ञ-विद्या के आविष्कर्त्ता हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"तद्वा ऋषीणामनुश्रुतमास। ते यज्ञं समभरन्। यथाऽयं यज्ञः सम्भृतः"।

जिस प्रकार ऋषियों ने यज्ञ का संभरण किया था–उसी प्रकार यह (दीक्षा लेने वाला यजमान) भी यज्ञ का सम्भरण करता है। यज्ञ का सम्भरण वही करता है जो कि दीक्षा लेता है। जिस प्रकार ऋषियों ने यज्ञ का सम्भरण किया था अर्थात् यज्ञ किया था वैसे ही, उसी पद्धति के अनुसार, यजमान भी यज्ञ करता है—

"एवं वा एष यज्ञं सम्भरति यो दीक्षते"।

त्रिलोकी में व्याप्त जो इन्द्र वाक् है उसी पर अग्नीषोमात्मक यज्ञ प्रतिष्ठित रहता है। इसी वाक् के लिए कहा जाता है—

"सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत्।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्"॥

(ऋग्वेद मं० १०।११४।८)

वाङ्मण्डल को वषट्कार-मण्डल कहते हैं। इसमें ३३ अहर्गण हैं। ३३ में से २१ तक अग्नि रहता है। २७ तक भास्वर सोम रहता है। ३३ तक दिक् सोम रहता है। वाङ्मण्डल पर ही अग्नीषोमात्मक यज्ञ होता है। अतएव हम वाक् को यज्ञ कहने के लिए तय्यार हैं।※

"वाग् वै यज्ञः"।

इस प्रकार सारे प्रपञ्च से बतलाना यही है कि यज्ञ का जो सार-भाग निर्धीत हो गया है–अर्थात् चूस लिया गया है एवं विदुह्य हो गया है—उसे ही पुनः आप्यायित किया जाता है। सोम–इन्द्र की बहुत घनिष्ठता है। इन्द्र सोम का अवशोष (चूषण) कर लेता है। सम्भव है कि यज्ञ के सार-भाग-भूत हमारे वल्ली–सोम को भी प्राण–इन्द्र चूस गया हो। निदानेन उसी क्षति की पूर्ति करते हैं। सोम के आप्यायन का यही कारण है—

"तद्यदेवात्र यज्ञस्य निर्धीतं, यद्विदुग्धं–तदेवैतत्पुनराप्याययति"॥१६॥

६ ऋत्विक् सोम का आप्यायन करते हैं–इसीलिए कहा गया है—

"ते वै षड्भूत्वा आप्याययन्ति"।

६ ऋत्विक् सोमाप्यायन क्यों करते हैं इसका कारण बतलाते हैं–वाङ्मण्डल में २१ अहर्गण तक वितत अग्नि एवं ३३ तक वितत सोम के सम्बन्ध का नाम ही "यज्ञ" है। २१ अहर्गण तक वितत अग्नि का पृथिवी के केन्द्र से ले कर २१ अहर्गण तक जो मण्डल बनता है—उस आग्नेय मण्डल को "संवत्सर

※ वाक् कैसे यज्ञ है–इसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ के "दीक्षणीयेष्टि" प्रकरण में देखना चाहिए।

मण्डल" कहते हैं। इस सम्वत्सर मण्डल में वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरत्-हेमन्त-शिशिर ये ६ ऋतुएँ हैं। इसका तात्पर्य्य यह है कि संवत्सराग्नि ६ अवयवों में विभक्त है। छहों ऋतुएँ पारमेष्ठ्य सोम को आप्यायित करती रहती हैं। इन ऋतुओं का सम्पूर्ण संवत्सर से सम्बन्ध ३६० दिनों में पूर्ण होता है। क्योंकि संवत्सर के ६ अवयव हैं—अतएव कह सकते हैं कि-ये ऋतुएँ ही सोमाप्यायन करती रहती हैं—"यद्वै देवा अकुर्वं स्तत् करवाणि"—यह हमारा मूल मन्त्र है-–अतएव प्रकृति-यज्ञानुसार यहाँ (मानुष-यज्ञ में) भी ऋतु स्वरूप ६ ही ऋत्विक् सोमाप्यायन करते हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"षड् वा ऋतवः। ऋतव एवैतद् भूत्वा आप्याययन्ति" ।।१७।।

सोम का आप्यायन क्यों करना चाहिए इसकी उपपत्ति बतला दी गई है-अब पद्धति बतलाते हैं-ऋत्विक् निम्नलिखित मन्त्र से सोम को आप्यायित करते हैं—

"त आप्याययन्ति"।

"अंशुरंशुष्टे देव सोमाप्यायतामिन्द्रायैक धनविदे। आतुभ्यमिन्द्रः प्यायतामा त्वमिन्द्राय प्यायस्व। आप्याययास्मान्त् सखीन्त्सन्या मेधया। स्वस्ति ते देव सोम सुत्यामशीय"। (वा० सं० ५।७)

हे सोम देवता! आपका अंशु-अंशु तृप्त हो जाए। आप सर्वात्मना तृप्त हो जाएँ-यही तात्पर्य्य है। इस मन्त्र-भाग से ऋत्विक् सोम के सम्पूर्ण अंशुओं को आप्यायित करता है। सोम-वल्ली के प्रादेश मात्र टुकड़े काट-काट कर उसकी एक-एक फली बना ली जाती है। इस फली का नाम ही "अंशु" है। प्राण प्रादेशमित होते हैं-अतएव "प्रादेशमित वै प्राणः" यह कहा जाता है। इस सोम द्वारा दिव्यप्राण उत्पन्न होते हैं। दिव्य-प्राण प्रादेशमित हैं। इनका साधक सोम ही है-अतएव प्रादेशमात्र ही अंशु होते हैं। इन्हीं अंशुओं को ऋत्विक् आप्यायित करते हैं—

"तदस्यांशुरंशुमेवाप्याययन्ति" (ऋत्विजः)।

घृत से सोमांशुओं का आप्यायन होता है। इससे यद्यपि सारे अंशुओं का आप्यायन नहीं होता तथापि भावना द्वारा समस्त अंशुओं को तृप्त कर देते हैं। इसी बात को दिखलाने के लिए "अंशुरंशु" अर्थात् "अंशु-प्रत्यंशु" कहा गया है। वीप्सा * (स्पृहा-कामना) का यही तात्पर्य्य है। देवता धनविद होते हैं। सोम ही देवताओं का धन है। अग्नि की सम्पत्ति मात्र सोम ही है। यदि सोम की आहुति अग्नि में न हो तो-उसी समय आग्नेय देवता नष्ट हो जाएँ। चूँकि इनकी एकमात्र सम्पत्ति सोम ही है-

---

* आचार्य्य सायण 'अंशुरंशु' वाले मन्त्र के प्रकरण में "वीप्साभिधानसामर्थ्येनैव प्रत्यंशु आप्याययन्तो भवन्तीत्यर्थः" के द्वारा यजमान एवं ऋत्विज् की वीप्सा (इच्छा) का संकेत करते हैं।

अतएव इन्हें 'एकधनवित्' कहा जाता है। ये सारे देवता इन्द्र के अधीन रहते हैं-जैसा कि-तानूनप्त्र-ब्राह्मण में बतला दिया गया है। ये सारे देवता सदा इन्द्र के साथ रहते हैं। इसीलिए "**इन्द्रः सर्वा देवता**" (शत० ३।४।२।२) यह कहा जाता है। इन्द्र निरन्तर सोम पीया करते हैं। क्यों कि उन्हें (इन्द्र को) सोम अत्यधिक प्रिय है। हम जो सोमाहुति देते हैं वह देवतायुक्त इन्हीं इन्द्र के लिए देते हैं। इसी अभि-प्राय से कहते हैं कि हे सोम! एक धनविद्-देवता युक्त जो इन्द्र है उसके लिए-आपके अंशु-अंशु आप्या-यित हों। अर्थात् हम अपने निजी काम के लिए आपको आप्यायित नहीं करते हैं-अपितु यज्ञ के (सोम के) जो देवता-युक्त इन्द्र हैं-उन्हीं के लिए आपको आप्यायित करते हैं।

इन्द्र ही यज्ञ-साधक, अतएव यज्ञस्वरूप सोम के देवता हैं एवं वे एकधनविद् हैं अर्थात् समस्त ३३ देवताओं के साथ रहते हैं-उन्हीं के लिए सोम को आप्यायित किया जाता है। पूर्व-पश्चिम कपाल-स्वरूप जो द्रोणकलश है-उसमें सोम भरा रहता है। यही मात्र इन्द्र का धन है। यह आन्तरिक्ष सोम ही इन्द्र की सम्पत्ति है। इसीलिए तो '**एकधनविदे**' कहा गया है।

"इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता। तस्मादाह--इन्द्राय इति। एकधनविदे"-इति।

एक ही सोम इन समस्त देवताओं को तृप्त कर देता है-अतएव देवताओं को एकधनविद् कहते हैं। एक-एक ही अंशु १००-१०० की किंवा १०-१० की संख्या में देवताओं को आप्यायित कर देता है। प्रकृति में एक ही सोम समस्त देवताओं को आप्यायित कर देता है। तदैव हमारा जो अंशु है-वही १००-१०० देवताओं को तृप्त कर देता है। देवता महिमा १००० (सहस्र) है। इसीलिए "**सहस्रधा**" इत्यादि कहा जाता है। ये समस्त महिमाएँ १०० के हिसाब से अथवा १०-१० के हिसाब से इस सोम से तृप्त हो जाती हैं। १०० के हिसाब से भी १० बार आप्यायन होता है एवं १०-१० को मिला कर जो आप्या-यन है वह भी १० बार ही आप्यायन होता है। सहस्र नाम है-पूर्ण का। पूर्ण सम्पत्ति उभयथा प्राप्त हो जाती है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"शतं शतं ह स्म वा एष देवान् प्रत्येकैक एवांशुः। एक धनानाप्यायते, दश-दश वा"।

सोम का एक-एक अंशु समस्त देवताओं को तृप्त कर देता है-यही तात्पर्य्य है। हे सोम! आपके लिए इन्द्र आप्यायित हों-अर्थात् इन्द्र आपको पीने में समर्थ हों। आप इन्द्र के लिए आप्यायित हों। अर्थात् आपका जो यह आप्यायन है वह इन्द्र के लिए ही हो। इन्द्र ही यज्ञ के देवता हैं-अधिष्ठाता हैं। जो यज्ञ के देवता हैं उन्हें ही ऋत्विक् आप्यायित करते हैं, अर्थात् सोम के लिए समर्थ करते हैं। निम्न श्रुति का यही तात्पर्य्य है—

"आतुभ्यमिन्द्रः प्यायताम्"।

सोम इन्द्र के लिए ही आप्यायित होता है। सोम की पुष्टि का-इन्द्र ही उपयोग करता है। इन्द्र का इससे (सोम से) इसीलिए आप्यायन करते हैं—

"आ त्वमिन्द्राय प्यायस्व" ।

सोम में आप्यायन करते हैं–अर्थात्–पुष्टि का आधान करते हैं—

"तदेतस्मिन्नाप्यायनं दधाति" ।

हे सोम ! आप मात्र इन्द्र ही का आप्यायन करके मत रुक जाना–अपितु हमारे जो सखा अर्थात् मित्र हैं–कुटुम्बी हैं–उनको भी सनि अर्थात् सम्पत्ति और मेधा से आप्यायित कीजिए । प्रकृति–यज्ञ के अधिष्ठाता इन्द्र के साथ ही उनके साथ रहने वाले समस्त देवता भी तृप्त हो जाते हैं । इस यज्ञ का यजमान इन्द्र है । मय सखाओं के जैसे आप उस प्राण–देवता इन्द्र को आप्यायित करते हैं–तथैव मय कुटुम्ब के हमें भी आप–धन-दौलत और बुद्धि से आप्यायित कीजिए । सोम-यज्ञ से कुछ न कुछ मिलता ही है । यज्ञ से (सोम से) ही सब-कुछ मिलता है अर्थात् सोम ही यज्ञ-फल देता है अतएव उसे "सन्या" कहा है ।

इसी सोम की महिमा से मन्त्र बोला जाता है । कारण इसका यह है कि मन्त्रवाक् सोम से ही आती है । जब तक सोम की आहुति शरीराग्नि में होती रहती है तभी तक मुँह से शब्द उच्चरित होता रहता है एवं शरीर चैतन्य रहता है । पहले अमुक मन्त्र तथा बादमें अमुक मन्त्र ही बोलना है—इस प्रकार पूर्वापरभूत जो अनुवचन–क्रम है वह बिना मेधा के हो नहीं सकता एवं मेधा शक्ति भी सोम पर अवलम्बित है–अतएव इसे "**मेधया**" कहा है—

"स यत् सनोति तत् (धनम्) तदाह यत् सन्येति । अथ यदनुब्रूते । तदु तदाह–यत् मेधयेति" ।

हे सोम ! आपकी स्वस्ति हो । आपका कभी विनाश न हो; बाल भी बाँका न हो—

"स्वस्ति ते देव सोम सुत्यामशीय" ।

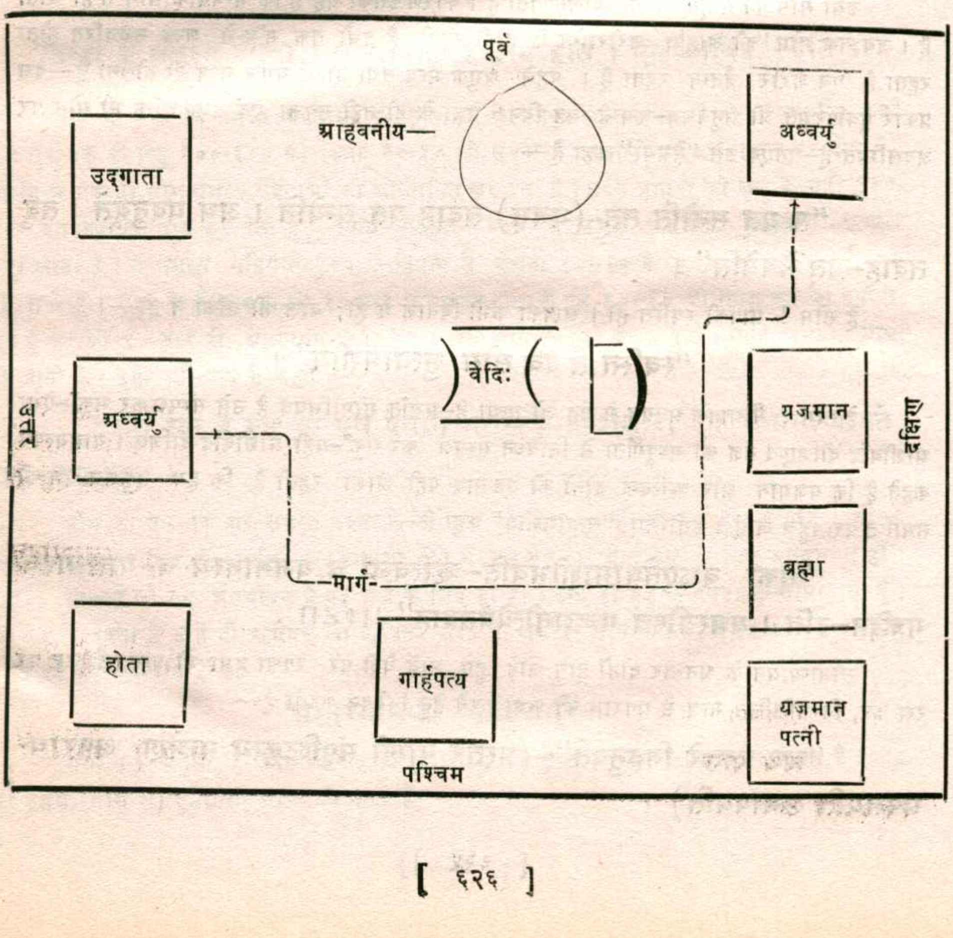
हे सोम ! मैं आपके अनुग्रह से यह जो सुत्या है–अर्थात् सोमाभिषव है उसे सम्पन्न कर सकूँ–ऐसा आशीर्वाद दीजिए । यज्ञ को सम्पूर्णता से निर्विघ्न सम्पन्न कर सकूँ–यही आशीर्वाद दीजिए । याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यजमान और ऋत्विक् दोनों की एकमात्र यही आशा रहती है कि हम सकुशल यज्ञ की समाप्ति पर पहुँच जाएँ । इसीलिए "सुत्यामशीय" कहा है—

"एका वाऽएतेषामाशीर्भवति–ऋत्विजां च यजमानस्य च यज्ञस्योदृचं गच्छेम–इति । यज्ञस्योदृचं गच्छानीत्येवैतदाह" ।।१८।।

सोमाप्यायन के अनन्तर दोनों हाथ जोड़े हुए, उन्हें वेदी पर रक्खा हुआ जो प्रस्तर है उस पर रख कर, निम्नलिखित मन्त्र से अपराध को क्षमा करने हेतु निवेदन करता है—

"अथ प्रस्तरे निह्नुवते"–(प्रस्तरे पाणी संपुष्टिकृत्य मन्त्रेण अपराध-मपलयति क्षमापयति) ।

वह कौन सा अपराध था, जिसके कारण क्षमा करवाने की आवश्यकता हुई, उसी के विषय में बतलाते हैं–आहवनीय पूर्व में होता है। गार्हपत्य पश्चिम में होता है। वेदी दोनों के मध्य में होती है। आहवनीय सूर्य्य-स्थानापन्न है। गार्हपत्य पृथिवी-स्थानापन्न है। दोनों ही अग्निमय हैं। अग्नि ही को देवता कहते हैं। गार्हपत्याग्नि पार्थिव देवता है–जिससे यजमान का शरीर बना हुआ है। आहवनीय अग्नि सौर देवता है–जिससे यजमान का आत्मा बना हुआ है। इस वेदी के उत्तर भाग में होता-अध्वर्यु-उद्गाता बैठते हैं। पश्चिम-उत्तर के कोने में 'होता' बैठता है। उसके बराबर पूर्व की ओर अध्वर्यु बैठता है–उसके आगे उद्गाता बैठता है। यह तो हुआ उत्तर का भाग। अब चलिए दक्षिण की ओर। दक्षिण में सबसे पहले यजमान-पत्नी का आसन रहता है। बाद में ब्रह्मासन रहता है–उसके बाद यजमानासन रहता है–तदनन्तर अध्वर्यु का आसन रहता है। जब तक कर्म्म नहीं होता तब तक तो–अध्वर्यु उत्तर में स्थित अपने उत्तरासन पर बैठा रहता है एवं जब कर्म्म प्रारम्भ करता है तो वेदी और गार्हपत्याग्नि के बीच में हो कर अपने दक्षिण वाले आसन पर आ बैठता है।



अग्नि को यज्ञ कहते हैं। यह यज्ञ सदा दक्षिण से उत्तर की ओर जाता रहता है। जिस प्रकार सोम उत्तर से दक्षिण की ओर आता रहता है ठीक इसके विपरीत यज्ञ-स्वरूप अग्नि दक्षिण से उत्तर की ओर जाया करता है-इसका तात्पर्य यह है कि सोम ऊपर से नीचे की ओर तथा अग्नि ऊर्ध्वमुखी होने के कारण नीचे से ऊपर की ओर जाता है। चूंकि यज्ञ उत्तर की ओर जा रहा है-अतएव उत्तर की ओर से जो उपचार करना है वही वास्तविक यज्ञ-स्वरूप है। उत्तर की ओर से उपचार करना यज्ञस्वरूप को सुरक्षित रखना है—

"उत्तरतउपचारो वै यज्ञः"।

आप्यायन-कर्म्म में ऋत्विजों को दक्षिण में आना पड़ता है क्यों कि सोम का अपना स्थान दक्षिण में है-अतएव वेदी के दक्षिण भाग में ही सोम का आप्यायन किया जाता है। इस आप्यायन-कर्म्म के लिए अध्वर्यु वेदी और गार्हपत्य के मध्य में बने हुए संचर (मार्ग) में से हो कर अपने दक्षिणभागस्थ आसन पर आ कर बैठता है। ऋत्विज दक्षिण की ओर जा कर ही (अन्वित्य) सोमाप्यायन करते हैं—

"अथैतद् दक्षिणेवान्वित्याप्याययन्ति"।

अग्नि यज्ञ-स्वरूप है। यह अग्नि उत्तर की ओर जा रहा है। ऐसी अवस्था में-दक्षिण की ओर जाते हुए ऋत्विक् गार्हपत्याग्नि को अर्थात् यज्ञ को अपने पृष्ठ भाग में करते हैं, गार्हपत्य की ओर पीठ रखते हुए दक्षिण भाग में जाते हैं—

"अग्निर्वै यज्ञः। तद् यज्ञं पृष्ठतः कुर्वन्ति"।

गार्हपत्य की ओर पीठ करने के दोष से ऋत्विक् अनचाहे भी अकृत (मिथ्या) कर्म्म के दोषी हो जाते हैं। इसी दोष के कारण ऋत्विजों से गार्हपत्याग्नि देवताओं का विच्छेद हो जाता है। अर्थात् उत्तर की ओर जाते हुए ऋत्विजों की आत्मा से गार्हपत्याग्निस्वरूप पार्थिव देवता वियुक्त हो जाते हैं—

"तन्मिथ्या कुर्वन्ति, देवेभ्य आवृश्च्यन्ते"।

प्रस्तर यज्ञका वस्रूप है। प्रस्तर हवि का आधार है। इसी पर हवि रक्खा जाता है। हवि ही यज्ञ है-अतएव 'तन्निवर्त्तकत्वेन' हम अवश्य ही प्रस्तर को यज्ञ कह सकते हैं। प्रस्तर का स्पर्श करते हुए ऋत्विक् आत्मा से वियुक्त यज्ञ (गार्हपत्याग्नि) को आत्मसात् करते हुए यज्ञ का पुनः आरम्भण करते हैं। दक्षिण की ओर जाते समय गार्हपत्य की ओर पीठ करने के कारण जो दोष हो जाता है उसका प्रायश्चित्त प्रस्तर का स्पर्श ही है। इस दोष का प्रायश्चित्त करने से यह कर्म्म मिथ्याकृत नहीं होता और ऋत्विक् आग्नेय देवताओं से वियुक्त भी नहीं होता है। प्रस्तर पर हाथ रख कर बोलने का यही कारण है। इस प्रस्तर-स्पर्श कर्म्म से ही ऋत्विक् दोष का प्रायश्चित्त करते हैं—

"यज्ञो वै प्रस्तरः। तद् यज्ञं पुनरारभन्ते। तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिः। तथो हैषामेतन्न मिथ्याकृतं भवति। न देवेभ्य आवृश्च्यन्ते। तस्मात् प्रस्तरे निह्नुवते" ॥१९॥

यहाँ पर कितने ही याज्ञिक पूर्व पक्ष प्रस्तुत करते हैं–घृताक्त (घी चुपड़े हुए) प्रस्तर-भाग में निह्नव करना चाहिए ग्रथवा ग्रनक्त (कोरे) प्रस्तर-भाग में निह्नुव करना चाहिए ?

"ग्रक्ते निह्नुवीराऽन् (निह्नुवीर रन्) ग्रनक्ते-इति (प्रश्ने श्रुतिः)" ।

इसका समाधान करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि–ग्रनक्त प्रस्तर-में ही निह्नुव कर्म्म करना चाहिए। जो अक्त प्रस्तर है; उससे ग्रनुप्रहरण करना चाहिए। तात्पर्य्य यही है कि वेदी पर रक्खे हुए प्रस्तर (कुशामुष्टि) के दो विभाग कर देने चाहिए। दोनों में से एक हिस्से को घृत से चुपड़ कर घृताक्त कर देना चाहिए। दूसरे को ग्रनक्त ही रखना चाहिए। जो ग्रनक्त प्रस्तर है उस पर तो निह्नुव कर्म्म (नमन) करना चाहिए एवं घृताक्तो प्रस्तर-भाग से अनुप्रहरण कर्म्म करना चाहिए—

"ग्रनक्ते हैव निह्नुवीरन् । न नु प्रहरणं ह्येवाक्तस्य" ॥२०॥

क्यों निह्नव करना चाहिए–इसकी उपपत्ति बतला दी गई है–अब पद्धति बतलाते हैं ऋत्विक् प्रस्तर पर दोनों हाथ रख कर 'ते निह्नुते' मन्त्र से दोष के लिए क्षमा–याचना करता है—

"ते निह्नुवते । एष्टा रायः प्रेषे भगायऽऋतमृतवादिभ्यो नमो द्यावा-पृथिवीभ्याम्"–इति ।

"हे एष्टः ! (कल्याणं दातुमिच्छन्-ग्रग्ने !) इषे (ग्रन्नाय) भगाय-(सौख्याय) रायः (धनानि) प्रयच्छ" ।

हे अग्ने ! ऐश्वर्य ग्रौर ग्रन्न के लिए हमें धन प्रदान कीजिए। बहिरन्तरङ्ग भेदेन सम्पत्ति दो प्रकार की होती है। जो अन्नादि पेट में चले जाते हैं, उन भुक्त पदार्थों को अन्तरङ्ग सम्पत्ति कहते हैं। उन्हे ही "इद" कहा जाता है। एवं हाथी-घोड़े-वस्त्र-नौकर-चाकर इत्यादि सम्पत्ति बहिरङ्ग सम्पत्ति कहलाती है। इसे भग (ऐश्वर्य) शब्द से व्यवहृत किया जाता है। धन ही दोनों सम्पत्तियों का साधन है। ग्रतएव उसी की याञ्चा करते हैं। अथवा एष्टा का दूसरा ग्रर्थ समझना चाहिए। भग ग्रौर ग्रन्न के लिए ही राय (धन) की इच्छा है। हे ग्रग्ने ! दौलत की ग्रपेक्षा है–यही 'एष्टा' (ग्रभीष्टाः) का तात्पर्य्य है।

ग्रपि च हे ग्रग्ने !–ऋतवादी जो हम हैं,–उन्हें ऋत प्रदान कीजिए। ग्रापः-वायु-यज्ञ (सोम)–धन-सत्य ये पाँच ही ऋत पदार्थ होते हैं। पाँचों में जो सत्य ऋत है वह ग्रनृत का ग्रभाव है। ऋत और सत्य में जो सत्य है–वह सत्य यह ऋत नहीं है ग्रपितु ग्रनृताभाव–स्वरूप है–यह सत्य है। मिथ्या को अनृत कहते हैं तो–ऋत सत्य है–यह सुतरां सिद्ध हो जाता है। इसी सत्य का यहाँ ग्रहण है। हमारा कर्म्म व्यर्थ न हो जाए ग्रर्थात् सत्य ही रहे। हम सत्य रूप से च्युत् न हो जाएँ इसी ग्रभिप्राय से कहते हैं—

"सत्यं सत्यवादिभ्य इत्येवैतदाह" ।

द्यावा-पृथिवी से अपराध क्षमा करवाता है—

"नमो द्यावापृथिवीभ्याम्" ।

अग्नि से ही (गार्हपत्य देवताओं से ही) क्षमा चाही जाती है क्योंकि अग्नि–सोम-सूर्य्य-चन्द्र जो कुछ प्रपञ्च है–वह सब द्यावापृथिवी ही के पेट में है तथा यच्चयावत यज्ञ भी इस द्यावापृथिवी में ही प्रतिष्ठित है । अतः ऋत्विक् से जो अज्ञात दोष हो गया है--वे उस के लिए अग्नि से ही क्षमा माँगते हैं—

"तद् आभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां निह्नुवते; ययोरिदं सर्वमधि" ।।२१।।

इसके बाद अध्वर्यु प्रस्तर को हाथ में ले कर अग्नीत् से कहते हैं–**"अग्नीन् मदन्ति-आपा"** इति। अर्थात् हे अग्नीत् ! क्या पानी गरम हो गया ? अग्नि उत्तर देता है–मदन्ती ! हाँ, पानी गरम हो गया। यहाँ पर प्रकरण से तात्पर्य्य ज्ञान होना है। लोक में जब एक मनुष्य किसी से पूछता है–"यज्ञदत्त सिद्धम्"? देवदत्त उत्तर देता है–"सिद्धम्" । पूर्व प्रश्न में भी सिद्धम् है और उत्तर में भी सिद्धम् है । परन्तु दोनों का तात्पर्य्य भिन्न-भिन्न है । यही बात यहाँ पर भी है । दोनों स्थानों पर मदन्ती है । परन्तु एक स्थान पर प्रश्न है–दूसरे स्थान पर उत्तर ।

जब अग्नीत् कहता है कि हाँ, गरम पानी तैय्यार है तो अध्वर्यु कहता है–अच्छा तो उसे ले आओ । यह कह कर अध्वर्यु उस प्रस्तर को आहवनीय अग्नि के ऊपर बिखेर देता है । एकदम से न डाल कर बिखेर-बिखेर कर जो डालता है–उसे "अनुप्रहरण" कहते हैं । सारे ही प्रस्तर का अनुप्रहरण नहीं होता है–कुछ बचा भी लिया जाता है । जिस प्रस्तर का अनुप्रहरण नहीं करता है–उसे दूसरे दिन काम लिया जाता है ।

अग्नि में–अध्वर्यु उपरि-उपरि जो प्रस्तर डालता है, इसका यह प्रस्तर डालना प्रस्तर–भाजन (स्थानीय) समझना चाहिए । अन्यान्य कर्म्मों में जैसे प्रस्तर अनुप्रहरण किया जाता है वैसे ही इसे–आप्यायन का प्रस्तर अनुप्रहरण-कर्म्म समझना चाहिए–यही तात्पर्य्य है । जो प्रस्तर बच जाता है–उसे अध्वर्यु अग्नीध्र को दे देता है । अग्नीध्र उस अवशिष्ट प्रस्तर को जो कि दूसरे दिन काम में आने वाला है–जापते (सावधानी) से सुरक्षित स्थान पर रख देता है—

"अथाह समुल्लुप्य प्रस्तरम् अग्नीन्मदन्ति–आपा" ३इति । मदन्तीत्यग्नीदाह । ताभिरेहीत्युपर्य्युपर्य्यग्निमतिहरति । स यन्नानुप्रहरति; एतेन ह्यत ऊर्ध्वान्यहानि प्रचरिष्यन्भवति । अथ यदुपर्य्युपर्य्यग्निमतिहरति; तदेवास्यानुप्रहृतभाजनं भवति । तमग्नीधे प्रयच्छति । तमग्नीन्निदधाति ।।२२।।

।। इति अवान्तरदीक्षाब्राह्मणं समाप्तम् ।।

।। इति चतुर्थाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् समाप्तम् ।।

—❀—

चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्

'उपसदिष्टि ब्राह्मण'

[मूल] ग्रीवा वै यज्ञस्योपसदः। शिरः प्रवर्ग्यः। तस्माद्यदि प्रवर्ग्यवान्भवति प्रवर्ग्येण प्रचर्याथोपसद्भिः प्रचरन्ति तद् ग्रीवाः प्रतिदधति ॥१॥

तद्याः पूर्वाह्णेऽनुवाक्या भवन्ति। ता अपराह्णे याज्या या याज्यास्ता अनुवाक्यास्तद्व्यतिषजति तस्मादिमानि ग्रीवाणां पर्वाणि व्यतिषक्तानीमान्यस्थीनि ॥२॥

देवाश्च वाऽअसुराश्च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततोऽसुरा एषु लोकेषु पुरश्चक्रिरेऽयस्मयीमेवास्मिंल्लोके रजतामन्तरिक्षे हरिणीं दिवि ॥३॥

तद्वै देवा अस्पृण्वत। तऽएताभिरुपसद्भिरुपासीदंस्तद्यदुपासीदंस्तस्मादुपसदो नाम ते पुरः प्राभिन्दन्निमाँल्लोकान्प्राजयंस्तस्मादाहुरुपसदा पुरं जयन्तीति यदह्नोपासते तेनेमां मानुषीं पुरं जयन्ति ॥४॥

एताभिर्वै देवा उपसद्भिः। पुरः प्राभिन्दन्निमाँल्लोकान्प्राजयंस्तथोऽएवैष एतन्नाहैवास्माऽअस्मिंल्लोके कश्चन पुरः कुरुतऽइमानेवैतल्लोकान्प्रभिनत्तीमाँल्लोकान्प्रजयति तस्मादुपसद्भिर्यजते ॥५॥

ता वाऽआज्यहविषो भवन्ति। वज्रो वाऽआज्यमेतेन वै देवा वज्रेणाज्येन पुरः प्राभिन्दन्निमाँल्लोकान्प्राजयंस्तथोऽएवैष एतेन वज्रेणाज्येनेमाँल्लोकान्प्रभिनत्तीमाँल्लोकान्प्रजयति तस्मादाज्यहविषो भवन्ति ॥६॥

स वाऽअष्टौ कृत्वो जुह्वां गृह्णाति। चतुरुपभृत्यथोऽइतरथाहुश्चतुरेव कृत्वो जुह्वां गृह्णीयादष्टौ कृत्व उपभृतीति ॥७॥

स वाऽअष्टावेव कृत्वो जुह्वां गृह्णाति। चतुरुपभृति तद्वज्रमभिभारं करोति तेन वज्रेणाभिभारेणेमाँल्लोकान्प्रभिनत्तीमाँल्लोकान्प्रजयति ॥८॥

अग्नीषोमौ वै देवानां सयुजौ । ताभ्यां सार्धं गृह्लाति विष्णव ऽएकाकिनेऽन्यतरमेवाघारमाघारयति यं स्रुवेण प्रतिक्रामति वाऽउत्तरमाघारमाघार्याभिजित्याऽअभिजयानीति तस्मादन्यतरमेवाघारमाघारयति यं स्रुवेण ।।९।।

अथाश्राव्य न होतारं प्रवृणीते । सीद होतरित्येवाहोपविशति होता होतृषदनऽउपविश्य प्रसौति प्रसूतोऽध्वर्युः स्रुचावादत्ते ।।१०।।

स आहातिक्रामन्नग्नयेऽनुब्रूहीति । आश्राव्याहाग्निं यजेति वषट्कृते जुहोति ।।११।।

अथाह सोमायानुब्रूहीति । आश्राव्याह सोमं यजेति वषट्कृते जुहोति ।।१२।।

अथ यदुपभृत्याज्यं भवति । तत्समानयमान आह विष्णवेऽनुब्रूहीत्याश्राव्याह विष्णुं यजेति वषट्कृते जुहोति ।।१३।।

स यत्समानत्र तिष्ठञ्जुहोति । न यथेदं प्रचरन्त्सञ्चरत्यभिजित्याऽअभिजयानीत्यथ यदेता देवता यजति वज्रमेवैतत्संस्करोत्यग्निमनीकं सोमं शल्यं विष्णुं कुल्मलम् ।।१४।।

संवत्सरो हि वज्रः अग्निर्वाऽअहः सोमो रात्रिरथ यदन्तरेण तद्विष्णुरेतद्वै परिप्लवमानं संवत्सरं करोति ।।१५।।

संवत्सरो वज्रः । एतेन वै देवाः संवत्सरेण वज्रेण पुरः प्राभिन्दन्निमाँल्लोकान्प्राजयंस्तथोऽएवैष एतेन संवत्सरेण वज्रेणेमाँल्लोकान्प्रभिनत्तीमाँल्लोकान्प्रजयति तस्मादेता देवता यजति ।।१६।।

स वै तिस्र उपसद उपेयात् । त्रयो वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरस्यैवैतद्रूपं क्रियते संवत्सरमेवैतत्संस्करोति द्विरेकया प्रचरति द्विरेकया ।।१७।।

ताः षट् सम्पद्यन्ते । षड्वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरस्यैवैतद्रूपं क्रियते संवत्सरमेवैतत्संस्करोति ।।१८।।

यद्यु द्वादशोपसदऽउपेयाद् । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरस्यैवैतद्रूपं क्रियते संवत्सरमेवैतत्संस्करोति द्विरेकया प्रचरति द्विरेकया ।।१९।।

ताश्चतुर्विंशतिः सम्पद्यन्ते । चतुर्विंशतिर्वै संवत्सरस्यार्धमासाः संवत्सरस्यैवैतद्रूपं क्रियते संवत्सरमेवैतत्संस्करोति ।।२०।।

स यत्सायम्प्रातः प्रचरति । तथा ह्येव सम्पत्सम्पद्यते स यत्पूर्वाह्ने प्रचरति तज्जयत्यथ यदपराह्ने प्रचरति सुजितमसदित्यथ यज्जुहोतीदं वै पुरं युध्यन्ति तां जित्वा स्वां सतीं प्रपद्यन्ते ।।२१।।

स यत्प्रचरति । तद्युध्यत्यथ यत्सन्तिष्ठते तज्जयत्यथ यज्जुहोति स्वामेवैतत्सतीं प्रपद्यते ।।२२।।

स जुहोति । यया द्विरेकस्याह्नः प्रचरिष्यन्भवति या तेऽअग्नेऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचोऽअपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत्स्वाहेत्येवंरूपा हि सासीदयस्मयी हि साऽऽसीत् ।।२३।।

अथ जुहोति । यया द्विरेकस्याह्नः प्रचरिष्यन्भवति या तेऽअग्ने रजःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचोऽअपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत्स्वाहेत्येवंरूपा हि साऽऽसीद्रजता हि साऽऽसीत् ।।२४।।

अथ जुहोति । यया द्विरेकस्याह्नः प्रचरिष्यन्भवति या तेऽअग्ने हरिशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचो अपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत्स्वाहेत्येवंरूपा हि साऽऽसीद्धरिणी हि साऽऽसीद्यद्यु द्वादशोपसद उपेयाच्चतुरहमेकया प्रचरेच्चतुरहमेकया ।।२५।।

अथातो व्रतोपसदामेव । परउर्वीर्वाऽअन्या उपसदः परोऽह्वीरन्याः स यासामेकं प्रथमाहं दोग्ध्यथ द्वावथ त्रींस्ताः परउर्वीरथ यासां त्रीन्प्रथमाहं दोग्ध्यथ द्वावथैकं ताः परोऽह्वीर्या वै परोऽह्वीस्ताः परउर्वीर्याः परउर्वीस्ताः परोऽह्वीः ।।२६।।

तपसा वै लोकं जयन्ति । तदस्यैतत्परः पर एव वरीयस्तपो भवति परः परः श्रेयांसं लोकं जयति वसीयानु हैवास्मिँल्लोके भवति य एवं विद्वान्परोऽह्वीरुपसद उपैति तस्माद् परोऽह्वीरेवोपसद उपेयाद्यद्यु द्वादशोपसद उपेयान्त्रींश्चतुरहं दोहयेद् द्वौ चतुरहमेकं चतुरहम् ।।२७।।

[**अनुवाद**] प्रकृतियज्ञ की तरह यजमान आहुति द्वारा नवीन दिव्यात्मा उत्पन्न करता है । यह दिव्यात्मा ही यज्ञ से उत्पन्न होने के कारण यज्ञात्मा कहलाता है । इस नवीन दिव्यात्मा की गिनती स्वर्ग के देवताओं में है । इस दिव्यात्मा (यज्ञ से उत्पन्न होने से यज्ञात्मा) से बद्ध होने के कारण ही यजमानात्मा स्थूलशरीरत्यागानन्तर स्वर्ग में चला जाता है । पुरुष के समान ही इस यज्ञात्मा के भी मस्तक, ग्रीवा, हस्त, पाद आदि अवयव होते हैं । इनमें इस यज्ञात्मा का मस्तक आतिथ्य है, जिसका निरूपण "शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यम्" इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा आतिथ्येष्टि में कर दिया गया है । अर्थात् आतिथ्य कर्म में जो आहुति दी जाती है उस से यज्ञात्मा का मस्तक बनता है ।

केवल आतिथ्य ही यज्ञात्मा का मस्तक नहीं है, अपितु प्रवर्ग्य भी यज्ञात्मा का मस्तक है । इसी बात को बतलाने के लिए एक कथानक का यहाँ निरुपण किया जा रहा है:—

एक समय भगवान् विष्णु महामायारूप निद्रा के वशीभूत होकर प्रत्यञ्चा का सिरहाना (शिरोधान) लगा कर सो रहे थे । विष्णु ही जगत् के पालनकर्ता हैं । उन्हें घोर निद्रा में निमग्न देख कर सृष्टिकर्ता ब्रह्मा को चिन्ता हुई कि सृष्टि का पालन कैसे होगा । अतः उन्होंने विष्णु को जगाने के लिए उपाय करते हुए एक दीमक नामक कीट को उत्पन्न किया तथा उसको आज्ञा दी कि तुम विष्णु के सिरहाने लगी हुई इस प्रत्यञ्चा को काट दो जिस से भगवान् विष्णु जग जायेंगे । दीमक ने उस आज्ञा का पालन किया किन्तु उसका फल यह हुआ कि प्रत्यञ्चा के कट जाने से विष्णु का मस्तक कट कर आकाश में चला गया । तब ब्रह्मा ने अश्व का मस्तक काट कर विष्णु के धड़ के साथ उसका सन्धान कर दिया । यही भगवान् हयग्रीव कहलाये । कटे हुए विष्णु के मस्तक का सन्धान करने के लिए जो यज्ञ किया था वही प्रवर्ग्ययाग कहलाता है । शिरोयाग को धर्मयाग व महावीरोपासना भी कहा जाता है ।

यद्यपि दीक्षा, सुत्या, उपसत् यह क्रम होने से दीक्षा के बाद सुत्या (ग्रहयाग) होनी चाहिए न कि उपसत्, तथापि विशेष कारणवश दीक्षा के बाद उपसत् इष्टि की जाती है । इसीलिए सूत्रकार कात्यायन ने 'प्रवर्ग्योपसदोवतः' इस सूत्र के द्वारा दीक्षा के बाद प्रवर्ग्य और उपसत् इष्टि का विधान बतलाया है । प्रथम याग के समय आतिथ्य कर्म ही यज्ञ का मस्तक है—'शिरो वा एतद् यज्ञस्य यदातिथ्यम्' किन्तु दूसरी बार या तीसरी बार

या उससे भी अधिक बार ग्रहयाग करने पर प्रवर्ग्ययाग ही यज्ञ का मस्तक है; जैसा कि 'ग्रीवा वै यज्ञस्योपसदः शिरः प्रवर्ग्यः' इस उक्ति के द्वारा बतलाया गया है। और आतिथ्य कर्म प्रवर्ग्य का अङ्ग बन जाता है। इस प्रकार यज्ञ में आतिथ्येष्टि के बाद प्रवर्ग्ययाग करना या न करना ये दो पक्ष हैं। प्रथम ग्रहयाग में प्रवर्ग्ययाग नहीं किया जाता है तथा दुबारा तिबारा ग्रहयाग करते समय आतिथ्य के अनन्तर प्रवर्ग्य किया जाता है। इन दोनों पक्षों में महर्षि ऐतरेय ने प्रथम पक्ष को लक्ष्य में रख कर आतिथ्य को ही यज्ञ का मस्तक माना है– जैसा कि 'शिरो वा एतद् यज्ञस्य यदातिथ्यं ग्रीवा उपसदः' (ऐ. ब्रा. ४ अध्याय ८ खण्ड) इस वचन से सिद्ध है। परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य दूसरे पक्ष को मान कर 'ग्रीवा वै यज्ञस्योपसदः शिरः प्रवर्ग्यः' इस उक्ति के द्वारा प्रवर्ग्य को यज्ञ का मस्तक बतला रहे हैं। इसी का स्पष्टीकरण करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यदि यजमान प्रवर्ग्यवान् होता है तो प्रवर्ग्य से प्रचरण करके अर्थात् पहिले प्रवर्ग्ययाग करके बाद में उपसदिष्टि करे।

तात्पर्य यह है कि आतिथ्य व प्रवर्ग्य दोनों ही यज्ञ के मस्तक हैं। इन आतिथ्य व प्रवर्ग्य से यज्ञात्मा का मस्तक बनता है तथा उपसत् से यज्ञ की ग्रीवा बनती है।

यज्ञ की ग्रीवा विष्णु, सोम व अग्नि तीनों से बनती है। विष्णु १२ आदित्यों में में अन्तिम आदित्य हैं। वह द्युलोक की वस्तु हैं। सोम अन्तरिक्ष की वस्तु है तथा अग्नि पृथिवीलोक की वस्तु है। इस प्रकार त्रिलोकी के प्राणों से यज्ञात्मा की ग्रीवा का निर्माण होता है। उपसत् में इन्हीं तीनों देवताओं का यजन किया जाता है। आतिथ्यकर्म अथवा प्रवर्ग्ययाग के बाद उपसत् करता हुआ यजमान यज्ञ पुरुष के मस्तक में ग्रीवा का सन्धान करता है ।।१।।

उपसदिष्टि में अग्नि, सोम व विष्णु तीनों देवताओं का यजन प्रातःकाल व सायंकाल दोनों समय होता है। यजन में अनुवाक्या व याज्या दोनों होते हैं। अनुवाक्या मन्त्र के याज्या पूर्ववर्ती होने से अनुवाक्या को ही पुरोऽनुवाक्या कहा गया है।

उपर्युक्त तीनों देवताओं के अनुवाक्या मन्त्र व याज्या मन्त्र भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूळ्हमस्य पांसुरे'–यह विष्णु का अनुवाक्या मन्त्र है तथा 'त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्''–यह विष्णु का याज्या मन्त्र है।

किन्तु विशेषता यह है कि प्रातः काल जो अनुवाक्या मन्त्र हैं वे सायंकाल याज्या बन जाते हैं तथा जो प्रातः याज्यामन्त्र हैं वे सायंकाल अनुवाक्या मन्त्र बन जाते हैं। इस विपर्यास से अनुवाक्या मन्त्र व याज्यामन्त्र परस्पर सम्बद्ध हो जाते हैं। इन्हीं अनुवाक्या याज्यामन्त्रों से क्रमशः जो ग्रीवा की स्थूल अस्थियाँ व सूक्ष्म अस्थियाँ बनती हैं वे परस्पर सुश्लिष्ट व सुसम्बद्ध हो जाती हैं। मूल में 'तस्मादिमानि ग्रीवाणां पर्वाणि व्यतिषक्तानी-

मान्यस्थीनि'–इस वाक्य में पर्वशब्द से प्रसिद्धिवशात् कोई अङ्गुलि की अस्थियों को न समझ ले–अतः स्पष्ट प्रतिपत्यर्थ 'पर्वाणि' के बाद 'इमानि अस्थीनि' का प्रयोग कर दिया है ।।२।।

परमेष्ठी के तपोधन होने से ही परमेष्ठी को आसुर मण्डल कहा जाता है । प्रकाशघन होने से सूर्य्य को देवमण्डल कहा जाता है । प्रकाशमय व तमोमय प्राणों के विरोधी होने से देवता व असुरों में सदा से संघर्ष चला आ रहा है । असुरों ने पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोकरूप पृथिवी पर अपना अधिकार करने के लिए तीनों लोकों में क्रमशः लौहमयी, राजती तथा हिरण्मयी तीन पुरियों अर्थात् तीन दुर्गों का निर्माण कर उन पर अपना अधिकार कर लिया । पृथिवी कृष्णवर्णा है । अतः उसके केन्द्र से काली किरणें निकला करती हैं । त्रिवृत्स्तोम तक पृथिवी का प्राण घन होने से अधिक काला है । उसे ही पृथ्वी लोक कहते हैं । उसी से कृष्णवर्ण लोहा बनता है । उससे आगे विशकलित होने से वह तरलावस्था में परिणत हो जाता है । १५ वें स्तोम तक जो पृथिवी की तरलावस्था है उसे ही अन्तरिक्ष लोक कहते हैं । अन्तरिक्ष लोक का अधिष्ठाता वायु है । यह वायु सूर्य्य से आने वाले रुद्र प्राण को पिघला देता है । उस पिघले हुए रुद्र प्राण तथा तरलावस्थापन्नवायुमुक्त आसुर प्राण से चाँदी बनती है । इसमें आन्तरिक्ष्य चन्द्रमा का श्वेतवर्ण भी मिल जाता है । अतः उससे उत्पन्न चाँदी सफेद होती है । १५ वें स्तोम से आगे यह पार्थिव कृष्ण अधिक विकसित हो कर विरलावस्था में आ जाता है । इसमें पृथिवी की कालिमा बहुत कम रह जाती है । पृथिवी की यह विरलावस्था ही द्युलोक कहलाती है । द्युलोक में सूर्य्य की सत्ता है और सूर्य्य हिरण्मय है । इस हिरण्मय सूर्य्य की किरणों के सम्पर्क से द्युलोक की पुरी या दुर्ग हिरण्मय हो उठते हैं । पृथिवी में बद्ध सूर्य्य-रश्मियाँ ही सुवर्ण कहलाती हैं । इसीलिए वैशेषिकों ने भी सुवर्ण को तैजस बतलाया है । पृथिवी के कृष्णवर्ण-रश्मिरूप असुरों ने इस प्रकार घन, तरल, विरल अवस्था–भेद से आयसी, राजती तथा हिरण्मयी पुरियाँ बना कर त्रिवृत्, पञ्चदश, एकविंश सोमरूपा स्तौम्या त्रिलोकी में अपना अधिकार कर लिया ।।३।।

असुरों के इस प्रकार त्रैलोक्य पर अधिकार को देवता न सह सके । उन्होंने क्रोधाविष्ट होकर असुरों के इन तीनों पुरों को नष्ट कर दिया । उन्होंने असुरों के तीनों पुरों को नष्ट-भ्रष्ट कर अपने तीन पुर बनाये और उनमें वे प्रतिष्ठित हो गए ।

किन्तु पृथिवी का जो आधा भाग सूर्य्य के सम्मुख होता है उस पर सूर्य्य की श्वेतरश्मियों के पड़ने से अन्धकार का सर्वथा विनाश हो जाता है, इसी को-सूर्य्यरश्मिरूप प्रकाशी प्राण के वर्चस्व को-देवताओं का असुरों की पुरियों का नाश करना व अपने अधिकार में उन्हें कर लेना कहा जाता है ।तात्पर्य्य यह है कि पुर तो वे ही रहे जिनमें तमोमय आसुर प्राणों की सत्ता थी किन्तु अब सूर्य्य के प्रकाश की व्याप्ति के कारण उन से तम का सर्वथा विनाश होकर प्रकाशी प्राण की सत्ता हो गई । यही असुरों की तीनों पुरियों का विनाश तथा उन पुरियों पर देवताओं

की विजय है। अतः 'उपासीदन् देवता आभिः'—इस व्युत्पति से वे पुरियाँ उपसद् कहलाने लगीं। इसीलिए इस रहस्य के अभिज्ञ लोग कहते हैं कि देवताओं ने इन उपसदों के द्वारा असुरों की तीन पुरियों को तोड़ कर नष्ट भ्रष्ट कर दिया, उनको जीत लिया। किन्तु इस समय वैध यज्ञ में इस यजमान का कोई शत्रु नहीं है अतः उपसद् इष्टि करने की क्या आवश्यकता है? तथापि आगे कोई शत्रु हो सकता है, वह भी नहीं रहे, इसलिए इस वैध यज्ञ में भी प्रकृति-भाग की तरह उपसदिष्टि की जाती है। इसीलिए भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है—"तस्मा-दाहुरुपसदा पुंरजयतीति यदहोपासते तेनेमा मानुषीं पुरं जयन्ति" इति ॥४॥

प्रकृति में प्राण–देवताओं ने तथा भौमस्वर्ग में मनुष्य देवताओं ने इन्हीं उपसदों के द्वारा असुरों के पुरों को नष्ट किया तथा इन्हीं उपसदों से उन असुरों पर विजय प्राप्त की। उसी प्रकार उपसद् याग करने वाले यजमान का त्रिलोकी में कोई शत्रु नहीं रहता। अतः शत्रु-पुरों को नष्ट करने के लिए तथा उन पर विजय प्राप्त करने के लिए यजमान उपसदों से, अग्नि व विष्णु का यजन करता है ॥५॥

अग्नि, सोम व विष्णुरूप उपसद् देवताओं का यजन करते समय उन्हें आज्य की हवि दी जाती है न कि पुरोडाश की। क्योंकि ओषधियों को खाकर तथा जल पीकर गायें दूध देती हैं, अतः वह दुग्ध सोमात्मक है और उससे उत्पन्न आज्य भी सोम है। देवताओं ने सोम रूप वज्र के द्वारा असुरों के पुरों का भेदन किया था तथा उन्हें जीता था। आज यजमान भी आज्य हवि की आहुति देता हुआ आज्यरूप वज्र के द्वारा शत्रु-पुरों का भेदन करता है, तथा उन्हें जीत लेता है। अतः आज्य की हवि देनी चाहिए ॥६॥

जिस आज्य की आहुति दी जाती है। वह आज्य ध्रुवा पात्र में रहता है। ध्रुवा के पास जुहू व उपभृत् रखे रहते हैं। घृत की आहुति जुहू से दी जाती है। जुहू पात्र के नीचे उपभृत् पात्र रहता है। वह इसलिए है कि जुहू से घृताहुति देते समय यदि घृत कुछ बिखर जाय तो वह उपभृत् में गिरे न कि नीचे जमीन पर। एक-एक देवता को चार-चार बार घृत देना पड़ता है; और उपसद् भाग में अग्नि, सोम व विष्णु तीन देवता हैं—अतः १२ बार घृत देना पड़ता है। इसमें दो मत हैं। एक सम्प्रदाम वाले आठ बार जुहू में घृत का ग्रहण करते हैं और चार वार उपभृत् में दूसरे सम्प्रदाय वाले इस से विपरीत चार बार जुहू में घृत लते हैं तथा आठ बार उपभृत् में ॥७॥

भगवान् याज्ञवल्क्य का कथन है कि आठ वार जुहू में तथा चार वार उपभृत् में घृत लेना चाहिए। क्यों कि आहुति जुहू से दी जाती है अतः वह अग्रभाग है तथा उपभृत् मूल भाग है। शस्त्र का मूल भाग पतला होने से वह अच्छी तरह पकड़ में आ सकता है तथा अग्रभाग भारी होने से गहन प्रहार कर सकता है। अतः शत्रुपुरों का अधिक चोट के द्वारा अच्छी तरह भेदन कर सकता है तथा शत्रुओं को भली प्रकार जीत लेता है। इसी से जुहू में आठ बार तथा उपभृत् में चार बार घृत ग्रहण करना चाहिए ॥८॥

जुहू में आठ बार तथा उपभृत् में चार बार घृत ग्रहण करने का दूसरा कारण भी बतला रहे हैं। क्यों कि अग्नि और सोम साथ रहने वाले देवता हैं अतः उन दोनों की एक साथ ही हवि देनी है। विष्णु एकाकी है अतः उपभृत् में उसके लिए पृथक् चार बार घृत ग्रहण किया जाता है। उपसद् भाग विकृति भाग है और विकृति भाग में भी प्रकृतिभाग की तरह पूर्वाघार व उत्तराघार दोनों प्राप्त हैं। किन्तु इस विकृतिभाग में स्रुक् द्वारा उत्तराघार नहीं करना चाहिए क्यों कि उत्तराघार के बाद शत्रु को जीत कर लौटना पड़ता है जिस में शत्रु को पीठ दिखाई जाती है; अतः वह पराजय के समान है। अतः पूर्वाघार ही करे ॥९॥

कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड भेद से त्रिधा विभक्त वेद में कर्मकाण्डरूप मीमांसा में पुरुषार्थ तथा क्रत्वर्थ भेद से कर्म द्विधा विभक्त है। क्रत्वर्थ कर्मों को अङ्ग कर्म व आरभ्याधीतविधि कहते हैं। पुरुषार्थकर्म अर्थात् प्रधान कर्म को प्रकृतियाग कहा जाता है तथा क्रत्वर्थक कर्मों या अङ्गकर्मों को विकृतियाग कहते हैं। "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" इस सिद्धान्त के अनुसार विकृतियाग में प्रकृतियाग की तरह कर्मों का विधान है। किन्तु प्रकृतियाग के सारे कर्म विकृतियाग में नहीं होते। कुछ प्रकृतियाग की अपेक्षा नवीन कर्म भी विकृतियाग में होते हैं। जैसे प्रकृत में ग्रह याग में होने वाला आश्रावण कर्म उपसद्याग रूप विकृतियाग में होता है; किन्तु ग्रहयाग में होने वाला होतृवरणकर्म उपसद्याग में नहीं होता। जो कर्म किया जाता है उसे देवताओं को सुना देना आश्रावण कर्म होता है। उपसद्यागरूप अवान्तर कर्म में आश्रावण आवश्यक है। किन्तु ऋत्विक् अवान्तर कर्म में भी वे ही रहते है जो कि प्रधान कर्म में। अतः होतृवरण कर्म की उपसद्याग में आवश्यकता नहीं है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है–"अथाश्राव्य होतारं न प्रवृणीते" इति।

आश्रावण कर्म में अध्वर्यु, आग्नीध्र व होता ये तीन ऋत्विक् सम्मिलित रहते हैं। सर्वप्रथम होता अनुवाक्या मन्त्र बोल कर आग्नीध्र को "ओश्रावय" ऐसा कहता है। तब आग्नीध्र कहता है "अस्तु श्रौषट्" इति। आश्रावण कर्म में "ओश्रावय" 'अस्तु श्रौषट्', 'यजः' 'ये यजामहे, 'वौषट्' ये १७ अक्षर होते हैं। इस आश्राव्या कर्म के बाद अध्वर्यु होता को कहता है–'सीद्होतः' तब, होता होतृषदन पर बैठ कर होता अध्वर्यु को आज्ञा देता है। यह कर्म "प्रसव" कहलाता है। तत् पश्चात् होता से प्रसव प्राप्त कर अध्वर्यु यज्ञ के लिए जुहू और उपभृत् को ग्रहण कर लेता है ॥१०॥

अध्वर्यु जब कर्म नहीं करता है तब वेदी के उत्तरभाग में होतृषदन से पूर्व में बैठा रहता है। और कर्म करते समय उत्तर से वेदि के दक्षिण भाग में ब्रह्मा से पूर्व आहवनीय के पास आ कर बैठता है क्यों कि आहुति आहवनीय में ही देनी होती है। अतः उपसद्याग में अग्नि आदि देवताओं को आहुति देने के लिए वेदी के दक्षिण भाग में आता हुआ अध्वर्यु होता से अग्नि के लिए अनुवाक्या करने को कहता है। देवता का आवाहन मन्त्र अनुवाक्या कहलाता है।

उससे अग्नि का आवाहन करता है। पश्चात् होता आग्नीध्र को "ओश्रावय" इस रूप से आश्रावण करने के लिए कहता है। आग्नीध्र द्वारा "अस्तु श्रौषट्" इस रूप से आश्रावण कर देने पर होता अध्वर्यु से 'अग्नि यज'–अग्नि देवता का यजन करो–ऐसा कहता है। इसके बाद होता जब "वौषट्" का उच्चारण करता है तब अध्वर्यु अग्नि के लिए आहुति दे देता हैं ॥११॥

अग्नि के लिए आहुति देने के बाद अध्वर्यु होता से सोम के लिए अनुवाक्या करने के लिए कहता है। अनुवाक्या करने के बाद होता अग्नीध्र को ओश्रावय इस रूप से सोम के लिए आश्रावण करने के लिए कहता है। अग्नीध्र के द्वारा 'अस्तु श्रौषट्' इस रूप से आश्रावण करने के बाद होता अध्वर्यु से सोम का यजन करने के लिए कहता है। और सोम के लिए आहुति देने के लिए अध्वर्यु के तैयार हो जाने पर जब होता 'वौषट्' का उच्चारण करता है तब अध्वर्यु सोम के लिए आहुति दे देता है ॥१२॥

उपर्युक्त दोनों आहुतियाँ स्रुवा से जुहू में आठ बार घृत ले कर दी गई हैं। अग्नि व सोम दोनों के लिए आधा-आधा करके अर्थात् चार-चार बार आहुति दी गई है। अब विष्णु के लिए आहुति देनी है। विष्णु को आहुति देने के लिए उपभृत में से घृत लेना होता है; किन्तु आहुति जुहू से ही होती है। जुहू में घृत लेता हुआ अध्वर्यु होता से विष्णु के लिए अनुवाक्या करने को कहता है। अनुवाक्या करने के बाद होता अग्नीध्र से आश्रावण करने के लिए कहता है। आश्रावण के बाद होता अध्वर्यु से 'विष्णुं यज' 'विष्णु' का यजन करो ऐसी आज्ञा देता है। पश्चात् अध्वर्यु होता के द्वारा वौषट् का उच्चारण करने पर विष्णु के लिए उस घृत की आहुति दे देता है ॥१३॥

वेदी पर प्रस्तर रहता है और उसमें हवि रक्खी रहती है। प्रकृतिभाग में अध्वर्यु जब हवि की आहुति देता है तब वेदी के दक्षिण देश में आ जाता है। 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या'—किन्तु इस उपसदिष्टि–रूप विकृति भाग में अध्वर्यु आहवनीय के दक्षिण प्रदेश में ही खड़ा रह कर तीनों देवताओं के लिए आहुति देता है। उस दूसरी आहुति के समय "प्रत्याक्रमण" (प्रत्यावर्तन) नहीं करना पड़ता; क्योंकि उपसद् भाग में असुरों पर विजय प्राप्त करने के लिए तीनों देवताओं की आहुति दी जाती है। एक आहुति के बाद प्रत्याक्रमण करना (पीछे लौटना) पराजय होगा अतः "प्रत्याक्रमण" (प्रत्यावर्तन) नहीं करना चाहिए अध्वर्यु इस उपसदिष्टि में अग्नि, सोम व विष्णु इन तीनों देवताओं का यजन करता है। वह संवत्सराग्निरूप वज्र का असुरों के विनाश के लिए संस्कार करता है। स्तौम्यत्रिलोकी एकविंशनी ही द्यु लोक है। और यही उसी संवत्सराग्नि का अन्तिम पुच्छ भाग है, कुलमल है। वह पुच्छ भाग विष्णु देवताक है जैसे कि संवत्सराग्नि का मुखभाग अग्निदेवताक तथा मध्यभाग सोमदेवताक है। असुर विनाशक इस संवत्सराग्निरूप वज्र का निर्म्माण अग्नि, सोम और विष्णु इन तीनों देवताओं से होता है। इस संवत्सराग्निरूप वज्र में ८ वसु, ११ रुद्र,

१२ आदित्य तथा २ अश्विनीकुमार-रूप सांध्यदेवता इन ३३ देवताओं की सत्ता है। जिन में आदि का देवता अग्नि है क्या अन्तिम देवता १२ आदित्यों में विष्णु है इसीलिए शतपथ में कहा है-'अथ यज्ञो देवता यजति वज्रमे वैतत संस्करोति, अग्निमनीकं सोमं शल्यं, विष्णुं कुल्मलम् इति' ।।१४।।

पृथिवी केन्द्र से निकल कर एकविंश स्तोम तक वितत रहने वाला संवत्सराग्नि या संवत्सरमण्डल ही तमोमय असुरों का विनाशक वज्र है। अग्नि में सोम की आहुति ही यज्ञ है।किन्तु दिक्रात्रिरूप अग्नि-सोम का सम्बन्ध कराने वाला विष्णु प्राण इन दोनों के मध्य में रहता है। विष्णु ही यज्ञ है।जैसा कि 'यज्ञो वै विष्णुः' विष्णुर्वै यज्ञः' इत्यादि ब्राह्मण श्रुतियाँ बतला रही है। संवत्सराग्नि ही तमोमय असुरों का विनाशक है, अतः वज्र है। अतः इन तीनों देवताओं का संवत्सररूप ही वज्र का संस्कर्ता कहा गया है ।।१५।।

इसी संवत्सराग्नि-वज्र से प्राणदेवताओं तथा भौमस्वर्गवासी मानवदेवताओं ने तमोमय असुरों की तीनों पुरियों को नष्ट कर दिया और उन पर विजय प्राप्त कर ली। इसी प्रकार आज यह यजमान इस संवत्सर-वज्र से स्तौम्य त्रिलोकी आदि तीनों लोकों की कठिनता को नष्ट करता है और जीत लेता है। इसीलिए वह संवत्सररूप वज्र का संस्कार करने वाले अग्नि, सोम व विष्णु-इन तीनों देवताओं का यजन किया करता है ।।१६।।

वह यजमान तीन उपसत् करे। क्यों कि संवत्सररूप वज्र का संचार करने के लिए ही अग्नि, सोम विष्णु इन तीनों देवताओं का यजन करता है। संवत्सर में ग्रीष्म शरद व वर्षा ऋतुएँ होती हैं। इनमें ग्रीष्म-ऋतु का अधिष्ठाता अग्नि, शरद-ऋतु का अधिष्ठाता सोम तथा वर्षा का अधिष्ठाता विष्णु है। तीनों देवताओं का यजन ग्रीष्म, वर्षा, शरद इन तीनों ऋतुओं का संस्कार है और संवत्सर ऋतुत्रयसमष्टि ही है। तीनों देवताओं के यजन से एक उपसत् का स्वरूप बनता है। ऐसी उपसत् एक दिन में प्रातः सांय ही करनी पड़ती है। तीन दिन तक उपसत् याग होता है। यही बात 'द्विरेकया' इस वीप्सा के द्वारा बतलायी गई है ।।१७।।

उपर्युक्त रीति से तीन दिनों में ६ उपसत् हो जाते हैं। संवत्सर में वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा शरद, हेमन्त, शिशिर, ये ६ ऋतुएँ होती हैं। ६ उपसदों द्वारा ६ हों ऋतुओं का संस्कार हो जाता है। और ६ ऋतुओं की समष्टि ही संवत्सर है। इस रीति से षड्ऋतुसमष्टि संवत्सर-रूप वज्र का संस्कार हो जाता है ।।१८।।

कितने ही याज्ञिकों का मत है कि १२ उपसदें करनी चाहिए। क्योंकि एक संवत्सर में १२ मास होते हैं। इस तरह द्वादश मासों का संस्कार हो जाता है और द्वादशमाससमष्टि ही संवत्सर है। इस प्रकार १२ उपसत्सकर्म करने से संवत्सर का संस्कार हो जाता है। ये उपसत्कर्म दिन में दो बार करने चाहिएँ जैसा कि तीन उपसत् पक्ष में बतलाया गया है ।।१९।।

१२ उपसत् कर्मों को दिन में दो बार करने से २४ उपसत् कर्म हो जाते हैं। मास संवत्सर में २४ अर्ध होते हैं। २४ अर्धमासों का उपसद् द्वारा संस्कार करने से २४ अर्धमाससमष्टिरूप संवत्सर का संस्कार हो जाता है ।।२०।।

यजमान सायंकाल व प्रातःकाल आनुपूर्वी से समाप्ति पर्यन्त जो उपसद्याग करता है उस से सम्पत्ति को प्राप्त कर लेता है। यजमान जो पूर्वाह्ण में उपसद्याग करता है उस से शत्रु को जीत लेता है और अपराह्ण में जो उपसद्याग करता है उस से उस पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर लेता है। शत्रु को साकल्येन जीत लेना ही वास्तविक सम्पत्ति-प्राप्ति है। इसलिए प्रातः व सायं अर्थात् पूर्वाह्ण तथा अपराह्ण में उपसद्याग किया जाता है।

दोनों उपसद्यागों द्वारा शत्रु की सम्पत्ति पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेने के बाद सायंकालिक उपसद्याग के बाद एक उपसद् होम और किया जाता है। खड़े हो कर जो हवन किया जाता है उसे याग कहते हैं और बैठ कर जो हवन किया जाता है उसे होम कहते हैं। उपसद् होम के द्वारा यजमान शत्रु-सम्पत्ति पर अपना पूर्ण अधिकार कर लेता है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि-'अथ यज्जुहोति इदं वै पुरं युध्यन्ति तां जित्वा स्वां सतीं प्रपद्यन्ते' इति ।।२१।।

अध्वर्यु जो प्रचरण करता है (अर्थात् प्रातः कालिक उपसद्याग करता है) वह शत्रु के साथ युद्ध करता है और जो सायंकाल उपसद्याग करता है उस से शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेता है। जो उपसद्होम करता है उससे शत्रु-सम्पत्ति पर अपना अधिकार कर लेता है ।।२२।।

उपसद् होम भी उपसद्याग की तरह एक दिन में दो बार किया जाता है। प्रथम दिन के उपसद्होम के लिए निम्न मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए:—

"या ते ऽअग्नेऽयः शया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा ।
उग्रंवचो अपावधीत्त्वेषं वचोऽपावधीत् स्वाहा" ।। इति ।

अर्थात् हे अग्नि ! जो तुम्हारी अयः तनू (शरीर) शया (लोहमयी) है जो कि वर्षिष्ठा (बहुत विशाल) है और गह्वरेष्ठा अर्थात् अन्धकारमयी है वह तनू मेरे जो उग्र तथा त्वेष वचन हैं उन्हें नष्ट कर दे। ऐसे आप के लिए स्वाहा है। उग्र तथा त्वेष वचनों का स्वरूप तैत्तिरीय में बतलाया गया है। चूँकि लोहा अग्नि का शरीर है अतः हे अग्नि ! असुरों की लोहमयी पुरी के अधिष्ठाता आप ही हैं। अतः आप इसे तोड़ दें। तात्पर्य यह है कि हम शत्रु के लोहमय किले में घिरे हुए भूख-प्यास से व्याकुल होकर चिल्ला रहे हैं तथा शत्रु के प्रहार से वेदनायुक्त चीत्कार कर रहे हैं। आप हमारी इन दोनों प्रकार की चिल्लाहटों को दूर कर दें। ये दोनों प्रकार के वचन ही उग्र एवं त्वेष वचन हैं। जैसा कि

तैत्तिरीयश्रुति में बतलाया गया है:-'अशनायापिपासेह' वा उग्रं वच: एनश्च वैरहायञ्च त्वेषं वच: इति' ।।२३।।

दूसरे दिन जाने वाले उपसद् होम मन्त्र है-"यातेऽअग्ने रज:शया........वचोऽअपावधीत् स्वाहा" इस मन्त्र का अर्थ भी पूर्व मन्त्र के समान हीं है । केवल इतना अन्तर है कि पहिला पुर लौहमय था और यह रजत का बना हुआ था । इसीलिए मन्त्र में अग्नि की इस तनू को 'रज:शया' कहा जाता है । यह दूसरे दिन का उपसद्होम दिन में दो बार अर्थात् प्रात: व सायं किया जाता है ।।२४।।

तीसरे दिन जो उपसद् होम किया जाता है वह भी पूर्ववत् दिन में प्रात: व सायं दो बार किया जाता है । उस उपसद् होम का मन्त्र है—

"या तेऽअग्ने हरिशया......वचोऽअपावधीत् स्वाहा" इति

असुरों की यह पुरीहरिणी अर्थात् हिरण्मयी थी । अत: मन्त्र में 'हरिशया' पद दिया गया है । मन्त्रार्थ पूर्ववत् ही है ।

उपसद् करनी चाहिए। प्रथम दिन दोनों समय प्रथम मन्त्र का,द्वितीय दिन दोनों समय दूसरे मन्त्र का तथा तृतीय दिन दोनों समय तृतीय मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए क्यों कि एक दिन में दोनों समय एक ही देवता के लिए उपसद् होम होगा । इस प्रकार तीनों दिनों में ६ उपसद् होम होंगे । किन्तु १२ उपसद् करनी चाहिए-इस पक्ष में एक-एक मन्त्र से चार-चार दिन तक प्रचारण करना चाहिए । आदि के चार दिनों में 'या तेऽअग्ने अय: शया' इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए । मध्य के चार दिनों में 'या तेऽअग्ने रज:शया' इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए । अन्त के चार दिनों में "या तेऽअग्ने हरिशया" इस मन्त्र का उच्चारण उपसद्होम करते समय करना चाहिए ।।२५।।

जिन उपसदों में यजमान दूध पीने का क्रम रखता है उन्हें व्रतोपसद् कहते हैं । इस विषय में दो मत हैं । एक सम्प्रदाय वाले कहते हैं कि प्रथम दिन गाय के एक स्तन का दूध पीना चाहिए । दूसरे दिन दो स्तनों का तथा तीसरे दिन तीन स्तनों का दूध पीना चाहिए । इस में दुग्धपान में उत्तरोत्तर वृद्धि है अत: इसे परउर्वी उपसद् कहा जाता है । दूसरे सम्प्रदाय वालों का मत है कि प्रथम दिन तीन स्तनों का दूध पीना चाहिए, दूसरे दिन दो स्तनों का तथा तीसरे दिन एक स्तन का । इस प्रकार इस मत में पय:पान का उत्तरोत्तर ह्रास होने से इस क्रम को परोऽह्वी उपसद् कहते हैं । किन्तु वस्तुत: देखा जाए तो तीनों दिनों में मिला कर समान ही दूध पीया जाता है । अत: परउर्वी तथा परोऽह्वी समान ही हैं । उन में कुछ भेद नहीं है । इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—"या वै परोऽह्वीस्ता: परउर्वीया: परउर्वीस्ता: परोऽह्वी:" इति ।।२६।।

यद्यपि परउर्वीः तथा परोऽह्वीः इन दोनों में दूध समान ही मिलता है अतः कोई अन्तर नहीं, तथापि याज्ञवल्क्य का कथन है कि परोऽह्वीः पक्ष ही श्रेयस्कर है। क्योंकि तप से ही मनुष्य को कल्याण की प्राप्ति होती है। परोऽह्वी पक्ष में उत्तरोत्तर दूध की कमी होने से मनुष्य का प्राणबल अधिक खर्च होता है और इसी का नाम तप है जैसा कि "एतद्वै तप इत्याहुर्यत् स्वं ददाति" से स्पष्ट है। अतः इस रहस्य को जानता हुआ जो परोऽह्वी उपसद् करता है वह इस लोक में वसीयान्, (अधिक वसुमान्) होता है। इसी क्रम से १२ उपसदें करनी चाहिएँ। परोऽह्वी उपसद् ही विहित है ॥२७॥

[विज्ञान भाष्य] आतिथ्येटि, तानूनप्त्रेष्टि, अवान्तरदीक्षेष्टि–तीनों आतिथ्य के अन्तर्गत हैं। आतिथ्य के अनन्तर ही देवताओं ने अहमहमिका में पड़ कर अपनी संघ-शक्ति तोड़ डाली थी। उसके प्रायश्चित्त के लिए उन्हें पहले "तानूनप्त्रेष्टि" करनी पड़ी एवं साथ ही अवभृतान्तस्नानपर्यन्त अक्षुण्ण रहने वाली दीक्षा के इस मिथ्या कर्म के कारण–भङ्ग हो जाने से–अवान्तर दीक्षा करनी पड़ी। इस प्रकार इसके बाद घर में आए हुए अतिथि सोम का आप्यायन किया गया। आप्यायन करना आतिथ्य के अन्तर्गत है। यह आप्यायन होता है–अवान्तर दीक्षा के अनन्तर–अन्त में। अतएव हम यहाँ तक "आतिथ्येष्टि" की ही इतिकर्त्तव्यता कहने के लिए तैयार हैं। कहना यही है कि आगत सोम के स्वागत के लिए "आतिथ्य" कर्म कर दिया गया। आतिथ्य इष्टि के प्रारम्भ में ही लिखा है कि इस यज्ञ का मस्तक यह आतिथ्य है। किस यज्ञ का आतिथ्य मस्तक है–यह जिज्ञासा होती है। इसका एकमात्र उत्तर है–'दिव्यात्मा' ही–जिसे कि यज्ञात्मा भी कहते हैं–वह यज्ञ-पुरुष है कि आतिथ्य जिसका मस्तक है। प्रकृतियज्ञवत् यजमान आहुति द्वारा नया दिव्यात्मा उत्पन्न करता है। यही दिव्यात्मा यज्ञसाधनोत्पन्नत्वात् 'यज्ञात्मा' कहलाता है। इसे ही 'यज्ञ' कह दिया करते हैं। यह यज्ञात्मा पुरुष-स्वरूप है। मस्तक-हस्त-पादादि सारे अवयव यज्ञात्मा में होते हैं। इसी यज्ञात्मा के कारण–यजमान-आत्मा देहोत्क्रान्त्यनन्तर सीधा सत्रहवें स्वर्ग में चला जाता है–जो कि स्वर्ग 'आहवनीय' नाम से प्रसिद्ध है। यह आत्मा पुरुषाकार है। प्राकृतिक सृष्टि-क्रम में सबसे पहले मस्तक उत्पन्न होता है। अतएव मस्तक–स्थानीय आतिथ्येष्टि करनी पड़ती है। आतिथ्य कर्म्म में जो आहुति दी जाती है–उससे यज्ञात्मा का शिरोभाग बनता है। अतएव **'शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यम्'** यह कहा जाता है। एक समय विष्णु भगवान् महामाया (निद्रा) के वशीभूत हो कर गहरी नींद में सो गए। उस समय सिरहाने लगाने के लिए उनके पास कुछ न था। अतएव उन्होंने अपनी धनुष की प्रत्यञ्चा को ही अपना सिरहाना बनाया। उसे सिरहाना बना कर उस पर मस्तक रख कर सो गए। विष्णु ही जगत् के पालनकर्त्ता हैं। उन्हें घोर निद्रा में निमग्न देख कर–सृष्टिकर्त्ता भगवान् ब्रह्मा को बड़ी चिन्ता हुई। इस चिन्ता को दूर करने के लिए उन्होंने एक 'दीमक' नाम का कीट उत्पन्न किया और उसे आज्ञा दी कि "तुम जाओ और जिस डोरी को सिरहाने लगा कर पालनकर्त्ता विष्णु सो रहे हैं–उसे काट दो"। दीमक ने वैसा ही किया। ब्रह्मा जी ने तो ऐसा करके अच्छा ही किया था–परन्तु दुर्दैववशात्–फल इसका सर्वथा विपरीत हो गया। प्रत्यञ्चा के कटते ही उस पर लगा हुआ विष्णु का मस्तक कट कर आकाश में उड़ गया। हिङ्कार करती हुई प्रत्यञ्चा ने विष्णु का मस्तक काट गिराया। वह मस्तक उड़ कर आकाश में जा कर गायब हो गया। विष्णु यज्ञ-स्वरूप

हैं–जब यज्ञ का मस्तक कट गया तो–ब्रह्माजी को फिर चिन्ता हुई कि अब हम यज्ञ कैसे करेंगे–क्यों कि मुख–भाग में ही तो आहुति दी जाती है। ब्रह्मा की यह चिन्ता भी शीघ्र ही दूर हो गई। उन्होंने एक अश्व का मस्तक काट कर–विष्णु के धड़ पर लगा दिया। बस, यही 'हयग्रीव' भगवान् कहलाए। विष्णु का मस्तक कट कर गिर गया था–प्रवृक्त हो गया था–अतएव इसे वापस जोड़ने के लिए 'हयग्रीव' अवतार के लिए–देवताओं ने जो यज्ञ किया था–वह 'प्रवर्ग्य' यज्ञ कहलाया। चूँकि इससे मस्तक जोड़ा जाता है अतएव इसे 'शिरोयज्ञ' भी कहते हैं। इसी का नाम 'घर्म्मयाग' है। इसी को महावीरोपासना कहते हैं। पहले आतिथ्येष्टि की जाती है–आतिथ्यानन्तर प्रवर्ग्य–याग किया जाता है–प्रवर्ग्यानन्तर उपसत् होता है–बाद में ग्रह-याग होता है। यद्यपि दीक्षा–सुत्या–उपसत् के क्रम से दीक्षान्तर सुत्या ही होना चाहिए था, परन्तु किसी विशेष कारण से सुत्या अर्थात् ग्रहयाग के पहले ही उपसत् होता है। अतएव भगवान् कात्यायन कहते हैं–'**प्रवर्ग्योपसदावतः**' (का० श्रौ० ८।२।१५) अतः (आतिथ्यानन्तरम्) **प्रवर्ग्योपसदौभवतः**' यही इस सूत्र का अर्थ है। आतिथ्य के अनन्तर प्रवर्ग्य होना चाहिए एवं प्रवर्ग्य के अनन्तर उपसत् होना चाहिए–यही तात्पर्य्य है। हमने बतलाया है कि प्रवर्ग्ययाग यज्ञ के कटे हुए मस्तक को जोड़ने के लिए किया जाता है। सोमयाग प्रतिवर्ष हो सकता है। एक सोमयाग से एक यज्ञ का स्वरूप बन जाता है। जब यजमान पहले-पहल प्रारम्भ का ही सोमयाग करता है–उसमें इसे प्रवर्ग्ययाग करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। यज्ञस्वरूप बने बाद उसका प्रत्यञ्चा से मस्तक कटता है। उसको जोड़ने के लिए प्रवर्ग्ययाग किया जाता है। परन्तु अभी तक तो यजमान का 'यज्ञ' ही उत्पन्न नहीं हुआ। यज्ञस्वरूप बन जाए–बने बाद उसका मस्तक कटे एवं बादमें उसे जोड़ने के लिए प्रवर्ग्ययाग की आवश्यकता हो; परन्तु अभी तो यज्ञ ही उत्पन्न नहीं हुआ। अतएव पहले सोमयज्ञ में जो आतिथ्य है–उसके अनन्तर प्रवर्ग्य याग करने की कोई आवश्यकता नहीं है। अभी तो यज्ञ बन रहा है। जब माथा बना ही नहीं तो कटने की क्या कथा? कटा ही नहीं तो फिर तत्संधानस्वरूप '**प्रवर्ग्य-याग**' की आवश्यकता ही नहीं रहती। अतएव कात्यायन कहते हैं–'न प्रथम यज्ञे प्रवृञ्ज्यात्' इति। पहले सोमयज्ञ में–प्रवर्ग्ययज्ञ करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

यदि एक सोमयज्ञ किए बाद–दूसरे वर्ष दूसरा सोमयाग किया जाता है तो उसमें प्रवर्ग्ययाग अवश्य ही करना पड़ता है क्यों कि पूर्व के संवत्सरयज्ञ से यज्ञ का स्वरूप पूरा बन जाता है एवं बनने के साथ ही–प्रत्यञ्चा से मस्तक कट जाता है। अतएव उसके सन्धान के लिए–प्रवर्ग्ययज्ञ अवश्य ही करना पड़ता है। इस सारे प्रपञ्च से निष्कर्ष यही निकला कि यदि यजमान प्रथम याजी हो और उसने पहले-पहल ही सोमयाग किया हो तो आतिथ्य के अनन्तर उपसत् करे और उपसत् के अनन्तर ग्रहयाग करे। इस पहले याग में यज्ञ का मस्तक–यही आतिथ्य बनेगा। बस, इसी प्रथम पक्ष को बतलाने के लिए '**शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यम्**' (शत० ३।२।३।२०) यह कहा गया है। आतिथ्य-यज्ञ प्रारम्भ के सोमयाग का मस्तक बनता है एवं यदि दुबारा या तिबारा सोमयाग करना हो तो आतिथ्य के अनन्तर प्रवर्ग्ययाग करे–प्रवर्ग्य के अनन्तर उपसत् करे–उपसत् के अनन्तर ग्रहयाग करे। इन द्वितीय-तृतीय सोमयागों में–प्रवर्ग्य ही मस्तक स्थानीय है एवं आतिथ्य कर्म्म इस प्रवर्ग्य का अङ्ग बन जाता है। यद्यपि प्रवर्ग्य का स्वरूप यहीं तक बतलाना चाहिए था किन्तु यह प्रवर्ग्ययाग सबसे निराला है। यह हविर्यज्ञादि से ताल्लुक नहीं रखता।

यह स्वतन्त्र कर्म्म है–अतएव इसकी इतिकर्त्तव्यता आगे बतलाई जाएगी। १–पाकयज्ञ २–हविर्यज्ञ ३–महायज्ञ ४–अतियज्ञ ५–शिरोयज्ञ–भेद से यज्ञ पाँच प्रकार के होते हैं अतएव **'पाङ्क्तो वै यज्ञः'** (ऐ०१।५) यह कहा गया है। इन पाँचों में से जो शिरोयज्ञ है–वही हमारा प्रवर्ग्ययज्ञ है। प्रथम यज्ञ में प्रवर्ग्य नहीं होता अतएव ऐतरेय महर्षि सोमयज्ञ की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए–"प्रारम्भको सोमयज्ञः" को लक्ष्य में रख कर आतिथ्य को ही शिरस्थानीय मान कर कहते हैं—

"शिरो वा एतद्यज्ञस्य यदातिथ्यं–ग्रीवा उपसदः"। (ऐ० ब्रा० ४।८)

परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य उस द्वितीय सोमयज्ञ को लक्ष्य में रख कर कहते हैं—

"ग्रीवा वै यज्ञस्योपसदः। शिरः प्रवर्ग्यः"।

वास्तव में द्वितीय यज्ञ में शिर–प्रवर्ग्य यज्ञ ही बनता है। इसीलिए इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि–यजमान यदि प्रवर्ग्यवान् होता है–तो पहले प्रवर्ग्य से युक्त हो कर–प्रवर्ग्ययाग करके–बाद में उपसद्याग करता है। 'प्रवर्ग्यवान्' कहा है–इससे स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय यज्ञ वाला ही प्रवर्ग्य करे क्यों कि प्रवर्ग्यवान् वही होता है—

"तस्माद् यदि प्रवर्ग्यवान् भवति, प्रवर्ग्येण प्रचर्य्य अथोपसद्भिः प्रचरन्ति (प्रयुज्यते)"।

आतिथ्य और प्रवर्ग्य तो यज्ञात्मा का शिरस्थानीय है–इन दोनोंसे तो यज्ञात्मा का मस्तक बनता है एवं उपसत् से यज्ञात्मा की ग्रीवा बनती है। विष्णु-सोम-अग्नि–तीनों ही देवताओं से ग्रीवा बनती है। विष्णु बारहवें आदित्य हैं–सोम अन्तरिक्ष की वस्तु है–अग्नि पृथिवी की वस्तु है। इस प्रकार त्रिलोकी के प्राण से ग्रीवा का निर्म्माण होता है। पृथिवी में अग्नि है विष्णु में अग्नि है–इन दोनों अग्नियों का संश्लेष करने वाला यही आन्तरिक्ष्य सोम है। इसी से दोनों प्राण बद्ध रहते हैं। बस ग्रीवा–निर्माता यही तीनों–प्राणदेवता हैं। उपसत् में इन्हीं तीनों का यजन किया जाता है। अतएव—

"ग्रीवा वै यज्ञस्योपसदः"।

यह कहा है। उपसत् से यज्ञपुरुष की ग्रीवा बनती है। मस्तक के अनन्तर ग्रीवा का ही नम्बर आता है एवं ग्रीवा बनती है—अग्नि-सोम-विष्णु के यजन-स्वरूप उपसत् से। अतएव आज यह यजमान आतिथ्यानन्तर–किंवा प्रवर्ग्यानन्तर "उपसत्याग" करता है एवं ऐसा करता हुआ आतिथ्य से उत्पन्न यज्ञपुरुष के मस्तक में–ग्रीवा का सन्धान करता है। मस्तक के साथ ग्रीवा को मिलाता है। ग्रीवा में अनेक अवयव होते हैं–अतएव अवयवापेक्षया 'ग्रीवा' कह दिया गया है। बस उपसत्याग का यही रहस्य है—

"तद् ग्रीवाः प्रतिदधति" (शिरसा सह योजितवान् भवति) ॥१॥

हमने बतलाया है कि उपसत् में अग्नि-सोम-विष्णु इन तीनों देवताओं का यजन किया जाता है। अग्नि-सोम-विष्णु—ये तीनों ही उपसद्देवता हैं। इन तीनों का जो समष्टियाग है—वह एक उपसत् कहलाता है। तीनों के यजन से एक उपसत् का स्वरूप बनता है। यह उपसत्याग सायं-प्रातः करना पड़ता है। प्रातःकाल भी तीनों देवताओं का यजन करना पड़ता है—सांयकाल भी तीनों देवताओं का यजन करना पड़ता हैं। इस प्रकार एक दिन में दो उपसत् करने पड़ते हैं। देवता के यजन में—अनुवाक्या और याज्या दो मन्त्रों का उपयोग होता है। प्रत्येक देवता के यजन में अनुवाक्या और याज्या करनी पड़ती हैं। अनुवाक्या को ही **'परोऽनुवाक्या'** कहा जाता है। याज्या से पहले होने के कारण ही इसे पुरोऽनुवाक्या कहा जाता है। पुरोऽनुवाक्या **होता** करता है—याज्या **"अध्वर्यु"** करता है। देवता को यज्ञ में बुलाने का जो मन्त्र है—वही **'अनुवाक्या'** कहलाता है। अग्नि—स्वरूप "होता" ही देवता के लिए—अनुवाक्या बोलता है—अर्थात् होता अनुवाक्या मन्त्र से देवता का यज्ञ में आह्वान करता है एवं आगत देवता को आहुति से मिलाने का अर्थात् देवता का आहुति से सम्बन्ध कराने वाला जो मन्त्र है—उसे **"याज्या"** कहते हैं। यह काम अध्वर्यु का है। याज्या मन्त्र बोल कर वौषट् के साथ आहुति देना अध्वर्यु का ही काम है। जिस मन्त्र के पहले चरण में देवता का नाम रहता है—वह अनुवाक्या मन्त्र कहलाता है जैसे—**'अग्निदेवं वृणीमहे** ………' इत्यादि। जिस मन्त्र के चौथे चरण में देवता का नाम रहता है—वह आज्या कहलाती है। इस सारे प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि प्रत्येक देवता के यजन में अनुवाक्या और याज्या—इन दो मन्त्रों की आवश्यकता पड़ती है। प्रकृत में विष्णु-अग्नि-सोम ये तीन देवता हैं। अतएव तीनों की तीन ही अनुवाक्या होती हैं—तीन ही याज्या होती हैं। किसका कौन सा अनुवाक्यामन्त्र है, कौनसा याज्यामन्त्र है—यह समझ लेना आवश्यक है—

"अग्निर्वृत्राणि जंघनत् द्रविणस्युर्विपन्यया। समिद्धः शुक्र आहुतः"।
(अनुवाक्या मन्त्र) (ऋग्वेद मं. ६।१६।३४)

"य उग्र इव शर्यहा तिग्मशृंगो न वंसगः। अग्ने पुरो रुरोजिथ"।
(याज्या मन्त्र) (ऋग्वेद मं० ६।१६।३९)

"त्वं सोमासि सत्पतिस्त्वं राजोत वृत्रहा। त्वं भद्रो असि क्रतुः"।
(अनुवाक्या मन्त्र) (ऋग्वेद मं. १।९१।५)

"गयस्फानो अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः। सुमित्रः सोम नो भव"।
(याज्या मन्त्र) (ऋग्वेद मं. १।९१।१२)

"इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूळहमस्य पांसुरे"।
(अनुवाक्या मन्त्र) (ऋग्वेद मं. १।२२।१७)

"त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्"।
(याज्या मन्त्र) (ऋग्वेद मं० १।२२।१८)

इस प्रकार तीन देवताओं के–तीन याज्यामन्त्र हैं–तीन अनुवाक्यामन्त्र हैं। तीनों का प्रातः-सायं दोनों बार यजन होता है। प्रातःकाल भी याज्यानुवाक्यों से तीनों का यजन होता है–सायंकाल भी याज्यानुवाक्यों से तीनों का यजन होता है। यह परिस्थिति है--इसमें एक विशेष बात बतलाते हैं। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि उपसत्यज्ञ में–पूर्वाह्ण में अर्थात् प्रातःकाल में–जो अनुवाक्या होती हैं–वे सायंकाल में याज्यास्थानीय हो जाती हैं। एवं जो याज्या होती है–वह अपराह्ण में अनुवाक्या हो जाती है। इस प्रकार मन्त्र-विनिमय हो–क्रिया-विनिमय हो जाता है। इसी अभिप्राय से ऐतरेय कहते हैं—

"जघ्निवतीर्याज्यानुवाक्याः कुर्यात्। अग्निर्वृत्राणि जंघनद्य उग्र इव शर्यहा त्वं सोमासि सत्पतिर्गयस्फानो अमीवहेदं विष्णुर्विचक्रमे त्रीणि पदा विचक्रम इत्येता। विपर्यस्ताभिरपराह्णे यजति"। (ऐ॰ ब्रा॰ ४।८)

पूर्वाह्ण में आदि के तीन मन्त्रों से अनुवाक्या होती है–अन्त के तीन से याज्या होती है एवं सायंकाल में उन आदि के मन्त्रों से याज्या होती है–अन्त के तीन मन्त्रों से अनुवाक्या होती है–इस प्रकार विपर्यय करा दिया जाता है। ऐसा करने से याज्या-अनुवाक्या दोनों परस्पर व्यतिषक्त हो जाती हैं–गुँथ जाती हैं। प्रकृतियज्ञ के अनुसार मनुष्य-यज्ञ का वितान होता है–यह बात हमने कई बार बतला दी है। प्रकृति-यज्ञ में वायु अध्वर्यु है–अग्नि होता है–चन्द्रमा ब्रह्मा है–आदित्य उद्गाता है। ये चारों प्राण-देवता प्रजापति-स्वरूप यजमान के साथ अधिदैवत यज्ञ किया करते हैं। इसी यज्ञ से यच्चयावत् प्राणिमात्र की सृष्टि होती है। इस प्राकृतिक यज्ञ में भिन्न-भिन्न प्राण हैं–उनका सन्निवेश-क्रम भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। अतएव हाथ अलग निकल जाते हैं। मस्तक धड़ से ऊपर निकल जाता है। विचित्र प्रकार की संस्थाएँ बन जाती हैं। इसका एकमात्र कारण प्राण-सन्निवेश-क्रम ही है। उन प्राणों के प्रेरक प्राणाधिष्ठाता वही चारों प्राण ऋत्विक् हैं। चारों में अग्नि पुरोऽनुवाक्या करते हैं–देवप्राण को प्रेरित करते हैं–जिससे कि सृष्टि (सन्तान) होने वाली है एवं वायु याज्या करते हैं। बस इस पुरोऽनुवाक्या याज्या से संसार के सारे प्राणियों की सृष्टि होती है। इस पुरोऽनुवाक्या-याज्या के तारतम्य से ही शरीरधारी प्राणियों के स्वभाव नाना प्रकार के हो जाते हैं। जब पुरोऽनुवाक्या मिल जाती है–व्यतिषक्त हो जाती है–तो ग्रीवा की हड्डियाँ बन जाती हैं। चूंकि पुरोऽनुवाक्या मिली हुई हैं एवं उन्हीं से ग्रीवा की हड्डियाँ बनती हैं अतएव हड्डियाँ भी परस्पर व्यतिषक्त हो जाती हैं। ग्रीवा की अस्थियाँ यद्यपि अनेक हैं परन्तु सब-सब में गुँथ रही हैं–एक से एक बद्ध हो रही हैं। प्रकृति-यज्ञ में–पुरोऽनुवाक्या मिली रहती हैं–इसका यही प्रत्यक्ष प्रमाण है। हमें इस यज्ञ से–यज्ञ-पुरुष उत्पन्न करना है। आतिथ्येष्टि से उसका मस्तक बन गया। अब तीनों देवताओं का यजन कर पुरोऽनुवाक्या युक्त उपसत् से उस यज्ञ-पुरुष की ग्रीवा बनानी है। पुरोऽनुवाक्या प्रकृति में गुँथी हुई है अतएव **'यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि'** के अनुसार यह यजमान पुरोऽनुवाक्या को व्यतिषक्त करने के लिए पूर्वाह्ण में जो अनुवाक्या होती है उसे सायंकाल में याज्या बना डालता है। सायंकाल में जो याज्या होती है–उसे प्रातःकाल में अनुवाक्या बना डालता है—

"तद् याः पूर्वाह्णेऽनुवाक्या भवन्ति-ता अपराह्णे याज्याः । या याज्या-स्ता अनुवाक्याः । तद् व्यतिषजति" ।

प्रकृति-यज्ञ के रहस्य को परोक्ष भाव से मष्नुष्य-यज्ञ की ओर से बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यजमान के ऐसा करने से–ग्रीवा के जो पर्व हैं–वे व्यतिषक्त होते हैं–एक से एक गुँथ जाते हैं । यहाँ यजमान का नाम है–प्रकृति ही निर्दिष्ट है । प्रकृति में चूँकि पुरोऽनुवाच्या और आज्या व्यतिषक्त होती हैं इसीलिए हमारी गर्दन की हड्डियाँ भी-परस्पर व्यतिषक्त होती है । यहाँ पर इतना और समझ लेना चाहिए कि पुरोऽनुवाक्या से–स्थूल अस्थि का निर्माण होता है–याज्या से सूक्ष्म अस्थि का निर्माण होता है । चूंकि प्राकृतिक अस्मदादि प्रजनन यज्ञ में–पुरोऽवाक्या व्यतिषक्त होती है, अतएव यह यजमान भी–यज्ञात्मा की ग्रीवा बनाता हुआ–दोनों को व्यतिषक्त कर देता है । इसी लिए इस यज्ञ-पुरुष की ग्रीवा के पर्व व्यतिषक्त होते हैं । **'पर्व'** शब्द से लोक में–अंगुलि के पर्व प्रसिद्ध हैं । यहां पर उन पर्वों का अर्थ कोई न समझ ले–इसलिए **'अस्थीनि'** पद दे दिया गया है । अंगुलि की जो अस्थि है–वही पर्व शब्द से प्रसिद्ध है । ग्रीवा की हड्डियाँ 'पर्व' शब्द से प्रसिद्ध नही हैं–अतएव खाली हर्व शब्दो पापदन से–चूंकि ग्रीवा-पर्व का बोध नहीं हो सकता था–अतएव "अस्थीनि" कह दिया गया है । इस प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि यह यजमान प्रकृतिवत् याज्यानुवाक्यों को व्यतिषक्त कर देता है–अतएव ग्रीवा के अस्थि-पर्व-एक दूसरे से गुथे रहते हैं—

"तस्मादिमानि ग्रीवाणां पर्वाणि व्यतिषक्तानीमान्यस्थीनि" ।।२।।

आतिथ्य से उत्पन्न जो यज्ञ का मस्तक है–उसमें उपसत् से ग्रीवा का सम्बन्ध किया जाता है–यही उपसत् की पहली उपपत्ति है । उपसत् का इतना ही प्रयोजन नहीं है–अपितु इसके और भी फल मिलते हैं अतः उपसत् अवश्य ही करना चाहिए । उपसत् के करने से ग्रीवा-निर्वाण के अलावा और क्या फल हैं–इसका नाम उपसत् क्यों पड़ा इसकी उपपत्ति बतलाते हैं ।

देवता और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान हैं । प्रकाशमान प्राण का नाम देवता है–तमोमय प्राण का नाम असुर है । अन्धकार और प्रकाश दोनों उसी स्वयम्भू ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं । सूर्य्य प्रकाश साधन है, परमेष्ठि तमोधन है अतएव परमेष्ठि को असुर-मण्डल कहा जाता है--सूर्य को देवमण्डल कहा जाता है । स्वयम्भू भगवान् से परमेष्ठि अर्थात् असुर उत्पन्न होते हैं एवं उसी स्वयम्भू से ही सूर्य्य अर्थात् सारे देवता उत्पन्न होते हैं इसीलिए **'प्रजापति स्त्वेवेदं सर्वम् सृजत् यदिदं किंच"**–यह कहा जाता है । देवता और असुर दोनों–उसी स्वयम्भू प्रजापति की सन्तान हैं । ये दोनों ही परस्पर सदा लड़ते रहते हैं । प्रकाश, अन्धकार का शत्रु है; अन्धकार, प्रकाश का शत्रु है । जहाँ उजाला रहता है–वहाँ अँधेरा नहीं रहता; जहाँ अँधेरा रहता है- वहाँ उजाला नहीं रहता । इन दोनों में सदा स्पर्धा चलती रहती है । दिन, रात से लड़ता है; रात, दिन से लड़ती है । दोनों में अनवरत संघर्ष चलता रहता है–इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"देवाश्च वाऽअसुराश्च, उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे" ।

आगे जा कर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि असुरों ने त्रिलोक में अपना कब्जा करने के लिए पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-इन तीनों लोकों में अपने तीन शहर बना लिए; तीनों लोकों में तीन किले बना लिए। पृथिवीलोक में लोहमयी आयसीपुरी का निर्माण किया-अन्तरिक्षलोक में रजतमयी राजतीपुरी का निर्माण किया एवं द्युलोक में हिरण्यमयीपुरी का निर्माण किया। इस प्रकार तीनों लोकों में क्रमशः लोहा-चांदी-सोने का शहर बना कर, असुर लोग तीनों लोकों में बस गए—

"ततोऽसुरा एषु लोकेषु पुरश्चक्रिरे-अयस्मयीमेवास्मिंल्लोके। रजतामन्तरिक्षे। हरिणीं दिवि" ॥३॥

सोमाख्यान ब्राह्मण में-हमने पृथिवी को कद्रू बतलाया है एवं सौर वाक् को सुपर्णी बतलाया है। पौराणिक परिभाषा में सुपर्णी को 'विनता' कहा जाता है। कद्रू सर्पों की माता है-विनता गरुड़ और अरुण की माता है। इन सारे विषयों का रहस्य हमने-सोमाख्यान ब्राह्मण में विशद रूपेण बतला दिया है। इस सन्दर्भ में कद्रू सर्पों की माता है-इसका अर्थ यही है कि पृथिवी प्रातिस्विक रूपेण सर्वथा काली है-अतएव इसके जो प्राण निकलते हैं-वे भी शुद्ध काले ही निकलते हैं। पृथिवी के ये काले प्राण-सर्पण करते हुए-चलते हैं-अतएव उन्हें सर्प कहा जाता है। चूंकि ये पृथिवी के केन्द्र से निकल कर चारों ओर फैलते हैं अतएव इन्हें कद्रू का अर्थात् पृथिवी का पुत्र कहा जाता है। पृथिवी चूंकि सर्पण करती हुई चलती है अतएव **'इयं वै पृथिवी सार्पराज्ञी'** (शत० २।१।४।३०) यह कहा जाता है। इस प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि पृथिवी प्रातिस्विकरूपेण सर्वथा काली है-अतएव इससे चारों ओर बड़ी दूर तक वितत होने वाले प्राण भी सर्वथा काले ही हैं। बस, प्रकृत आख्यान में असुर शब्द से-यही पार्थिव काले प्राण अभिप्रेत हैं, जैसे-पृथिवी काली है-ठीक इसके विरुद्ध सूर्य प्रकाशमान् है इसीलिए तो सुपर्णी को उच्चैःश्रवा घोड़ा सफेद दीखा था। बस, देवता शब्द से यही सौरप्रकाश अभिप्रेत है। इस सौरप्रकाश में और पार्थिव काले प्राण में-सदा लड़ाई होती रहती है। कद्रू और विनता अर्थात् सुपर्णी में सदा युद्ध चलता रहता है। पृथिवी का जो काला प्राण है-वह पृथिवी के सत्ताईसवें (२७ वें) अहर्गण तक जाता है जहाँ पर कि सूर्य भगवान् स्थिर रूप से तप रहे हैं। यह काला प्राण ज्यों-ज्यों ऊपर जाता है, त्यों-त्यों मण्डल के अधिक बड़े होने के कारण-उस सारे मण्डल में व्याप्त होता हुआ पतला पड़ता जाता है। आखिर होते-होते सूर्य तक पहुँचने वाला काला प्राण तो एकदम ही पतला हो जाता है। पृथिवी से जाने वाले-२१ अहर्गण तक वितत रहने वाले- इस काले प्राण की घन-तरल-विरल तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। पृथिवी से कुछ दूर ऊपर तक चूँकि काला प्राण अधिक स्थूल रहता है-अतएव इस अवस्था को **'घनावस्था'** कहते हैं। इसके अनन्तर जब यह और पतला पड़ जाता है तो इस अवस्था को **'तरलावस्था'** कहते हैं एवं अन्त की अतिसूक्ष्म अवस्था को **'विरलावस्था'** कहते हैं। पृथिवी का जो वषट्कार मण्डल है-उसमें ३३ (तैंतीस) अहर्गण होते हैं। इनमें ७-७ अहर्गणों का एक-एक स्तोम माना जाता है। पहले स्तोम को त्रिवृत् स्तोम कहते हैं। पृथिवी के लोक में-तीन अहः चले जाते हैं जो कि ब्रह्मा-

विष्णु-इन्द्र–सम्बन्धेन हृद्य कहलाने लगते हैं। इन तीन में जब ६ अहर्गण और मिलाए जाते हैं तो त्रिवृत् स्तोम हो जाता है। बस, यहाँ तक अर्थात् ९ अहर्गण तक असुर प्राण–पृथ्वी का काला प्राण घन रूप में रहता है–यहाँ तक पृथ्विलोक माना जाता है। इसके बाद ९ में ६ अहर्गण और मिला दिए जाते हैं तो पञ्चदश स्तोम हो जाता है–इसमें काला प्राण तरल अवस्था में परिणत हो जाता है–इसी का नाम अन्तरिक्षलोक है। इसमें जब ६ और मिला दिए जाते हैं तो एकविंशस्तोम हो जाता है–यही आसुर प्राण की विरलावस्था है–इसी को द्युलोक कहते हैं। त्रिवृत् स्तोम पर्य्यन्त पृथिवीलोक है–पञ्चदशस्तोम तक अन्तरिक्षलोक है–एकविंश तक द्युलोक है। इस प्रकार उस असली अन्तरिक्ष–द्युलोक के अलावा स्तोम विभाग से केवल इस पृथिवी के ही तीन लोक हो जाते हैं। कहने को तीनों के नाम पृथिवी–अन्तरिक्ष-द्यौ हैं। वास्तव में तीनों पृथिवी ही हैं। इस पृथिवी त्रिलोकी का जन्म स्तोमों से होता हैं अतएव इसे स्तौम्य त्रिलोकी कहते हैं। जो वास्तविक त्रिलोकी है वह **'उद्गूढ़ त्रिलोकी'** कहलाती है। पूर्वोक्त तीनों आसुर अवस्थाओं से लोहा-चाँदी-सोना ये तीन धातुएँ उत्पन्न होती हैं। पृथिवी का, अर्थात् त्रिवृत् स्तोम का, जो घनावस्थास्वरूप काला प्राण है—उससे लोहा उत्पन्न होता है। लोहा असुर है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण तो उसका अपना रूप बतला रहा है। लोहा चूँकि असुर तत्त्व की घनावस्था से बनता है अतएव चाँदी-सोने की अपेक्षा इसमें घनता भी अर्थात् मजबूती भी अधिक होती है एवं काला भी होता है। लोहा शुद्ध आसुर है। चाँदी–सोने की शलाका शीघ्र मुड़ जाती है–लोहे की शलाका इतनी जल्दी नहीं मुड़ती। अन्तरिक्ष का 'तरलावस्थायुक्त' जो तमोमय पार्थिवासुर प्राण है–उससे चाँदी बनती है। अन्तरिक्ष में वायु की प्रधानता रहती है–यह वायु सूर्य्य में से आने वाले–आन्तरिक्ष्य रुद्र प्राण को पिघला देता है–बस उस प्राण के और इस तरलावस्थायुक्त आसुर प्राण के मेल से ही चाँदी उत्पन्न होती है। चाँदी में पार्थिव काला प्राण है–वायु में पिघला हुआ रुद्र प्राण है एवं साथ ही इसमें चन्द्रमा का भास्वर सोम भी घुल पड़ता है—अतएव यह सफेद हो जाती है। अन्तरिक्ष में ही चन्द्रमा रहता है। उसके शुक्ल प्राण के सम्बन्ध से ही यह चाँदी आसुर तमोमय प्राण युक्ता होते हुए भी सफेद हो जाती है। चन्द्रमा के सम्बन्ध के कारण ही तो–लोक में इसे 'चाँदी' कहा जाता है। बस, असुर प्राण से अन्तरिक्ष में उत्पन्न हीने वाली यही दूसरी धातु है। चाँदी पिघले हुए रुद्र से बनी है। इसी विज्ञान के आधार पर पौराणिक कहा करते हैं कि रुद्र के आँसुओं से चाँदी बनी है। रुद्र प्राणविघातक है–चाँदी इसी से बनी है अतएव मीमांसा में बर्हि के साथ चाँदी के दान का **'बर्हिषि रजतं न देयम्'** इन शब्दों में विरोध किया गया है। अस्तु–अन्तरिक्ष के बाद है–द्युलोक। यहाँ असुरप्राण विरलावस्था में रहता है। इससे सुवर्ण बनता है। इसी द्युलोक में–सूर्य्य रहते हैं। सूर्य्य का मण्डल हिरण्मय है–जैसा कि श्रुति कहती है—

"हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्"।

(ऋग्वेद मं० १।३५।२)

इस तमोमय प्राण में चूँकि सूर्य्य का हिरण्यतेज प्रविष्ट हो जाता है अतएव इससे बनने वाला धातु सोना बन जाता है। पार्थिवासुर प्राण में बद्ध जो सूर्य्य-रश्मियाँ हैं वही स्वर्ण कहलाती हैं। इस प्रकार यह शुद्ध पार्थिव प्राण घन-तरल-विरल भेद से तीन अवस्थाओं में परिणत होता हुआ अन्योन्य प्राण-योग से लोहा-चाँदी-सोना–ये तीन धातुएँ बना डालता है। लोहा त्रिवृत् स्तोम की वस्तु है अतएव

उसे हम पृथिवीलोक की वस्तु कहेंगे। चाँदी अन्तरिक्ष प्राण से उत्पन्न होती है—अतएव चाँदी के पृथिवी पर उपलब्ध होने पर भी हम इसे अन्तरिक्ष लोक की ही वस्तु कहेंगे। सुवर्ण द्युलोकस्थ पार्थिव प्राण सम्बन्धात् उत्पन्न होता है अतएव इसे द्युलोक की वस्तु कहेंगे। इस प्रकार वह पार्थिव आसुर प्राण अपने तीन विलक्षण स्वरूप धारण कर लेता है। इन्हीं तीनों के आधार पर पार्थिवासुर तीनों लोकों में व्याप्त हो रहे हैं। बस यही–असुरों का पुरी–निर्माण है। असुरों ने पृथिवी में लोहे की पुरी बनाई–अन्तरिक्ष में चाँदी की बनाई और द्युलोक में सोने की बनाई–इस कथा का यही वैज्ञानिक रहस्य है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"देवाश्च वाऽअसुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ततोऽसुरा एषु लोकेषु पुरश्चक्रिरे। अयस्मयीमेवास्मिल्लोके–रजतामन्तरिक्षे। हरिणीं दिवि" ॥३॥

भला, असुरों का यह प्रभाव–यह आधिपत्य देवता कैसे सह सकते थे ? देवताओं ने क्रोध में आ कर असुरों के इन तीनों पुरों को नष्ट कर डाला। तोड़-फोड़ कर उनके स्थान में अपने तीन पुर बनाए। तीनों लोकों में तीन पुर बना कर देवता लोग तीनों में प्रतिष्ठित हो गए। तीनों लोकों में अपना राज्य कायम कर लिया। वास्तव में देवताओं ने असुरों की इस त्रिलोकी को नष्ट-भ्रष्ट कर अपना राज्य जमा लिया। पार्थिव प्राण का नाम असुर है–एवं सौर प्राण का नाम देवता है, अतएव—

"चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः"। (ऋग्वेद मं. १।११५।१)

यह कहा जाता है। असुर लोग निश्चित ही अपना राज्य कायम कर लेते–यदि देवता उनके नगरों को न तोड़ डालते। सूर्य्य का प्रखर ताप–इस पृथिवी पर पड़ा करता है। पृथिवी के आधे भाग पर सूर्य्य-रश्मियों का राज्य रहता है। सूर्य्य पृथिवी के समसामुख्य को अपने अधिकार में किए हुए है। सूर्य्य-प्रकाश से–पार्थिव आसुर प्राण छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। जिस प्रकार असुरों ने तीन पुरियाँ बनाई थीं, उसी प्रकार देवताओं ने इन तीनों लोकों में–अपने तीन उपसत् अर्थात् किले बनाए। तीनों में तीन-तीन अधिष्ठाता रख दिए। द्युलोक का जो किला है–उसके अधिष्ठाता विष्णु बने, अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता सोम अर्थात् चन्द्रमा बने एवं पृथिवीलोक के अधिष्ठाता अग्नि बने। तीनों ने तीनों लोकों से असुरों को मार भगाया। असुरों ने जिस त्रिलोकी में अपना राज्य जमा रखा था, उसको नेस्तनाबूद कर दिया। पृथिवी जो अग्नि है–वह सूर्य्य की वस्तु है। अन्तरिक्ष में जो चन्द्र का प्रकाश है–वह भी सूर्य्य की वस्तु है। विष्णु तो बारहवें (१२ वें) आदित्य हैं। अग्नि ३३ देवताओं में पहले देवता हैं–विष्णु अन्तिम देवता हैं। इसीलिए तो—

"अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः"।

(ऐ० ब्रा० १।१)

यह कहा जाता है। देवताओं ने अपने तीन उपसत् बनाए–वे भी सोने-चाँदी और लोहे के ही थे–जैसा कि पुराणों में कहा गया है। इससे विरोध नहीं समझना चाहिए। वास्तव में वे तीनों

इन देवताओं के पुर बन गए–यही पुर तोड़ने का तात्पर्य्य है। वहाँ आसुर प्राण की प्रधानता न रही अतएव पुरों का नष्ट होना मान लिया गया। इस प्रकार देवता इन तीनों उपसदों (किलों) को बना कर उनमें प्रतिष्ठित हो गए अतएव इन तीनों का माम **'उपसत्'** पड़ गया।

'उपसीदन् यत्र देवा' इस व्युत्पत्ति से तीनों लोकों को उपसत् कहा जाता है। इस प्रकार देवताओं ने–अग्नि-सोम-विष्णु ने अपने तीन उपसत् बनाए अर्थात् असुरों के तीनों किलों को नष्ट कर दिया और सारे असुरों को जीत लिया। पृथिवी का जो भाग सूर्य्य की ओर रहता है–उसमें काले प्राण का नाम-निशान भी नहीं रहता। चूँकि प्राकृतिक प्राण-देवता जो रश्मि–स्वरूप हैं–अपनी तीन प्रतिमाओं से–तीन उपसदों से–असुरों को मार भगाते हैं—अतएव प्राकृतिक विज्ञान के जानने वाले विज्ञ लोग कहते हैं–देवता लोग उपसदों से ही पुर जीतते हैं–उपसद् ही देवताओं की विजय का एकमात्र कारण है। आज त्रिलोकी में इन्हीं अग्नि-सोम-विष्णु का राज्य हो रहा है। सारी कथा का सारांश यही है कि पृथिवी का काला प्राण सूर्य्य की ओर जा कर अपना प्रभाव जमाना चाहता है परन्तु सूर्य्य उस ओर के काले प्राणों को नष्ट कर देता है–उतने स्थान में अग्नि-सोम-विष्णु प्राणों का ही राज्य हो जाता है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर कहते हैं—

"तद्धै देवा अस्पृण्वत (पुरत्रये हिंसितवन्तः)। तऽएताभिरुपसद्भिरुपासीदन् (न्यवसन)। तस्मादुपसदो नाम। ते पुरः प्राभिन्दन्–इमाँऽल्लोकान् प्राजयन्। तस्मादाहुः–उपसदा पुरं जयन्तीति"।

यह कथा जैसे अधिदैवत में लगती है-तथैव अधिभूत से भी सम्बन्ध रखती है। प्राकृतिक त्रिलोकी के अनुसार साध्य जाति में उत्पन्न ब्रह्म-पथ-प्रदर्शक भगवान् ब्रह्मा ने–वही लोक–व्यवस्था इस पृथ्वीलोक में भी की है। जिनकी आत्मा में आसुर भाव अधिक मात्रा में प्रविष्ट होता है–वे असुर कहलाते हैं एवं जो दिव्य संपत्तिवान् हैं वे देवता कहलाते हैं। जिन्होंने अपने प्राणों को देवता से युक्त कर देवमय बना लिया–वही देवता हैं। जो शक्ति प्राणदेवता में होती है–वही शक्ति इन मनुष्य-देवताओं में आ जाती है। प्राकृतिक प्राणदेवता वसु–रुद्रादि भेदेन ३३ जाति के हैं–अतएव भुवनदेवता भी कुल ३३ जाति के हैं। प्रकृति में देव–प्राण की अपेक्षा परमेष्ठि-मण्डल में रहने वाले असुर अधिक थे अतएव यहाँ भी असुर बहुत थे। देवताओं में विद्या-बल था, असुरों में कला-बल था। असुर शरीर में बलिष्ठ होते थे; देवता कमजोर होते थे। इन असुरों की कुल ३३ खाँपें (शाखाएँ) थीं। कालक–दौर्हद-मौर्य-पौंड्र-मय-त्रिपुर-वृत्र-तारक-इत्यादि कुछ चुनी हुई खाँपें बहुत ही बलवान थीं। इनसे देवता अति भयभीत रहते थे। कोई समय ऐसा था जब देवता और असुर दोनों एक जगह रहते थे–इनमें लोक-विभाग नहीं था। असुर दुष्ट थे–धूर्त थे–उन्होंने विचार किया कि सारी पृथिवी पर कब्जा जमा कर देवताओं को यहाँ से निकाल देना चाहिए। यह विचार कर असुरों ने सारी पृथिवी अपने कब्जे में कर ली। जब यह खबर देवताओं को मिली तो वे घबराए। उन्होंने कहा–यह तो गजब हो गया; यदि सारी पृथिवी पर असुरों का

आधिपत्य हो जाएगा तो हम कोई चीज ही न रहेंगे। यह विचार कर–विष्णु को आगे कर–देवता असुरों के पास आए और अपना हिस्सा माँगने लगे। अन्त में ब्रह्मा के निर्णयानुसार असुरों को देवताओं के लिए जमीन छोड़नी पड़ी। इसका विस्तृत विवेचन शतपथ के प्रथमकाण्ड में 'वेदिब्राह्मण' में देखना चाहिए। बस, विभाग होते ही–देवताओं ने अपनी त्रिलोकी में से असुरों को निकालना शुरू किया। उस समय अदरु नाम का असुर बहुत ही प्रबल था। जब उसे देवता अपनी त्रिलोकी के पृथिवीलोक से निकालने लगे तो वह द्युलोक की ओर जाने को उद्यत हुआ। यह देख कर **"आरोदिवं मापाप्त"**—इस प्रकार घुड़की दे कर–उसे वहाँ जाने से रोक दिया। बस, यहीं देवासुर में वैर का बीज–वपन हुआ। देवताओं को भी त्रिलोकी दी गई थी–असुरों को भी त्रिलोकी दी गई थी। देव-त्रिलोकी का प्रारम्भ निरक्ष देश से होता है और समाप्ति उत्तर समुद्र पर जा कर होती है। निरक्ष वृत्त से शर्य्यणावत पर्वत तक–जिससे कि रावी (इरावती) नदी निकलती है–मनुष्य लोक है–यहाँ के अधिष्ठाता अग्नि हैं, यहाँ से हिरण्यशृङ्ग पर्वत तक जिसे कि पामीर कहते हैं–अन्तरिक्ष लोक है एवं उत्तर समुद्र तक–स्वर्गलोक है। जिसे आज एशिया कहा जाता है–यही प्राचीन समय में देव–त्रिलोकी थी। यही भुवनस्वर्ग–त्रिलोकी कहलाती थी–इसके अधिष्ठाता देवता हैं। इसी प्रकार अफ्रीका, अमेरिका, यूरोप–तीन आसुर त्रिलोकी हैं। इस प्रकार दोनों का स्थान सर्वथा विभक्त था। जिसे आज एशिया माइनर कहते हैं; वहाँ स्वयम्भू प्रजापति रहते थे। असुर दुष्ट थे अतएव प्रजापति को प्रणाम करने के बहाने–वे धीरे-धीरे देवत्रिलोकी में घुस गए एवं मौका पा कर त्रिवासुर ने देवत्रिलोकी में–तीन नगर बना लिए। तीनों नगर सोने–चाँदी और लोहे के थे। जिसे टॉरेसमाउण्ट कहते हैं–उस पर स्वर्ण का नगर बनाया–यह द्युलोक है, आदर्श पर्वत पर–जिसे शिनाई और तूर कहा जाता है–लोहे की पुरी बसाई–यह पृथिवीलोक में थी एवं तीसरी चाँदी की पुरी भूमध्य-सागर के तट पर बनाई। इस प्रकार तीनों लोकों में अपना कब्जा कर लिया। अन्ततोगत्वा तीनों का देवताओं ने विध्वंस किया और अपनी त्रिलोकी में से–असुरों को निकाल दिया। इसका विस्तृत विवेचन–इन्द्रविजय में देखना चाहिए। प्रकृत कर्म्म में वैज्ञानिक कथा का ही सम्बन्ध समझना चाहिए। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं–जो यजमान इस पुर-भेदन के विज्ञान को जान कर–इस प्रकार उपसत् की उपासना करता है अर्थात् उपसत्–यज्ञ करता हे, वह इस उपसत् से–इस मानुषी पुरी को जीत लेता है अर्थात् शत्रु के नगरों को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। सारे शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेता है। उपसत् यज्ञ का ग्रीवा के अलावा यह दूसरा महाफल है—

"यदहोपासते तेन (उपसदा) इमां मानुषीं पुरं जयन्ति" ।।४।।

एक विशेष बात बतलाते हुए पूर्वोक्त कथन का अनुवाद करते हैं–प्राण-देवताओं ने और मनुष्य-देवताओं ने इन्हीं उपसदों से असुरों के पुरों को नष्ट किया था एवं इन्हीं से उन पर विजय प्राप्त की थी। उसी प्रकार उपसत् करने वाले इस यजमान के लिए कोई भी शत्रु इस पृथिवीलोक में–पुर नहीं बना सकता। तात्पर्य्य इसका यही है कि–यदि यजमान के शत्रु न हों तो–फिर उपसत् करने की क्या आवश्यकता है ?–यह प्रश्न हो सकता है। इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा जाता है–हमने माना कि उन देवताओं की तरह यजमान का कोई शत्रु नहीं है परन्तु सम्भव है—आगे इसका कोई शत्रु बन जाए और

वह किलेबन्दी करके इस पर आक्रमण कर बैठे—उस भविष्य के आक्रमण को रोकने के लिए—इसे अवश्य ही उपसत्-याग करना चाहिए। इससे भविष्य में भी कोई शत्रु इसके लिए पुर नहीं बना सकता। सदा के लिए उसके शत्रुओं का द्वार बन्द हो जाता है। यदि बना भी लेता है तो यजमान का यह उपसत्-उन तीनों लोकों को नष्ट कर देता है एवं शत्रुओं पर विजय प्राप्त करा देता है। तात्पर्य्य यही है कि उपसत् करने वाले यजमान का त्रिलोकी में कोई भी शत्रु नहीं रहता। बस, इसी फल के लिए—त्रैलोक्य विजय के लिए—यह यजमान उपसदों से अग्नि-सोम-विष्णु का यजन करता है। यही उपसत् का निर्वचन है—यही इसका प्राकृतिक रहस्य है—

"एताभिर्वै देवा उपसद्भिः पुरः प्राभिन्दन्। इमाँल्लोकान् प्राजयन्। तथोऽएवैष एतन्नाहैवास्माऽ (यजमानाय) अस्मिँल्लोके कश्चन पुरः कुरुते। इमानैवैतल्लोकान् प्रभिनत्ति—इमाँल्लोकान् प्रजयति तस्मादुपसद्भिर्यजते"॥५॥

आज्य-पृष्ठ—स्तोम-संवत्सर में ये तीन विभाग होते हैं। एक संवत्सर-मण्डल में ३३ अहर्गण होते हैं। इन ३३ अहर्गणों की विभाजिका जो रखा है—उसी का नाम रात्रि है। दिन को विभक्त करने वाली रात्रि ही है। यदि दिन के अनन्तर रात न आती तो—अहो-रात्रि (दिन और रात) का क्रम ही न होता। मात्र दिन ही दिन रह जाता अतएव 'अह्नोविभक्तयो रात्रिः" यह कहा जाता है। सन्धि-स्थान का नाम ही रात्रि है। बस, सन्धि-स्थान युक्त जो अहर्विभाग है—उसे 'स्तोम' कहते हैं एवं इस अह का जो अग्र भाग है—उसे 'आज्य' कहते हैं। यह पृथ्वी की ओर झुका रहता है। ऊपर का जो पृष्ठ भाग है—उसे पृष्ठ ही कहते हैं। इन तीनों में से जो आज्य है—उसे 'वज्र' कहा जाता है। आज्य वास्तव में वज्र है। आज्य दूध से उत्पन्न होता है—दूध सोम से उत्पन्न होता है। औषधि, वनस्पति और पानी में साम रहता है। अतएव—

"स यत्रैष एतां रात्रिं न पुरस्तान्न पश्चाद्ददृशे तदिमं लोकमागच्छति स इहापश्चौषधीश्च प्रविशति"। (शत० १।६।४।१५)

यह कहा जाता है। इन्हीं दोनों से दूध बनता है। अतएव

"इदं हि यदा वर्षत्यथौषधयो जायन्तऽओषधीर्ज्जग्ध्वापः पीत्वा तत एष रसः सम्भवति"। (शत० १।७।१।१८)

यह कहा जाता है। इस सारे प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि—आज्य सोम है। इसी से देवताओं ने असुरों के पुरों का भेदन किया एवं इसी आज्य से देवताओं ने विजय प्राप्त की है। वास्तव में सोम ही देवताओं की विजय का एकमात्र कारण है। अग्नि, विष्णु आदि सारे देवता—आग्नेय हैं। अग्नि की स्थिति सोम के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकती है। प्रकाश से अन्धकार अर्थात् असुर नष्ट होते

हैं परन्तु यह प्रकाश उसी सोम की महिमा है । अतएव "त्वमातनो सर्वान्तरिक्षं एवं ज्योतिषा वितमो-वर्थ"--कहा जाता है । पारमेष्ठ्य सोम सूर्य्य में-अनवरत आहुत होता रहता है अतएव सूर्य्य प्रज्ज्वलित हो रहा है । सोम वज्र से ही आग्नेय देवता असुरों को मारा करते हैं । आज यह यजमान भी उसी का अनुकरण कर रहा है अतएव इसे चाहिए कि अध्यात्मदेवताओं को उद्दीप्त करने के लिए अग्नि में आज्य की ही आहुति प्रदान करे । हम साक्षात् सोम को पकड़ नहीं सकते अपितु आज्य को ही पकड़ सकते हैं । आज्य भी पूर्वोक्त रीति से सोम ही है अतएव हम इसे भी वज्र कहने के लिए तैय्यार हैं । इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रख कर कहते हैं—यह उपसद् देवता आज्य-हविष होता है अर्थात् तीनों देवताओं के लिए पुरोडाश को हवि नहीं बनाया जाता अपितु आज्य को ही हवि बनाया जाता है । उपसद् देवताओं के लिए आज्य की ही आहुति दी जाती है—कारण इसका यही है कि यह आज्य वज्र है । देवताओं ने इसी आज्य-वज्र से असुरों के लोकों को तोड़ा है और उन पर विजय प्राप्त की है । इसी प्रकार आज्याहुति देता हुआ यह यजमान इस आज्य-वज्र से असुरों के तीनों पुरों को नष्ट करता है-तीनों को जीत लेता है अतएव उपसद् देवता आज्य-हविष होते हैं—

"ता वाऽआज्यहविषो भवन्ति । वज्रो वाऽआज्यम् । एतेन वै देवा वज्रेणाज्येन पुरः प्राभिन्दन् । इमांल्लोकान् प्राजयन् । तथो एवैष एतेन वज्रेणाज्येनेमाँल्लोकान् प्रभिनत्ति । इमाँल्लोकान् प्रजयति । तस्मादाज्यहविषो भवन्ति" ।।६।।

स्रुवा-जुहू-उपभृत ये तीन पात्र होते हैं । स्रुवा जमीन पर रहता है-इसमें घृत भरा रहता है और जुहू-उपभृत साथ में रहते हैं । उपभृत नीचे रहता है-जुहू उसके ऊपर रहता है । आहुति जुहू से ही दी जाती है । जुहू में से जो घृत नीचे गिरता है-वह जमीन पर मार्ग रक्षा के लिए होता है । जुहू के नीचे उपभृत लगाया जाता है । यहाँ पर अग्नि, सोम और विष्णु का यजन करना है अतएव इनके लिए घृत लेना पड़ता है । एक-एक देवता के लिए चार-चार बार लेना पड़ता है । इस प्रकार चूंकि यहाँ तीन देवता हैं अतएव इनके लिए बारह बार लेना सिद्ध हो जाता है । इस विषय में दो मत हैं—एक संप्रदाय का आचार्य तो-आठ बार करके जुहू में लेता है-चार बार उपभृत में ग्रहण करता है—

"स वाऽअष्टौ कृत्वो जुह्वां गृह्णाति-चतुरुपभृति" ।

दूसरे संप्रदाय वाले इससे उल्टा बोलते हैं-'अथो इतरथाहुः – उनका कहना है-चार बार करके जुहू में ग्रहण करना चाहिए और आठ बार उपभृत में लेना चाहिए ।

"चतुरेव कृत्वो जुह्वां गृह्णीयात्-अष्टौ कृत्व उपभृति-इति" ।।७।।

इस प्रकार इस आज्य ग्रहण में दो मत हैं । इनमें से सिद्धान्त बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं — वह अध्वर्यु आठ बार करके ही जुहू में ग्रहण करता है और चार बार करके उपभृत में लेता है—

"स वाऽअष्टावेव कृत्वो जुह्वां गृह्णाति चतुरुपभृति" ।

यही सिद्धान्त है । ऐसा क्यों न करें कि आठ बार उपभृत में और चार बार जुहू में लिया जाए—इसका कारण बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं —

"तद् वज्रमभिभारं करोति" ।

जो शस्त्र मूल पर (जहाँ से पकड़ा जाता है) हलका होता है और अन्त में भारी होता है—वह अधिक चोट करता है । यह जुहू वज्र है क्यों कि इसी से तो आज्याहुति दी जाएगी । चूँकि वज्र आगे की ओर भारी होने से अधिक मार करता है अतएव जूहू स्वरूप वज्र के अग्रभाग को भारी बनाने के लिए—उसमें आठ बार ही लेना चाहिए । इस प्रकार जुहू में आठ बार करके घृत लेता हुआ यह ऋत्विक् वज्र के अग्र भाग को भारी बनाता है—ठोस बनाता है । इस ठोस वज्र से असुरों का समूलोच्छेद करता है । आठ बार जुहू में लेने का यही पहला लौकिक कारण है---

"तेन वज्रेणाभिभारेणेमाँल्लोकान् प्रभिनत्ति । इमाँल्लोकान् प्रजयति" ॥८॥

अपिच इसका दूसरा वैज्ञानिक कारण और भी है । अग्नि और सोम के लिए इस जुहू में आज्य लिया जाता है । अग्नि और सोम दोनों देवता सयुक् हैं । दोनों अविनाभूत हैं, अतएव श्रुति कहती है—

"अग्निर्जागार तमृचः कामयन्तेऽग्निर्जागार तमु सामानि यंति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः" ॥ (ऋग्वेद मं० ५।४४।१५)

जब प्रकृति-यज्ञ में दोनों साथ हैं तो उनके लिए हमें भी एक साथ मिला कर ही आहुति देनी चाहिए एवं विष्णु अकेले हैं अतएव एकाकी विष्णु के लिए उपभृत में चार बार लेता है अर्थात् सयुक् अग्नि-सोम के लिए एक साथ आठ का जुहू में ग्रहण करता है । चार बार उपभृत में लेने का—आठ बार जुहू में लेनेका यही दूसरा कारण है—

"अग्नीषोमौ वै देवानां सयुजौ । ताभ्यां सार्द्धं गृह्णाति । विष्णवऽएकाकिने" ।

'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' यह सिद्धान्त है । प्रकृति यज्ञ में—पूर्वाघार तथा उत्तराघार—दो आघार होते हैं । पूर्वाघार स्रुवि से होता है—उत्तराघार स्रुवा से होता है । यही दोनों आघार इस विकृत उपसत् यज्ञ में भी प्राप्त होते हैं । उनका निषेध करते हुए कहते हैं—'अथ तामाघारयति यं स्रुवेण' वह अध्वर्यु दोनों में से एक ही आघार करता है । उत्तराघार करके वह जीत कर वापस लौटता है । उत्तराघार में प्रत्याक्रमण करना पड़ता है । इस समय इस यजमान ने असुरों को जीत लिया है । ऐसी अवस्था में उत्तराघार के लिए प्रत्याक्रमण करना वापस हारना है—पीठ दिखाना है । ऐसा न हो, हम विजित नहीं रहें, अतएव उत्तराघार नहीं करता है । दोनों में से एक ही आघार करता है—

"अन्यतरमेवाघारमाघारयति-यं स्रुवेण। प्रतिक्रामति वाऽउत्तरमाघारमाघार्य। अभिजित्याऽअभिजयानीति। तस्मादन्यतरमेवाघारमाघारयति यं स्रुवेण" ॥९॥

सारे वेद के ज्ञान-काण्ड, उपासना-काण्ड और कर्म्म-काण्ड-ये तीन काण्ड हैं। तीनों में से ब्राह्मण-ग्रंथ कर्म्मकाण्ड का प्रतिपादन करते हैं—आरण्यक उपासनाकाण्ड का प्रतिपादन करते हैं-उपनिषत् ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादन करते हैं-इन तीनों का विवेचन मीमांसा कहलाती है। जैमिनि-व्यास-शाण्डिल्य ने तीनों की मीमांसा की है। चूँकि तीनों काण्डों की मीमांसा की गई है अतएव मीमांसा के ब्रह्म, उपासना और कर्म्म-तीन भाग हो गए हैं। इनमें से कर्म्म-मीमांसा 'मीमांसा' नाम से ही प्रसिद्ध है-इसके कर्त्ता भगवान् जैमिनी हैं। उपासना-मीमांसा के कर्त्ता-महर्षि शाण्डिल्य हैं। आज यह मीमांसा सूत्र नाम से ही प्रसिद्ध है। तीसरा **'ब्रह्म-मीमांसा'** चूँकि वेदों के अन्तःभाग-उपनिषदों की मीमांसा है अतएव 'वेदान्त' नाम से प्रसिद्ध है। इन शारीरक सूत्रों के कर्त्ता भगवान् व्यास हैं। इस प्रकार सारा निगम-तीन भागों में विभक्त है। हम ब्राह्मण का विवेचन कर रहे हैं-ब्राह्मण ग्रंथ कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करते हैं अतएव प्रकृत में-कर्म्ममीमांसा का सम्बन्ध है। मीमांसा में सारे कर्म्मों को-सारे यज्ञों को-क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ दो भागों में विभक्त बतलाया गया है। जो कर्म्म प्रधान होता है-उसे पुरुषार्थ कहते हैं एवं जो कर्म्म इस पुरुषार्थ के अनुषंगीहैं-वे चूँकि इस प्रधान क्रतु के लिए हैं अतएव उन्हें क्रत्वर्थ कहा जाता है। **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'** यह पुरुषार्थ कर्म्म है एवं इसके अन्तर्गत जो प्रायणीय-दीक्षणीय-आतिथ्य-अवान्तर इत्यादि कर्म्म हैं-वे चूँकि अग्निष्टोम के लिए हैं-प्रधान के लिए हैं-अतएव क्रत्वर्थ कहलाते हैं। अङ्गी को 'पुरुषार्थ-कर्म्म' कहते हैं-अङ्ग को क्रत्वर्थ कर्म्म कहते हैं।

वेद में जो 'यजेत्-जुहुयात्' इत्यादि विधि वाक्य आते हैं, उन्हें **'विधि'** शब्द से व्यवहृत किया जाता है। पुरुषार्थ क्रत्वर्थ-भेद से वह विधि भी दो प्रकार की हो जाती हैं-एक का नाम है—**'आरभ्याधीत श्रुति'**; दूसरी का नाम है—**'अनारभ्याधीत श्रुति'**। जो अपूर्वकर्म्म प्रतिपादक श्रुति है-वह अनारभ्याधीत श्रुति कहलाती है, उदाहरणार्थ-'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत् ज्योतिष्टोमेनापवर्गकामो यजेत्' इत्यादि। इन प्रधान कर्म्मों के अन्तर्गत जो अनन्त विधिवाक्य (लिङ्लकार) आते हैं-ये चूँकि अपूर्व नहीं हैं—प्रधान कर्म्म के पश्चात ही अधीत हैं अतएव वे 'आरभ्याधीत' कहलाती है। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत्' यह अनारभ्याधीत है एवं इसके अन्तर्गत जो व्रतोपायन, पात्रासादन, स्रुगादापन, इडाप्राशन, स्रुग्व्यूहन, याजमान एवं पत्नीसंयाज इत्यादि कर्म्म प्रतिपादक श्रुतिवाक्य हैं-वे सब आरभ्याधीत हैं। इन आरभ्याधीत कर्म्मों में वे ही ऋत्विक् होते हैं-जो कि उस प्रधान कर्म्म में-अनारभ्याधीत कर्म्म में होते हैं क्यों कि आरभ्याधीन नया कर्म्म नहीं है-पुरुषार्थ नहीं है-अङ्ग कर्म्म है। अङ्ग-अङ्गी के अधीन रहता है अतएव जो ऋत्विक् अङ्गी कर्म्म में होते हैं-वे ही अङ्ग कर्म्मों में भी होते हैं। अङ्ग कर्म्म को विकृति एवं-अङ्गी कर्म्म को प्रकृति कहते हैं। दोनों का परस्पर अति घनिष्ठ सम्बन्ध है अतएव 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' यह कहा जाता है। इनमें कितने ही कर्म्म तो विकृति में करने पड़ते हैं-कितने ही नहीं करने पड़ते। प्रकृति में होतृप्रवरण होता है। होता का 'अग्निर्देवो दैव्यो होता' इत्यादि

मन्त्र से प्रवरण किया जाता है। यह कर्म्म विकृति में नहीं होता क्यों कि होता का जब अङ्गी के लिए प्रवरण किया गया है तो वह अङ्गों में भी अवश्य शामिल रहेगा परन्तु प्रकृति में जैसे आश्रावण कर्म्म होता है वैसे विकृति में आश्रावण अवश्य होता है। जो कर्म्म किया जाता है उसे प्राणदेवताओं को सुना देने का नाम 'आश्रावण' है। यद्यपि अवान्तर कर्म्म उसी प्रधान कर्म्म का अङ्ग है परन्तु कर्म्म तो भिन्न है। प्रत्येक इष्टि के देवता और कर्म्म भिन्न-भिन्न होते हैं। अतएव कर्म्म-देवता भेदात् देवताओं को सूचना देना अत्यावश्यक है। 'अब हमने यह किया है' तथा 'अब हमने यह किया है' इस प्रकार की सूचना का नाम 'आश्रावण' है। अंगी कर्म्मों की अवस्था में-नए कर्म्म में-आश्रावण अवश्य ही करना पड़ता है। हाँ, ऋत्विक् वही रहेंगे-होतृ प्रवरण नया नहीं होगा। आज हम आरथ्याधीत कर्म्म कर रहे हैं। उपसद् याग-अग्निष्टोम का अङ्ग है अतएव अग्निष्टोम में जो ऋत्विक् होते हैं-वे ही इस उपसद् में-विकृति यज्ञ में-होते हैं। इसमें होता का प्रवरण नहीं किया जाता परन्तु कर्म्म नया है-देवता नए हैं-अतएव आश्रावण तो अवश्य ही करना पड़ता है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"अथाश्राव्य न होतारं प्रवृणीते"।

अध्वर्यु, आग्नीध्र और होता-ये तीन ऋत्विक् आश्रावण कर्म्म में शामिल रहते हैं। सबसे पहले अनुवाक्या बोलकर होता आग्नीध्र के प्रति कहता है—'ओश्राव'। उत्तर में आग्नीध्र बोलता है **'अस्तु श्रौषट्'**। बाद में होता अध्वर्यु से कहता है—**'यज'**। तदनन्तर 'यजामहे' बोलकर 'वौषट्' बोलता हुआ आहुति दे देता है। इस प्रकार आश्रावण कर्म्म में सत्रह अक्षरों से सप्तदश उद्गीथ प्रजापति स्वरूप यज्ञ को आत्मसात कर लिया जाता है। 'ओश्रायव' ये चार अक्षर हैं। 'अस्तु श्रौषट्' ये भी चार ही हैं। 'यज' दो अक्षर हैं। 'ये यजामहे'-पाँच हैं। 'वौषट्' में दो अक्षर हैं। इस प्रकार सत्रह अक्षर हो जाते हैं, अतएव यह कहा जाता है—

"चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै यज्ञात्मने नमः"॥

इस आश्रावण कर्म्म के अनन्तर अध्वर्यु होता से-'उपसीद होता' (हे होता! आप अपने आसन पर बैठ जाइए) यह कहता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं-अध्वर्यु केवल आश्रावण कर्म्म ही करता है-होता का प्रवरण नहीं करता है। केवल 'उपसीद होता' यह कह देता है—

"अथाश्राव्य (अध्वर्युः) न होतारं प्रवृणीते-सीद होतरित्येवाह"।

इस प्रैष से होता उत्तर पश्चिम की श्रोणि में बना हुआ जो अपना होतृसदन है-उसमें बैठ जाता है—

"उपविशति होता होतृषदने"।

वहाँ बैठ कर होता अध्वर्यु को आज्ञा देता है। याज्या और प्रसव दो काम होते हैं। याज्या अध्वर्यु करता है-प्रसव होता करता है। कर्म्म का प्रसव करना–प्रारम्भ करना होता का काम है— 'घृतवतीमध्वर्यो स्रुचमास्यस्व' यह कहता है। हे अध्वर्यु ! अब यज्ञ के लिए जुहू–उपभृत को लीजिए– यही प्रसव करना है। 'उपविश्य प्रसौति' इति। होता से प्रसूत होकर अध्वर्यु जुहू और उपभृत को हाथ में उठाता है—

"प्रसूतोऽध्वर्युः स्रुचौ (जुहूपभृतौ) आदत्ते ॥१०॥

ब्राह्मण के प्रारम्भ में हमने बताया है कि जब अध्वर्यु कर्म्म नहीं करता है तो वेदि के उत्तर में होतृषदन से पूर्व बैठता है एवं जब कर्म्म करता है तो वेदि से दक्षिण–ब्रह्मा से पूर्व–आहवनीय के पास बैठता है। अब वह उपसत् याग के लिए आहुति देने वाला है अतएव उत्तर भाग में से आक्रमण कर दक्षिण भाग में आ कर बैठता है। बस उत्तर से आक्रमण करता हुआ अध्वर्यु होता को 'अग्नयेऽनुब्रूहि' यह प्रैष करता है। अध्वर्यु स्वयं याज्या करने के लिए जा रहा है परन्तु याज्या–बिना अनुवाक्या के–हो नहीं सकती। देवता को बुलाने का नाम ही तो 'अनुवाक्या' है। जब देवता ही नहीं आएँगे तो याज्या किस की होगी ? अतएव होता अनुवाक्या करने के लिए प्रैष करता है। इसका भाव यही है कि हे होता ! मै उत्तर से दक्षिण की ओर याज्या करने के लिए जाता हूँ एवं अग्नि-सोम-विष्णु-इन तीनों में से पहले अग्नि देवता का यजन करूँगा अतएव तुम अग्नि के लिए अनुवाक्या मन्त्र बोलो–अग्नि देवता को यज्ञ में बुलाओ—

"स (अध्वर्यु) आह अतिक्रामन्-अग्नयेऽनुब्रूहि"–इति।

इसके अनन्तर 'आश्रावय' बोलता है–इसके प्रत्युत्तर में आग्नीध्र 'अस्तु श्रौषट्' बोलता है। इसके बाद होता अध्वर्यु से कहता है–'अग्नि यज' अर्थात् अब आप याज्या मन्त्र बोलिए। इसके बाद होता जिस समय 'वौषट्' यह बोलता है उसी समय अध्वर्यु अग्नि में अग्नि के लिए उस आधे घृत की आहुति डाल देता है। जुहू में आठ बार अग्नि-सोम दोनों के लिए घृत लिया जाता है अतएव आधे की आहुति देनी चाहिए और आधा सोम के लिए बचा लेना चाहिए—

"आश्राव्याह–अग्निं यजेति। वषट्कृते (होत्रा) जुहोति" ॥११॥

अग्नि के बाद है–सोम। अतः तदनन्तर अध्वर्यु फिर होता को

"सोमायानुब्रूहीति" ॥१२॥

यह प्रैष करता है। इसके बाद उसी पूर्व क्रमानुसार-वषट्कार के साथ-जुहू में अवस्थित उस आधे घृत की आहुति दे देता है।

हमने बतलाया था कि अध्वर्यु स्रुवा में से अग्नि-सोम के लिए आठ बार जुहू में घृत लेता है और अकेले विष्णु के लिए चार बार उपभृत में लेता है। इसमें जो जुहू का आठ बार लिया हुआ घृत था–

उसकी अग्नि और सोम के लिए आधा-आधा करके आहुतियाँ दे दी गईं। बाकी उपभृत में घृत रह गया। आहुति जुहू से ही होती है। अतएव उपभृत के घृत को भी जुहू में ही लेना पड़ता है एवं इससे विष्णु के लिए आहुति दी जाती है। बस, वह अध्वर्यु अग्निसोम यजनानन्तर उपभृत में जो आज्य होता है उसे जुहू में डालता हुआ होता से कहता है–'विष्णवे-अनुब्रूहि' इति। इसके बाद पूर्वोक्त क्रम से आश्रावण प्रत्याश्रावण कर 'वौषट्' के साथ विष्णु के लिए आज्याहुति आहुत कर देता है—

"अथ यदुपभृत्याज्यं भवति-तत् समानयमान आह (जुह्वां प्रक्षिपन् आह) विष्णवेऽनुब्रूहि"–इति। आश्राव्याह विष्णुं यजेति वषट्कृते जुहोति ॥१३॥

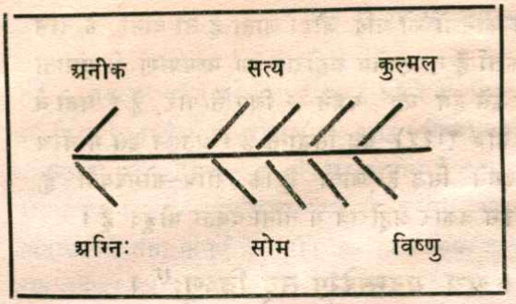
प्रकृति-यज्ञ में आक्रमण-प्रत्याक्रमण होता है। वेदी पर प्रस्तर रहता है–उस पर हवि रखी रहती है। अध्वर्यु जब आहुति देने जाता है तो उसमें से हवि लेता है–बाद में दुबारा आहुति देने के लिए वेदी पर से हवि लेने हेतु-प्रत्याक्रमण करता है। इस प्रकार प्रकृतियज्ञ में आक्रमण-प्रत्याक्रमण होता है। वही इस विकृतियाग में भी प्राप्त है–उसका निषेध करते हैं। यह अध्वर्यु आहवनीय के दक्षिण प्रदेश में ही खड़ा रह कर आहुति देता है अर्थात् प्रकृतिवत् आरोहण-प्रत्यारोहण नहीं करता है। दर्श-पूर्णमासेष्टि में जिस मार्ग से गया है, पुनः हवि लेने के लिए फिर उसी मार्ग से लौटता है–ऐसा संचार यहाँ नहीं करता। इसका एक मात्र कारण अभिजिति ही है। अभिजिति के लिए–शत्रु पर विजय-प्राप्त करने के लिए–यह अध्वर्यु वापस प्रत्याक्रमण नहीं करता अपितु वहीं एक स्थान पर खड़े रह कर ही आहुति देता है—

"स यत् समान (एतस्मिन्नेवाहवनीय दक्षिणप्रदेशे) तिष्ठन् जुहोति–न यथेदं प्रचरन्त्सञ्चरति–अभिजित्याः (अभिजित्यै)"।

"दर्शपूर्णमासेष्ट्यां-यथेतं-येन मार्गेण गतः-तेनैव पुनरपि हविरवदानाय गच्छति तथात्र न कर्त्त-व्यमिति भावः"। मैं शत्रुओं को जीत लूँ-उन्हें पीट दूँ-युद्ध से पीछे पैर न दूँ–इसलिए एक ही स्थान पर स्थित हो कर आहुति देता है। सच है–उपसत् से शत्रुओं के किले का नाश किया जाता है। ऐसे समय में प्रत्याक्रमण करना युद्ध को पीठ देना है–यह पराजय का काम है अतः ऐसा नहीं करना चाहिए। मैं अवश्य ही जीतूँगा–इस भावना के लिए–एक स्थान पर जम कर ही शत्रु से मुकाबला करना चाहिए—

"अभिजयानि इति (एकत्रैव तिष्ठन् जुहुयात्)"।

इस यज्ञ में यह अध्वर्यु अग्नि-सोम-विष्णु–इन तीन देवताओं का यजन करता है। इस यजन से संवत्सर-रूप जो वज्र है, उसे संस्कृत बनाता है–शानदार बनाता है। वज्र-अग्नि, सोम और विष्णु इन तीन प्राणों से बनता है। वज्र का जो मुख भाग है–जो कि जा कर शरीर में घुस जाता है–वह अग्नि का स्थान कहलाता है। वज्र का अनीक अग्नि है, मध्य का भाग शल्य है–यह सोम देवताक है एवं पुच्छ-भाग



विष्णु देवताक है। वज्र संवत्सरयज्ञ का नाम है। यह यज्ञ संवत्सराग्नि स्वरूप है। पृथिवी से वितत् रहने वाला जो संवत्सराग्नि है वही तमोमय प्राण के असुरों के विनाश के लिए वज्र है। उस अग्नि की वसु, रुद्र, आदित्यादि ३३ अवस्थाएँ हैं। उनमें से जो यज्ञ का प्रारम्भक वसु है–वह अग्नि कहलाता है, मध्य स्थान में अर्थात् पञ्चदशस्तोम में (अन्तरिक्ष में) सोम रहता है और अग्नि की अर्थात् यज्ञ की जो अन्तिम अवस्था है–उसी का नाम विष्णु है। वह इस यज्ञवज्र के पुच्छ भाग में रहता है। अग्नि यज्ञ के प्रारम्भ में है–मध्य में सोम है। विष्णु अन्त में है इसीलिए तो कहा जाता है—

"अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः"।

(ऐ० ब्रा० १।१)

बस, संवत्सर यज्ञ का–जो कि असुरों के लिए वज्र है–अग्नि, सोम और विष्णु-तीन ही प्राणों से संस्कार होता है। प्रकृति में संवत्सर वज्र का तीन ही देवताओं से संस्कार होता है। अतएव आज यह यजमान–इन तीनों का यजन कर-इनसे संवत्सरवज्र का-जिसकी रक्षा में इसका आत्मा स्वर्ग में जाने वाला है–संस्कार करता है—

"अथ यदेता देवता यजति-वज्रमेवैतत्, संस्करोत्यग्निम् अनीकम्। सोमं शल्यम्, विष्णुं कुल्मलम्" ।। १४ ।।

यह वज्र कौन सा है और उसका संस्कार इन तीन देवताओं से कैसे होता है–इसकी दूसरे प्रकार से उपपत्ति बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं–जिसे हमने वज्र कहा है वह यही संत्वसर है। पृथिवी को केन्द्र में रख कर पृथिवी से चारों ओर तक रथन्तर साम तक व्याप्त होने वाला जो घन-तरल-विरलावस्था-त्रययुक्त अग्निमण्डल है–उसी का नाम संवत्सरमण्डल है और यही वज्र है। संवत्सर अग्नि-स्वरूप है। असुर तमोमय हैं। तम को अग्नि-प्रकाश फाड़ देता है–विदीर्ण कर देता है–अतएव हम इस संवत्सर को अर्थात् संवत्सराग्निमण्डल को वज्र कहने के लिए तैय्यार हैं—

"संवत्सरो हि वज्रः"।

जो दिन है–वह अग्निस्वरूप है, सोम–रात्रिस्वरूप है—एवं इन दोनों के बीच में जो प्राण है—वह विष्णु है। देवताओं का जो परस्पर संगम है उसी का नाम यज्ञ है—इस सम्बन्ध का नाम ही यज्ञ है। अग्नि भी देवता है—सोम भी देवता है। अग्नि अहः स्वरूप है—सोम रात्रि स्वरूप है। दोनों का जो परस्पर सम्बन्ध हो रहा है–उसे ही यज्ञ कहते हैं। सम्बन्धकर्त्ता प्राण–जिसे कि यज्ञ कहते हैं—अहो-

रात्रस्वरूप अग्निसोम के बीच में बैठा हुआ है। दो कागजों को यदि जोड़ा जाता है तो दोनों के बीच में गोंद लगाया जाता है। मध्यस्थ गोंद ही संधानकर्त्ता हैं। एवमेव अहोरात्र का मध्यप्राण ही संधाता है। इसी ने देवताओं का संगम करा रखा है अतएव इसे हम 'यज्ञ' कहने के लिए तैय्यार हैं। **'यज्ञो वै विष्णुः'** (शत० १३।१।८।८) **विष्णु वै यज्ञः'** (ऐ० ब्रा० १।१५) यह सिद्धान्त है। अतएव इस मध्यस्थ संधाता को हम विष्णु कहने के लिए तैयार हैं। इससे सिद्ध हो जाता है कि रात्रि–सोमदेवता है, दिन--अग्निदेवता है, मध्यस्थासन्धि–विष्णुदेवता है। इस प्रकार अहोरात्र में तीनों देवता मौजूद हैं।

"अग्निर्वाऽग्रहः। सोमो रात्रिः। अथ यदन्तरेण तद् विष्णुः"।

ये तीनों अर्थात् अग्नि–सोम–विष्णु (अहोरात्र-सन्धि) पुनः पुनरावर्त्तमान होकर संवत्सर का स्वरूप बना देते हैं। दिन के बाद रात–रात के बाद दिन इस प्रकार अहोरात्र की समष्टि का नाम ही तो संवत्सर है—

"एतत् (त्रयम्) वै परिप्लवमानं (पुनः पुनरावर्त्तमानम्) संवत्सरं करोति"। ॥१५॥

संवत्सर वज्र है। इसी संवत्सर वज्र से जो कि अग्नि–सोम-विष्णु इन तीन देवताओं से संस्कृत है—देवताओं ने–अर्थात् प्रकृति–पक्ष में प्राणदेवताओं ने और लोक–पक्ष में मनुष्यदेवताओं–ने तीनों लोकों को तोड़ा और तीनों को अपने वश में कर लिया। तीनों पुरों को तोड़ कर सारे संवत्सर–प्राण देवताओं ने उन पर अपना आधिपत्य जमा लिया—

"एतेन वै देवाः संवत्सरेण वज्रेण पुरः प्राभिन्दन्। इमाँल्लोकान् प्राजयन्"।

प्रतिज्ञानुसार निगम न करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि तथैव यह यजमान इस संवत्सरवज्र से इन तीनों लोकों की कठिनता को तोड़ता है और तीनों को जीत लेता है; इसलिए वज्र–संस्कर्त्ता अग्नि-सोम-विष्णु देवताओं का यजन करता है। यजमान का आत्मा सूर्य्य से बना हुआ है। तमोमय प्राण सूर्य्य का विरोधी प्राण है। यह भी तीनों लोकों में घुसा रहता है। जिस समय यजमान मर कर जाने लगता है तो लोकत्रयव्याप्त असुर-प्राण इसे पीड़ा पहुँचाता है। बस, इसके विनाश के लिए वह अपनी दिव्यात्मा में तीनों देवताओं का आधान कर–उसे सबल बना लेता है। ऐसी अवस्था में १७ वें स्वर्ग में जाते हुए यजमानात्मा का–आसुरप्राण कुछ नहीं बिगाड़ सकते–बस यही उपसत्यज्ञ का रहस्य है—

"तथो एवैष एतेन संवत्सरेण वज्रेणेमाँल्लोकान् प्रभिनत्ति,–इमाँल्लोकान् प्रजयति–तस्मादेता देवता यजति" ॥१६॥

उपसत् क्यों करना चाहिए–इसकी उपपत्ति बतला दी गई। अब संख्या सम्बन्धी नियम बतलाते हैं—वह अध्वर्यु तीन उपसत् करे–उसे तीन उपसत् करने चाहिए—

"स वै तिस्र उपसद उपेयात्" ।

संवत्सरस्वरूप वज्र का संस्कार करने के लिए अग्नि-सोम-विष्णु का यजन किया जाता है–उपसत् किया जाता है । इस संवत्सर की उष्ण (ग्रीष्म)-वर्षा-शीत यह तीन ऋतुएँ हैं । उष्ण अर्थात् ग्रीष्म के अधिष्ठाता अग्नि हैं, शीत के अधिष्ठाता सोम हैं तथा वर्षा के अधिष्ठाता भगवान् विष्णु हैं । वर्षा आपोमण्डल का नाम है—आपोमण्डल को ही परमेष्ठिमण्डल कहते हैं । यही विष्णु का स्थान है । तीन देवताओं की तीन ऋतुएँ हैं—तीनों का यजन किया जाता है अतएव तीन उपसत् करने चाहिए । इस प्रकार तीन उपसत् करता हुआ यह अध्वर्यु संवत्सर का ही स्वरूप बनाता है । तीन उपसत् करना–संवत्सर वज्र को निष्पन्न करना है; संवत्सर को संस्कृत करना है—

"त्रयो वा ऋतवः संवत्सरस्य । संवत्सरस्यैवैतद् रूपं क्रियते । संवत्सरमेवैतत् संस्करोति"ऽ।

अग्नि-सोम-विष्णु इन तीनों के यजन से एक उपसत् का स्वरूप बनता है । ऐसे उपसत् प्रतिदिन दो करने पड़ते हैं । प्रातःकाल भी तीनों का यजन करना पड़ता है—सायंकाल भी तीनों का यजन करना पड़ता है । इस प्रकार प्रतिदिन दो उपसत् हो जाते हैं । एक उपसत् से दो बार प्रचारण करता है । तीन दिन तक उपसत् होता है—तीनों ही दिन दो-दो होते हैं—इस वीप्सा को बतलाने के अभिप्राय से कहते हैं—

"द्विरेकया प्रचरति द्विरेकया" ॥१७॥

"एकया उपसदा प्रतिदिवस द्विःप्रचरति प्रतिदिनमुपसद्वं द्वयं करोति–इतिभावः" ।

इस प्रकार तीन दिन में छः उपसत् हो जाते हैं—

"ताः षट् सम्पद्यन्ते" ।

वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त और शिशिर–ये छः ऋतुएँ संवत्सर की हैं अर्थात् संवत्सर में छः ऋतुएँ होती हैं । ऐसी अवस्था में छः उपसत् करता हुआ अध्वर्यु संवत्सर के स्वरूप को निष्पन्न करता है एवं इससे संवत्सर को संस्कृत करता है—

"षड् वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरस्यैवैतद् रूपं क्रियते । संवत्सरमेवैतत् संस्करोति ।" ॥१८॥

कितने ही महर्षियों का मत है कि बारह उपसत् करने चाहिए । इस मत के अनुसार यदि अध्वर्यु बारह उपसत् करता है—तब भी संवत्सर संपत्ति में कोई बाधा नहीं पड़ती । उपसत्–संवत्सर

प्राप्ति के लिए किया जाता है। चूँकि बारह उपसत् से संवत्सर संपत्ति प्राप्ति में कोई बाधा नहीं पड़ती अतएव इस मत में कोई विरोध नहीं है। संवत्सर के बारह महिने होते हैं तो बारह उपसत् करता हुआ यह अध्वर्यु संवत्सर के स्वरूप को निष्पन्न करता है एवं द्वादशावयवात्मक संवत्सर को द्वादश उपसत् कर्म्म से संस्कृत करता है। बारह भागों में से उपसद् वज्र द्वारा असुरों को निकालता है। जिस प्रकार तीन उपसत् यज्ञ की व्यवस्था में–प्रति दिन दो उपसत् करने का विधान बतलाया गया था तथैव यहाँ भी प्रति दिन दो उपसद करने चाहिए–इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"यद्यु द्वादशोपसद उपेयात्–द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य। संवत्सरस्यैवैतद् रूपं क्रियते। संवत्सरमेवैतत् संस्करोति–'द्विरेकया प्रचरति–द्विरेकया" ।।१९।।

इस प्रकार बारह उपसत् यज्ञ में–प्रति दिन दो उपसदों के हिसाब से कुल चौबीस उपसत् हो जाते हैं—

"ताश्चतुर्विंशतिः सम्पद्यन्ते"

एक संवत्सर के चौबीस अर्द्धमास हैं अर्थात् एक संवत्सर में बारह महीने होते हैं–शुक्ल तथा कृष्ण भेद से चौबीस पक्ष होते हैं। इस प्रकार चौबीस उपसत् करता हुआ–संवत्सर स्वरूप को निष्पन्न कर लेता है एवं चौबीस पक्षों से युक्त चतुर्विंशत्यवयवस्वरूप संवत्सर को संस्कृत कर देता है। चौबीस पक्षों में वज्र-प्रयोग कर सारे संवत्सर में से असुर निकाल देता है—

"चतुर्विंशतिर्वै संवत्सरस्यार्द्धमासाः। संवत्सरस्यैवैतद् रूपं क्रियते। संवत्सरमेवैतत् संस्करोति" ।।२०।।

एक उपसत् प्रातःकाल तथा एक सायंकाल करना होता है। उपसत् शत्रु के विनाश के लिए किया जाता है। अध्वर्यु चूँकि सायं प्रातः दोनों समय उपसत् करता है; अतएव जिस प्रकार मनुष्य लोग युद्ध करके संपत्ति प्राप्त कर लेते हैं तथैव यह भी संपत्ति प्राप्त कर लेता है। लोक में देखा जाता है कि पहले शत्रु पर हमला किया जाता है–हमला करके उसे मारा जाता है–उसकी सत्ता नष्ट की जाती है एवं बाद में उस पर अपना अधिकार जमाया जाता है। शत्रु के शासन को तोड़ना और अपना शासन स्थापित करना–ये दो ही तो काम होते हैं। यही वास्तविक संपत्ति–प्राप्ति है। यदि शत्रु हार गया परन्तु उसकी संपत्ति हाथ न आई–अपना शासन वहाँ न जमा तो लड़ाई करना व्यर्थ है। बस संपत्तिद्वय प्राप्त करने के लिए ही प्रातः सायं दोनों समय उपसत् करता है–इससे यजमान वास्तविक संपत्ति को प्राप्त कर लेता है–इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"स यत् सायं प्रातः प्रचरति–तथा ह्येव सम्वत् संपद्यते"।

इस कर्म्म से यह अध्वर्यु जो कि पूर्वाह्न में उपसत् का प्रचरण करता है–उससे शत्रुओं को जीत लेता है। आनुपूर्वी से समाप्ति पर्य्यन्त अग्नि–सोम-विष्णु के याग की जो इतिकर्त्तव्यता है–उसीका नाम

प्रचरण है। बस यही एक उपसत् का स्वरूप है। इस पहले-पूर्वाह्न के-उपसत् से यह शत्रुओं को अपने वश में कर लेता है-जीत लेता है एवं जो अपराह्न में उपसत् करता है-वह 'सुजित' हो जाए इसलिए करता है, अर्थात् दूसरे से उस विजय को सुविजय बनाता है। पहले से-हमला करके शत्रु को मार भगाता है, दूसरे से-शत्रु को साकल्येन निःशेष कर देता है। इस प्रकार शत्रु-नाश इन दोनों उपसद् यागों से हो जाता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"स यत् पूर्वाह्णे प्रचरति-तज्जयति (पूर्वाह्न प्रचारः शत्रुजयमात्र रूपः) अथ यदपराह्णे प्रचरति-सुजितमसदिति" (अपराह्न प्रचारः साकल्येन जयात्मकः) ।

इस अपराह्न उपसत् के अन्त में उपसद् होम और होता है-बैठ कर जो होम किया जाता है उसे होम कहा जाता है एवं खड़े होकर जो होम किया जाता है उसे याग कहा जाता है। यहाँ 'होम' और 'याग' दोनों होते हैं। उपसद् याग-सायं-प्रातः होता है—उपसद् होम सायंकाल उपसद् यागानन्तर होता है। इसमें भी इन्हीं तीनों को आहुति दी जाती हैं। उपसद् याग से जो संपत्ति शत्र-रहित हो गई थी-उसे उपसद् होम से कब्जे में कर लेता है। उपसद् याग से उसे अपनी बना लेता है और उपसद् होम से अपनी बनी हुई पर अपना अधिकार कर लेता है-इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"अथ यज्जुहोति-इदं वै पुरं युद्धचन्ति-तां जित्वा स्वां सतीं प्रपद्यन्ते" ।

जीतने वाले पहले शत्रुओं के साथ युद्ध करते हैं—युद्ध करके उसका किला तोड़ते हैं-बाद में उसकी संपत्ति को-राज्य को जीत लेते हैं। इसके अनन्तर सुजित संपत्ति पर अपना अधिकार जमा लेते हैं। इस प्रकार तीन कर्म्मों से शत्रु पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेते हैं। एवमेव यहाँ भी प्रातःकाल के उपसत् से उन्हें सर्वात्मना निःशेष करना है। उपसद् होम से सारी संपत्ति को अधिकृत करना है—

"इदं वै पुरं युद्धचन्ति तां जित्वा स्वां सतीं प्रपद्यन्ते" ।।२१।।

इसी लौकिक प्रकार का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं-यह अध्वर्यु जो प्रचरण करता है अर्थात् प्रातःकाल का उपसत् करता है-वह युद्धस्थानीय है। प्रातः काल में उपसत् करना-शत्रु के साथ युद्ध करना है एवं जो उपसत् की समाप्ति है अर्थात् सायंकाल का उपसत् है—उससे शत्रु पर विजय प्राप्त करता है एवं जो उपसद् होम करता है-उससे सारी संपत्ति पर अपना अधिकार जमाता है—

"स यत् प्रचरति-तद् युध्यति। अथ यत् संतिष्ठते तज्जयति अथ यज्जुहोति स्वामेवैतत् सतीं प्रपद्यते"—इति ।।२२।।

उपसत् याग क्यों करना चाहिए-इसका नाम उपसत् क्यों हुआ-कितने उपसत् करने चाहिए-इत्यादि प्रश्नों का उपपत्तिपूर्वक समाधान कर दिया गया-अब आवृत्त पद्धति बतलाते हैं। वह अध्वर्यु

निम्नलिखित मन्त्र से आहुति देता है। प्रतिदिन जिस ऋचा से दो बार आहुति देगा उसी से आहुति देता है। उपसत् याग तो पहले ही बतला दिया गया—'स जुहोति' से उपसद् होम बतलाते हैं। यह भी दो ही बार करना चाहिए—प्रातः काल भी उपसद्यागानन्तर उपसद् होम होता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"स जुहोति यया द्विरेकस्याह्नः प्रचरिष्यन् भवति" ॥२३॥

प्रातः काल भी इसी मन्त्र से उपसद् होम होगा और सायंकाल भी इसी मन्त्र से उपसद् होम होगा यही 'द्विरेकस्याह्नः प्रचरिष्यन् भवति' का तात्पर्य्य है। वह मन्त्र यह है—

"या तेऽअग्नेऽयः शया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा।
उग्रं वचोऽअपावधीत्त्वेषं वचो अपावधीत्स्वाहा" ॥ इति (वा० स० ५।८)

हे अग्नि! आप की जो अयःशया–लोहमयी–तनु है वह बहुत ही बड़ी है। एवं गह्वरेष्ठा (अंधकारमयी) है–अति कठिन है–वह तनू–मेरा जो उग्र वचन है और त्वेष वचन है—उसे तोड़ डाले-ऐसे आपके लिए स्वाहा है।

पृथिवी से त्रिवृत् स्तोम तक पार्थिव काला प्राण घनरूप से रहता है एवं वही लोहा बनता है। लोहा असल में अग्नि का शरीर है। अग्नि ही तो लोहा बन गया है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जब लोहे को तपाया जाता है तो वह अग्नि–सदृश हो जाता है। अतएव—

"तस्मादयो बहुध्मातं हिरण्यसंकाशमिवैव भवति"। (शत० ६।१।३।५)

इस अग्नि से परोक्षभाव से कहा जाता है कि हे अग्नि! लोहे की जो पुरी है उसके अधिष्ठाता भी तो आप ही हैं–आप हमारे हो कर–(देवता हो कर) असुरों को मदद क्यों देते हो? आपको चाहिए कि हमारे जो उग्र वचन हैं और त्वेष वचन हैं उनको तोड़ दें। किले को जब शत्रु घेर लेता है तो रसद बन्द हो जाती है। उस समय भूख–प्यास के मारे किले में रहने वाले मनुष्य 'अरे हमें कोई बचाओ–हम भूखों मर रहे हैं'—इस प्रकार चिल्लाने लगते हैं। बस भूख–प्यास सम्बन्धी जो चिल्लाहट है उसे 'उग्र–वचः' कहते हैं एवं शत्रु के शस्त्र का जो प्रहार है उससे जो वेदना–युक्त चिल्लाहट होती है उसे 'त्वेषं वचः' कहते हैं। इसी अभिप्राय से तैत्तिरीय श्रुति कहती है—

"अशनयापिपासे ह वा उग्रं वचः। एनश्च वैरहत्यं च त्वेषं वचः"।
(तै० ब्रा० १।५।९।६)

आज शत्रुओं से दबे हुए तथा उग्र वचन बोलते हुए जो हम हैं–ऐसे हमारे उग्र वचन को अर्थात् चिल्लाहट को आप दूर करो–यही तात्पर्य्य है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि वह पुरी वास्तव में एवंरूपा थी अर्थात् बहुत बड़ी थी और गह्वरेष्ठा एवं लोहमयी थी। इतिहास के सम्बन्ध की ओर लक्ष्य कराने के लिए यह कहा है—

"एवंरूपा हि सासीद् रजता हि सासीत्" ।।२४।।

इसके बाद दूसरे मन्त्र से आहुति देता है। इससे भी प्रातः सायं दोनों बार देगा। वह मन्त्र यह है—

"या तेऽग्ने रजःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा ।
उग्रं वचोऽअपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत् स्वाहा" ।। (वा० स० ५।८)

इसके बाद तीसरे मन्त्र से आहुति देता है—इससे भी दोनों बार दी जाएगी—

"या तेऽग्ने हरिशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा ।
उग्रं वचोऽअपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत् स्वाहा ।। (वा० स० ५।८)

इस मन्त्र का भी अर्थ स्पष्ट ही है। इस प्रकार तीन उपसत् के वक्त में—प्रति दिन छ मन्त्रों को बोलना पड़ता है। प्रत्येक को दो बार बोलना पड़ता है। यदि बारह उपसत् करें तो एक-एक मन्त्र से चार-चार दिन तक प्रचार करे अर्थात् आदि के चार दिन तक "यातेऽअग्नेऽअयः शयाः" यही बोले, मध्य के चार दिनों तक प्रतिदिन **'या तेऽअग्नेऽरजः शयाः'** यही बोले एवं अन्त के चार दिन तक **'या तेऽअग्नेऽ हरिशयाः'** यह बोले—

"यद्यु (यदि पुनः) द्वादशोपसद उपेयात्—चतुरहमेकया प्रचरेत् चतुरहमेकया" ।।२५।।

जिन उपसदों में यजमान पय का व्रत करता है अर्थात् उपसत् के दिनों में यजमान जो दूध (व्रत) पीता है—वे उपसत् 'व्रतोपसद' कहलाते हैं। अब इन की मीमांसा की जाती है। व्रतोपसदों में किस क्रम से दूध पीना चाहिए—यह बतलाते हैं—

"अथातो व्रतोपसदामेव (मीमांसा क्रियते—इति शेषः)" ।

धर्मशास्त्रों में आठ प्रकार का चान्द्रायण बतलाया जाता है—उनमें एक का नाम है—वर्धिष्णु चान्द्रायण व्रत, एक का नाम है—क्षयिष्णु चान्द्रायण व्रत। दोनों ही का प्रकृत से सम्बन्ध है। कार्तिक कृष्ण अमावस्या को सर्वथा उपवास करे—बाद में चन्द्रमा की कला के अनुसार एक-एक ग्रास बढाता जाए—पूर्णिमा तक १५ ग्रास हो जाएँ तो फिर एक-एक ग्रास घटाता आए—अन्त में मार्गशीर्ष अमावस्या को निराहार हो जाएगा। इस चान्द्रायण व्रत को 'वर्धिष्णु' चान्द्रायण कहते हैं। इसकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।

दूसरा है—क्षयिष्णु चान्द्रायण व्रत। आश्विन् की पूर्णिमा को १५ ग्रास खाता है—प्रतिपदा को १४ ग्रास—इस प्रकार घटाते चले जाओ—जिस दिन अमावस्या हो उस दिन कुछ नहीं खाओ—अन्त में

कार्तिक की पूर्णिमा को १५ ग्रास खा लो । बस इस वर्धिष्णु चान्द्रायण का नाम वेद में 'परउर्वी' है–क्षयिष्णु का नाम "परोह्वीः" है । इस उपसत् के विषय में महर्षियों के दो मत हैं । एक संप्रदाय का मत है–उपसद् परउर्वी होते हैं अर्थात् वर्धिष्णु क्रम से दूध पीना चाहिए । दूसरा संप्रदाय कहता है कि नहीं–परोह्वी उपसद् करना चाहिए–इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"परउर्वी वा अन्या उपसदः । परोऽह्वीरन्या": ।

इन दोनों का लक्षण बतलाते हुए कहते हैं–जिन उपसदों की व्रत–क्रिया में पहले दिन एक थन दोहते हैं–दूसरे दिन दो दोहते हैं–तीसरे दिन तीन दोहते हैं–यह उपसत् 'परउर्वी' कहलाते हैं । पहले दिन एक स्तन का दूध पीएँ–दूसरे दिन दो स्तनों का पीएँ–तीसरे दिन तीन स्तनों का पीएँ यही 'परोर्वी' उपसद् है । जिन उपसदों में एक-दो-तीन इस प्रकार से व्रत वृद्धि है वे उपसत् 'परउर्वी' हैं–यही तात्पर्य्य है—

"स यासामेकं प्रथमाहं दोग्धि–अथ द्वौ–अथ त्रीन्, ताः परउर्वीः" ।

जिन उपसदों की व्रत–क्रिया में पहले दिन तीन स्तन दोहते हैं–दूसरे दिन दो स्तन दोहते हैं–तीसरे दिन एक ही स्तन दोहते हैं–ऐसे उपसत् 'परोह्वी' कहलाते हैं—

"अथ यासां त्रीन् प्रथमाहं दोग्धि । अथ द्वौ । अथैकम् । ताः परोऽह्वीः" ।

याज्ञवल्क्य कहते हैं—इस प्रकार परउर्वी और परोह्वी में अन्तर मालूम पड़ता है परन्तु वास्तव में देखा जाए तो दोनों का स्वरूप एक ही है । दोनों में समान दूध मिलता है अतएव फल की ओर देखते हुए हम कह सकते हैं कि जो परोह्वी है–वह परउर्वी है और जो परऊर्वी है–वह परोह्वी है ।

"या वै परोह्वीस्ताः परउर्वीः । याः परउर्वीस्ताः परोह्वीः ॥२६॥

यद्यपि दोनों में फरक नहीं है तथापि हमारी (याज्ञवल्क्य की) राय यही है–परोह्वी उपसत् ही करें अर्थात् क्षयिष्णु क्रम का ही आलम्बन लें । ऐसा क्यों करें ? इसका कारण बतलाते हैं—तप से–परिश्रम से–तपोबल से ही देवता और मनुष्य–लोक जीतते हैं अर्थात् श्रेय प्राप्ति परिश्रम से ही होती है । जो उत्तरोत्तर कम खाता है—उसका तप उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है—उत्तरोत्तर कम खाने से प्राणमात्रा अधिक खर्च होती है—"एतद्वै तप इत्याकुर्यत् स्वं ददाति"—यही तो तप का लक्षण है । जो क्षयिष्णु उपसत् करता है—उसका तप उत्तरोत्तर बढ़ता है एवं उत्तरोत्तर उत्तम लोकों को अपने वश में करता है । एवमेव जो विद्वान परोह्वी करता है वह वसीयान् होता है । अतः परोह्वी ही करना चाहिए । यह तो हुई तीन उपसत् की कथा । यदि बारह उपसत् करें तो तीन स्तनों को चार दिन तक दोहें–दो को मध्य के चार दिन तक दोहें–एक को अन्त के चार दिन तक दोहें–इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"तपसा वै लोकं जयन्ति । तदस्यैतत् परः । पर एव वरीयस्तपो भवति । परः परः श्रेयांसँल्लोकं जयति । वसोयानु हैवास्मिँल्लोके भवति । य एवं विद्वान् परोऽह्वीरुपसद उपैति । तस्मादु परोऽह्वीरेवोपसद उपेयात् । यद्यु द्वादशोपसद उपेयात् त्रींश्चतुरहं दोहयेद् द्वौ चतुरहम् एकं चतुरहम् ।।२७।।

।। इति उपसदिष्टिब्राह्मणं समाप्तम् ।।

।। इति चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणं समाप्तम् ।।

।। इति तृतीयकाण्डे चतुर्थोऽध्यायश्च समाप्तः ।।

॥ इति शतपथस्य तृतीय काण्डश्च प्रथमो भागः समाप्तः ॥

शुद्धि-पत्र

[प्रस्तुत शुद्धि-पत्र में शुद्धियों की प्रविष्टियाँ पृष्ठसंख्या एवं पृष्ठगत पंक्तियों की संख्या के आधार पर की गयी हैं। पंक्ति की गणना प्रत्येक पृष्ठ में समाहित पंक्तियों के क्रम के अनुसार है। किसी भी आकार के टाइप में मुद्रित हो, और कितनी ही छोटी-बड़ी दीर्घता में हो, प्रत्येक पंक्ति, संख्या-गणना की दृष्टि से, पूर्ण पंक्ति मानी गई है। उद्धरणों के नीचे मुद्रित सन्दर्भ-पंक्तियाँ गणना में सम्मिलित नहीं हैं। प्रत्येक पृष्ठ पर शुद्धियाँ क्रमशः (१) मूलकण्डिका (२) अनुवाद-भाग (३) व्याख्या-भाग तथा कण्डिका-अंश के अतिरिक्त उस पृष्ठ के अन्तर्भुक्त (४) संस्कृतनिष्ठ अंश—इस क्रम से चार चरणों में अंकित हैं। शब्दों के संक्षिप्त रूप ये हैं–क=कण्डिका उ०=उद्धरण, अ=अनुवाद-भाग, भा=व्याख्या (भाष्य) भाग तथा सं=संस्कृतनिष्ठ अंश (कण्डिका–इत्तर)।—सम्पादक]

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
३	उ०।१ वाचं देवा		तै० ब्रा० २।८।८।४
,,	उ०। २ वागक्षरं		तै० ब्रा० २।८।८।५
,,	क० १।१	येरन्यद्भू	येरन्यदन्यद्भू
,,	क० २।१	समंसदविभ्रंशि	समं सदविभ्रंशि
,,	क० ३।१	देवयजमात्र	देवयजनमात्र
४	क० ५।१	ॠत्विजो	ऋत्विजो
,,	क० ६।१	प्राचीनवंशंमिन्वन्ति	प्राचीनवंशं मिन्वन्ति
,,	क० ११।१	स्थूणाराजमभिपद्यैत	स्थूणाराजमभिपद्यैत
८	भा०।१	पचा सकता	पचा सकती
९	भा०।२७	फसिल	फसलें
१०	भा०।१३	एकल्ले	अकेले
,,	भा०।२८	सामस्वरूप	साम का स्वरूप
,,	भा०।३१	उसी का नाम	उसी का नाम है
११	उ० १।३	आग्निर्वै	अग्निर्वै
,,	उ०।१		ऋग्वेद मं. १।३५।२
,,	उ० २।२	देवो रथेनाऽयाति	रथेना देवो याति

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
,,	भा०।१३	(१७ वें)	(१७ वें अहर्गण में)
,,	भा०।१७	ज्योतिर्भाग	ज्योतिर्भाग
,,	भा०।१७	३३ सौ	तेतीसों
,,	भा०।२५	फरक	फ़र्क
,,	६	तस्या	तस्यां
,,	७	तस्या	तस्मिन्
,,	८	(ऐ. ब्रा.)	(ऐ. ब्रा. २।१।१०)
,,	२३।२४	संदर्भ नहीं है	ऋग्वेद १।३।६
१२	उ०।१।२ सत्रस्य	३३ पृ. यजुः सं.	यजुः सं. ८।५२
,,	उ० १।२	अध्यारुहा माविदाम देवानृश्च ज्योतिः	अध्यारुहामाविदाम देवान्त्स्वर्ज्योतिः
,,	उ० २।१	उक्थ्यः	उक्थः
,,	भा०।१०	पश्चाशर	पश्चाशर
,,	भा०।१२	विकृति भाग	विकृतियाग
,,	१८	अध्यारुहा मा	अध्यारुहामा
,,	१८	देवानृश्च ज्योतिः	देवान्त्स्वर्ज्योतिः देवान्त्स्वर्ज्या
१३	सं०।२३	"कुरुक्षेत्र वै देवयजनमास"	"कुरुक्षेत्रं वै देवयजनमास"
१४	उ०।१	चित्रं देवानामुदगादनीकं	ऋग्वेद मं. १।११५।१
,,	उ०।२	आयं गौः	ऋग्वेद मं. १०।१८९।१
,,	२।१	क्रमीद सदनमातरं	पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं
,,	२।१	प्रयन्तवः	प्रयन्त्स्वः
,,	उ०।३	अन्तश्चरति	ऋग्वेद मं १०।१८९।२
,,	उ० ३।१	प्राणदपानती	प्राणादपानती
,,	भा०।५	आपत्तिप्रत्य	आपत्तिप्राप्त
,,	भा०।१४	प्राणद्पानत्	प्राणदपानत्
१५	भा०।६	यज्ञ करता है	यज्ञ करना है
,,	सं।८	"स सदेवे देवयजने यजते"	"स सदेवं देवयजने यजते"
,,	भा०।१२	यजमान जो यज्ञ	यजमान तो यज्ञ
१८	भा०।२५	उतथशास्त्र	श्रुतशास्त्र
,,	भा०।२६	अच्युता	अह्वता
,,	सं।२१	जोषयितुमैम	जोषयितु मैम

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
,,	सं।२२	देवी	देवा
१६	सं	प्राचीन वंशत्वमुपद्यते	प्राचीन वंशत्वमुपपद्यते
२०	उ०/१	आयं गौः	ऋग्वेद मं० १०।१८६।१
,,	उ०/१।१	क्रमीदीसदन्	क्रमीदसदन्
,,	उ० १।१	पितरंच प्रयन्तः	पितरं च प्रयन्त्स्वः
,,	उ०/२	अन्तश्चरति	ऋग्वेद मं० १०।१८६।२
,,	उ०।२।१	प्राणदपानती	प्राणादपानती
,,	उ०।२।१	महिषोदिवम्	महिषो दिवम्
,,	उ०।१।२	ऋक्	ऋक्
,,	उ० १।२	यजुर्भिरयिस्पोषेण	यजुर्भिः रायस्पोषेण
,,	भा०/१५	शुश्रूवान अनुचान	शूशुवान अनूचान्
,,	भा०/२५	ऋक्सामयजु	ऋक्सामयजु
२४	उ/१	त्रयो ह वै समुद्रा	शत० ९।५।२।१२
,,	१।१	महदुक्थऋचाम्	महदुक्थमृचाम्
२६	क० १।१	पुराकेशश्म	पुरा केशश्म
,,	क० २।१	अथोत्तरेणशालां	अथोत्तरेण शालां
,,	क० २।३	वाऽस्य	वाऽअस्य
,,	क० ४।१	वाऽग्रे	वाऽअग्रे
,,	क० ६।३	तत्तदेतमेवैतद्वजं	तत्तदेतमेवैतद्व्रजं
२७	क० १०।१	पुरुषोयदनृतं	पुरुषो यदनृतं
,,	क० १४।१	गौर्वाऽइदंऽसवं	गौर्वाऽइदं सर्वं
,,	क० १५।१	त्वचमदधु स्तयैया	त्वचमदधुस्तयैया
२८	क० १८।२	प्रधातो	प्रधातो
,,	क० २०।३	परिदधऽइत्येवैतदाह भद्रं तस्मादाह	परिदध ऽइति तां त्वा शिवां साध्वीं परिदध इत्येवैतदाह भद्रं वर्णं पुष्यन्निति पापं वा ऽएषोऽग्रे वर्णं पुष्यति यममुम-दीक्षितो ऽथात्र भद्रं तस्मादाह
,,	क० २१।५	हाद्‌भुतमभिजनितोजीयायैं	हाद्‌भुतमभिजनितोजयायैं
,,	क० २१।३	कीर्त्तिस्तस्माद्	कीर्तिस्तस्माद्
२९	अनु०/३-४	क्रिया होती हे	क्रिया होती है

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
३२	भा/३१	दीक्षाङ्ग फर्क	दीक्षाङ्ग कर्म्म
३३	भा/१३	भेद भावप्राप्त्यर्थ	देवभावप्राप्त्यर्थ
,,	सं।१६	(केशवपनादुर्ध्वम्)	(केशवपनादूर्ध्वम्)
,,	सं।२८	वपने	वपते
३४	उ०।१।२	मानुष्यश्चैकविध:	मानुष्यश्चकैविध
,,	पृष्ठ-शीर्षक	दोक्षा ब्राह्मण	दीक्षा ब्राह्मण
,,	भा/१०	स्यम्भू के हैं	स्वयम्भू के हैं
,,	भा/१५	इस परमेष्ठिमण्डल	यह परमेष्ठिमण्डल
३७	भा/१८	देने वाले	देने वाली
,,	सं २०	'वज्रो वा प्रापः'	'वज्रो वा आपः'
३६	उ० २।२	आववृत्रन्सदनादृतस्यादिद्	आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद्
,,	उ/२	ऋक् सं० १।१६५	ऋग्वेद मं० १।१६४।४७
४०	उ० १।१	नि० ४।३।५	नि० ४।२१।२
,,	भा/६	कई कम	कई कर्म्म
,,	भा/२४	बलवर्द्दौ	बलीवर्द्दौ
,,	पृष्ठ-शीर्षक	देवयजन ब्राह्मण	दीक्षा ब्राह्मण
४२	उ०- २/२	पथि द्यामङ्गिरसो	पथोद्यामङ्गिरसो
,,	उ/२ इत एत	साम० सं० पू० १।२	साम० सं० पू० १।१०।२
४४	उ० १।१	यान्तं	यन्तं
,,	उ० १।२	मध्य	मध्यं
,,	उ।१ नेक्षेतोद्यन्तं ादित्यं		मनु ४।३७
४५	उ० १।४	भूतानांपति गृहपतिरासीत्	भूतानां पतिर्गृहपतिरासीत्
,,	उ० १।४	तद्यानितानि	तद्यानि तानि
,,	उ० १।५	ऋतवस्ते । अथ	ऋतवस्तेऽथ
,,	उ।१	श० ६।१।३।६	शत० ६।१।३।६-८
,,	२।१	तस्येतान्यष्टावाग्निरूपाणि	तान्येतान्यष्टावग्निरूपाणि
,,	उ०।२ तस्येतान्यष्टावग्नि-रूपाणि	श० ६।१।३।१८	शत० ६।१।३।१८-१६
४६	भा।२३	नरा-नरा भावों का	नए-नए भावों का
४७	भा।१८	कहा कहा गया	कहा गया
४८	भा।१३	पहिने कैसे	पहने कैसे

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
"	भा।२२	भाव उठ जाते	भाव हट जाते
४६	सं।७—८	"अज्ञात प्रकृतिकादनिष्ट संभावना भयम् ज्ञात द्रोहादनिष्ट संभावना- त्रासः।"	"अज्ञातप्रकृतिकादनिष्ट- संभावनाभयम् ज्ञातद्रोहादनिष्टसंभावना त्रासः॥"
५०	उ० १।१	एभ्योलोम गर्त्तेभ्यो	एभ्यो लोमगर्तेभ्य
"	उ० १।१	ज्योतींष्यायन् तद्यानि	ज्योतींष्यायन्स्तद्यानि
५१	सं।१	मेध्यमसदत्	मेध्यमसत्
५३	क० १।३	परिगृह्यं सर्वं	परिगृह्य सर्वं
"	"	यज्ञं परिगृं ह्य	यज्ञं परिगृह्य
"	क० २।२	देवाँश्ँऽ उप प्रैत्सप्तभिः	देवाँश्ँऽउप प्रैत्सप्तभि
"	क० ५।२	राघ्नोति	राध्नोति
५४	क० ११।२	परिभाषते	परिभासते
"	क० ११।३	तद्यज्ञमुपप्रयन्सर्वतोऽश्म पुरां	तद्यज्ञमुपप्रयन्त्सर्वतोऽश्मपुरां
"	क० १२।२	त्रिककुदमकरोत्तद्यत्रैककुदं	त्रिककुदमकरोत्तद्यत्त्रैककुदं
५५	क० १३।१	शरेषीकया अनक्ति	शरेषीकयानक्ति
५६	क० २५।१	अथाङ्गलिर्न्यंचति	अथाङ्गुलिर्न्यंचति
५७	क० २८।२	संचरो भवत्यासुत्यायै तद्यदस्येष संचरो भवत्या सुत्यायाऽअग्निर्वै	संचरो भवत्यासुत्यायाऽ अग्निर्वै
"	क० २८।४	त्वतपरि	त्वत्परि
५७	सं।१६	अदितिर्ये	अदितेर्ये
५९	अनु।१	अञ्जनो लगाना	अञ्जन लगाना
६१	अनु।२१	स्वाहो	स्वाहो-
६३	उ।१ अग्निर्वै		ऐ० ब्रा० १।१
६५	उ।१ एतद्देश		मनुस्मृति २।२०
"	उ० २।२	द्यन्दांसि	छन्दांसि
"	उ०।२ तस्माद्यज्ञात्		ऋग्वेद मं. १०।९०।९
"	उ।३ तस्मादश्वा		ऋग्वेद मं. १०।९०।१०
६६	उ०।१ आत्मा वा		ऐत० उ० १।१
"	उ० १।२	सदमाँल्लोकाँनसृजत्	स इदमाँलोकाँनसृजत

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
		अम्भोमरीचिर्मर	अम्भो मरीचीर्मर
,,	उ० २	लोनान्	लोकान्
,,	उ० २	सदमाँल्लो	सदिमाँल्लो
,,	उ० ७	बीजमवासृजत्	बीजमवासृजत्
६८	सां।५।६	अग्नीसोमात्मकम्	अग्नीषोमात्मकम्
६९	उ० १।२	रंथ्यमभृताधितस्थुरिह	रथ्यममृताधि तस्थुरिह
,,	,, ,, ,,	यद् तधिकेतत्	य उ तच्चिकेतत्
,,	उ०।१ तिस्रो द्यावः		ऋग्वेद मं. १।३५।६
,,	उ०।२ तिस्रो		ऋग्वेद मं. २।२७।८
,,	उ० ३।२	एनं	एतं
,,	उ०।३ तिस्रो द्यावो		ऋग्वेद मं. ७।८७।५
,,	उ०।४ तिस्रो		ऋग्वेद मं० १।१६४।१०
,,	उ० ५।२	षलिमा	षळिमा
,,	,, ,,	स्विदेकम	स्विदेकम्
,,	उ०।५ अचिकित्वाश्चि		ऋग्वेद मं० १।१६४।६
७१	उ० १।१	शाकल्य	शाकल्यः
,,	उ० १।२	हैनमैव	हैनमेव
,,	उ०।१ अथ हैनं		शत० १४।६।९।१
,,	उ० २।१	त्रयस्त्रिंशादित्यो मिति	त्रयस्त्रिंशदित्योमिति
,,	उ०।२ कत्येव देवा		शत० १४।६।९।२
७२	उ०।१ कतमे वसवः		शत० १४।६।९।४
,,	उ०।२ अग्निर्वै		ऐ० ब्रा० १।१
,,	भा।१३	तभी तीन यज्ञ का	तभी तो यज्ञ का
७३	उ० १।१	पुरोडाशो	पुरोळाशो
,,	उ० १।२	गायत्रमग्नेच्छन्दः	गायत्रमग्नेश्छन्दः
,,	उ०।१ तदाहुर्यदेकादशकपालः	ऐ० ब्रा० प्र० प्र० अध्याय ८।९	ऐ० ब्रा० १।१
,,	भा।३	देवता ब्रह्म	देवता से ब्रह्म
,,	भा।४	यज्ञ से यह ही	यज्ञ से यज्ञ ही
७४	भा।१५	सूर्य्य ३६० दिन में अपने	सूर्य्य ३६० दिन में अपनी

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
		वृत्त की जो कि क्रान्तिवृत्त नाम से प्रसिद्ध है—परिक्रमा लगा लेता है।	धुरी पर परिभ्रमण करता हुआ अपने वृत्त से जो कि क्रान्तिवृत्त नाम से प्रसिद्ध है—पूर्ण संयोग कर लेता है।
७५	उ०।२ तद्धैकेऽजमुपबध्नन्ति		शत० २।१।४।३
,,	भा।१६	तीनों भागों के	तीनों मार्गों के
७६	उ० १।१	एतद्वै	एष वै
,,	उ०।१ एष वै सोमोराजा		शत० १।६।४।५
,,	उ० २।२	विज्ञेयतस्य	विज्ञेयस्तस्य
७७	उ० २।१	शुक्लैह्योत्तमैः	शुक्लैर्ह्योत्तमैः
,,	उ० ४।२	नोटः—कृपया जोड़िए→	आपूर्यते परस्यांतः सततं दिवसक्रमात् ।।४।।
,,	उ० ५।१	नित्यशः ।।४।।	नित्यशः
,,	उ० ५।२	रश्मिनेकेन भास्करः	रश्मिनैकेन भास्करः ।।५।।
,,	उ० ६।१	भागमनुक्रमान् ।।५।।	भागमनुक्रमात् ।
,,	उ० ६।२	तनुः ।	तनुः ।।६।।
,,	उ० ७।१	मण्डलः ।।६।।	मण्डलः
,,	उ० ७।२		एवमाप्यायितं सोमं शुक्लपक्षे दिनक्रमात् ।।७।।
,,	उ० १ से ७	लिङ्ग पुराण अ० ५६	लिङ्ग पुराण अ० ६५
,,	उ० सर्व (१।१)	गहणोत्रीण्येव	ग्रहणां त्रीण्येव
,,	उ० अश्विनी ।२	तिशाष्टिता	ति शब्दिता
,,	उ० पुष्याश्लेषा ।१	वीथीचैंरावती	वीथीचैरावती
,,	उ० ३।१	द्वेचार्थे	द्वेचार्यें
७७	उ० ५।२	धनिष्ठा च	धनिष्ठा च
७८	उ० १।१	कीर्तिता	कीर्त्तिता
७९	उ० १।२	भुवनामि	भुवनाधि
,,	उ० ३।१	रजसावर्त्तमानो	रजसा वर्तमानो
८०	उ० १।२	जगतस्तस्थुषश्चे	जगतस्तस्थुषश्च
,,	उ०।२ कतम आदित्या	शत० १४।३।७।६	शत० ११।६।३।८
८३	उ०।१ अष्टौ पुत्रासो		ऋग्वेद मं० १०।७२।८

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
८४	उ०।१ सर्वतः पाणिपादं		गीता० १३।१३
,,	भा।१६	वीर्य की पिण्ड.... होती है	वीर्य्य का पिण्ड.... होता है
८६	उ० १।१	अयन्नर्यः कृण्वन्नपांसि	अयन्न्र्थानि कृणवन्नपांसि
,,	उ०।१ नूनं जनाः		ऋग्वेद मं० ७।६३।४
,,	उ०।२।१	असद्वेदमग्र	असद्वाऽइदमग्र
,,	उ०।२।१	तदासीदिति	तदसदासीदिति
,,	२।१	तदग्रेऽसदासीत्	तेऽग्रे ऽसदासीत्
९०	उ०।१।१	यतेन	एतेन
,,	उ०।१।२	समिष्टाः	समिष्टा
,,	उ०।१।२	यत्तासु समिष्टासु	यत्तासु सर्वासु समिष्टासु
९२	भा।१०	रहित्व भाव	रहितत्व भाव
९३	उ०।१।२	पितृणां	पितृणां
,,	उ०।१।२	गर्भाणम्	गर्भाणाम्
,,	उ०।१ नवनीतेनाभ्यञ्जन्ति	ऐ० ब्रा० प्र० ३ ख०	ऐ. ब्रा. १।३
,,	२९	पयोऽसिति	पयोऽसीति
,,	१।२	वोपाब्दिस्तं	वोपब्दिस्तं
,,	भा।५	दोष 'भिया'	दोषभिया
९६	उ०।१ अथाप्यपिधाय	ऐ० ब्रा० तृ० अ० २ ख० ४	ऐ० ब्रा० ३।२।४
९६	पृष्ठ शीर्ष	आग्नावष्णावेष्टि	आग्नावैष्णावेष्टि
,,	भा।२१	आनखग्निभ्य	आनखाग्रेभ्य
९७	उ०–१।२	पुरूषः पाप्मनामनुषक्तः	पुरुषः पाप्मनानुषक्तः
,,	भा ।२३	छायापुरूष	छायापुरुष
९८	भा ।२४	असुर प्राणों भी	असुर प्राणों में भी
९९	उ०–१।२	यदस्माऽशनायास	यदन्यस्माऽअशनायास
१०१	भा ।१०	इस भ्रम में	इस श्रम में
१०२	उ०–१।१	कनीनिक	कनीनक
,,	उ०–२।१	एतदश्मोर्यदाञ्जनम्	एतदक्ष्मोर्यदाञ्जनम्
,,	,, ,,	त्वत्	तत्
,,	,, ,, २।२	।।१५।। (ऐ० ब्रा० प्र० अ० ३ खण्ड ।१८	ऐ० ब्रा० १।३

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
१०२	सां।४	"स दक्षिणमेवाग्रे आनक्ति"	"स दक्षिणमेवाग्रऽ आनक्ति"
१०२	सां।५	"....अग्रे माजुषे...."	"....अग्रे मानुषे...."
१०३	उ०।१।१	पञ्चर्त्तवः	पञ्चर्तवः
,,	उ०।१ सप्तदशो वै प्रजापतिः	——————	ऐ० ब्रा० १।१
,,	भा।११-१२	ऋ़तु	ऋतु
,,	भा।२२	द्वयर्थंकरी	द्व्यर्थंकरी
,,	सां।४	पञ्जकृत्व	पञ्चकृत्व
,,	सां।२४	दर्भंपवित्रैण	दर्भपवित्रेण
१०४	सां।२०	दीक्षै इति । पवित्रं वैदर्भा;	दीक्षा इति । पवित्रं व दर्भाः ।
,,	सां।२१	दीक्षै इति	दीक्षा इति ।
१०५	उ०-१।१	षडिद्यमा ऋषयो देवजाः	षकिद्यमा ऋषयो देवजा
,,	उ०।१ साकञ्जानां		ऋग्वेद मं० १।१६४।१५
,,	उ०-२।१	जाता	जाताः
,,	,, २।२	देवेभ्यश्च	देवेभ्यस्तु
,,	उ०।२ ऋषिभ्यः पितरो		मनुस्मृति ३।२०१
,,	भा।१६; २७	ऋृषि ऋृषयो	ऋषि ऋषयो
१०५	१४	साकंजानां	साकञ्जानाम्
१०६	भा।२२,३०	सूय्याग्नि ऋ़त	सूर्य्याग्नि ऋत
१०७	उ०।१ द्वाविमौ पुरुषौ		गीता १५।१६
,,	२।२	विभर्त्यंव्यय	बिभर्त्यव्यय
,,	उ०।२-उत्तमः		गीता० १५।१७
१०७	भा।२	ऋ़तु	ऋतु
१०७	भा।४	रूधिर	रुधिर
१०७	भा ३०	मेरूदण्ड	मेरुदण्ड
१०८	उ०-१।२	पुरुषः प्रतिष्ठैक	पुरुषः पक्षः पुरुषः प्रतिष्ठैक
,,	उ०।१।३	संमुदौहंस्तदतस्य	समुदौहंस्तदस्य
,,	,, ,,	श्रियं	यच्छ्रियं
,,	उ०।१।५	प्राणा	प्राणाः
,,	उ० १।५	सर्वस्मिन्न श्रयन्त	सर्वस्मिन्नश्रयन्त
,,	,, १।५	ह्यं पुरुषो	ह्ययं पुरुषौ

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
,,	उ०।१ एतान् सप्त	शत० ६।१।१।४–६	शत० ६।१।१।३, ४, ६
,,	भा।२	रस भग से	रस भाग से
१०६	भा।६	आत्मक्ष रकहते	आत्मक्षर कहते
१०६	सं०।२०	एषयदग्नि:	एष यदग्नि:
११०	उ०–१।१	सप्तथमेकमाहु: षड्यिमा	सत्तथमाहुरेकजंषळिद्यमा
,,	उ०–१।१	देवजा:	देवजा
,,	उ०।२ साकंजानां		ऋग्वेद मं० १।१६४।१५
,,	उ०।२ सप्त प्राणाः-	मु० २–१	मुण्डक २।१।८
,,	उ०।१४	साकंजानां	साकञ्जानां
११३	भा।२०, २१	ऋृत	ऋत
,,	भा।२६	रश्मिएँ नहीं ही	रश्मियाँ ही नहीं
११४	उ०–१।२	अतप्ततनर्न तदामोसमश्नते	अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते
,,	सं।१०	पुने	पुन:
११५	भा।५	ऋत्विक	ऋत्विक्
,,	उ०।६	न्यचति	न्यञ्चति
,,	सं।६	स यदाह········	"स यदाह········"
११७	सं।६	स्वमन्होति	स्वमन्वीहीति
,,	सं।१४	'यज्ञमेववैतदात्मन्धत्ते'	'यज्ञमेवैतदात्मन्धत्ते'
११८	सं।१७	स जघनेन·····"	"स जघनेन
,,	भा।१	मन्त्रातत्मक	मन्त्रात्मक
११६	उ० १।१	गर्भ	गर्भं
,,	उ०।१ मम योनिर्महद्		गीता० १४।३
,,	उ०–२।१	मूर्त्तय:	मूर्तय:
,,	उ०।२ सर्वयोनिषु		गीता० १४।४
१२१	क०–१।२	तद्यत् यर्जुभिरूद्गृम्णीते	तद्यजुर्भिरुद्गृद्गृम्णीते
,,	क०–२।२	प्रत्यक्षमौद्ग्रभरणनुष्टभा	प्रत्यक्षमौद्ग्रभणमनुष्टभा
,,	क०–२।३	वाग्ध्यनुष्टुब्वाग्धि	वाग्ध्यनुष्टुब्वाग्धि
१२२	क०६।३	कुरूते	कुरुते
,,	क० १४।४	तस्मादाधोतमजूंषि	तस्मादाधीतयजूंषि

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
"	क० १५।२	ऽन्तरिक्ष	ऽअन्तरिक्ष
"	क० १५।४	एतेनो नेदीयो	एतेनो हैषा नेदीयो
"	क० १६।२	वाग्ध्यनुष्टुब्वाग्घि	वाग्ध्यनुष्टुब्वाग्घि
१२३	क० १७।२	गृह्वाति यत्तृतीयंगृह्वाति	गृह्णाति यत्तृतीयंगृह्णाति
"	क० १६।१	पङ्क्तिर्भवति	पङ्क्तिर्भवति
"	क० २२।२	यद्यैकां	यद्येकां
"	क० २३।२	पाण्याऽअङ्गुलयो	पाण्याऽअङ्गुलयो
"	क० २३।४	तावन्तमेवैनमयैतदाप्नोति	तावन्तमेवैनयैतदाप्नोति
१२५	भा ।८	उन देवताओं ने	वे देवता
"	भा ।१६	रयन्तर	रथन्तर
१२६	सं।२२	अग्नेय	अग्नये
१२८	भा ।१५	की अन्त मे	कि अन्त में
"	भा ।१६	ऋग्भ्यो	ऋग्भ्यो
१२६	भा।५	शान्त्य्	शान्त्य
"	भा ।२८	ऋक् साक्षात्	ऋक् साक्षात्
"	सं।११	गर्भं	गर्भम्
"	अनु० २५	बृहस्पति	बृहस्पतिः
"	अनु० २५	इन्द्रउत्तरेषां	इन्द्रोत्तरेषां
१३०	भा ।१८	ध्र ुवा पात्र	ध्रुवा पात्र
"	भा ।२६	धृत भाग	घृत भाग
"	भा ।३१	श्रति	श्रुति
"	सं।२	उरोऽन्तरिक्ष	उरोऽन्तरिक्षम्
"	सं।११	विधेय	विधेम
"	सं।१३	सुवेण	स्रुवेण
"	सं।२४	''.....ध्रौव मासिच्य ''' द्विद्च	''.....ध्रौवमासिच्य द्विच
"	सं।२६	विश्वोदेवस्य.... रायइषुध्यति'''स्वाहा'	'विश्वो देवस्य'........ राय इषुध्यति '''स्वाहा'
१३१	भा।७	१४ वां	१४ वीं
"	भा।१५	ऋचा	ऋचा

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
१३२	भा।६,१०	ऋषि	ऋषि
,,	सं।२८	"प्रग्नि र्भूस्थानो……… वान्तरिक्ष स्थानः………"	अग्निर्भूस्थानो……… वान्तरिक्षस्थानः………"
१३३	उ० १।२	आदित्यश्चक्षुर्भुत्वाऽक्षिणी	आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी
,,	उ० १।४	तमशाना पिपासे	तमशनापिपासे
,,	उ० १।४	आवभ्यामभिप्रजानी	आवाभ्यामभिप्रजानी
,,	उ० १।५	यस्यै च कस्यै	यस्मै च कस्मै
,,	उ०।१ अग्निर्वाक्	ऐ० उ० १।२	ऐ० उ० २।४-५
,,	भा।१७	यज्ञ यिद्या	यज्ञ विद्या
१३४	सं।१।१	देवलोककमभि	देवलोकमभि
१३५	सं।२७	संपदेव	संपदेव वै
,,	सं।२४	अथयत्	अथ यत्
१३६	सं।७	इमांसि	इमां
१३७	भा।२३	ऋतु	ऋतु
,,	सं।१	"तद्वाऽऋषीणाममुश्रुतमास"	"तद्वाऽऋषीणामनुश्रुतमास"
१३९	सं।१	कुवते	कुर्वते
,,	सं१	(आ कुवते)	(आ कुर्वते)
,,	सं।२६	यजमान	यजमानं
१४१	भा।२८	सही	वही
,,	१९	विश्वशं भुवो	विश्वशंभुवो
१४२	भा।८,११	ऋृक्	ऋक्
,,	भा।२७	हैं।	है।
,,	भा।२९	लिहाज से में	लिहाज से
१४३	भा।१३	कर देता हैं।	कर देता है।
,,	भा।१८	वह वह	वह
१४४	भा।३,५,२६	ऋृचा	ऋचा
१४५	उ० १२,२१,२९	विद्येम	विधेम
१४६	उ० १।२	स्वनोपराधात्	स्वरतोऽपराधात्
,,	उ० २३	स्वनोपराधात्	स्वरतोऽपराधात्

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
१४७	४	वाग्धि	वाग्घि
१४८	भा।१	यह मन्त्र	इस मन्त्र का
,,	भा।१६	पङ्क्ति	पङ्क्ति
,,	भा।२४	पाङ्क्त	पाङ्क्त
१४९	भा।१६	चन्द	छन्द
,,	सं।१२	हूयन्ते एतयैव	हूयन्तऽएतयैव
,,	सं।१३	जुहायात् पूर्णा	जुहुयात्पूर्णा ·
,,	सं।१४	सर्वमेवनयै तदाप्नोप्ति	सर्वमेवनयैतदाजोति
,,	सं।१४	अथयत्	अथ यत्
,,	क०	छन्दान्सि	छन्दांसि
१५१	क० ३।२	यान्येव बभ्रूणीव	यान्येव कृष्णानि तानि दिवो रूपं यानि शुक्लानि तान्यस्यै यान्येव बभ्रूणीव
,,	क० ४।१	प्रत्त्यसेत्	प्रत्यसेत
,,	क० ५।१	जधनेन	जघनेन
,,	,, ,,	जान्वान्क	जान्वाक्न
,,	५।३	इत्त्येवैतदाह्	इत्येवैतदाह्
,,	क० ६।२	तस्मान्न्यन्काङ्ग लिरिव	तस्मान्न्यक्नाङ्ग लिरिव
,,	,, ,,	न्यन्काङ्ग लय	न्यक्नाङ्ग लय
,,	क० ७।२	वाम्प्रविशामीत्त्ये वैतदाह	वाम्प्रविशामीत्येवैतदाह
१५२	क० ८।१	नमस्तेऽस्त्रस्तु	नमस्तेऽअस्तु
,,	,, ,,	श्रेयांख	श्रेयांसं
,,	क० ९।१	मद्ध्व	मध्य
,,	क० ९।२	तत्राऽनुव्या	तत्रानुष्ठ्या
,,	क० १०।१	बल्यमविन्दत्तेनाऽन्यद्	बल्यमविन्दंस्तेनाऽन्यद्
,,	,, १०।२	मद्धत	मध्य
,,	,, ,,	ऊज्जं	ऊर्ज्ज
,,	,, १०।३	समानुवँस्तथो	समाप्नुवँस्तथो
,,	क० ११।१	मृद्धच	मृद्वच
,,	क० ११।२	गर्भो	गर्भो
,,	क० ११।३	यद्धस्य	यद्वस्य

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
१५२	क० ११।४	भवति यथैवाऽतः	भवति स यथैवाऽतः
"	क०१२।१	त्रिवृद्ध	त्रिवृद्
"	क० १२।२	तस्मात्रिवृद्भवति	तस्मात्त्रिवृद्भवति
"	क० १४।१	उर्गस्याङ्गिरसीत्यङ्गिरसो	ऊर्गस्याङ्गिरसीत्यङ्गिरसो
"	क० १५।१	नीविमुद्गूहते	नीवीमुद्गूहते
"	१५२–१६० तक पृष्ठ शीर्ष संख्या	(अ० १)	(अ० २)
१५३	क० १६।१	वाऽएव	वाऽएष
"	क० १६।२	तस्माद्वै	तस्माद्वै
"	क० १८।२	प्रजायतेः पितुर्द्दा-	प्रजापतेः पितुर्द्दा-
"	" "	यमुपेयुर्म्मन	यमुपेयुर्मन
"	क० १८।२	मासुराऽ	मसुरा यज्ञमेवतद्देवा उपाय- न्वाचमसुरा
१५३	क० २०।२	निपालाशमिवोवाद	निपलाशमिवोवाद
"	क० २१।२	ह्वयन्त	ह्वयत
"	क० २२।२	प्रतिबूतादिति	प्रतिप्रब्रूतादिति
"	क० २३।२	स्वयकुर्वंत	स्व्यकुर्वंत
१५४	क० २४।२	हैषा वा वागेवमेवैष	हैषा वागेवमेवैष
"	" "	वाचन्ते	वाचं ते
"	क० २५।१	सभ्भभूव	सम्बभूव
"	क० २६।२	भूत्वौन्मिथुनं	भूत्त्वैतन्मिथुनं
"	क० २८।२	यो सा	योषा
"	क० २८।३	आवेष्ट्या	आवेष्टया
"	क० २९।३	विशत्यतो	प्रविशत्यतो
"	क० ३०।१	कृषिस्कृधोति	कृषिस्कृधीति
"	क० ३१।३	भवितोर्द्दीक्षितं	भवितोर्द्दीक्षितं
१५५	क० ३४।२	यन्नमुखसम्मितः	यन्मुखसम्मितः
"	क० ३५।१	वनस्पतऽऊद्ध्वो	वनस्पतऽऊर्द्ध्वो
"	क० ३५।२	स्वोदृच इत्यूर्द्ध्वो	स्योदृच इत्यूर्ध्वो
"	क० ३६।१	हि किञ्च	हि न किञ्च
"	क० ३९।२	दितमेवैनमेवत्सन्तं	दितमेवैनमेतत्सन्तं
"	क० ४०।२	आदधतीत्य थात्रा द्वा	आदधतीत्यथात्राद्धा

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
१५६	क० ४०।१	राजन्य वा वैश्य	राजन्यं वा वैश्यं
,,	क० ४०।२	ब्राह्मणो	ब्रह्मणो
,,	भा ।२६	मृगचमों	मृगचर्मों
१५७	भा ७	रूप हैं	रूप है
,,	सं।२	वहिलोमार्म्या	वा हि लोमाभ्याम्
१५८	भा ।२	चो	जो
,,	भा ।२३, २५, २७	ऋक्	ऋक्
,,	उ०।४	पाद द्विगुणम्	पादद्विगुणम्
,,	भा ।२	ऋक्	ऋक्
१५९	भा ।१६	चेतना चेतन	चेतनाचेतन
,,	भा ।२८	मारे	मारें
,,	।५	पातमास्म	पातमास्य
,,	।१४	हिंसी	हिंसीः
१६०	भा ।५	तस्माज्जधनार्ध	तस्माज्जघनार्धं
,,	भा ३०	गर्मी	गर्भी
१६२	भा ।४	आते लगते	आने लगते
,,	।११	व्यभवत्	व्यभजत्
१६३	भा।१०	बन जाता । क्योंकि	बन जाता है क्यों कि
१६३	भा।२२	देवाना देवता	देवानाम् देवता
१६३	भा।२३	(चन्प्रमा)	(चन्द्रमा)
१६४	भा।८	प्रकाशमय	प्रकाशमय है
१६५	भा।१४	न विचार किया	ने विचार किया
	भा।२७	चाहिए । पार्थिव	चाहिए जो पार्थिव
१६६	भा।७	अपहतवाक	अपहतवाक्
१६७	भा।३	प्रविष्ठ	प्रविष्ट
१६७	भा।५	कर ललाट	कर से ललाट
१६७	भा।२३	कर देगी ।	कर देगा ।
१६८	भा।५	हो	ही
१६८	भा।१०	उठासा	उठाता
१६८	भा।१२	कितने न कुछ	किसी को न कुछ

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
१६८	भा।३०	वाज्ञा गलती से यदि	वाला गलती से कुछ
१६८।२		तव	ततः
१६९	भा।४	ऋत्विक्	ऋत्विक्
१६९	भा।२९	वैश्य मी यदि	वैश्य भी यदि
१६९	भा।३१	पुरुष नहीं	पुरुष को नहीं
१६९	सं।१३	भ्रिरूच्चैः	उच्चैः
१७०	भा।२	पुरीषोत्षर्ग	पुरीषोत्सर्ग
१७०	भा।२६	यत्रोपवीत	यज्ञोपवीत
१७१	सं।२३	प्राचीन ग्रीवे कृष्णा जिने	प्राचीनग्रीवे कृष्णाजिने
१७२	भा।५	खुला सा	खुलासा
१७२	भा।८	दीक्षा देना है...के बाद जोड़िए	'तदेनमनयोर्लोकयोरधिदीक्षयति
१७२	भा।१३	लोगों	लोकों
१७२	भा।१७,१८	सम्बन्ध	सम्बद्ध
१७२	भा।२०	छोटा तो	छोटा हो
१७२	भा।२३	स्दार्थों	पदार्थों
१७३	भा।८	तथा	तथैव
१७३	भा।१०	भाग हो	भाग ही
,,	भा।२३,२९	तर्दम	तर्द्म
१७४	भा।१९	शुक्ल है	काली है तथैव द्यु लोक स्वरूप से शुक्ल है ।
१७५	उ० १।१	वर्त्तमानो	वर्तमानो
,,	उ० १।२	हिरण्यमयेन	हिरण्ययेन
,,	उ०।१—आ कृष्णेन		यजुः ३३।४३
,,	भा।५	।मूष	एमूष
,,	भा।२८	जाता है है यह	जाता है यह
१७५	उ०१।२	सवितारथेना	सविता रथेना
१७५	उ०२।२	बभ्रु णीव	बभ्रू णीव
१७६	सं०।३	(संकोचयत्)	(संकोचयेत्)
१७७	उ०।१ तस्मात् कृष्णाजिन		शत० १।१।४।३

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
१७८	भा।५	ऋक्	ऋक्
१७८	भा।२८	दोनों को विनाश	दोनों का विकास
१७८	सं।१	तेवामारभे	ते वामारमे
१७९	उ०।१ ऋक् सामयोः		वा० स० ४।९
,,	उ० १।१	पातमस्य	पातमाऽस्य
१७९	सं।४	तदस्यतन्मानुषम्	तदस्यैतन्मानुषम्
१७९	सं।१२	श्रेयांस	श्रेयांसं
१८०	भा।६	रखती है	रहती है
,,	भा।२३	(देवता)	(देवताओं को)
१८०	सं।२६	उपविशोधऽएन	उपविशेद्यऽएनं
,,	सं।२७	तत्रानुव्या हरेत्	तत्रानुव्याहरेत्
,,	सं।२८	तस्माज्जधनार्द्ध	तस्माज्जघनार्द्ध
१८१	उ० १।२	तमु	तमयं
,,	,, ,,	न्योका	न्योकाः
,,	उ०।१ अग्निर्जागार		ऋग्वेद मं ५।४४।१५
,,	उ०।१ ब्रह्मा देवानां		मु० उ० १।१।१
१८२	उ०।१ व्रतं		शत० ३।१।२।१
१८३	सं।७	"....पश्चयन्त् समाप्तिम्	"....पश्यन्त्समाप्तिम्"
१८४	सं।२२	प्रजानामुदपायेष सूर्य्यः	"प्रजानामुदयायेष सूर्य्य":
१८५	सं।२०	यद् वस्य	यद्वस्य
१८६	उ०।१ मम योनिर्महद्ब्रह्म		गीता१४।३
,,	उ०२।१	मूर्त्तयः सम्मवन्ति	मूर्तयः सम्भवन्ति
,,	उ०।२ सर्व योनिषु		गीता १४।४
१८६	सं।२७	सम्मवन्ति	सम्भवन्ति
१८७	भा।१५	अन्न है	अन्न हैं
१८८	उ० १।१	उर्गस्याङ्गिरसो ह्येतामूर्ज-पश्यन्नूर्गाम्रदा	ऊर्गस्याङ्गिरसो ह्येतामूर्ज-मपश्यन् ऊर्गाम्रदा
,,	उ० ऊर्गस्याङ्गिरसो		वा० सं० ४।१०
१९०	उ० १।१	एतद्वै	एष वै
,,	उ।१ एष वै		शत० १।६।४।५

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
१६१	उ०।१ चित्रं देवानामुद-गादनीकं		ऋग्वेद मं० १।११५।१
१६१	भा।४-५	घट-घटादि	घट-पटादि
१६२	भा।३१	तुझे	तुम्हें
१६३	३।४	"ऐक्षत योषावा इयं वाक् उपमन्त्रये हविष्यते वैभेति"	"ऐक्षत योषा वाऽइयं वागुपमन्त्रयै वै मा"—इति।
१६३	सं।११………	दिवैवाग्ने ऽसूर्यति	दिवैवाग्रेऽसूर्यति
१६३	सं।१३………	भवतयो मत्रयस्व ह्वायिष्यते	……"भगवो मन्त्रयस्व ह्वयिष्यते…………
१६४	भा।७	बुलाओं	बुलाओ
१६४	भा।२२	हे देवताओं !	हे देवताओ !
१६४	सं।१	निपलाश मिवोवाद	निपलाशमिवोवाद
१६४	सं।१४	साहैनं	सा हैनं
१६५	भा।२६	उसे	उसकी
१६५	भा।२७	यज्ञ आहुति्	यज्ञ आहुति
१६५	सं।७	नयुविता	न युविता
१६५	सं।१३	तिष्ठन्तम्येहि	तिष्ठन्तमभ्येहि
१६७	भा।४	उन्होंने देवताओ से	वे देवताओं द्वारा
१६७	भा।१८	देवी भाषा	दैवी भाषा
१६७	सं।१	यामेवानुष्टुभाजुहुवुस्तदेवैनां तद्देवास्वकुर्वन्	यामेवामूमनुष्टुभाजुहुवस्तदेवैनां तद्देवाः स्व्यकुर्वत
१६७	सं।१४	'तत्रैतामपि वाच मूदूरु-पजिज्ञास्याम्"	तत्रैतामपि वाचमूदुः उप-जिज्ञास्याम्"
१६७	सं।१८	असूर्या	असुर्या
१६७	सं।२३	एव मेतद्वेद	एवमेतद्वेद
१६८	भा।११	योऽदक्षिणेऽक्षिणि	यो दक्षिणेऽक्षिण
१६६	भा।२	कही	कहीं
१६६	भा।३	अभिभव कर दे	अभिभव न कर दे
१६६	सं।१	"वा इयं योनि मा या मदीधरत"	"… …वा इयं योनिर्या मामदीधरत"

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
१९९	सं।१२	एवतत्	एव तत्
१९९	सं।१६	प्रत्यधात	प्रत्यदधात्
२००	भा।११	आत्मप्रजन	आत्मप्रजनन
२००	सं।१५	सिथि	सिलि
२००	सं।१६	शोष:	शेष:
२००	सं।२५	........योनिगर्भं	योनिगर्भं
२००	सं।२५	(तस्मात्तामुत्तमाभिव....)	(तस्मात्तामुत्तमामिव.........)
२००	सं।२८	भुवभुर्य्युपरि	भ्रुवमुपर्युपरि
२०१	सं।६	वाह्येना अतो या	वाह्येनां अतो वा
,,	सं।१	कण्डूयते	कण्डूयेत्
,,	भा।१५	वृष्टयादि	वृष्ट्यादि
२०२	सं।१	कण्डूयते	कण्डूयेत्
,,	सं।६	कण्डूयते	कण्डूयेत्
२०२	भा।१५	पहुँचाती	पहुँचाता
,,	भा।२६	अनुसार में एव यदि	अनुसार यदि
,,	भा।२९	बलकरण का नाम है	बल करण का नाम ही
,,	भा।३०	उन्नं	अन्नं
२०३	भा।१	उदम्बर:, औदम्बर	उदुम्बर:, औदुम्बर
,,	भा।११	बोलतां, यजमान न उस	बोलता, यजमान उस
,,	भा।२४	दोड़	दौड़
,,	सं।१०	उच्छ्रयस्व	उच्छ्र् यस्व
,,	सं।१८	अड़गलीश्च	अङ्गुलीश्च
,,	सं।२७	यथापराञ्चद्यावन्तमनु- लिप्सते ते..........	यथा पराञ्चं धावन्तमनु- लिप्सेत तं ....
२०४	भा।२	जब नि	जब कि
,,	भा।८	हौता	होता
,,	भा।९	नहीं हैं	नहीं है
,,	भा।१६	ॠचा	ऋचा
,,	भा।२५	निवेदन	निवेदित
,,	सं।६	यजु वा	यजुर्वा

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/भाष्य/पंक्ति संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
२०५	भा।१८	ऋतुमती	ऋतुमती
"	भा।२२	चिंदात्म	चिदात्म
"	सं।१	"निवेदितमेवेतत्सन्तं	निवेदितमेवैनमेतत्सन्तं
"	सं।४	प्रापत् अयं	प्रापत् इत्ययं
"	सं।२८	"इदं ह्याहुः रक्षांसि योषितम नुसंचन्ते तदुतरणेस्यव परित आदघतीति	"इदं ह्याहुः रक्षांसि योषितमनुसचन्ते तदुत रक्षांस्येव रेत आदधति-" इति
"	सं।२३	ब्राह्मणो	ब्रह्मणो।
२०६	सं।५	स्यात् हन्यादे हैव सवनकृता	हन्यादेनस्वी है व सवनकृतेति
२०७	पृष्ठ शीर्ष	दीक्षित्व्रत ब्राह्मण	दीक्षितव्रत ब्राह्मण
"	क० २।१	जिग्युर्य्येषा मियं	जिग्युर्य्येमियं
"	क० २।१	कथन्न	कथं न
"	क० ४।३	प्रातप्स	प्रापत्स
"	क० ६।१	यज्ञः माप्याययामो	यज्ञमाप्याययामो
"	क० ७।१	कृणुताग्निब्रह्मा।ग्मर्यज्ञो	कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो
२०८	क० ७।१	सम्भुत्य	सम्भृत्य
"	क० ८।१	यज्ञ मात्याययति	यज्ञमाप्याययति
"	क० ८।२	प्रथम	प्रथमं
"	क० १०।२	हविर्न्नाश्रतं	हविर्नाश्रृतं
"	क० १०।३	तथदेष	तद्यदेष
"	क० ११।१	देवा	देवाः
"	क० ११।२	धोत्वा	धीत्वा
"	क० १२।१	ऋषीणानुश्रुत मास	ऋषीणामनुश्रुतमास
"	क० १२।२	ह्ये न	ह्ये नं
"	क० १२।३	तदेवैतत्पुनराप्यायति	तदेवैतत्पुनराप्याययति
"	क० १२।४	हाप्यायमेद्यदग्नौ	हाप्याययेद्यदग्नौ
"	क० १४।१	प्रथम	प्रथमे
"	क० १४।२	यद्दिदुग्धं तत्पुनराप्ययाम	यद्विदुग्धं तत्पुनराप्याययाम
"	क० १४।२	व्रतदुधा	व्रतदुघा

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
२०६	क० १४।४	व्रतदुधा	व्रतदुघा
"	क० १५।१	सर्वौषधं	सर्वौषधं
"	क० १५।४	दीक्षितमार्त्तिर्व्विन्देद्यैनैवातः	दीक्षितमार्त्तिर्व्विन्देद्येनैवातः
"	क० १६।५	त्सिन्	त्सिश्चन्
२१०	क० १६।१	सुशेवा	सुशेवाः
"	क० २०।४	महोमुचः	मंहोमुचः
"	क० २०।५	गुष्टितं	गुष्ठितं
"	क० २०।५-६	तस्मादाहाहोमुच	तस्मादाहाँ होमुच
"	क० २१।३	म्यक्षित्तामेवास्या	म्यमिक्षत्तामेवास्या
"	क० २२।४	स्वपस्याम	स्वप्स्याम
"	क० २३।५	अद्ब्धस्तनूपा	अदब्धस्तनूपा
२११	क० २३।१	दुरिताव	दुरितादव
"	क० २४।३	यज्ञेष्वीद्धचऽइति	यज्ञेष्वीड्यऽइति
"	क० २४।५	यज्ञेष्वीड्च	यज्ञेष्वीड्च
"	क० २५।२	यद्दीक्षितयाभिहरन्ति	यद्दीक्षितायाभिहरन्ति
"	क० २६।३	वैतद्राव्या सन्तनोत्यन्हा	वैतद्रात्रया सन्तनोत्यह्ला
"	क० २७।२	मभ्युदियादन्ह	मभ्युदियादह्न
"	क० २७।४	मभिवर्षेदनवल्कृप्तं	मभिवर्षेदनवंक्लप्तं
"	क० २७।४	भभिवर्षेदथ	मभिवर्षेदथ
"	क० २८।२	मनुष्यैरनाभ्यारोह्य	मनुष्यैरनभ्यारोह्य
"	क० २६।१	ऋषीणामनुश्रूतमात	ऋषीणामनुश्रुतमास
२१३	भा।५	लोम	सोम
"	भा।१५	चकऊिक्च	चाकचिक्य
"	भा।३०	अहर्गण के ऊपर सोम	अहर्गण से ऊपर तक सोम
२१४	सं०।४	"एतस्याऽने र्वागेवोपनिषद्"	"एतस्याऽनेर्वागेवोपनिषद्
२१७	सं०।११	"......सर्वाभ्यो ऐताभ्यो	"....सर्वाभ्यो एताभ्यो"....
२१८	भा।३०	स्वात्माग्नि दुग्धरूप	स्वत्माग्नि में दुग्धरूप
"	भा।३०	आहुति दिव्यात्मा	आहुति से दिव्यात्मा
"	भा।३१	आग	अग्नि
२१६	भा।२	भाग की	भाग का

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
,,	भा।१७	इन्द्रियों	इन्द्रियाँ
,,	सं।२५	मनांषि	मनांसि
२२०	भा।२६,३०	व्रतदुधा	व्रतदुघा
,,	सं।४	यत्कि	यत्किञ्च
२२१	भा।२,१०,१४	व्रतदुधा	व्रतदुघा
,,	भा।६	व्रोहि	व्रीहि
,,	भा।२५	सवर्षौधि	सर्वौषधि
२२२	भा।२१	इन्दु	इन्द्र
,,	भा।२८	दर	उदर
,,	भा।२८	देवताओं, आप पीने पर हमारे पौषक बनें।	देवताओ ! आपको पी कर हम आपसे पुष्ट हों।
२२३	भा।७	करता हुआ करना चाहिए	करता हुआ— ""करना चाहिए—
,,	भा।८	है, उसे नष्ट	कर, उसे नष्ट
,,	भा।३१	क्योंकि पृथ्वी "इयं....	क्योंकि "इयं....
२२४	भा।१	पृथ्वी	पृथिवी
,,	भा।८	यह मूल	यह मूत्र
,,	भा।१२	लोष्ट को	लोष्ट के लिए
,,	भा।१५	नहीं करनी	नहीं करना
,,	भा।२६	जगे।	जागें।
२२५	भा।२०	करते वाले	करने वाले
२२५	अनु०।१६	यज्ञेष्वीद्यः	यज्ञेष्वीड्यः
२२६	भा।१	करता हैं।	करता है।
२२६	भा।२६	सूर्यास्त में समय	सूर्य्यास्त के समय
२२७	भा।२६	त्यादि मंत्र	इत्यादि मन्त्र
२२८	भा।११	य ह	यह
,,	भा।२३	ब्राह्माण्ड	ब्रह्माण्ड
,,	भा।२७	पाटों में	भागों में
२२९	उ०।१ प्रजापतिस्त्वेदं		शत० ६।१।२।११
,,	उ०।२ द्वयं वा इदं		शत० १।६।२।२३

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
,,	उ०।३ सूर्य एवाग्नेय:		मनुस्मृति १।८
,,	उ०।४ सोऽमिध्याय		शत० १।६।२।२४
,,	भा।२६	ऋत	ऋत
२३०	उ०–१।२	आहितं	आहितः
,,	उ०।१ ऋतमेव		तै० ब्रा० १।५।५।१
,,	उ० २।१	सहस्त्रांशुसमप्रभम्	सहस्रांशुसमप्रभम्
,,	उ०।२ तदण्डम्		मनुस्मृति १।६
,,	उ०।३ ऋतं च सत्यं		महानारा० उ० ५।५
,,	भा।१,३,४	ऋत	ऋत
,,	भा।१६	ऋग्वेद	ऋग्वेद
२३१	उ०।२ देवाश्च वा		शत० १।७।२।२२
,,	भा।१८	घृत	घृत
२३२	भा।६	सूर्य अग्निप्रिय में है।	सूर्य्य अग्निपिण्ड है।
२३३	भा।७	वे पर्दंगी	वेपर्दगी
,,	सं।१	"यज्ञेन वे देवा इयां जिति- जिज्ञुर्या एषांमियं जितिः"	"यज्ञेन वै देवा इयां जिति जिज्ञुर्येषामियं जितिः"
२३४	भा।५	उन्होंने यज्ञ के	वे यज्ञ के
,,	भा।१२	एवं कैसे एवं देवताओं ने	एवं देवताओं ने
,,	भा।२२	जिस ज्ञापन से यज्ञ का सार	उस यज्ञ का सार-भाग
,,	भा।२८	राज्य का कर लिया	राज्य कायम कर लिया
२३४	सं।१८	अथ यदेने नायोप–	अथ यदेनेनायोप–
२३५	भा।११	यज्ञस्मृत	यज्ञसृत
,,	भा।१८	ऋषियों	ऋषियों
२३७	उ० १।१	उपासते	उपासतऽ
,,	उ० १।३	शरच्चतुर्मध्यम	शरद्दतुर्मध्यम
,,	उ० १।४	प्रतिष्ठां	प्रतिष्ठा
,,	उ० १ वायुरग्निरिति		शत० १०।४।५।१–२
,,	भा।२५	अनिरूक्त	अनिरुक्त
२३७	भा।३०	व्याप्त करता है।	व्याप्त रहता है।

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
२३८	भा।२२	अतः	अहः
,,	भा।२६	दीक्षा दी है	दीक्षा ली है
२३९	सं।६	रात्रिं प्रापत् ।··· यावानेव	रात्रिं प्रापत् । स यावानेव-
,,	सं।१०	तावन्त मेवै ·······	तान्तमेवै········
,,	सं।१७	·····अनुष्ठया	·····अत्रानुष्ठया
२४०	सं।१२	विसर्जयर्ति	विसर्जयति
,,	सं।१५	विसर्जयति । वृतं कृणुताग्नि	विसर्जयेत् । वृतं कृणुत वृतं कृणुताग्नि
२४१	भा।२	अग्नि होत्रयत्	अग्निहोत्रं तत्
२४२	भा।२	कृणत	कृणुत
,,	भा।२६	ॠत्विजः	ऋत्विजः
,,	सं।२	व्रतं कृणत	व्रतं कृणुत
२४३	भा।११	निॠति, नैॠतो	निऋति, नैऋतो
२४४	उ०।१ तद्यदोभयं		शत० १०।६।२।१
,,	उ० २।२	चन्द्रमसंह्यादित्येऽआदधति	चन्द्रमसंह्यादित्यऽआदधति
,,	उ० २ स वै यः	शत० १०।६।२।१	शत०१०।६।२।२–३
,,	उ० ३।१	कर्ण	कर्णा
,,	,,	एषोऽग्नेखि	एषोऽग्नेरिव
,,	,,	रथरस्येवोशन्दिस्तं	रथस्येवोपब्दिस्तं
,,	उ० ३।२	विधात्	विद्यात्
,,	उ०।३–अथाप्य	ऐ० आ०	ऐ० आ० ३।२।४।१०
,,	भा।६	अग्निषोमात्मक	अग्नीषोमात्मक
२४५	भा।७	अग्निषोमात्मक	अग्नीषोमात्मक
,,	भा।८	न खाँय	न खाए
,,	सं।१६	"अन्नोर्क प्राणा नामन्योनय परिग्रहोयज्ञः"	अन्नोर्क प्राणानामान्योऽन्य-परिग्रहोयज्ञः"
२४६	उ०।१ न प्राणेन		कठ० उ० ५।५
,,	उ० २।१	सर्वे	विश्वे
,,	उ०।२ मध्ये वामन		कठ० उ० ५।३

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
"	भा।१४	प्रधान	प्रधान
"	भा।१८	मुख्य के	मुख के
२४७	भा।१२	सोमभाग में यज्ञ बना रहा है	सोमभाग से यज्ञ रचा रहा है
"	सं।३१	तद्य देवात्र""तद्विदुग्धं	तद्यदेवात्र""यद्विदुग्धं
२४८	उ० २।२	लोकत्रयमाविश्यय	लोकत्रयमाविश्य
"	भा।२०	मण्डल हैं वे वैसे से ही	मण्डल में हैं वे वैसे ही
२४९	उ०।२ पवित्रं ते विततं	ऋ० ७।३।८	ऋग्वेद मं०९।८३।१
२५०	उ० १।१	योनिमहद्ब्रह्म	योनिर्महद्ब्रह्म
"	उ०।१ मम योनिर्महद्		गीता १४।३
"	सं० ३	"मम योनिमहद्ब्रह्म	मम योनिर्महद्ब्रह्म
"	सं।२३	इमे वै प्राणा।	इमे वै प्राणाः।
२५१	उ०।१ अग्निर्वाग्	ऐ० उ० २।४	ऐ० आ० २।४।२।२२
"	उ० २।१	शब्दान्स्पशश्चि	शब्दान्स्पर्शाश्च
"	सं।३२	शब्दान्स्पशश्चि	शब्दान्स्पर्शाश्च
"	उ० १।८	स्वेदजानि च चोद्भिजानि	स्वेदजानि चोद्भिऽजानि
"	उ०।१ कोऽयमात्मेति	ऐ० उप० ५।१	ऐ० उप० ५।१-३
"	भा।२८, ३१	वरूण	वरुण
"	भा।३१	अहर्वेमित्रम्	अहर्वैमित्रम्
"	सं।१९	इमे वै प्राणा,........	इमे वै प्राणाः
२५३	भा।१	वरूण	वरुण
"	भा।३	मित्रावारुणौ	मित्रावरुणौ
"	भा।१७	यज्ञ आप्यायित	यज्ञ को आप्यायित
"	भा।२१, २२	व्रतदुधा	व्रतदुघा
"	सं।२३	व्रं त	व्रतं
२५४	भा।३	व्रतदुधा	व्रतदुघा
"	भा।९	अवश्य ही को व्रीहि	अवश्य ही व्रीहि
"	भा।३०	बतलाते है कि	बतलाते हो कि
"	सं।१०	व्रीहियवान्वारब्धौ	व्रीहियवावन्वारब्धौ
२५५	भा।८	व्रतदुधा	व्रतदुघा
"	सं।११	दधुव्रतदुधा	यद्युव्रतदुघा

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
२५५	सं।११	सवौषधं	सवौंषधं
,,	सं।१२	व्रतेनमिषज्येत्	व्रतेनाभिषज्येत्
२५६	उ०।१ दैवीं धियं		वा० सं० ४।११
२५६	सं।१	मानुषं हते....	मानुषं ह ते....
,,	सं।२८	नो असद्धशे	नो असदृशे
२५७	उ० १।२	अवतारर्षिजुस्टम्भः	अवतारर्षिजुष्टाम्भः
,,	उ०।२ श्वात्राः		वा० स० ४।१२
,,	भा।१	देवी बुद्धि	दैवी बुद्धि
२५८	भा।३२	स्वरुप	स्वरूप
,,	सं।१८	"ता.........अनागसः यह कहा है"	"ता.........अनागसः" यह कहा है।
२५९	उ०।१ अहमस्मि		तै० उ० ३।१०।६
,,	भा।३	कोइ	कोई
,,	भा।७	परिणत ही गया	परिणत हो गया
,,	भा।१०	ऋत, ऋता	ऋत, ऋता
,,	भा।१८	त्वगिन्द्रिय	त्वगिन्द्रिय
,,	भा।२४	चन्द्रमा के पकड़	चन्द्रमा की पकड़
२६०	उ० १।१	संरक्षेत्	संरक्ष्येत्
,,	भा।२२	व्रतप्रद ने दूध	व्रतप्रद दूध
,,	भा।२६	कहा जाता है। कि	कहा जाता है कि
२६१	भा।८	कृष्णाविषाण	कृष्णविषाण
,,	सं।१३	उपहान्ति	उपहन्ति
२६२	सं।१५	"अहस.... मुंचन्ति ..... तस्माहांतोमुच इति"	"अंहस.......मुञ्चन्ति........ तस्मादाहांहोमुच इति"
,,	सं।३०	अनवरूद्धो	अनवरुद्धो
२६३	सं।१८	अग्ने त्वं... स्वप्स्याम" इत्यैवेतदाह।	"अग्ने त्वं.... स्वप्स्याम" इत्येवैतदाह
,,	सं।२१	गोपायनोऽप्रमत्त इत्येवैतदाहः-"	"गोपायनोऽप्रमत्त इत्येवैतदाह"
२६४	भा।५	हो जाता है।	हो जाते हैं।

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
,,	भा।८	जागृत	जाग्रत
,,	भा।२७	समय ने लिए""कि तुम खाली समय में	समय के लिए ""कि खाली समय में
,,	सं।२०	सर्वस्माग्निर्गोपायत्	सर्वस्याग्निर्गोपायतु
,,	सं।३०	द्वितीयेऽह्नि–" यमौ	द्वितीयेऽह्नि यमो
२६५	भा।७	दीक्षित वाक्	दीक्षित का वाक्
,,	सं।२१	तच्छकेषं	तच्छकेयं
,,	सं।२५	यज्ञष्वीऽय:	यज्ञेष्वीड्य:
२६६	भा।१	व्रतं	व्रत
,,	भा।७	भेंट के लिए	भेंट लिए
,,	भा।१५	इससे पूछता	इसे पूछता
,,	भा।२२	कमों को	कर्म्मों के
,,	भा।२४	जरूरी भी है	जरूरी है
,,	भा।२६	मही रहता	नहीं रहता
,,	भा।३१	अब्वर्यु	अध्वर्यु
,,	सं।१८	एतऽ्युते	एतद्युते
२६७	भा।१६	दिन में बद्ध	दिन रात्रि में बद्ध
,,	सं।२६	न स्वपन्तमम्युपदियात्	न स्वपन्तमभ्युदियात्
,,	सं।१	,, ,,	,, ,,
२६८	भा।७	अहर्भाग से	अहर्भाग के
,,	भा।२३	गप्प समझ	गप्प-सप्प
,,	सं।१०	स्वपन्तमन्तरियाहदन्	स्वपन्तमभ्युदियादह्न
२६९	सं।९-१०	धीक्षते ह वै".......	धीक्षतो ह वै".......
२७१	क० २।१	यज्ञंमतंस्महि	यज्ञमतंस्महि
,,	क० ५।२	प्रज्ञास्यवेति	प्रज्ञास्यथेति
,,	क० ७।२	चरू	चरु
२७२	क० ६।१	यज्ञस्याऽसत्तिदपश्यन्	यज्ञस्याऽऽसीत्तदपश्यन्
,,	क० १०।२	श्यन्न्दद्वा	श्यन्न्यद्वा
,,	क० ११।२	हविर्निरूप्तमासीत्तामयजन्	हविर्निरुप्तमासीत्तामयजन्
,,	क० १३।१	पञ्चभिर्देवतानिः	पञ्चभिर्देवताभि

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
,,	क० १४।१	पञ्चचभिर्देवताभिः	पञ्चभिर्देवताभि
,,	क० १५।२	कुरूपञ्चालत्रा वाग्घ्येषा	करुपञ्चालत्रा वाग्घ्येषा
,,	क० १६।१	उर्ध्वामिव	ऊर्ध्वामिव
,,	क० १६।१	आदित्या	अदित्या
,,	क० १६।२	जायन्तऽरूद्धर्वा वनस्पत-यऽउर्ध्वा	जायन्तऽऊर्ध्वा वनस्पतयऽऊर्ध्वा
,,	क० १६।२	प्राऽजानन्नूद्धर्वा	प्राजानन्नूर्ध्वा
२७३	क० २०।२	प्रायणीयश्चोदनीयश्च	प्रायणीयश्चोदयनीयश्च
२७४	सां।२६	परन्तपं	परन्तपम्
२७५	उ०।१ यज्ञेन		ऋ. मं. १०। ६१।१६
२७६	भा।६	पृथ्वी	पृथिवी
,,	भा।१०	पहुँचे	पहुँचें
,,	भा।१३	देवताओं	देवताओ !
२७७	भा।६	कहते है ।	कहते हैं, जो
,,	भा।२१	पृथ्वी	पृथिवी
,,	भा।२५	बिन्दु से (विषुवत्)	बिन्दु (विषुवत्) से
,,	भा।३१	सूय	सूर्य
,,	सां।१०	मध्यूढ़स्तपति	मध्यूढस्तपति
२७८	भा।७	चरू	चरु
,,	भा।११	उसे	उस
,,	भा।१६	हविरासीदनिष्टा	हविरासीदनिष्ठा
,,	भा।१७	पहचनना	पहचानना
,,	भा।२६	मार्ग रेखायें	मार्ग की रेखाएँ
,,	भा।२६	पारमेष्ठय	पारमेष्ठ्य
,,	सां।८	चरूं	चरुं
२७६	भा।२६	होती ही यज्ञ	होते ही यज्ञ
२८०	भा।१०	जैसा	जैसे
,,	भा।२२	ओर	और
२८१	भा।१४	आहुति होती रहती	आहुति से होता रहता
,,	भा।१५	जिसमें	जो कि

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
२८१	भा।२८	किसी देवता	किस देवता
२८२	भा।१९	कुरू	कुरु
,,	भा।२६	पूर्व की भ्रौर	पूर्व की ओर
२८३	भा।१६	दिशा की	दिशा को
,,	भा।२४, २५, २८	पुरूष	पुरुष
२८४	भा।४	पुरूष	पुरुष
,,	भा।५	दिव्यात्मा के	दिव्यात्मा की
,,	भा।११, १२	ऋत्विक्	ऋत्विक्
,,	भा।२६	विकृति	विकृतिः
२८५	भा।१	प्रतिक्ष	प्रतिक्षण
,,	भा।१८	वस्तुओं, परिणित	वसुओं, परिणत
,,	भा।२९	विवस्वा	विवस्वान्
२८६	उ०।१ इति स्तुतासो	———	ऋग्वेद मं० ८।३०।२
,,	भा।१५	२१ वां है।	२१ वें अहर्गण पर है।
,,	भा।३२	विष्ण	विष्णुः
,,	सं।३३	विष्ण	विष्णु
२८७	भा।२	दीव्येष्टि	दिव्येष्टि
,,	भा।२१	अधिष्ठता	अधिष्ठाता
२८८	उ०–१।२	तेन नाकं	ते ह नाकं
,,	उ।१ यज्ञेन	———	ऋग्वेद मं. १।१६४।५०
,,	उ–२।२	शर्मन्नम्भः	शर्मन्नभः
,,	उ।२ नासदासीन्नो	———	ऋग्वेद मं. १०।१२९।१
,,	भा।२०	प्रम्भोवाद	अम्भोवाद
,,	भा।२१	ऋृग्वेद	ऋग्वेद
,,	भा।२४	बाढ़ गया	बढ़ गया
२८९	उ।१ न मृत्युरासीद्	———	ऋग्वेद मं. १०।१२९।२
,,	उ० २।१	विश्वस्य्	विश्वस्य
,,	उ।२ ब्रह्मा देवानां	———	मु० उ० १।१।१
,,	उ०–२।१	तिस्त्र	तिस्र
,,	उ० ३।१	नैरूक्ताः	नैरुक्ताः

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
२८९	उ० ३।२	वायुर्वेन्द्रोऽन्तरिक्षस्थानः	वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः
,,	उ०।३ तिस्र एव	———	नि. दैवतकाण्ड अ. ७ ख. ५
,,	भा।११	त्रैलोक्यवस्था	त्रैलोक्य व्यवस्था
,,	भा।२५	ब्रह्म	ब्रह्मा
२९०	उ० १।१	अस्माल्लोकात्परो	अस्माँल्लोकात्परो
२९०	भा।२५	अपौरूषेय	अपौरुषेय
,,	भा।३०	इकतीस में	इकतीस शाखाओं में
,,	भा।३१	शाखा है।	की शाखा है।
२९१	भा।१५,१७,१८	चरू	चरु
२९२	सं०।२१	बालानामुपलालना:-	बालानामुपलालना
२९३	भा।१५	शुरु	शुरू
,,	भा।२२	जाय	जाएँ
,,	भा।२३	इसका तलाश	इसका कारण तलाश
२९३	सं०।२०	न प्रजानीम्	न प्रजानीमः
२९४	भा।७	प्राण की	प्राण को
,,	सं०।५	यज्ञयमूहन।	यज्ञममूमुहत।
,,	सं०।११	प्रजानीम्	प्रजानीमः
,,	सं०।२१	यज्ञादन्तरागायत	यज्ञादन्तरगायत
,,	सं०।२२	कल्पयत्	कल्पयत
२९५	उ०१।१	जागर्त्ति	जागर्ति
,,	उ०।१ या निशा	———	गीता० २।६९
,,	भा।२५	स्थिति रहती	स्थिति कुछ रहती
२९५	सं०।५	उदयनीय	उदयनीयः
२९६	उ०–१।२	समाचरेत्	समाचरेन्
,,	उ०।१ न बुद्धिभेदं	———	गीता० ३।२६
,,	भा।३	रहना	स्थित रहना
,,	भा।१४	जिनसे जिनका	जिससे जिसका
,,	भा।३०,३१	घन्टे	घण्टे
,,	सं०।१२	बृहती मध्यू	बृहतीमध्यूढ–
२९७	भा।५	ध्रुवप्रातवृत्त	ध्रुवप्रोतवृत्त

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
२९७	भा।२४	घन्टे	घण्टे
,,	सं०।१२	वृहती मध्यू····	वृहतीमध्यूढ–
२९८	भा।१	घन्टे	घण्टे
,,	भा।१४	दक्षिण की और	दक्षिण की ओर
,,	भा।२३	माचे	मार्च
२९९	उ०।१	कृत्तिकास्वग्नी	शत० २।१।२।१,३
,,	भा।२०	इसका रहस्य	यही इसका रहस्य है
३००	भा।३	क्रान्तिवृन्त	क्रान्तिवृत्त
३०१	उ०१।१	ब्यजायत	विजायते
,,	उ०१।२	विश्वाः	विश्वा
,,	उ०।१ प्रजापतिश्चरति		यजुः ३१।१९
३०१	भा।७	ज्योति, घन्टे	ज्योतिष, घण्टे
,,	भा।१६	सुमेरू	सुमेरु
३०२	उ०–१।१	चक्षुराततम्	चक्षुराततं
,,	उ०।१ तद् विष्णोः	———	ऋग्वेद मं० १।२२।२०
,,	भा।२१	यही भगवान्	यहीं भगवान्
,,	भा।२९	कदम्ब से	केदकम्ब
,,	भा।२९	चारों और	चारों ओर
३०३	भा।१	प्रति बिन्दु	प्रतिबिन्दु
,,	भा।२३	आहुति होते	आहुत होते
३०४	भा।८	पितरों को	पितरों की
,,	भा।३०	विरूद्ध	विरुद्ध
३०५	उ० १।१	ये जातास्तन्यस्परि	यें जातास्तन्वस्परि
,,	उ० १।२	परामार्तण्डमास्थत्	परामार्ताण्डमास्यत्
,,	उ०।१ अष्टौ पुत्रासो	———	ऋग्वेद मं. १०।७२।८
,,	उ० २।२	पूष्णोः हस्ताभ्यम्	पूष्णो हस्ताभ्याम्
,,	भा।२६	चरण पड़ता	चरण में पड़ता
३०६	भा।११	यज्ञ के पहले	यज्ञ में पहले
,,	भा।१५	पुनः रहस्य	रहस्य पुनः
,,	भा।२५	हवि को देवता	हवि को वही देवता

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
३०६	सं।१८	दृष्टयै	दृष्ट्यै
३०७	भा।२४	यह का यही	यही का यही
३०८	उ०।१ यत् पथ्यां		ऐ० ब्रा० २।१
,,	भा२६	इनमें	इसमें
३०९	उ० १।१	ऋतस्य	ऋता३स्य
,,	,, ,,	यावत्	मा३वाः
,,	उ० १।२	मन्नमदन्तमद्भि	मन्नमदन्तमा
,,	उ०।१ अहमस्मि		तै० उ० ३।१०।६
,,	भा।६	अप स्थान	अपने स्थान
,,	भा।१७	वाला है	वाले हैं
,,	सं।१०	अहमन्नमन्नमदन्तमद्भि	अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि
३१०	भा।७	यही मन्त्र	ये मन्त्र
,,	सं।२७	तदपश्यन तदतवन्त	तदपश्यंस्तदन्वत
३११	भा।४	यज्ञ जितनी	यज्ञ में जितनी
,,	भा।२४	ही रहा।	ही रही।
,,	सं।२६	अथयस्यै दैवतायै	अथ यस्यै देवतायै
३१२	भा।५	पाँचों देवताओं	पाँचों को देवताओं
,,	भा।११,१३	ऋृतुओं, ऋृतु	ऋतुओं, ऋतु
३१३	भा।१	हुइ	हुई
,,	भा।२	नीरुप	नीरूप
,,	भा।२४	पहचानना	पहचाना
,,	भा।२६	ज्ञानन	ज्ञान न
,,	भा।३०	भुवस्वर्गीय	भुवनस्वर्गीय
,,	सं।१८	प्रसवेश्विनो	प्रसवेऽश्विनो
३१४	उ०।१।२	समासेन	समानेन
,,	उ०।१ सप्तदशो वै प्रजापति		ऐ० ब्रा० १।१
,,	भा।३, ४, ५	ऋृताग्नि, ऋृते,ऋृतु	ऋताग्नि, ऋते, ऋतु
३१५	उ०।१ गरुं वा	गुरु वा	मनु स्मृति ८।३५०
,,	भा।८	वस्तु पर है।	वस्तु पर नहीं है।
,,	भा।१५	देवताओं में पथ्यास्वास्ति	देवताओं ने पथ्यास्वस्ति

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
३१५	भा।२०	सूर्य के	सूर्य्य की
३१६	भा।२४	प्राणधन	प्राणधन
,,	सं।१	उदीचिभव	उदीचीमेव
,,	सं।१२	तस्य वा शुश्रूयत्ते	तस्य वा शुश्रूयते
३१७	भा।५	मनुष्य के	मनुष्य
,,	भा।१२	कम्पिल्य	काम्पिल्य
,,	भा।१४	अहिच्छत्रा को	अहिच्छत्रा में
३१८	भा।१४	आहुति डालना	आहुति डालना है।
,,	भा।१६	गार्हपात्याग्नि	गार्हपत्याग्नि
,,	भा।१६	को अग्नि	की अग्नि
,,	भा।२२	कर्म की ओर	पूर्व की ओर
,,	सं।२	ऊदीच	उदीची
,,	सं।२५	॥६६॥	॥१६॥
३१९	भा।३	होता है है	होता है
,,	भा।२७	पूर्व जाता है	पूर्व की ओर जाता है
,,	सं।१६	तिष्ठन्नभिस्टौति	तिष्ठन्नभिस्तौति
,,	सं।२०	प्रजानन्	प्राजानन्
३२०	भा।८	बेची अदिति	बची अदिति।
,,	भा।१०	अधिष्ठात्	अधिष्ठात्री
,,	भा।१४	के मालीक	की मालिक
,,	भा।१५	ऊर्ध्वोऽग्नि	ऊर्ध्वोऽग्नि
,,	भा।१६	द्रज्ञाता	प्रज्ञाता
,,	भा।२२	सूर्य दिशा	पूर्व दिशा
,,	सं०।१६।२०	ऊर्ध्वां एव दिशमदित्य प्रजानन् ! इयं वाऽदिति तस्मादस्यामूर्ध्वा ओषधयो जायन्ते ऊर्ध्वा वनस्पतयः	ऊर्ध्वामेव दिशम्। अदित्या प्राजानत्रियं वाऽअदितिस्तस्मादस्यामूर्ध्वा ओषधयो जायन्तऽऊर्ध्वा वनस्पतय
३२१	भा०।१०	अग्नि भी अग्नि	सूर्य्य भी अग्नि
,,	भा०।२६	पृथ्वी	पृथिवी
३२४	भा०।७	चरू	चरु

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
३२४	भा०।८।१४	ऋत्विज	ऋत्विज
,,	भा०।१३	बर्हि के यथेच्छ, डाल के	बर्हियथेच्छ, डालदे
,,	भा०।१५	होगा	हो
,,	भा०।१७	यदि तु उसी	यदि तुम उसी
,,	भा०।२३	संयुवाक्	शंयु वाक्
,,	भा०।२४	पूर्वाद्ध	पूर्वार्द्ध
३२५	क० ६।३	स्तुवद्भ्यः	स्तुवद्भ्यः
३२६	क० ११।३	लग्लमिव	लग्लामिव
,,	क० १४।३	वैश्वदेव	वैश्वदेवं
३२७	क० १८।१	वरुष्या	वरुण्या
,,	क० १८।२	ऽअवरुष्यं	ऽअवरुण्यं
,,	क० १८।३	बघ्नी	बध्नी
,,	क० १९।२	तस्य न का	भवति तस्य न का
३२८	क० २२।१	व्यह्वयन्त	व्यह्वयन्ते
,,	भा।१०	शर्यणायत	शर्यणवत
,,	सं।१९	बुद्धिः शौर्य–	बुद्धिःशौर्य
,,	सं।२९	षोऽशेऽहनि	षोडशेऽहनि
३२९	भा।७	कौषीतकि	कौषीतकी
,,	सं।२१	दिवी सोम्	दिवि सोम
३३०	भा।१	वस्तुओं	वसुओं
,,	भा।१०	कद्र	कद्रू
,,	सं।१९	"सहस्त्र वै पूर्णम्"	"सहस्रं वै पूर्णम्"
३३१	भा।१३	पृथिवी	पृथिवी
,,	भा।२६	सौमरूप	सोम-रूप
,,	सं०।२	नेन्द्राद	नेन्द्रात्
,,	सं०।६–७	"इयं वै ...सौपर्णेयाः।	"इयं वै कद्रू·····सौपर्णेयाः।"
,,	सं०।१८	"....वयम्-इति।	"....वयम्-इति।"
३३२	सं०।१५	गायन्त्रेण	गायत्रेण
,,	सं०।१६	" ...छन्दसा। इति।	"....छन्दसा। इति।"
३३५	भा।२९	पारमेष्ठय	पारमेष्ठ्य

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
३३५	सं०।१८	"....अग्नेर्हि रते इति ।	"....अग्नेर्हि रेत इति ।"
३३६	भा।२०	जा रही है""उससे	जा रही हूँ""मुझ से
"	सं।२१	सवसः	शवसः
"	सं।३१	तन्वो....स्वाहा ।"	"तन्वो....स्वाहा ।"
३३९	सं।२३	सुप्रतीची वा एधि"	"सुप्रतीची वा एधि
३५१	उ०–२।२	विश्वदृष्टास्तिण्ठतेळयाता	विश्वदृष्टास्तिष्ठतेळयता
"	उ०।२ द्यौर्वः पिता	ऋ०।१।१६१।६	ऋ०।१।१९१।६
"	उ०।३।१	तिस्त्रो	तिस्रो
३५२	उ०।१।२	तदाहुः तेऽऋषय	तदाहुः के तऽऋषय
३५३	सं।१५	तन्महाव्रत ।	तन्महाव्रतम् ।
३५६	उ०।२ आपो भृग्व-ङ्गिरोरूपमापो	गो० ब्रा० १।३९	गो० ब्रा० पू० १।३९
३५७	भा।६	देवानामुदगाहनीकम्	देवानामुदगादनीकम्
"	सं।६	देवानामुदगाहनीकम्	देवानामुदगादनीकम्
३५९	उ०।१।४	चतस्त्रोऽरिष्टनेमिये	चतस्रोऽरिष्टनोमिने
"	सं।२८	चतस्त्रोऽरिष्टनेमिये	चतस्रोऽरिष्टनेमिने
३६०	सं।५	"एष वै सविताय एष तपति"	"एष वै सविता य एष तपति"
३६१	उ०।१।१	यावद्यावापृथिवी	यावत् द्यावा पृथिवी
"	अंतिम	"ब्रह्म कृष्णश्चनोवडाद"	"ब्रह्म कृष्णश्चनोऽवतु
३६४	उ०।२ इत एत उदारुहन्दिदव	सामवेद पू० १।२	सामवेद पू० १।१०।२
३६९	सं।२।३	त महं । त मेव	तमहं । तमेव
		त महं	तमहं
"	सं।१८	त्व मेव पत त्वं	त्वमेव पतत्वं
"	सं।१९	ता मागता मभ्युवाद	तामागतामभ्युवाद
		त्व मजैषी	त्वमजैषी
"	सं।२०	त्व मिति....क्राद्रव मिति	त्वमिति....काद्रवमिति
३७९	सं।३	सम्भव तया	सम्भवतया
३८०	उ०।१ जूरसि धृता	———	वा० सं० ४।१८
"	सं।२६	यद्धै	यद्वै

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
३८१	सं।२१	(अभियेणैवेतिशेष:)	(अभिप्रायेणैवेति शेष:)
,,	सं।२२	इ्त्युक्तमिति	इत्युक्तमिति
३८४	सं।१३	प्रहिता मेवैनामेतत्	प्रहितामेवैनामेतत्
३८५	उ०–२।२	सर्व	सर्वं
३८८	सं।१३	देविदेवच्मछ	देविदेवमच्छ
,,	सं।१८	रुद्रस्त्वावर्त्तयतु	रुद्रस्त्वावर्तयतु
३६१	क०४।२	देवयजने	देवयजनेति
३६२	क०१४।२	जित्वोदाकुरुतेऽथ	जित्वोदाकुरुतऽथ
३६३	अनु०।६	सोमापह	सोमापहरण
३६५	अनु०।६	वस्त्री	वस्वी
४००	सं।२	अरूणा, अरूणाभावे	अरुणा अरुणाभावे
४०१	भा।१६	करता	कराता
४०३	उ०।१ वस्व्यस्य	———	वा० सं० ४।२१
४११	भा।२७	बभ्रु	बभ्रु
४१३	भा।१०	अगृहतीगर्भा	अगृहीतगर्भा
४१५	क०४।३	सोमोपनहमादत्ते	सोमोपनहनमादत्ते
४१६	क०६।२–३	बधायेत्यथेत्य	वधायेत्यथैत्य
,,	क०७।३	विचिन्वन्तिति	विचिन्वन्त्विति
४१७	क०१४।१	एवेतद	एवैतद
४२५	अनु०।२६	उचारण	उच्चारण
४२८	सं।१८	बाह्यच्यं	बाह्वृच्यम्
४३७	सं।२५	तस्मादभ्येव मृशेत्	तस्मादभ्यवमृशेत्
४४३	उ०–१।१	वर्त्तमानो	वर्तमानो
४४७	भा।२४	प्रजास्त्वानुाणप्रन्तु	प्रजास्त्वानुप्राणन्तु
४६४	उ०।१ तपसस्तनूरसि	———	वा० सं० ४।२६
४६६	सं।६	तामेत्परोक्षम·····	तामेतत्परोक्षम्
४६८	उ०।१ स्वान भ्राजा	———	वा० सं० ४।२७
,,	सं।१	त्वमात्मो	त्वमात्मनो
४७१	उ०।१ प्रतिपन्थाम		वा० सं० ४।२६
,,	सं।२१	तद्यजुः	तद्‌यजुः

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
४७३	क० ६।१	प्रमृशानीति	प्रमृशानिति
"	क० ७।२	पुमाँसौऽर्वन्तः	पुमाँसोऽर्वन्तः
४७४	क० ११।१	अथानड्वाहावाजति	अथानड्वाहावाजन्ति
"	क० १२।१	धूर्षाहौ	धूर्वाहौ
४७७	अनु।१२	कृप्णमृग	कृष्णमृग
४८४	अनु।२३	दक्षिणीयेष्टि	दीक्षणीयेष्टि
४८६	फुटनोट १	समीपेऽन	समीपेन
४९०	भा।५	अग्नीषोमत्मकं	अग्नीषोमात्मकं
"	सं।५	अस्तिवै चतुर्थो	अस्ति वै चतुर्थो
४९६	सं।६	"सूर्य मेवैतत्….	"सूर्यमेवैतत्….
"	सं।९	"धन्य निधानाय….	"धान्यनिधानाय….
"	सं।१२	प्रोत्तम्भ्यनार्थामिथीकस्तम्भी	प्रोत्तम्भनार्थामिथी कस्तम्भी
४९९	उ०।१ उस्रावेतं	———	वा० सं० ४।३३
५००	उ०।२ भद्रो मेऽसि	———	वा० सं० ४।३४
५०६	सं।९	आहवनीय दुल्मुक	आहवनीयादुल्मुक
५०८	उ०।१ नमो मित्रस्य	———	वा० सं० ४।३६
५१२	उ०।१ या ते धामानि	———	वा० सं० ४।३७
५१६	अनु।२३	प्रतिपत्रिमात्र	प्रतिपत्तिमात्र
५१७	अनु।२०	यजमान की मेवा में	यजमान के सेवामें
५१९	अनु।२५	पृथिवी केन्द	पृथिवी केन्द्र
"	सं।२१	'यो वै विष्णु:' सोम: स:'	'यो वै विष्णु: सोम: स:'
"	अनु।२१	यज्ञ केपु च्छ	यज्ञ के पुच्छ
५२५	सं।१७	(पूर्व भागत्य)	(पूर्वमागत्य)
५२६	सं।१४	यद्वन्यतरो	यद्वान्यतरो
५२९	भा।१४	साभ्राज्य	साम्राज्य
"	भा।३०	ग्रमीण	ग्रामणी
५३०	उ०।१ अग्नेस्तनूरसि	———	वा. सं ५।१
५३३	भा।५	सामस्य	सोमस्य
"	भा।६	श्येनादत्वा	श्येनायत्वा
"	भा।२५	इष्टि से	इष्टि में

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति-संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
५३४	भा।११	आतिथ्येटि	आतिथ्येष्टि
,,	भा।१८	छन्द का त्रिष्टुप्	छन्द का नाम त्रिष्टुप्
,,	भा।२४	दिया जात है	दिया जाता है
५३६	सं।२२	हिनसन्	हिंसन्
५३७	सं।१६	द्यामंगिरसो	द्यामङ्गिरसो
५३८	भा।१३,१६,१७;	धृत	घृत
५४१	भा।२७	आपको में	आपको मैं
,,	सं।५	अतिथ्येऽग्निम्	आतिथ्येऽग्निम्
५४२	भा।२३	प्रयास से हट कर	प्रयाग से हट कर
५४४	उ०।८ गायत्रेण त्वा	———	वा० सं. ५।२
५४५	उ०।८ भवतं नः	———	वा० सं० ५।३
,,	उ०।२ अग्नावग्निश्चरति	———	वा० सं० ५।४
५४८	क० ११।१	तनूप्ता	तनूनप्ता
५५१	अनु।६	संकस्प	संकल्प
५५३	अनु।१७	अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता अग्नि	अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता सोम
,,	अनु।२६	इद्रं	इदं
५५४	भा।३१	हृयारी	हमारी
५५५	भा।६	जनत लोक	जनत् लोक
,,	भा।१३	तपोपलोक	तपोलोक
५५६	उ०—३।३	सवं	सर्वं
,,	भा।१७	श्रति	श्रुति
,,	सं।२२	सर्व स्मादिदम्	सर्वस्मादिदम्
५५८	भा।१६	एक विंश	एकविंश
५६०	भा।२	प्रकार के	प्रकार से
,,	भा।२८	दिवा गया	दिया गया
५६३	भा।१६	श्थानी	स्थानीय
५६४	भा।१४	एवं भाव में	एवं नाना भाव में
५६६	भा।२५	देवताऔं	देवताओं
५६७	भा।३०	सावधान	सावधान

पृष्ठ संख्या	कण्डिका/उद्धरण/अनुवाद/ भाष्य/पंक्ति संख्या	अशुद्ध मुद्रित पाठ	वांछित शुद्ध पाठ
६३५	अनु०।२४	समूव्व्हमस्य	समूळ्हमस्य
६३७	अनु०।१७	पुंरजयतीति	पुरंजयतीति
,,	अनु०।२४	सम्प्रदाम	सम्प्रदाय
,,	अनु०।२७	वार	बार
६३८	अनु०।२४	आश्राव्य	आश्रावण
,,	अनु०।२५	बैठ कर होता अध्वर्यु	बैठ कर अध्वर्यु
६४०	अनु०।२	क्या	तथा
,,	सं।८	'यज्ञो वै विष्णु'	'यज्ञो वै विष्णुः'
६४३	भा।८	आतिथ्येटि	आतिथ्येष्टि
६४८	भा।१२	हर्व शब्दो पापदन	पर्व शब्दोपपादन
,,	सं२५	'प्रजापति स्त्वेवेदं सर्वम् सृजत्.....'	'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वमसृजत.....'
६५०	भा।२२	हीने वाली	होने वाली
६५३	सं।६	मापाप्त	मावाप्त
६५४	भा।१६	साम	सोम
६५६	भा।२४	आधार	आघार
६६६	भा।३	उपसद् ोम	उपसद् होम

—❀—